षड्दर्शन-रहस्य

पण्डित रङ्गनाथ पाठक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

'मधु द्यौरस्तु नः पिता ।'

परमाराध्य पूज्य पिताजी के
श्रीचरणों में सादर
समर्पित

यस्य मन्त्रप्रभावेण मूकोऽपि वाग्मितामितः ।
प्रियतां स पिता श्रीमद्रामजीवनपण्डितः ॥

विनीत
रङ्गनाथ पाठक

ग्रन्थकार

वक्तव्य

'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।'

मनीषियों का कथन है कि हिये की आँखों के लिए दर्शनशास्त्र अमृताञ्जन का काम करता है। वे यहाँ तक कह गये हैं कि संयत चित्त से दर्शनशास्त्र का अध्ययन-मनन करते रहने से आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन होने पर अखिल ब्रह्माण्ड-रहस्य प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस दर्शनशास्त्र की ऐसी अमोघ शक्ति बतलाई गई है, वह सारा-का-सारा संस्कृत-भाषा में है। संस्कृत में पारङ्गत हुए बिना दर्शनशास्त्र का अनुशीलन और रहस्योद्घाटन सम्भव नहीं है।

दुर्भाग्यवश, आज बहुत ही कम लोगों को संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान है। दर्शन का गूढ़ मर्म समझने और असंस्कृतज्ञ को सुबोध रीति से समझाने की यथेष्ट क्षमता रखनेवाले संस्कृतज्ञ तो हिन्दी-संसार में सम्भवतः कनिष्ठिकाधिष्ठित ही होंगे। अतः, दर्शनशास्त्र के निष्णात विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्वदेश में सबसे अधिक प्रचलित और सर्वतोऽधिक लोकप्रिय भाषा हिन्दी में दर्शनशास्त्र के तथ्यों को प्रकाशित करने के लिए उसका हृदय-पटल खोलकर रख दें, जिससे इस देश की जनता में जो स्वभावतः दार्शनिक रुचि है, उसका परिष्कार और परितोष हो।

इस पुस्तक के षड्दर्शनाचार्य लेखक ने अपने उसी कर्त्तव्य का पालन किया है। अब उनकी सफलता-असफलता का विचार दर्शनशास्त्रियों को करना है।

हम स्वयं दर्शनशास्त्र का ककहरा भी नहीं जानते, इसलिए पुस्तक के गुण-दोष के सम्बन्ध में कुछ भी लिखने के अधिकारी नहीं हैं। जो पाठक दर्शनानुरागी अथवा जो दर्शनशास्त्री हैं, वे ही इसकी विशेषताओं और त्रुटियों को परख सकते हैं।

यों तो, शास्त्र किसी के अधिकार में नहीं होता। उसे मुट्ठी में कर लेना सहज काम नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् रामचन्द्र के श्रीमुख से कहवाया है—

'शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखिअ,
भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
... ...
जुवती शास्त्र नृपति बस नाहीं।' [अरण्यकाण्ड]

अतएव, लेखक ने जो कुछ लिखने का प्रयास किया है, वह कहाँ तक शास्त्रसङ्गत और सुधी-सम्मत है, इसका विचार अधिकारी सज्जन ही कर सकेंगे। स्वयं लेखक ने भी अपने प्राकथन में सहृदय सज्जनों से पुस्तकगत दोषों के सम्बन्ध में स्पष्ट निवेदन किया है।

हिन्दी में दार्शनिक साहित्य का अभाव नहीं है। कई अधिकारी दार्शनिकों ने अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। दार्शनिक विचारों के प्रचारक और पोषक कुछ पत्र भी निकलते हैं। संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भी हिन्दी में दार्शनिक विषयों को सरलता से समझाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। हम नहीं कह सकते कि अब तक के प्रकाशित एतद्विषयक ग्रन्थों में इस पुस्तक का कैसा स्थान होगा। किन्तु, पुस्तक पढ़ चुकने पर ऐसी धारणा का उत्पन्न होना विस्मयजनक नहीं कि अनेक सुन्दर पुस्तकों के रहते हुए भी इसने हिन्दी के एक अभाव की पूर्त्ति की है।

लेखक महोदय अपनी इसी पुस्तक द्वारा हिन्दी-संसार में सर्वप्रथम पदार्पण कर रहे हैं। अतः, हिन्दी-पाठकों की जानकारी के लिए उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पण्डितजी का शुभजन्म बिहार-राज्य के शाहाबाद जिले में, विक्रमाब्द १६४२ में, हुआ था। इस समय आपकी अवस्था ७२ वर्ष की है। बाल्यावस्था में आपने अपने पूज्य पिता पं० रामजीवन पाठक और सेमरिया-ग्राम-निवासी पं० हरगोविन्द पाण्डेय से संस्कृत की आरम्भिक शिक्षा पाई थी।

युवावस्था में अपने पिताश्री के गुरु बिनगाँवा-ग्राम-निवासी पं० हरिप्रसाद त्रिपाठी से और उसके बाद उन्हीं के चचेरे भाई तथा उस समय के प्रकाण्ड नैयायिक पं० शिवप्रसादजी से आपको संस्कृत की उच्च शिक्षा मिली। उक्त नैयायिकजी से आपको टीका-ग्रन्थों के पढ़ने में विशेष सहायता प्राप्त हुई।

ग्रामीण पाठशालाओं की शिक्षा के बाद आप आरा-नगर के सुप्रसिद्ध शास्त्राचार्य पं० गणपति मिश्र के पास पढ़ने के लिए गये। महामहोपाध्याय पं० सकलनारायणशर्मा उक्त मिश्रजी के ही प्रथम शिष्य थे।

आरा-नगर में पाण्डित्य प्राप्त कर आप काशी चले गये। वहाँ के स्वनामधन्य विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गङ्गाधर शास्त्री और पं० शिवकुमार शास्त्री से आपने यथेष्ट विद्या अर्जित की। काशी के तात्कालिक संस्कृतज्ञ-समाज में अपने दुराग्रह-शून्य शास्त्रार्थ के लिए आप विशेष प्रसिद्ध थे।

पटना की पण्डित-मण्डली के शिरोभूषण वृद्धवसिष्ठ आचार्य पण्डित हरिशङ्कर पाण्डेयजी को आप भी गुरुस्थानीय मानते हैं, जिनके सतत सत्सङ्ग और प्रसाद से आपकी शास्त्रीय उपलब्धियाँ सनाथ हुई हैं। इसका संकेत आपने अपने प्राक्कथन के अन्त में कर दिया है।

आप बिहार-संस्कृत-एसोसियेशन की कौंसिल के सदस्य हैं। इस समय आप बिरैयाटाँड़ (पटना) के संस्कृत-विद्यालय के प्रधानाध्यापक हैं। संस्कृत में लिखे आपके कुछ प्रकाशित निबन्ध बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—मोक्ष-मीमांसा, मायावाद, स्फोटवाद आदि। उपर्युक्त प्रथम दो निबन्ध बिहार-संस्कृत-समिति से पुरस्कृत हो चुके हैं और तीसरे में आपके स्वतन्त्र विचार व्यक्त हुए हैं।

आपने संस्कृत में दर्शन-सिद्धान्त-मञ्जूषा, बौद्धदर्शन, चार्वाक-दर्शन, रामानुज-दर्शन, वेदान्त-दर्शन आदि पुस्तकें लिखी हैं, जो अबतक अप्रकाशित हैं। उक्त मञ्जूषा में ११०० श्लोक हैं। ये पुस्तकें जब प्रकाशित होंगी, तभी आपकी दार्शनिकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

पुस्तक की पाण्डुलिपि का सम्पादन हो चुकने पर आपने पुनः दुबारा पूरी पुस्तक को नये सिरे से लिख डाला। पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के सरलार्थ भी लिख डाले, जो परिशिष्ट में द्रष्टव्य हैं। दूसरी बार शास्त्रीय पद्धति से संस्कार करके आपने पुस्तक का कायाकल्प कर दिया। कहाँ आपका जराजर्जर शरीर और कहाँ विशुद्ध संस्कृतज्ञ होकर भी दुरूह विषय को हिन्दी में लिखने का कठोर परिश्रम, आधुनिक युग के लिए यह एक आदर्श ही है।

आशा है कि पाठकजी की पुस्तक को पाठक पसन्द करेंगे।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

ग्रन्थकार का प्राक्कथन

इत्येतच्छ्रुतिशास्त्रसारनिचयं संगृह्य यत्नान्मया
संक्षेपेण निदर्शितं निजमनस्तोषाय बोधाय च ।
सारं ग्राह्यमपास्य फल्गु सुधिया ध्यानेन वै पश्यता
आकांक्षा यदि सर्वशास्त्रविषये व्युत्पत्तिमाप्तुं भवेत् ॥

—ग्रन्थकर्त्तुः

मुझे स्वाध्याय-काल में ही हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ दार्शनिक लेखों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसी समय मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हिन्दी में भी संस्कृत के दार्शनिक ग्रन्थों के अनुसार कोई सुबोध ग्रन्थ लिखा जाय, जो बहुजनहिताय हो।

संयोगवश मित्रवर पं० बलदेव उपाध्यायजी की 'भारतीय दर्शन' नामक पुस्तक देखने का अवसर मिला। यह पुस्तक यद्यपि विद्वत्तापूर्ण है, तथापि इसमें नवीनता और ऐतिहासिक विषयों पर जितना ध्यान दिया गया है, उतना यदि मूल सिद्धान्तों के विश्लेषण पर भी ध्यान दिया गया होता, तो संस्कृतज्ञ दार्शनिकों और संस्कृत न जाननेवाले हिन्दी-पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होती।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ दार्शनिक लेखों के देखने से मेरी यह धारणा हुई कि कुछ ऐसे अनधिकारी व्यक्ति भी दार्शनिक लेख लिखने का प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने मूल दर्शन-ग्रन्थों को भली भाँति देखा तक नहीं है। एक बड़े विद्वान् का 'खण्डनखण्डखाद्य' पर बहिरङ्ग समालोचनात्मक विचार भी मुझे पढ़ने को मिला, जिससे भी उक्त धारणा की विशेष पुष्टि हुई। इससे यह भी प्रतीत हुआ कि बहुत-से बुद्धिमान् उत्साही लेखक भी संस्कृत के ज्ञान की न्यूनता के कारण दुरूह मूलग्रन्थों को देखने का कष्ट भी नहीं करते, केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों और हिन्दी की अधूरी दार्शनिक पुस्तकों के आधार पर असम्बद्ध बातें लिख देते हैं। अतः, मैंने ऐसा विचार किया कि संस्कृत के मननीय मूलग्रन्थों के गूढ सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान हिन्दी-भाषा के द्वारा भी कराया जाय, तो हिन्दी-पाठकों को दार्शनिक रहस्यों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

मेरे विचार से दार्शनिक ग्रन्थ लिखने में ऐतिहासिक या धार्मिक विषयों का विवेचन उतना उपयुक्त नहीं होता, जितना दार्शनिक तत्त्वों का विशद विवेचन। यही सोचकर मैंने संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का स्पष्ट, पूर्ण और विशद विवेचन करने के लिए यह पुस्तक लिखी। जिन-जिन विषयों पर दार्शनिकों में मतभेद है और जिन-जिन विषयों पर एकवाक्यता है, तथा ऐसे विशेष

विषय, जिनपर सब दर्शनकारों ने समन्वयात्मक विचार प्रकट किये हैं, उन सभी पर मैंने प्रामाणिक ढङ्ग से प्रकाश डाला है।

जब ग्रन्थ-लेखन का श्रीगणेश किया, तब आरम्भ में बड़ी कठिनाई मालूम पड़ी। विशेषतः, दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी-पाठकों के लिए सुगम बनाने की चिन्ता मन में व्याप्त रही। अन्त में, स्वाध्याय से यह पता चला कि हिन्दी में भी दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द अधिकतर मूल रूप में ही प्रचलित हैं, नये नहीं गढ़े गये हैं; क्योंकि तद्भव और देशज शब्दों से दार्शनिक तथ्यों का स्पष्टीकरण होना सम्भव भी नहीं है। इसलिए, मैंने संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी में भी मूल रूप में ही व्यवहृत किया है और हिन्दी-पाठकों की सुविधा के लिए कठिन पारिभाषिक शब्दों का सरलार्थ और भावार्थ पुस्तक के अन्त में दे दिया है।

यह पुस्तक वेदभाष्यकार सायणमाधवाचार्य-कृत 'सर्व-दर्शन-संग्रह' के आधार पर आश्रित है। मेरे परमादरणीय पं० वासुदेव अभ्यङ्करजी ने उक्त ग्रन्थ की एक सुन्दर और सरल टीका लिखी है, जो बहुत उपादेय है। उससे मुझे बहुत सहायता मिली है, जिसके लिए मैं टीकाकार का ऋणी हूँ। किन्तु, मैंने टीकाकार के विचारों का कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। आशा है, मेरे खण्डनात्मक विचार सहृदय विशेषज्ञों को औचित्यपूर्ण प्रतीत होंगे।

मैं इस पुस्तक के लिखने में कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो विद्वान् पाठकों के अधीन है। परन्तु, मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक को आद्योपान्त ध्यान देकर पढ़ने से समस्त भारतीय दर्शनों का परिचय मिल जायगा। इस पुस्तक में छह दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का विवेचन पृथक्-पृथक् किया गया है। सिद्धान्त की व्यवस्था करने में पूर्वपक्षियों की शङ्काओं का समाधान तत्तत् दर्शनों के अनुसार ही करने की चेष्टा की गई है, जिससे उन दर्शनों में पूर्ण प्रौढि प्राप्त हो। इसके विषय-प्रवेश में आस्तिक, नास्तिक, तार्किक, श्रौत आदि सभी दर्शनों का समालोचनात्मक विचार के साथ तारतम्य दिखाया गया है। श्रुतियों के गूढार्थ होने के कारण सम्भावित शङ्काओं के समाहित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है, साथ ही श्रौत तत्त्व तथा शास्त्रों में वर्णित तत्त्वों में भेद के भान होने का कारण भी बताया गया है। मूल कारण में आरम्भवाद, संघातवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद आदि वादों और सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति आदि ख्यातियों का भी पूर्ण विश्लेषण किया गया है। प्रमाणों में मतभेद, परस्पर सम्बन्ध और उनमें बाध्य-बाधक भाव के आलोचन के साथ-साथ बन्ध और मोक्ष की भी पूरी व्याख्या की गई है।

मैंने इस पुस्तक के लिखने में किसी हिन्दी-दार्शनिक ग्रन्थ से सहायता न लेकर केवल मूल संस्कृत-ग्रन्थों से ही सहायता ली है। इस पुस्तक में कोई ऐसी नई बात नहीं है, जो संस्कृत के ग्रन्थों में कहीं-न-कहीं न हो और मेरी अपनी कल्पना हो। इसमें जहाँ से जो बात ली गई है, उसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। यदि कहीं वैसा न हुआ हो, तो स्थान वा उद्धरण की प्रसिद्धि तथा स्थानाभाव को ही कारण समझकर मुझे क्षमा करेंगे। मैंने इस बात की चेष्टा की है कि इसमें कोई

प्रसिद्ध विषय छूटने न पावे। 'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' पर भी मैंने विशेष ध्यान दिया है। इसमें कितने विषयों पर विचार किया गया है, यह पुस्तक देखने से ही मालूम होगा। जहाँ तक हो सका है, कठिन-से-कठिन विषयों को भी सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। सम्भव है, मनुष्यसुलभ सहज प्रमादवश कहीं विपरीत भी हो गया हो, इसलिए विज्ञ पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। और भी, जो दोष इस पुस्तक में हों, अथवा गम्भीर विषयों के समझाने के लिए उपयुक्त शब्द का कहीं प्रयोग न हुआ हो, तो उदार सज्जन तदर्थ मेरे अज्ञान को ही कारण समझें।

मेरे परम आदरणीय, बिहार-राज्य के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तात्कालिक अध्यक्ष आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने इस पुस्तक को 'अवश्य प्रकाशनीय' कहकर मेरा उत्साह बढ़ाया था। यह पुस्तक उन्हींके प्रोत्साहन का सुपरिणाम है।

छपरा-निवासी वैद्यराज पण्डित रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद-मार्त्तण्ड ने, जो आजकल जामनगर (सौराष्ट्र) में सेण्ट्रल आयुर्वेदिक रिसर्च-इंस्टीच्यूट के डायरेक्टर हैं, बार-बार हिन्दी में एक सर्वाङ्गपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ लिखने के लिए परामर्श दिया था और इस पुस्तक की पाण्डुलिपि देखकर बड़ा सन्तोष प्रकट किया था। उनकी सम्मति से मैं इस कार्य में सोत्साह अग्रसर हुआ।

इस पुस्तक का आरम्भिक अंश मैंने पटना-कॉलिज के संस्कृताध्यापक पं० चन्द्रकान्त पाण्डेय, एम्० ए०, व्याकरणाचार्य को दिखाया था। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, जिससे मेरे मन को बड़ा बल मिला और यह पुस्तक निर्विघ्न समाप्त हुई।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और समस्तीपुर-कॉलेज के प्रिन्सिपल श्रीकलक्टर सिंह 'केसरी' ने मुझे इस पुस्तक को बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में प्रकाशनार्थ देने के लिए विशेष उत्साहित किया। उन्हींके सुझाव के अनुसार परिषद् के अधिकारियों से यह पुस्तक दिखाने का प्रयत्न किया।

मोतिहारी-कॉलेज के संस्कृत-हिन्दी-अध्यापक पं० गिरिजादत्त त्रिपाठी, एम्० ए०, व्याकरण-न्यायाचार्य तथा उनके भ्राता पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी, काव्यतीर्थ, हिन्दी-विशारद समय-समय पर मुझे सलाह देते रहे कि हिन्दी में दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी कोई ऐसी पुस्तक लिखिए, जो केवल संस्कृत के मूलग्रन्थों पर आधृत हो। उन दोनों की सलाह से भी मेरा मन इस दिशा में प्रवृत्त हुआ।

मेरे गाँव के क्षत्रियकुमार श्रीरामप्रवेश सिंह तथा मेरे अन्तरङ्ग-वर्ग के पं० वेणीप्रसाद मिश्र एवं पं० गौतम पाण्डेय ऐसी पुस्तक के लिखने के लिए अहर्निश प्रेरणा तथा आपेक्षिक सहायता देते रहते थे। इन तीनों स्नेहियों के निरन्तर उकसाते रहने से मैं उमङ्ग के साथ बराबर इस कार्य में तत्पर रहा।

उपर्युक्त सज्जनों को मैं यथायोग्य हार्दिक आशीर्वाद और धन्यवाद देते हुए उनके प्रति सादर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यहाँ पर मैं अपने दो स्वर्गीय हितैषियों का सधन्यवाद स्मरण करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनसे सर्वप्रथम मुझे इस कार्य में संलग्न होने का संकेत मिला। वे दोनों सज्जन पटना के उच्च न्यायालय के एडवोकेट थे। उनमें प्रथम स्मरणीय हैं श्रद्धेय श्रीलक्ष्मीनारायण सिंह, जो पटना के परम प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० उग्रप्रताप सिंह के पिता थे। इन्होंने संस्कृत-पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे दार्शनिक लेखों को देखकर यह सम्मति प्रकट की थी कि मैं उन विषयों को यदि हिन्दी में लिख दूँ, तो साधारण जनता का महान् उपकार होगा। इस प्रकार, सर्वप्रथम ये ही मेरे इस कार्य में प्रेरक हुए। दूसरे उल्लेखनीय सज्जन हैं श्रीकृष्णदेवप्रसाद, जो संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने भी मेरे संस्कृत-निबन्धों को देखकर हिन्दी में दार्शनिक विषय पर प्रामाणिक पुस्तक लिखने के लिए बार-बार उत्साहित किया था। अतः मैं उन दोनों महानुभावों की दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

बिहार-राज्य के समाज-शिक्षण-विभाग के उपनिर्देशक और परिषद्-सदस्य पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' को परिषद् ने इस पुस्तक के संशोधन-सम्पादन का भार सौंपा था। उन्होंने इसे हिन्दी पाठकों के लिए विशेष बोधगम्य बनाया। उनके उस सत्प्रयास के लिए मैं उनका सादर आभार-अङ्गीकार करता हूँ।

अन्त में, 'अन्ते गुरुः' के अनुसार अपने पूज्य गुरु आचार्यप्रवर पं० हरिशङ्कर पाण्डेय के श्रीचरणों का स्मरण करता हूँ। उनकी मेरे प्रति सदिच्छा, सद्भावना और सत्प्रेरणा बाल्यावस्था से आज तक एक रूप से बनी हुई है। उसीका यह फल है कि इस पुस्तक के लेखक होने का श्रेय मुझे प्राप्त हुआ है। उन आराध्य चरणों में केवल शिरोनमन के अतिरिक्त कोई भी ऐसा उपयुक्त शब्द नहीं मिलता, जिसको समर्पित कर अपने को कृतार्थ समझूँ।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सञ्चालक-मण्डल के सदस्य भी अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशनार्थ स्वीकृत कर अपनी उदार गुणग्राहिता का परिचय दिया है।

नात्रातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥
—उदयनाचार्यस्य

संस्कृत-विद्यालय, चिरैयाटाँड़, पटना
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, शकाब्द १८८०

रङ्गनाथ पाठक

विषय-सूची

भारतीय दर्शन और तत्त्व-ज्ञान

भारतीय दर्शनों में प्रत्येक की एक विशिष्ट परम्परा है। प्रत्येक दर्शन परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट मार्ग का निर्देशन करता है। सूक्ष्म दृष्टि से समालोचना करने पर सभी दर्शनों का सामञ्जस्य और समन्वय एक परम लक्ष्य की प्राप्ति में ही सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, साधन के भेद होने पर भी साध्य की एकता के कारण सभी दर्शन-शास्त्रों का तात्पर्य एक ही है। और, वह है—निरतिशय दुःख की निवृत्ति और निरतिशय सुख की प्राप्ति। इसी को आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति भी कहते हैं।

दुःख के तीन भेद हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इन तीनों प्रकार के दुःखों का ऐसा निश्शेष हो जाना, जिसमें दुःख के लेश की भी सम्भावना न रह जाय, निरतिशय दुःख-निवृत्ति का लक्षण है। इस प्रकार सभी तरह के दुःखों से छुटकारा पाना ही समस्त दर्शनों का परम लक्ष्य है।

अब निरतिशय सुख-प्राप्ति का क्या स्वरूप है, इसपर भी थोड़ा विचार करना चाहिए। निरतिशय सुख-प्राप्ति उस अवस्था का नाम है, जहाँ परम सुख की प्राप्ति हो जाने पर किसी प्रकार के भी सुख की अभिलाषा नहीं रह जाय। दूसरे शब्दों में, परम सुख के मिल जाने पर प्राप्तव्य कोई वस्तु ही नहीं रह जाती है। आत्यन्तिक सुख वही है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई सुख होता ही नहीं है।

इसी परम लक्ष्य को—चरम-लक्ष्य, परम पुरुषार्थ, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि अनेक विभिन्न शब्दों से अभिहित किया गया है, और इसी को प्राप्त करने के लिए प्रायः सभी दर्शनकारों ने पृथक्-पृथक् अपनी दृष्टि के अनुसार सुगम मार्ग बताये हैं। जीवमात्र—मनुष्य से पशु, पक्षी, कीट, पतंग तक—सभी में यह सहज वासना रहती है कि सब प्रकार के दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ। यह अभिलाषा प्राणिमात्र के हृदय में किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है, इसीलिए प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञान और क्रिया आदि के द्वारा सर्वाधिक सुख की प्राप्ति तथा सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति की चेष्टा करता रहता है, और इस प्रयत्न का फल प्राप्त हो जाने पर भी किसी-न-किसी प्रकार अधिक-से-अधिक सुख पाने के लिए उसकी चाह बनी ही रहती है। इतना ही नहीं, बल्कि तृष्णा और भी बलवती होती जाती है। यह वैषयिक सुख-साधन हमारा परम लक्ष्य नहीं, प्रत्युत तृष्णा की उत्पत्ति का कारण है।

इससे इतना स्पष्ट है कि जबतक हमारे मन में चाह या तृष्णा बनी हुई है, तबतक हमारा अभाव समाप्त नहीं हुआ है। परम सुख की प्राप्ति के अनन्तर किसी प्रकार की चाह या तृष्णा की उत्पत्ति होती ही नहीं है। परमार्थ का अर्थ ही यह है कि उस वस्तु की प्राप्ति हो जाय, जिसके पा चुकने पर पुनः किसी और वस्तु की प्राप्ति की

चाह न रह जाय, और न कोई ऐसी वस्तु ही बच जाय, जिसके लिए इच्छा उत्पन्न हो इसी को निरतिशय सुख या निरतिशय दुःख की निवृत्ति कहते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है—इस आत्यन्तिक सुख का ज्ञान किस प्रकार होता है, संसार में देखा जाता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि वैषयिक सुख की पराकाष्ठा ही कहीं नहीं है। इतना ही नहीं, यह भी समझना कठिन है कि इनमें से कौन-सा सुख श्रेष्ठ है और कौन-सा निकृष्ट। सुख-विशेष की उत्तमता या तुच्छता का ज्ञान भोक्ता के अधीन है। भोक्ता अनन्त हैं और उनकी दृष्टियाँ भी अनन्त। कोई सुख किसी को अच्छा लगता है, किसी को बुरा। इस प्रकार, लौकिक सुखों के विषय में कुछ निश्चय करना कठिन है, तो पारलौकिक सुखों के विषय में भी कुछ कहना दुष्कर है।

दुःख-निवृत्ति के सम्बन्ध में भी ठीक यही कठिनाई है। दुःख-निवृत्ति दो प्रकार की हो सकती है—एक, वर्त्तमान दुःख की निवृत्ति; दूसरी, भावी दुःख की निवृत्ति। उसमें वर्त्तमान दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा भावी दुःख-निवृत्ति ही अच्छी मानी जाती है। कारण, वर्त्तमान दुःख की अपेक्षा भावी दुःख ही प्रबल होता है। इसीलिए, भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'हेयं दुःखमनागतम्।' अर्थात्, भावी दुःख त्याज्य है। तात्पर्य यह है कि अतीत दुःख तो भोग से निवृत्त हो चुका है, वर्त्तमान दुःख भी भुक्त हो रहा है, अर्थात् भुक्तप्राय है। अतएव, अनागत दुःख की निवृत्ति के लिए यत्न करना ही उपयुक्त समझा जाता है।

लेकिन, अनागत दुःख की निवृत्ति के लिए चिन्ता ही क्यों? वह तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। अनुत्पन्न शत्रु के वध के लिए कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति चेष्टा नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि अनागत दुःख यद्यपि वर्त्तमान नहीं है, तथापि उसका कारण तो वर्त्तमान ही है, अतः उसके नाश के लिए प्रयत्न करना समुचित ही है, इसलिए कि कारण-नाश से कार्य उत्पन्न न हो। यहाँ कारण-नाश से कार्य-रूप दुःख का उत्पन्न न होना (दुःख-निवृत्ति) ही अभीष्ट है।

निरतिशय सुख या दुःख की निवृत्ति में कारण क्या है?

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि निरतिशय सुख या दुःख की निवृत्ति का ज्ञान नहीं होता, तो उसके मानने की आवश्यकता ही क्या है? कारण, जिस वस्तु की सत्ता रहती है, वह कभी किसी को अवश्य उपलब्ध होती है, और निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति की उपलब्धि किसी को कभी नहीं होती, इसलिए उसको न मानना ही समुचित प्रतीत होता है। यदि कहें कि अदृष्ट पारलौकिक सुख निरतिशय होता है, यह भी युक्त नहीं है, कारण यह कि लोक में जितने प्रकार के सुख देखे जाते हैं, सब सातिशय[1] ही हैं, इस साहचर्य से अदृष्ट सुख भी सातिशय ही होगा, इस अनुमान से भी यही सिद्ध होता है कि निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति कोई पदार्थ नहीं है।

इसका समाधान यह है कि जिस अनुपलब्धि के बल से निरतिशय सुख

१. जिससे बढ़कर भी कोई सुख है।—ले०

या दुःख-निवृत्ति का अपलाप करते हैं, उसकी अनुपलब्धि कतिपय व्यक्ति को ही है, या व्यक्ति मात्र को ? पहला पक्ष तो कह नहीं सकते ; क्योंकि बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी सत्ता संसार में है, और वे कुछ व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं होता, कारण यह है कि व्यक्ति मात्र को वे उपलब्ध नहीं हैं, यह कैसे ज्ञात हुआ ? क्योंकि, सबके ज्ञान या अज्ञान का निश्चय एक मनुष्य के लिए असम्भव है। इस अवस्था में ऐसा कोई भी नहीं कह सकता कि निरतिशय सुख या दुःख-निवृत्ति का ज्ञान किसी को नहीं है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक प्राणी सबसे बढ़कर सुखी होना चाहता है। यदि सबसे बढ़कर कोई सुख या उसका आश्रय न हो, तो उसकी इच्छा निर्विषयक हो जायगी, जो अनुभव-विरुद्ध है। यह मानी हुई बात है कि असद् वस्तु की इच्छा नहीं होती; और सबसे बढ़कर सुख की इच्छा होती है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस सुख की भी सत्ता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। यही बात दुःख-निवृत्ति में भी है।

ऊपर जो कुछ हम कह आये हैं, उसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने प्राप्त सुख की अपेक्षा अधिक सुख की अभिलाषा करता है, और प्राप्त दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा अधिक दुःख-निवृत्ति चाहता है, यही स्वाभाविक स्थिति है। मोक्ष या अपवर्ग उसी अवस्था को कहते हैं, जिसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के लिए कोई अभिलषणीय या प्राप्तव्य वस्तु नहीं रह जाती, जिसके लिए उसकी इच्छा या प्रयत्न हो। इसी अवस्था को सुख या दुःख-निवृत्ति की पराकाष्ठा कहते हैं। श्रुतियों ने विभिन्न प्रकार से इसी अवस्थाविशेष का वर्णन किया है। जैसे—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्', 'सोऽभयं गतो भवति', 'अमृतत्वञ्च गच्छति।' यह अमृतत्व या अभयत्व परम मोक्ष की अवस्था है और निरतिशय दुःख-निवृत्ति से ही मनुष्य अभय होता है। यहाँ 'सर्वान् कामान् अश्नुते' से निरतिशय सुख-प्राप्ति और 'अभयं गतो भवति', 'अमृतत्वञ्च गच्छति' से निरतिशय दुःख-निवृत्ति ही सूचित होती है।

भावी दुःख की आशङ्का से चित्त में जो विकलता उत्पन्न होती है, उसी का नाम है भय। दुःख का लेशमात्र रहने से भी भय की सम्भावना बनी रहती है, इसलिए सर्वथा दुःख से रहित होना निरतिशय दुःख-निवृत्ति की अवस्था में ही सम्भव है। जन्म-मरण से उत्पन्न होनेवाला दुःख तो सबसे भयङ्कर दुःख है, और इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटना ही दुःख से आत्यन्तिक रूप में छूटना है। इसीलिए, श्रुतियाँ मोक्ष का वर्णन करते समय कहती हैं—'न स भूयोऽभिजायते', 'सोऽमृतत्वाय कल्पते।'

एक बात और विचारणीय है—यदि निरतिशय सुख की प्राप्ति और निरतिशय दुःख की निवृत्ति में प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, तब तो प्राणिमात्र को मुमुक्षु होना चाहिए। परन्तु, संसार में ऐसा देखा नहीं जाता। बिरले ही पुरुष मुमुक्षु होते हैं। इसका समाधान यह है कि जिसे निरतिशय सुख-प्राप्ति और निरतिशय दुःख-निवृत्ति-स्वरूप मोक्ष का ज्ञान ही नहीं है, उसकी प्रवृत्ति मोक्ष में कैसे हो सकती है ? क्योंकि, ज्ञात सुख के लिए ही प्रवृत्ति होना सर्वतन्त्रसिद्ध है। कुम्हार को जबतक

मिट्टी, चाक, दण्ड आदि साधनों का ज्ञान न हो, तबतक घड़ा बनाने में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इतना ही नहीं, साधन के ज्ञान होने पर भी साधन की अनिश्चितता में प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान, कि हमारा परम प्राप्तव्य लक्ष्य मोक्ष है, हजारों में दो-चार को ही होता है, और इस प्रकार के ज्ञान न होने के कारण ही बहुत कम मुमुक्षु होते हैं। मोक्ष की इच्छा तो दूर की बात है, पारलौकिक सुख की इच्छा ही कितनों को होती है?

सुख, दुःख आदि की दृष्टि से मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—एक वे हैं, जो अपनी स्थिति के अनुसार सुख के सब साधनों को प्राप्त किये हुए हैं। दूसरे वे हैं, जिन्हें सुख के सब साधन प्राप्त नहीं हैं, किन्तु प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे वे हैं, जिन्हें सुख-साधन प्राप्त करने की योग्यता तो है, परन्तु नहीं प्राप्त कर सकते। प्रथम कक्षा के लोगों में, जिन्हें सब सुख-साधन प्राप्त हैं, प्रतिशत दो या एक ही होंगे, जिनकी प्रवृत्ति, पूर्वार्जित सुकृत कर्म के उदय होने से, परमार्थ की ओर होती है। परन्तु, अधिकांश व्यक्ति प्रायः सुख-साधनों में ही लिप्त होकर अन्धे हो जाते हैं, और उनकी दृष्टि परलोक-साधनों की ओर कथमपि नहीं जाती। द्वितीय कक्षावालों में कुछ अधिक लोगों की परलोक की ओर प्रवृत्ति होती है। कारण यह है कि जबतक इष्ट सुख प्राप्त करने में समर्थ होकर भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते, तबतक आशा में बँधे रहने और प्रयत्न करने पर भी यदि सुख नहीं मिलता, तो अगत्या पारलौकिक सुख की ओर कुछ प्रवृत्ति होने लगती है। परन्तु, ऐहिक सुख की आशा उनको नहीं छोड़ती, इसलिए इस कक्षा के भी अधिकांश लोग ऐहिक सुख के न प्राप्त होने पर भी आशा में फँसे रहने के कारण परलोक की ओर ध्यान नहीं देते। तीसरी कक्षा के लोग उससे कुछ अधिक परलोक के लिए भी ध्यान देते हैं, कारण यह है कि उनके लिए ऐहिक सुख प्राप्तव्य होने पर भी वे उसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनकी आशा भी दुर्बल हो जाती है।

जिस प्रकार भुना हुआ बीज अंकुरोत्पादन में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार दुर्बल आशा भी भावी सुख के अनुसन्धान को उत्पन्न नहीं कर सकती है। परन्तु, इतना होने पर भी बहुत कम आदमी परलोक के लिए चेष्टा करते हैं। कारण, जबतक ऐहिक सुख के लिए आशा का लेश भी बना हुआ है, तबतक पारलौकिक सुख के लिए प्रयत्न असम्भव-सा होता है। आशा-पिशाची से ग्रस्त होने के कारण ही जब हम पारलौकिक सुख के लिए ध्यान नहीं दे सकते, तब मोक्ष के लिए यत्न करने की बात ही कहाँ उठती है। इस प्रकार के अनेक मोहक विषयों की अभिलाषा, और आशा-पिशाची के रहते भी कुछ लोगों की मोक्ष की ओर जो प्रवृत्ति होती है, उसमें ईश्वर की कृपा ही समझनी चाहिए। श्रुति कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' अर्थात्, जिसको परमात्मा चाहता है, उसी की परमार्थ में प्रवृत्ति होती है।

मोक्ष का स्वरूप

अब मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसपर विचार होगा। ऊपर दो प्रकार का मोक्ष कहा गया है—आत्यन्तिक सुखप्रवृत्ति और आत्यन्तिक

दुःख-निवृत्ति। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ये दोनो सम्मिलित मोक्ष हैं, अथवा भिन्न? केवल एक मानने में भी प्रश्न होता है कि क्या केवल आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति ही मोक्ष है, या केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही? उत्तर में केवल आत्यन्तिक सुख को ही मोक्ष नहीं कह सकते, कारण यह है कि आत्यन्तिक सुख रहने पर भी यदि आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति न हुई, तो दुःख के लेश रहने से वह सुख आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। कारण, सब प्रकार के दुःखों के लेश से भी असंस्पृष्ट जो सुख है, उसी को आत्यन्तिक या निरतिशय कहा जाता है। किसी प्रकार के दुःख का लेश रहने पर वह सातिशय हो जाता है। इसलिए, किसी प्रकार भी वह निरतिशय या आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहें कि इतर सब सुखों की अपेक्षा अधिक होने के कारण, लेशतः दुःख रहने पर भी, वह निरतिशय कहा जा सकता है; क्योंकि लेशतः दुःख निरतिशय सुख के स्वरूप में कुछ न्यूनता-सम्पादन नहीं कर सकता, किन्तु सुख के अनुभव में ही कुछ न्यूनता ला सकता है। इस प्रकार, लेशतः दुःख रहने पर भी सर्वाधिक निरतिशय सुख को मोक्ष माना जाय, तो किसी प्रकार केवल सुख को मोक्ष कह सकते हैं। परन्तु, वह मोक्ष शब्द का स्वारसिक[1] अर्थ नहीं हो सकता। मोक्ष शब्द का स्वारसिक अर्थ है—मुक्तता, अर्थात् सब प्रकार के दुःखों से छूटना। और, जहाँ दुःख का लेश-मात्र भी है, वहाँ मुक्ति कहाँ? लेशतः दुःख विद्यमान रहने पर भी प्रगाढ सुख के अनुभव-काल में उसकी प्रतीति नहीं होने से वह अविद्यमान-सा रहता है, इसलिए वह आत्यन्तिक सुख या मोक्ष कहा जा सकता है। यदि ऐसा कहें, तो किसी प्रकार हो सकता है, वह भी उन्हीं के मत में सम्भव है, जो आत्मा में परस्पर भेद मानते हैं, और जो आत्मा को एक मानते हैं, उनके मत में नहीं।

कारण यह है कि आत्मैक्यवादी के मत में प्रतीयमान भेद को औपाधिक मानना आवश्यक होता है, अन्यथा अद्वैत-सिद्धान्त भंग हो जायगा और मोक्षावस्था में औपाधिक भेद के भी विलय होने से एक अखण्ड पूर्ण स्वतन्त्र सर्वनियन्ता परमेश्वर ही नित्य रह जाता है। इस अवस्था में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति स्वयं हो जाती है, अतएव केवल निरतिशय सुख-प्राप्ति ही मोक्ष इनके मत में नहीं बनता। दूसरे शब्दों में, केवल सुख-स्वरूप को मोक्ष माननेवाले को चित् और जड़ में भी भेद अवश्य मानना होगा; क्योंकि अभेद मानने में जड़ का आरोपित होना अनिवार्य हो जायगा। और, यदि मोक्षावस्था में आरोपित वस्तु का भान नहीं होता, तो सुख भी मोक्षावस्था में उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह भी अचेतन होने से आरोपित ही होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और अनात्मा तथा परस्पर आत्मा में भी जो भेद मानते हैं, उन्हीं के मत में केवल आत्यन्तिक सुख कथमपि मोक्ष हो सकता है, और जो इनमें भेद नहीं मानते, उनके मत में केवल सुख मोक्ष नहीं हो सकता।

यहाँ कुछ और विस्तार से विचार करना चाहिए कि क्यों निरतिशय सुख-प्राप्ति और निरतिशय दुःख-निवृत्ति को सम्मिलित रूप में मोक्ष कहते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता का

---

१. यथार्थ-यौगिक।

ही नाम आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति है; क्योंकि परतन्त्रता ही दुःख का बीज है और पूर्ण स्वतन्त्रता तो केवल परमात्मा को ही है। मुक्त पुरुषों को परमात्मा से भिन्न माना जाय, तो भी ईश्वर के परतन्त्र उन्हें मानना ही होगा, और यदि सब मुक्तात्माओं को ईश्वर से भिन्न होने पर भी स्वतन्त्र मान लिया जाय, तो जगत् का व्यापार चल कैसे सकेगा? क्योंकि, पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था में दो में भी मतभेद देखा जाता है, तो बहुतों की स्वतन्त्रता में फिर कहना ही क्या है। फिर भी, जगत् का व्यापार सुव्यवस्थित रूप से नियमतः चल रहा है; अस्तु। यह एकतन्त्र ही है, अनेकतन्त्र नहीं। इस दृष्टि से मुक्तात्मा को भी ईश्वर के परतन्त्र ही मानना होगा, और परतन्त्रता में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति की सम्भावना ही नहीं हो सकती, इसलिए एकात्मवाद; अर्थात् आत्मा और परमात्मा में अभेद का सिद्धान्त मानना ही होगा। एकात्मवाद मानने से मुक्तात्मा पूर्ण स्वतन्त्र ईश्वर-स्वरूप ही हो जाता है। इस स्थिति में, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति मोक्षावस्था में स्वयं सिद्ध हो जाती है। परन्तु, मोक्षावस्था में आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति तभी सम्भव है, जब आत्मा और अनात्मा में भेद मानें; क्योंकि शरीर और विषयों के सम्बन्ध से ही सुख उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श आदि विषय और यह शरीर भी तो जड़ ही है। मोक्षावस्था में सुखोत्पादन के लिए शरीर और विषयों का अस्तित्व मानना ही होगा, और उसको सत्य ही मानना होगा, कारण यह कि आरोपित मानने से मोक्षावस्था में सुख का भान नहीं हो सकता।

इससे यह सिद्ध होता है कि जब आत्मा और अनात्मा, अर्थात् चित् और जड़ में भेद है और आत्मा-परमात्मा में अभेद, तभी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति, सम्मिलित मोक्षावस्था में, हो सकती है और यह प्रत्यभिज्ञा-वादियों के ही मत में सम्भव है।

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' (छान्दोग्य० ८।१२।१), अर्थात् मोक्षावस्था में प्रिय और अप्रिय, अर्थात् सुख या दुःख का स्पर्श नहीं होता। दूसरे शब्दों में, जिस अवस्था में सुख या दुःख का लेश भी नहीं रहता, उसी को कैवल्य या मोक्ष कहते हैं। इस अवस्था में अप्रिय स्पर्श के समान ही प्रिय, अर्थात् सुखानुभव का भी श्रुति निषेध करती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति या सम्मिलित आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति—इनमें कोई भी मोक्षावस्था में श्रुति-सम्मत नहीं है। किन्तु, केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही मोक्षावस्था में श्रुति-सम्मत है। मोक्षावस्था में सुख-दुःख दोनों में से किसी का भी लेश नहीं रहता, यही श्रुति का तात्पर्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या आत्मा पाषाण के सदृश जड़ है, जिसे सुख-दुःख का स्पर्श अर्थात् अनुभव नहीं होता? अथवा, क्या मुक्तात्मा स्वभावतः अभोक्ता, असंग और निर्लेप है? आत्मा को पाषाण की तरह अचेतन मान लेना अज्ञान है। जिसमें दुःख की सम्भावना हो, फिर भी दुःख से मुक्त हो, वही मुक्तात्मा है। इसलिए, पाषाण की तरह जीव को अचेतन मानना युक्त नहीं है।

हम जीवात्मा को पाषाण की तरह सर्वदा अचेतन नहीं मानते, किन्तु

मोक्षावस्था से पहले जीवात्मा चेतन रहता है, और मोक्षावस्था में ही वह जड हो जाता है। कारण यह है कि ज्ञान का ही नाम चैतन्य है, इसलिए ज्ञानी को चेतन कहा जाता है। बद्धावस्था में जीव को ज्ञान रहता है, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव वहाँ होता है, और मुक्तावस्था में ज्ञान-गुण का ही सर्वथा लोप हो जाता है, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं हो सकता। यद्यपि इस प्रकार, मोक्षावस्था में केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति भी सिद्ध हो जाती है, तथापि इस प्रकार की मोक्षावस्था को श्रुति नहीं मानती; क्योंकि मोक्षावस्था में सर्वात्मैक्यदृष्टि को श्रुति मानती है—'यत्रत्वस्य *सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्*' (बृ० आ० २।४।४)। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, वहाँ किससे किसको देखें, किससे किसको जानें। यह श्रुति मोक्षावस्था में दर्शन और ज्ञानादि का अभाव-बोधन करती है, परन्तु जड़ होने के कारण नहीं, किन्तु 'सर्वमात्मैवाभूत्' सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, इसलिए दर्शनादि के साधन न रहने के कारण यह सर्वात्मैक्यदृष्टि-प्रयुक्त ज्ञानादि के ही अभाव का बोधन करती है।

यहाँ एक रहस्य और समझना चाहिए कि जब सर्वात्मैक्यदृष्टि पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाती है, तब द्रष्टा और दृश्य का भान नहीं होता। वहाँ दृष्टि स्वरूपतः विद्यमान रहने पर भी दृष्टि शब्द से व्यवहार करने योग्य नहीं रह जाती। इसलिए, श्रुति में 'सर्वमात्मैवाभूत्' यहाँ 'अभूत्' इस सत्तार्थक 'भू' धातु का प्रयोग हुआ। 'आत्मैव दृश्यते', ऐसा नहीं कहा गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा को स्वाभाविक अभोक्ता स्वीकार करने पर ही मोक्ष में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति सिद्ध होती है, पाषाणादि की तरह जड़ मानने से नहीं। एक बात और है कि यदि हम आत्मा को स्वाभाविक अभोक्ता मान लेते हैं, तो उसका भेद या अभेद स्वीकार करने में कोई भी विरोध नहीं होता, और सुख-दुःख के लेश नहीं रहने से आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति भी मोक्ष में सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार मोक्ष के सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया, और प्रत्येक दर्शनकार ने अपने-अपने अभिमत प्रमाणों के आधार पर मोक्ष के स्वरूप में जो भेद माना है, उसका विवेचन उनके दर्शनों के सिद्धान्त-निदर्शन के समय किया जायगा।

मोक्ष का साधन

अब मोक्षावस्था की प्राप्ति का साधन क्या है, इसके बारे में कुछ विचार करना चाहिए। मोक्ष के साधन की जिज्ञासा होने पर मोक्ष के स्वरूप-ज्ञान की अपेक्षा होती है। उक्त मोक्ष के स्वरूपों में दुःख-निवृत्ति को ही सर्वाभिमत माना गया है, और दुःख-निवृत्ति के सामान्यतः दो प्रकार माने गये हैं। जैसे, शारीरिक या मानसिक रोगों का चिकित्सक दुःख के असह्य होने पर मादक औषधियों के द्वारा दुःख-संवेदन को रोक देता है और जो चतुर चिकित्सक है, वह दुःख के कारणों को समझकर उन कारणों को ही निर्मूल करने की चेष्टा करता है। इन दोनों उपायों में दूसरा ही उत्तम समझा जाता है; क्योंकि पहले उपाय से दुःख-संवेदन रुक जाने पर भी उसका मूल विद्यमान होने के कारण पुनः दुःख होने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए, दुःख के

मूल कारण का परिहार करना ही दुःख-निवृत्ति का सर्वोत्तम उपाय है। मूल कारण के परिहार के लिए उसका स्वरूप-ज्ञान आवश्यक होता है। लोक में अनेक प्रकार के दुःख देखे जाते हैं, उन सबका परिहार मुमुक्षुओं का कर्त्तव्य है। कारण, एक छोटे-से-छोटे दुःख के रहने पर आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती। यह प्रकट है कि अप्रिय वस्तु के संसर्ग से दुःख होता है, परन्तु एक अप्रिय वस्तु का परिहार करने पर दूसरी अप्रिय वस्तु आ जाती है, और परिणाम यह होता है कि अप्रिय वस्तुओं का एक ताँता-सा लगा रहता है। इन सबका परिहार करना कठिन होने पर भी अत्यावश्यक है।

एक और भी विचारणीय बात है कि एक किसी प्रकार के दुःख का यही मूल कारण है, यह निश्चय करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। इस स्थिति में नाना प्रकार के दुःखों का यही मूल कारण है, यह निश्चय करना तो और भी कठिन हो जाता है। जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए दुःख का साधन है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए सुख का साधन हो जाती है। और, जो वस्तु एक समय में किसी व्यक्ति के लिए दुःख का साधन है, वही वस्तु उसी व्यक्ति के लिए कालान्तर या देशान्तर में सुख का साधन हो जाती है।

इस परिस्थिति में, भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के दुःखों का यही मूल कारण है, ऐसा विचार बहुत सूक्ष्म दृष्टि से ही करना होगा। ऊपर कह आये हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धवाली जितनी भौतिक वस्तुएँ संसार में उपलब्ध होती हैं, उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर ही सुख या दुःख का अनुभव होता है। उनमें कुछ वस्तुएँ सुख को और कुछ दुःख को उत्पन्न करती हैं। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सुख-दुःख की उत्पादक जो वस्तुएँ हैं, उनका कारण क्या है? और, उस कारण का भी कौन कारण है? इस प्रकार मूल कारण की खोज करने पर सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक वस्तुओं के मूल कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, तब तो वस्तुओं का सुखोत्पादकत्व या दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप मूल कारण का ही स्वरूप है, ऐसा स्वीकार करना होगा। यदि सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक वस्तुओं का मूल कारण एक ही होगा, तब तो सुख-दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप मूल कारण का स्वरूप नहीं है, यह मानना होगा; क्योंकि एक कारण से विरुद्ध दो तत्त्वों की उत्पत्ति कारण-स्वभाव के विरुद्ध है। यदि सुख-दुःखोत्पादकत्व मूल कारण में नहीं माना जाय, तो इस स्थिति में यह मानना होगा कि मूल कारण से कार्योत्पादन-परम्परा के मध्य में ही किसी वस्तु में किसी निमित्त से सुखोत्पादकत्व और दुःखोत्पादकत्व-स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। अतएव, संसार में भूत-भौतिक निखिल पदार्थों के मूल कारण के अन्वेषण में मुमुक्षुजनों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

इस जगत् में जितने भूत-भौतिक पदार्थ देखे जाते हैं, उनमें ये वस्तुएँ सुख-साधन हैं, और ये दुःख-साधन, इस प्रकार उन्हें दो भागों में विभक्त नहीं कर सकते। कारण यह है कि सुखोत्पादकत्व और दुःखोत्पादकत्व ये वस्तु के ही अधीन नहीं हैं, अर्थात् सुख और दुःख वस्तु के ही धर्म नहीं हैं, किन्तु वे भोक्ता पुरुष के भी अधीन

होते हैं। उदाहरण के लिए, कामिनी और कनक सुख-साधनों में सबसे उत्तम माने जाते हैं; परन्तु वे ही वीतरागों के लिए सुखकारक नहीं होते, प्रत्युत उद्वेगकारक ही हो जाते हैं। कहा गया है—

> 'वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम्।
> कामिनीकनकेभ्योऽपि न सुखं शान्तचेतसाम्॥'

तात्पर्य यह है कि यह वस्तु सुखकारक है और यह दुःखकारक, इस प्रकार का निर्देश नहीं कर सकते; क्योंकि कोई भी वस्तु व्यवस्थित नहीं है। वीतरागों को कामिनी और कनक से सुख नहीं मिलता। इसलिए, भोक्ता पुरुष में भी सुखोत्पादक और दुःखोत्पादक धर्म विशेष रूप से मानना ही होगा। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पुरुष का जो सुख-दुःखोत्पादक धर्मविशेष माना जाता है, वह अनादिकाल से ही पुरुष में रहता है या बीच में किसी निमित्त से उत्पन्न हो जाता है? इस बात का निर्णय करने के लिए जड़ वस्तुओं के मूल कारण का अन्वेषण करना आवश्यक है, उसी प्रकार अपने मूल कारण का भी पता लगाना आवश्यक हो जाता है।

तत्त्व-विचार

उक्त जड़ या चेतन वस्तु का जो मूल स्वरूप है, उसी का 'तत्त्व' शब्द से व्यवहार शास्त्रकारों ने किया है। 'तस्य भावस्तत्त्वम्' इस व्युत्पत्ति से जड़ और चेतन पदार्थों का जो मूल स्वरूप है, वही 'तत्त्व' कहलाता है। जिसका ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी हो, उसको भी आचार्यों ने 'तत्त्व' माना है। जड़ और चेतन के मूल स्वरूप का ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में उपयोगी माना गया है, अतएव जड़ और चेतन का मूल स्वरूप ही तत्त्व शब्द का वास्तविक अर्थ होता है। इस प्रकार, सामान्यतः दो तत्त्व सिद्ध होते हैं—एक, जड़ पदार्थों का मूल कारण और दूसरा, चेतन पदार्थों का मूल कारण।

अब श्रुति-सम्मत कौन-कौन तत्त्व हैं, इसका विचार किया जायगा—यद्यपि श्रुति-सम्मत तत्त्वों के विषय में शास्त्रकारों का विवाद नहीं है, तथापि प्रत्येक दर्शनकार ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वों का वर्णन किया है। तत्त्व-जिज्ञासा का प्रकार यह है कि स्थूल कार्य देखकर सूक्ष्म कारण के लिए जिज्ञासा होती है, इसी प्रकार विशेष भूत से उसके कारण-सामान्य और मूर्त्त कार्य से अमूर्त्त कारण की जिज्ञासा होती है। इस प्रकार, कार्य देखकर कारण-विषयक जिज्ञासा स्वभावतः हुआ करती है। कारण के ज्ञान होने पर मूल कारण का अन्वेषण सुलभ हो जाता है। इसी अभिप्राय से, परमात्मा से शरीरादि सकल स्थूल प्रपंचपर्यन्त कार्य-कारण-भाव के ज्ञापन के लिए, सृष्टि-क्रम का वर्णन श्रुति ने किया है। यद्यपि, सृष्टि-क्रम वस्तुतः एक ही प्रकार का है, तथापि वर्णन-शैली विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। एक ही वस्तु का विभिन्न प्रकार से वर्णन ज्ञान-सौकर्य के लिए प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। उदाहरण के लिए, काव्यों में एक ही चन्द्रोदय या सूर्योदय का वर्णन विभिन्न उपमाओं के साथ विभिन्न प्रकार से किया गया है। यह विभिन्न-प्रकार का वर्णन भी, विभिन्न रुचिवाले श्रोताओं के हृदय में विषय-वस्तु के सुलभतया प्रवेश करने के लिए ही, प्रसंगानुसार किया गया है।

सृष्टि का प्रतिपादन करनेवाली जितनी श्रुतियाँ हैं, उनकी एकवाक्यता भगवान् बादरायण ने ब्रह्म-सूत्र के द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में 'नवियदश्रुतेः', 'अस्ति तु', 'गौण्यसम्भवात्' इत्यादि सूत्रों में उत्तम प्रकार से की है। श्रुति में वर्णित सृष्टि-क्रम के अनुसार ये तत्त्व पाये जाते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। ये पाँच भूत—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र—ये पाँच तन्मात्र। इन तन्मात्रों का ग्रहण करनेवाली श्रोत्र, त्वक्, अक्षि, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इनका प्रेरक मन। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और इनके अध्यक्ष प्राण, बुद्धि, महान् आत्मा और अव्यक्त पुरुष—ये ही तत्त्व सृष्टि-प्रक्रिया में गिनाये गये हैं। इन्हीं सब तत्त्वों में परस्पर कार्य-कारण-भाव श्रुतियों ने दिखाया है। कार्य-कारण की परम्परा में सबका मूल कारण परमात्मा का साक्षात्कार ही है। कार्य-कारण-भाव दीखने का यही अभिप्राय है। इसी अभिप्राय से तत्त्वों में परापर-भाव भी श्रुतियों द्वारा वर्णित है—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्यादि कठ-श्रुतियों के द्वारा इन्द्रियों से परे अर्थ, अर्थ से परे मन, मन से परे बुद्धि, इस प्रकार परापर-भाव बताया गया है। तात्पर्य यह कि पहले इन्द्रियों के ज्ञान होने के बाद ही विषयों का ज्ञान होता है। विषयों के ज्ञान के बाद मन का, उसके बाद बुद्धि का, इस प्रकार पूर्व-पूर्व के बाद उत्तरोत्तर का ज्ञान करते-करते सबसे परे परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार बाह्य वस्तु के ज्ञान होने के बाद ही उसके अन्तःस्थ, अर्थात् भीतरी वस्तु का ज्ञान होना सम्भव है। इसी कारण, परमात्मा का सर्वान्तःस्थ और सर्वान्तर्यामी होना श्रुति बताती है। एवम्प्रकारेण, स्थूल पदार्थ के ज्ञान के बाद ही सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान होना सम्भव है। सूक्ष्म के ज्ञान होने के बाद ही उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम का ज्ञान या साक्षात्कार भी होता है। इस प्रकार, अनेक प्रकार के उपाय परमात्मा के साक्षात्कार के लिए श्रुति बतलाती है।

आत्मसाक्षात्कार के उपाय

समस्त कारणों का भी कारण, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम, सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही है। और, अत्यन्त सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धियों को श्रुति की सहायता से आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है। परमात्मा का यथावत् स्वरूप बताने में श्रुति भी अपने को असमर्थ पाती है, और इसीलिए बार-बार कहती है—'नेति नेति', 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' इतना ही नहीं, बृहदारण्यक में लिखा है—'वेदाः अवेदाः', अर्थात् समस्त पदार्थों का बोध करानेवाले वेद भी परमात्मा का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ रहते हैं। श्रुतियों ने परमात्मा का बोध कराने में जो कुछ भी प्रयास किया है, वह मुख्यतः निषेधात्मक ही है। जैसे—'अस्थूलम् अनणु'; 'नान्तःप्रज्ञं, न बहिःप्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्, अदृष्टम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्' इत्यादि। उससे भिन्न के निषेध में ही श्रुति की सफलता है। इस प्रकार, दुर्बोध होने पर भी परमात्मा का बोध कराने में श्रुति अपना प्रयत्न नहीं छोड़ती। इतना ही नहीं, 'अयं ब्रह्म' कहकर अत्यन्त मन्दबुद्धियों को भी

ब्रह्म-भावना को दृढ़ कराती है। किसी भी वस्तु में सर्वोत्तम ब्रह्म की भावना हो, यही श्रुति का मुख्य उद्देश्य है। माता की तरह 'अन्नं ब्रह्म' कहकर वह हमें ब्रह्म-ज्ञान की ओर उत्प्रेरित करती है। सहज स्नेहमयी जननी की तरह भगवती श्रुति भी कभी वञ्चना नहीं कर सकती, प्रत्युत यथाधिकार अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि की ओर हमें उत्प्रेरित करती है। बाद में, पूर्णाधिकार प्राप्त हो जाने पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का उपदेश देती है, और 'आनन्दं ब्रह्म', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि वचनामृतों से हमें निर्भय बनाकर कृतार्थ कर देती है।

श्रुतियों में अधिकार के भेद से अनेक प्रकार के मार्ग ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए बताये गये हैं। वे श्रुतियाँ प्रणवादि मन्त्रों का जप और प्रतिमादि-पूजन से परम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कार तक की ओर हमें केवल उत्प्रेरित ही नहीं करतीं, प्रत्युत उसमें प्रतिष्ठित कराने के लिए उपाय भी बताती हैं। श्रुति कहती है—परमात्म-सदन में, प्रवेश-द्वार पर ही द्वारपालों की तरह प्रतिबन्धक-रूप में, विषय और इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। इनको किसी प्रकार मिलाकर वश में करना आवश्यक है। इनको वश में करने का उपाय भी श्रुति बताती है—'यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः' (कठोपनिषद्)।

इसके बाद श्रुति कहती है—मन और प्राण जो अधिकारिवर्ग हैं, उन्हें ब्रह्म-रूप में ही देखो। यथा—'मनो ब्रह्म व्यजानात्', 'प्राणो ब्रह्म व्याजानात्' (तै० उ०)। इसके बाद भी श्रुति अपना व्यापार नहीं छोड़ती, और कहती है—अनन्य भाव से ब्रह्म में निष्ठा करो, प्रमाद न करो, 'ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः' (प्र० उ०); 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्' (म० उ०)। इस प्रकार, श्रुत्युपदेश के अनुष्ठान से ब्रह्मजिज्ञासु को जब पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है, तभी परमात्मा उसको आत्मीय समझकर देखता है, उसी को आत्मसाक्षात्कार होता है, यही परमात्मा का वरण अर्थात् स्वीकृति है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ।' आत्मसाक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार सामान्यतः पर्यालोचन करने पर श्रौत दर्शनों में दो प्रकार के तत्त्व सिद्ध होते हैं—एक द्रष्टा, दूसरा दृश्य। ज्ञानस्वरूप चैतन्य का नाम द्रष्टा है। अचेतन अनात्मभूत जड़ का नाम दृश्य है। वह अनेक प्रकार का है—आकाशादि पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, दस इन्द्रियाँ, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, प्राण, ज्ञान सामान्य और अव्यक्त। ये दृश्यवर्ग कहे जाते हैं। इन तत्त्वों के मूल कारण का अन्वेषण तीन प्रमाणों से सुगम होता है—प्रत्यक्ष, शब्द और अनुमान। इन्हीं तीन प्रमाणों को 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' कहकर श्रुति भी क्रमशः सूचित करती है। इनमें भी मूलतत्त्वभूत आत्मा, जो ब्रह्म है, उसका साक्षात्कार होना मोक्ष के लिए आवश्यक है। इस साक्षात्कार के लिए गुरु-मुख से श्रवण कर, श्रुति आदि से निश्चय कर मनन करना उपयुक्त है। बिना प्रत्यक्ष दर्शन के श्रवणमात्र से कृतार्थता नहीं होती। दीप के श्रवणमात्र से अन्धकार की निवृत्ति नहीं होती। केवल शब्द-ज्ञान परोक्ष ही होता है, दर्शन ही प्रत्यक्ष है। परोक्ष और प्रत्यक्ष में बहुत अन्तर है, यह प्रायः सबको अनुभूत है। इससे प्रकृत में यही सिद्ध होता है कि केवल आत्मा के श्रवण-मात्र से ही कृतार्थता नहीं होती, कृतार्थता तो होती है

साक्षात्कार से। श्रवण से निश्चित जो अर्थ है, उसकी विपरीत भावना की निवृत्तिपूर्वक उपपत्ति के लिए मनन ही उपयुक्त होता है। और, मनन अनुमान के ही अधीन है। सबसे परे मूल तत्त्व के साक्षात्कार के लिए मुख्यतया शब्द, अर्थात् श्रुति-प्रमाण ही उपयुक्त है। अनुमान तो उसका पोषक होने से पार्षद ही कहा जाता है।

अब मूल तत्त्व के अन्वेषण का उपयोग क्या है, इसका विचार किया जाता है। लोक में देखा जाता है कि एक ही मृत्तिका की दो प्रतिमाएँ बनाई गई हैं—एक, सुन्दर देवता की; दूसरी, भयङ्कर राक्षस की। इन दोनों के नाम और उसके आकारविशेष रूप की समालोचना के समय दृष्टि में विषमता अवश्य आ जाती है—देवता-भावना से प्रेम और राक्षस-भावना से द्वेष अवश्य उत्पन्न होता है, जिस प्रकार प्रकृत में देवता या राक्षस के नाम और रूप को हटा देने पर मृत्तिका ही मूल तत्त्व बनती है, और यह भी जान लेना चाहिए कि नाम और रूप के कारण ही राग या द्वेष का जन्म होता है। देवता के नाम और रूप की आलोचना से प्रेम और राक्षस के नाम और रूप से ही द्वेष उत्पन्न होता है। दोनों का मूल तत्त्व मृत्तिका के अनुसन्धान से देवता और राक्षस-बुद्धि नष्ट हो जाती है, केवल मृत्तिका-बुद्धि ही रह जाती है। इस अवस्था में राग-द्वेष बिलकुल नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार प्रतिमा का कारण मृत्तिका का अनुसन्धान किया, उसी प्रकार मृत्तिका के कारण का भी अनुसन्धान करे, इसके बाद उस कारण के कारण का, फिर उस कारण के कारण का; इस कारण-परम्परा के अन्वेषण में सबसे परे मूल कारण का साक्षात्कार हो जाता है। इस अवस्था में राग-द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से चित्तवृत्ति प्रसन्न हो जाती है। चित्तवृत्ति के प्रसन्न होने से न कुछ प्रिय रहता है, न अप्रिय। प्रिय और अप्रिय का सम्बन्ध ही बन्ध, और उसका अभाव ही मोक्ष है। जैसा श्रुति-वचन पहले उपन्यस्त किया गया है—'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' (छा० उ०)। इस अवस्था में मुक्तात्मा और परमात्मा में कुछ भी भेद नहीं रह जाता। जिस प्रकार, शुद्ध जल में शुद्ध जल मिला देने से भेद भासित नहीं होता, उसी प्रकार मूल तत्त्व के साक्षात्कार करनेवाले महात्माओं को आत्मा परमात्मा से भिन्न भासित नहीं होता। श्रुति कहती है—

'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥'—क० उ०, २।१।१५

इस प्रकार का मोक्ष केवल आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से ही प्राप्त होता है, इसमें दूसरे किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। साधनान्तर की अपेक्षा का निषेध स्वयं श्रुति करती है—'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (तै० आ०), अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही मनुष्य अमृत, अर्थात् मुक्त हो जाता है। मुक्ति के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। पुनः श्रुति कहती है—'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन् परमं ब्रह्म याति नान्येन हेतुना।' अर्थात्, जो मनुष्य सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को देखता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है, इसमें कोई दूसरा हेतु नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय ही मोक्ष-मार्ग में आत्मज्ञान परमावश्यक है; और भी कर्म, उपासना, तप आदि मोक्ष के जो साधन बताये गये हैं, उनका निषेध भी नहीं होता; क्योंकि चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में उसकी उपयोगिता अवश्य रहती है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद उनकी उपयोगिता नहीं रह जाती। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' (बृ० आ० उ० ४।४।२२)—इस श्रुति का भी तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि केवल विविदिषा अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति में ही यज्ञ, दान और तप आदि का उपयोग होता है, ज्ञान-प्राप्ति के बाद नहीं।

श्रुतियों में मुक्ति के दो भेद बताये गये हैं—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० उ० ६।१४।४२)—इस श्रुति से सद्योमुक्ति का वर्णन किया गया है। और—

'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥'

—म० ना० उ० १२।३

इस श्रुति से क्रममुक्ति का वर्णन किया गया है। क्रममुक्ति के प्रसङ्ग में ही देवयान-मार्ग का वर्णन छान्दोग्य और बृहदारण्यक में विस्तृत रूप से किया गया है।

पुनर्जन्म-विचार

इन दो प्रकार की मुक्तियों में मूल भेद यह है कि मोक्ष के प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्म का जब समूल नाश हो जाता है, और आत्मविज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, उस अवस्था में सद्योमुक्ति होती है। यदि प्रारब्ध कर्म का समूल नाश न हो, अथवा आत्मविज्ञान पराकाष्ठा को न पहुँचे, तब तो क्रममुक्ति ही होती है। जबतक आत्मविज्ञान नहीं होता, केवल मरने से संसार से मुक्ति नहीं मिलती, कर्मफल के उपयोग के लिए बार-बार जन्म-मरण का चक्कर लगा ही रहता है। कहा भी है—'जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः', 'पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः, (कैवल्योपनिषद्, १।१४) इत्यादि श्रुति, तथा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यादि स्मृति-वाक्यों से पुनर्जन्म तो सिद्ध ही है, इसके अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से भी उसकी पुष्टि होती है।

लोक में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति जन्म से ही राजकुल में उत्पन्न होने के कारण सुखोपभोग करता है, और दूसरा व्यक्ति दरिद्र-कुल में जन्म लेकर दुःख भोगता है। इस वैषम्य का कारण केवल पुनर्जन्म के अतिरिक्त दूसरा क्या हो सकता है? क्योंकि, यह सब प्रमाणों से सिद्ध है कि सुख और दुःख पुण्य-पाप कर्मों का ही फल है। नवजात शिशु के किसी कर्म की सम्भावना नहीं है, इसलिए अगत्या पूर्व-जन्म के कर्म का अनुमान किया जाता है। अन्यथा, बिना कर्म के ही सुख-दुःख का उपभोग मानना होगा, इस स्थिति में कारण के बिना कार्य नहीं होता, यह सिद्धान्त भंग हो जायगा। दूसरी बात यह है कि अकृताभ्यागम-दोष भी हो जाता है। बिना कर्म किये ही उसका फल भोगना अकृताभ्यागम-दोष कहा जाता है, जैसे—नवजात

राजकुमार तथा दरिद्र बालक। यदि पुनर्जन्म न माना जाय, तो इस जन्म में जो कुछ भला या बुरा कर्म किया, और उसका फल भोगे विना उसका शरीरान्त हो गया, इस स्थिति में उसका कर्म व्यर्थ हो जाने से कृतप्रणाश-दोष हो जाता है।

और भी, किसी काम में प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण होता है। तात्पर्य यह है कि तबतक मनुष्य या किसी जन्तु की उस काम में प्रवृत्ति नहीं होती, जबतक उसे यह ज्ञान न हो कि इसमें प्रवृत्त होने से मेरा इष्ट-साधन होगा। लोक में देखा जाता है कि गाय, भैंस आदि जानवरों के बच्चे जन्म लेते ही स्तन-पान में प्रवृत्त हो जाते हैं। अब यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या उन बच्चों की स्तन-पान में प्रवृत्ति इष्टसाधनता-ज्ञान के विना ही आकस्मिक है, या इष्टसाधनता के पारम्परिक ज्ञान से है ? यदि कारण के विना आकस्मिक प्रवृत्ति मानें, तब तो कारण के विना ही आकस्मिक कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए, जो असम्भव है। यदि इष्टसाधनता का ज्ञान मानें, तब तो पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है; क्योंकि पूर्व-जन्म के अनुभव के विना इष्टसाधनता का स्मरण होना असम्भव है।

इन्हीं सब कारणों से प्रायः सभी दर्शनकारों ने, केवल चार्वाक को छोड़कर, पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है। यहाँ तक कि क्षणभंगवादी या शून्यवादी बौद्ध लोग भी पुनर्जन्म-सिद्धान्त को मानते ही हैं।

सूक्ष्मशरीर की सत्ता

पुनर्जन्म-सिद्धान्त में स्थूलशरीर के अन्दर एक सूक्ष्म और कारणशरीर की भी सत्ता मानी जाती है, जो स्थूलशरीर के अभाव में भी कार्यकारी होता है। पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, प्राण और मन—इन्हीं सत्रह पदार्थों से सूक्ष्मशरीर निर्मित है, इसका कारण अविद्या या प्रकृति है। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का कारण होता है, इसीलिए स्थूलशरीर के अभाव में भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता सिद्ध है। कार्य के अभाव में भी कारण की सत्ता सर्वसिद्धान्त से सिद्ध है। इन्हीं पञ्चसूक्ष्मभूत, दस इन्द्रियाँ, प्राण और मन को सूक्ष्मशरीर-संज्ञा आचार्यों ने भी दी है। वाचस्पति मिश्र ने भी 'प्राणगतेश्च' इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—'सर्वेषामनुविधेयः सूक्ष्मो देहो भूतेन्द्रियमनोमय इति गम्यते' (भामती, अ० ३)। 'शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते'—पञ्चदशी के इस श्लोक का भी यही तात्पर्य है। यही सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर का कारण होता है। कार्योत्पत्ति के पहले कारण की सत्ता अवश्य मानी जाती है। इससे सिद्ध है कि कार्य के अभाव में भी कारण की सत्ता अवश्य रहती है। और, स्थूलशरीर से जो शुभ या अशुभ कर्म होता है, उसका संस्कार सूक्ष्मशरीर के ऊपर भी अवश्य होता है। इसी कर्मजन्य संस्कार से प्रेरित होकर जीवात्मा पूर्वदेह को छोड़कर देहान्तर को प्राप्त करता है। सूक्ष्मशरीर का परलोक-गमन भगवान् वेदव्यास ने भी—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्', 'प्राणगतेश्च' इत्यादि—वेदान्त-सूत्रों से सूचित किया है। इसका भाष्य करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—'जीवः मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः

समनस्कोऽविद्याकर्म पूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वं देहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यते, इत्येतदवगन्तव्यम्।' यहाँ जीवात्मा के जितने विशेषण हैं, उनसे पूर्वोक्त सूक्ष्मशरीरविशिष्ट जीवात्मा का ही देहान्तरगमन सूचित होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थूलशरीर के विना भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता अवश्य रहती है।

प्रतिदिन के स्वप्न का अनुभव भी उक्त विषय में प्रमाण होता है कि स्थूलशरीर के विना भी सूक्ष्मशरीर की सत्ता और कार्यकारिता विद्यमान रहती है। जिस समय घर के भीतर चारपाई के ऊपर स्थूलशरीर सो जाता है, उस समय भूतेन्द्रियमनोमय उसका सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर की कर्मवासना से प्रेरित होकर ज्ञात-अज्ञात नगर या जंगल में भ्रमण करता हुआ कर्मवासना के अनुसार सुख या दुःख का उपभोग करता है। इसी प्रकार जीवात्मा स्थूलशरीर के छूटने पर कर्म-वासना के अनुसार सूक्ष्मशरीर के साथ नाना योनियों में जाकर अनेक प्रकार के सुख-दुःख का उपभोग करता है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक-उपनिषद् में पञ्चाग्नि-विद्या से देवयान और पितृयान-मार्ग के द्वारा जीवात्मा के देहान्तर-गमन का जो वर्णन किया गया है, वह केवल कल्पनामात्र नहीं है, किन्तु उसमें वास्तविकता है। जिस प्रकार सूर्य-रश्मियों के द्वारा समुद्र से जाते हुए जल-बिन्दुओं को कोई भी नहीं देखता, उसी प्रकार स्थूलशरीर से सूक्ष्मशरीर-सहित जीवात्मा को अर्चि (ज्योति) आदि के मार्ग से जाते हुए कोई नहीं देखता। यह सब काम सूर्य-चन्द्रमा की रश्मियों और वायु में विद्यमान अदृश्य आकर्षण-शक्तियों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ करता है।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है केवल मरणमात्र से मोक्ष नहीं होता, किन्तु आत्म-साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। आत्मसाक्षात्कार का हेतु उपासना है। इसके विना आत्मसाक्षात्कार होना असम्भव है। कारण यह है कि आत्मा अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, उसका साक्षात्कार विना उपासना के नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी राजा से मिलने के लिए किसी अधिकारी की आवश्यकता होती है; क्योंकि उसी के द्वारा राजा का साक्षात्कार सम्भव है, उसी प्रकार आत्माधिकार के द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। क्योंकि, सीमित शक्तिवाले स्थूलशरीरधारी एक साधारण राजा के दर्शन के लिए भी यदि किसी अधिकारी की आवश्यकता होती है, तो जिसके ऐश्वर्य की सीमा नहीं, उस अचिन्त्य-शक्तियुक्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम परमात्मा के साक्षात्कार के लिए अधिकारी की आवश्यकता हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है! राजा का दर्शन अधिकारी के विना भी किसी प्रकार हो सकता है; क्योंकि वह स्थूल दृश्यमान पदार्थ है। परन्तु, परमात्मा अत्यन्त अदृष्ट और अदृश्यमान है, इसलिए किसी प्रकार भी उसका साक्षात्कार होना, विना किसी के द्वारा, असम्भव है, अतएव यहाँ किसी माध्यम की कल्पना आवश्यक हो जाती है। इसी अभिप्राय से छान्दोग्योपनिषद् में 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुति के द्वारा मन में ब्रह्म-भावना से उपासना का विधान किया गया है। कारण यह है कि प्रसिद्ध वस्तु में ही किसी की भावना सम्भव है, और प्राणिमात्र में मन की स्थिति साधारणतया प्रसिद्ध है, इसलिए उसमें वस्त्वन्तर की भावना कर सकते हैं।

प्रतीकोपासना

जो काम शरीर से हो सकता है, उससे कहीं अधिक वचन से उसका प्रतिपादन कर सकते हैं; क्योंकि जो कार्य शरीर से नहीं हो सकता, उसका प्रतिपादन वाणी कर सकती है, और जिसका प्रतिपादन वाणी भी नहीं कर सकती, उसकी भी उपपत्ति मन से कर सकते हैं। मन की गति अप्रतिहत है, वह कहीं नहीं रुकती। इसलिए, मन ही अप्रतिहत शक्तिवाले सर्वव्यापक ब्रह्म का किसी प्रकार ज्ञापक हो सकता है, इसी चिह्न से मन में परमात्मस्वरूप की कल्पना किसी प्रकार कर सकते हैं। इसी अभिप्राय से ब्रह्म-प्राप्ति का अधिकारी समक्ष मन में ब्रह्म-भावना की उपासना का विधान भगवती श्रुति करती है। इसमें ब्रह्मस्वरूप की प्रधानतया उपासना नहीं होती। जिस प्रकार, अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण को देखकर कोई कहे कि, 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः'—यह ब्राह्मण सूर्य है, तो इस वाक्य से अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण ब्राह्मण का ही महत्त्व प्रतीत होता है, सूर्य का नहीं। परन्तु, यदि यही वाक्य किसी असूर्यम्पश्या राजमहिला के समीप कहा जाय, तो इसका अभिप्राय भिन्न हो जाता है। क्योंकि, सूर्य के स्वरूप को नहीं जाननेवाली राजमहिलाओं के समीप सूर्य का स्वरूप बताने के लिए समीप-स्थित तेजस्वी ब्राह्मण का निर्देश कर 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः' कहा गया है। इसका तात्पर्य, जिस प्रकार इस ब्राह्मण का विशिष्ट तेज है, उसी प्रकार अतिशय तेजःपुञ्जविशिष्ट कोई सूर्य-पदार्थ होगा। यहाँ सूर्य का ही महत्त्व प्रतिपादित होता है, ब्राह्मण का नहीं। इसी प्रकार 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'—इस वाक्य के द्वारा मन में ब्रह्म-भावना की उपासना का विधान करने से अप्रतिहत शक्ति-विशिष्ट सर्वव्यापक ब्रह्म-भावना को दृढ़ कराने में ही श्रुति का तात्पर्य प्रतीत होता है, मन को ब्रह्म बताने में नहीं। इसी उपासना का नाम प्रतीकोपासना है।

उपाध्युपासना

जिस प्रकार शरीर के ज्ञान से शरीरोपाधिविशिष्ट जीवात्मा का ज्ञान होता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त सामर्थ्यविशिष्ट मन के ज्ञान से मन-उपाधिविशिष्ट परमात्मा का ज्ञान होना सुलभ होता है। और, जिस प्रकार शरीर में जो शरीरत्व है, शरीरोपाधि का उपाधेयभूत जो जीवात्मा है, वह तन्मूलक ही होता है, उसी प्रकार मन में जो पूर्वोक्त सामर्थ्यविशिष्ट मनस्त्व धर्म है, मन उपाधि का उपाधेयभूत जो परमात्मा है, वह भी तन्मूलक ही होता है। यहाँ शरीर और मन को उपाधि, अर्थात् विशेषण और जीवात्मा-परमात्मा को उपाधेय अर्थात् विशेष्य समझना चाहिए। इस प्रकार की उपासना का नाम 'उपाध्युपासना' है। इसका वर्णन 'मनोमयः प्राणशरीरः' इस छान्दोग्य श्रुति में किया गया है। इस उपासना में उपास्य देव की ही प्रधानता रहती है।

ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है

उपासना में, जिस रूप से ब्रह्म की भावना का विधान श्रुति ने बताया है, वह सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१)। सत्य का अर्थ है त्रिकालाबाध्य, अर्थात् जिसका तीनों काल में कभी बाध न हो।

चित् को ज्ञान कहते हैं। जिसकी इयत्ता न हो, वह है अनन्त। इस सत्य, चित् और अनन्त रूप से किसी अन्य पदार्थ में भावना का नाम उपासना है। इस प्रकार, ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण का निरूपण करने के बाद भी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति, प्रत्यक्षतः अनुभूयमान जो पृथ्वी आदि भौतिक पदार्थ हैं, उनके साथ ब्रह्म का कार्य-कारण-भाव दिखाती है। ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण करने के बाद भी कार्य-कारण-भाव दिखाने का तात्पर्य यही समझा जाता है कि श्रुति में जिनकी श्रद्धा नहीं है, उनको उसी ब्रह्म का, अनुमान के द्वारा भी, निश्चित बोध कराने के लिए ही श्रुति की पुनः प्रवृत्ति हुई, *अथवा पूर्वोक्त ब्रह्म के सम्बन्ध में कार्य-कारण-भाव के द्वारा प्रमाण दिखाना ही* श्रुति का उद्देश्य है। परमवत्सला श्रुति एक ही विषय को अनेक प्रकार से समझाने के लिए उद्यत देखी जाती है। छान्दोग्योपनिषद् में भी आत्मोपदेश करने के समय श्रुति अनेक प्रकार के विभिन्न दृष्टान्तों के द्वारा नौ बार 'तत्त्वमसि', 'तत्त्वमसि' का उपदेश करती है। तैत्तिरीय-उपनिषद् में भी, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस स्वरूप-लक्षण के बाद पुनः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि कार्य-कारण-भावमूलक अनुमान द्वारा उसी ब्रह्म का बोध कराया गया है। पहले भी बताया गया है कि शब्द-प्रमाण का पार्षद अर्थात् अनुगामी अनुमान होता है, और वह साक्षात्कार में अत्यन्त उपयोगी होता है। ब्रह्म में अनुमान का प्रामाण्य श्रुति के पार्षद होने के कारण ही माना जाता है। श्रुति का भी यही अभिप्राय सूचित होता है, इसीलिए बृहदारण्यक में 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' (२।४।५) इस वाक्य से आत्मदर्शन का विधान करने के बाद उसका उपाय दिखलाते समय 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इस वाक्य में श्रवण के बाद ही मनन का विधान श्रुति करती है—पहले 'श्रोतव्यः', बाद 'मन्तव्यः'। 'मन्तव्यः श्रोतव्यः; ऐसा पाठ नहीं करती। इससे सूचित होता है कि श्रवण अर्थात् श्रुति के बाद ही मनन अर्थात् अनुमान उपयुक्त होता है, यही श्रुति का अभिप्राय है। इसीलिए, अनुमान श्रुति का पार्षद अर्थात् अनुगामी कहा जाता है।

अनुमान का अनुभवकत्व

एक बात और भी यहाँ ज्ञातव्य है कि अनुमान का अनुभवकत्व 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' से जो ब्रह्म सूचित होता है, वही कार्य-कारण-भावमूलक अनुमान से भी सिद्ध होता है, दूसरा नहीं। कारण यह है कि कार्य अपने अनुरूप ही कारण का अनुमापक अर्थात् सूचक होता है। और, यह भी प्रायः सिद्ध ही है कि कार्य की अपेक्षा कारण नित्य, अपरिच्छिन्न और चेतन-पुरस्कृत ही होता है। मृत्तिका के विकारभूत जो घटादि-कार्य हैं, उनका कारणीभूत जो मृत्तिका है, वह स्वयं विनाशशील होने पर भी घटादि-कार्य की अपेक्षा नित्य और अपरिच्छिन्न भी है। क्योंकि, घटोत्पत्ति के पहले और घट-नाश के बाद भी मृत्तिका की सत्ता रहती है, और घटादि-कार्य का जो परिच्छेद अर्थात् इयत्ता है, वह मृत्तिका में नहीं रहता, इसलिए घटादि की अपेक्षा मृत्तिका नित्य और अपरिच्छिन्न होती है और घटोत्पत्ति-काल में मृत्तिका का जो कारण है, वह चेतन कुलाल से पुरस्कृत ही रहता है, अतः वह चेतन-पुरस्कृत भी है।

इसी प्रकार, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुति से समस्त पाञ्चभौतिक लोकत्रयात्मक प्रपंच का कारण ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होने के बाद उक्त समस्त कार्यभूत जगत् समष्टि की अपेक्षा कारणभूत ब्रह्म भी नित्य, अपरिच्छिन्न, इयत्तारहित अर्थात् अनन्त और चेतन-पुरस्कृत भी सिद्ध होता है। यहाँ एक और विशेषता है कि प्रपंच का कारण-भूत ब्रह्म स्वयं चेतन होने से किसी अन्य चेतन की अपेक्षा नहीं करता। कारणावस्था में चेतन होने से ही वह चेतन-पुरस्कृत कहा जाता है। मृत्तिका के सदृश ब्रह्म अचेतन नहीं है, जिससे वह अन्य चेतन की अपेक्षा करे। जगत् का कारण होने से ही ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त सिद्ध होता है। इसीलिए, जगत् और ब्रह्म में कार्य-कारण-भाव श्रुतिकारों ने दिखाया है।

श्रुतियों की गूढार्थता से उत्पन्न संशय

इस प्रकार, श्रुति के द्वारा कार्य-कारण-भाव बोधित होने के बाद ही परमात्मा में अनुमान का भी अवकाश मिलता है। श्रुति का यही अभिप्राय है, इस प्रकार का निर्णय करना कठिन है। कारण यह है कि कहीं तो श्रुति का अर्थ स्पष्ट है, कहीं गूढ है और कहीं गूढ से भी गूढ। जिस श्रुति का अर्थ स्पष्ट है, उसमें संशय न होने पर भी श्रुति की गूढार्थता के विषय में, पुरुषों में दृष्टि-भेद होने के कारण, संशय हो ही जाता है। जो श्रुतियाँ गूढतरार्थ हैं, उनके विषय में तो संशय होना अनिवार्य है।

गूढार्थ होने से श्रुति का तात्पर्य समझ में नहीं आता। इसी कारण संशयात्मक कुछ प्रश्न उठते हैं, उनमें कुछ प्रश्नों का निर्देश किया जाता है—

तत्त्व कितने प्रकार के होते हैं? उनका स्वरूप क्या है? तत्त्वों की सिद्धि किस प्रमाण से होती है? प्रमाण कितने हैं? कौन प्रमाण तत्त्वान्वेषण में पर्याप्त है? कौन प्रमाण प्रबल है, कौन दुर्बल? कौन प्रमाण स्वतः है, कौन परतः? वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय? शब्द नित्य है या अनित्य? कौन प्रमाण मुख्य है, कौन गौण? प्रमाण से सिद्ध जो चेतन है, वह एक है या अनेक? ईश्वर सगुण है या निर्गुण? जीव एक है या अनेक? सगुण है या निर्गुण? नित्य है या अनित्य? अणुपरिमाण है या मध्यम या विभु? जड़ है या चेतन? कर्त्ता है या अकर्त्ता? भोक्ता है या अभोक्ता? अचेतन पदार्थ के जो मूल कारण हैं, वे त्रसरेणु हैं या उनके अवयव या परमाणु या शब्द या प्रकृति या आत्मशक्ति? अचेतन चित् से भिन्न है या अभिन्न? अचेतन मूल तत्त्व कितने हैं? इसी प्रकार आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद इत्यादि वादों में कौन वाद न्याय्य और शास्त्र-सम्मत है? आकाश, काल, दिक् और अन्धकार ये तत्त्वान्तर हैं या नहीं? कार्यरूप से जो परिणाम होता है, वह स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक? कार्य कारण से भिन्न है या अभिन्न? परमात्मा कार्य का उपादान है या निमित्त; या उभय या उभय से भिन्न? परमात्मा में जो कर्त्तृत्व है, वह कर्मसापेक्ष है या निरपेक्ष? अचेतन पदार्थ सत् है या असत्? सत् होने पर भी स्थिर है या क्षणिक? आन्तर है या बाह्य या उभयरूप? विनाशी है या अविनाशी? विनाश भी सान्वय है या निरन्वय? अचित् के साथ चित् का सम्बन्ध कैसा है? ज्ञान का स्वरूप क्या है?

वह द्रव्य है या गुण? साकार है या निराकार? ख्याति का स्वरूप क्या है? मोक्ष कौन देता है? इत्यादि अनेक प्रकार के संशय श्रुति के गूढार्थ और मनुष्यों की मति के बाहुल्य के कारण हुआ करते हैं। इसमें कौन आचार्य क्या मानते हैं, यह उनके दर्शनों के संक्षिप्त निदर्शन के अवसर पर बताया जायगा।

प्रमाण के विषय में मतभेद

दर्शन-रूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर होने से साधारण बुद्धिवालों के लिए अत्यन्त दुर्विगाह्य हो जाता है, इसलिए प्रत्येक पदार्थ में मतभेद का वर्णन आवश्यक हो जाता है। 'मानाधीना मेयसिद्धिः', अर्थात् प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है, इस अभिप्राय से पहले प्रमाण के विषय में ही मतभेद का प्रदर्शन किया जाता है।

चार्वाकों के मत में यथार्थ ज्ञान का साधक एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना जाता है। इन्द्रिय से उत्पन्न जो ज्ञान है, वही इनके मत में यथार्थ है। इसके अतिरिक्त सब यथार्थ ही है, ऐसा निश्चय नहीं कर सकते।

आप्तवाक्य-स्थल में भी श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होने के कारण शब्द-मात्र ही यथार्थ है; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-मात्र का ही ग्रहण कर सकता है, अर्थ का नहीं। दूसरे शब्दों में, श्रोत्रेन्द्रिय से गृह्यमाण शब्द केवल अपने स्वरूप का ही ग्रहण करा सकता है, अर्थ का नहीं। इनका कहना है कि आप्तवाक्य का अर्थ सत्य भी हो सकता है; परन्तु सत्य ही है, इस प्रकार का निश्चय न होने से प्रमाण नहीं हो सकता। नदी के किनारे फल है, यह कहने से सम्भव हो सकता है कि वहाँ फल हो; परन्तु अवश्य फल होगा, इस प्रकार निश्चय करना विना इन्द्रिय-सम्बन्ध के असम्भव है। अतएव, इनके मत में शब्द प्रमाण नहीं माना जाता।

चार्वाक अनुमान को भी प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि अनुमान व्याप्ति-ज्ञान के अधीन है, जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। इस प्रकार जो साहचर्य का नियम है, वही व्याप्ति की परिभाषा है; परन्तु यह नियम व्यभिचरित हो जाता है। कारण यह है कि यदि वर्त्तमानकालिक सकल धूम और अग्नि के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध न रहने से व्यभिचार की शङ्का हो जाती है, तो अतीत अनागत धूमाग्नि में व्यभिचार की शङ्का अनिवार्य हो जाती है। भूतकाल में अग्नि के विना भी धूम हुआ हो, या भविष्य में ही कभी विना अग्नि के धूम हो जाय, इस प्रकार की व्यभिचार-शङ्का जबतक बनी रहेगी, तबतक धूम और अग्नि के साथ व्याप्ति का निश्चय होना असम्भव है। यदि यह कहें कि प्रत्यक्ष से सकल धूमाग्नि के व्याप्ति-ज्ञान न होने पर भी, बार-बार दर्शन-रूप अनुमान से ही, सकल धूम और अग्नि में व्याप्ति का निश्चय कर लेंगे, तो इसका उत्तर यह है कि जिस अनुमान से आप व्याप्ति का ज्ञान करते हैं, वह अनुमान भी व्याप्ति-ज्ञान के अधीन है, फिर उस व्याप्ति-ज्ञान के लिए अनुमान की अपेक्षा पुनः उसके लिए व्याप्ति-ज्ञान की, इस प्रकार अन्योन्याश्रय या अनवस्था-दोष हो जाता है, इसलिए इनके मत में अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि शङ्कित व्याप्ति-ज्ञान से ही अनुमिति कर लें, तो क्या हानि है? इसका

उत्तर यह है कि शङ्कित व्याप्ति-ज्ञान से शङ्कित ही अनुमिति होगी, निश्चित नहीं। कारण यह है कि व्याप्ति के निश्चित ज्ञान से जो अनुमान होता है, वही यथार्थ अर्थ का बोधक होता है। इन्हीं कारणों से ये लोग अनुमान को प्रमाण नहीं मानते। उपमान आदि भी इनके मत में प्रमाण नहीं हैं। इसीलिए, ये लोग 'प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी' और 'आध्यक्षिक' कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त सब दर्शनकारों ने अनुमान को अवश्य प्रमाण माना है। यहाँ तक कि श्रौत दर्शनों के अलावा बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने भी अनुमान को आवश्यक प्रमाण माना है।

अनुमान को प्रमाण माननेवालों के मत मे कार्य-कारण-भाव, या स्वभाव से ही व्याप्ति का निश्चय हो जाता है। धूम और अग्नि में कार्य-कारण-भाव का निश्चय अन्वय और व्यतिरेक से होता है। अन्वय और व्यतिरेक की परिभाषा यह है—

'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः तदभावे तदभावो व्यतिरेकः।'

अर्थात्, जिसकी सत्ता से ही उसकी सत्ता रहे, उसे अन्वय और जिसके अभाव में उसका अभाव हो, वह व्यतिरेक कहा जाता है। कारण की सत्ता में ही कार्य की सत्ता और कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है, इसलिए कार्य-कारण में अन्वय-व्यतिरेक माना जाता है। अग्नि की सत्ता में ही धूम की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती, इसीलिए अग्नि और धूम में अन्वय-व्यतिरेक होने से अग्नि कारण और धूम कार्य है, इस प्रकार का निश्चय किया जाता है। अग्नि और धूम में कार्य-कारण-भाव सिद्ध होने पर धूम को देखकर कारण अग्नि का अनुमान सहज ही हो जाता है। क्योंकि, कार्य कारण के विना नहीं हो सकता। इस प्रकार, धूम और अग्नि में कार्य-कारण-भाव सिद्ध हो जाने पर व्यभिचार की शङ्का ही नहीं उठती, इस अवस्था में व्याप्ति का ज्ञान भी सुलभ हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि अनुमान को प्रमाण नहीं माननेवाले चार्वाकों की सबसे प्रबल युक्ति यही है कि अतीत और अनागत धूम में अग्नि के व्यभिचरित होने की शङ्का रहने से व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए अनुमान नहीं होगा। परन्तु, उनसे पूछना चाहिए कि जिस अतीत और अनागत धूमाग्नि में आप व्यभिचार की शङ्का करते हैं, उस धूम और अग्नि का ज्ञान आपको किस प्रमाण से हुआ? प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि अतीत और अनागत धूम-अग्नि के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होता, और विषय के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को सब लोग प्रत्यक्ष मानते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष से अतीत अनागत धूम और अग्नि का ज्ञान नहीं कर सकते और अनुमान आदि को आप प्रमाण मानते नहीं, इस स्थिति में आपने जो व्यभिचार की शङ्का की है, वह निराधार हो जाती है। अतीत अनागत धूम और अग्नि की सिद्धि के लिए अनुमान को प्रमाण मानना अत्यावश्यक हो जाता है। इसलिए, आपकी जो व्यभिचार-शङ्का है, वही अनुमान-प्रमाण की साधिका हो जाती है। इसी अभिप्राय से उदयनाचार्य ने भी लिखा है—

'शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।'

अर्थात्, यदि शङ्का है, तब तो अनुमान अवश्य मानना होगा, और यदि शङ्का नहीं है,

तब तो उससे भी अधिक अनुमान-प्रमाण की सत्ता सिद्ध हो जाती है; क्योंकि व्यभिचार-शङ्का के निवारण के लिए अनुकूल तर्क की भी आवश्यकता नहीं होती।

बौद्धों के मत में अनुमान को प्रमाण माना जाता है। शब्द को ये प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध जो पदार्थ है, उसी को शब्द व्यक्त करता है, इसलिए पृथक् प्रमाण में इसकी गणना नहीं होती।

वैशेषिक भी उक्त रीति से प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण मानते हैं। शब्द और उपमान को ये प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि उन्मत्त के प्रलाप आदि के शब्द प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु प्रमाणभूत ईश्वर या महर्षि आदि से उच्चरित जो शब्द है, वही प्रमाण माना जाता है। इसलिए, प्रमाणभूत पुरुष से प्रोक्त होने के कारण ही शब्द में प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है, इसलिए अनुमान-प्रमाण के अधीन शब्द में ही प्रामाण्य-ज्ञान होने से अनुमान से पृथक् शब्द को प्रमाण नहीं माना जाता। इसलिए विश्वनाथ भट्ट ने कहा है—

'शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥'—कारिकावली

माध्व-सम्प्रदायवाले भी दो ही प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और शब्द। इनका कहना है कि अनुमान यद्यपि प्रमाण है, तो भी श्रुति से सिद्ध अर्थ का बोध करानेवाला जो अनुमान है, वही प्रमाण हो सकता है, स्वतन्त्र अनुमान प्रमाण नहीं होता, इसीलिए माध्व-सम्प्रदाय में अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता।

परन्तु, यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि श्रुति की सहायता के बिना परमात्मा आदि अलौकिक पदार्थ की सिद्धि में उपाय भी क्या है? कूर्म-पुराण का वचन है—

'श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव तत्॥'

तात्पर्य यह है कि श्रुति की सहायता के बिना स्वतन्त्र अनुमान, किसी भी निश्चित अर्थ का साधन नहीं कर सकता, इसीलिए इसको प्रमाणान्तर नहीं माना जाता।

विशिष्टाद्वैत में श्रीरामानुज-सम्प्रदायवाले प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। इनके मत में शब्द अनुमान की अपेक्षा नहीं करता, और न अनुमान ही शब्द की अपेक्षा करता है। दोनों अपने-अपने विषय में स्वतन्त्र हैं।

सांख्य-मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीनों को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है—

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥'—सांख्यकारिका

यहाँ 'दृष्ट' का अर्थ प्रत्यक्ष और 'आप्तवचन' का अर्थ शब्द ही है। प्राचीन नैयायिक भी इन तीनों प्रमाणों को मानते हैं। पतञ्जलि ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों को माना है—'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' इस पातञ्जल-सूत्र में 'आगम' शब्द से 'शब्द' ही माना गया है। कुछ प्राचीन नैयायिकों ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों को माना है। पर, अर्वाचीन

नैयायिक और गौतम उपमान-सहित चार प्रमाण मानते हैं—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।' यह गौतम का सूत्र है। उक्त चार प्रमाण और अर्थापत्ति मिलाकर पाँच प्रमाण मीमांसकविशेष प्रभाकर मानते हैं। कुमारिल भट्ट के मत में छह प्रमाण माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अद्वैत वेदान्त भी इन्हीं छह प्रमाणों को मानते हैं। पौराणिक लोग सम्भव और ऐतिह्य को मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं। तान्त्रिक चेष्टा को भी प्रमाण मानते हैं, इसलिए इनके मत में नौ प्रमाण हैं।

अब थोड़ा यह विचारना है कि चार्वाक-मतवाले एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, इसलिए ये अत्यन्त स्थूलदृष्टिवाले होते हैं। अनुमान को प्रमाण माने विना जगत् का व्यवहार ही लुप्त हो जायगा।

अतीत और वर्त्तमान-मार्ग के अनुसार ही अनागत-मार्ग में संसार की प्रवृत्ति देखी जाती है और चार्वाक लोग भी औरों के समान व्यवहार में अनुमान की सहायता लेते ही हैं। दूसरों के इङ्गित से उनका अभिप्राय चार्वाक भी समझते ही हैं, यह अनुमान नहीं, तो और क्या है! इस प्रकार, अनुमान से व्यवहार में काम लेते हुए भी यह कहना कि अनुमान प्रमाण नहीं है, अत्यन्त हास्यास्पद बात है। इसीलिए, विद्वान् लोग इनको हेय दृष्टि से देखते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्मसूत्रकार ने इनके मत को खण्डनीय मानकर भी उल्लेख नहीं किया है। इनका कहना है—'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिर्विनिवार्यते', अर्थात् किसी प्रकार विना युक्ति के बोलनेवाले को हमलोग मना नहीं करते।

चार्वाक से भिन्न दर्शनकारों में भी उक्त प्रकार का मतभेद देखा जाता है, परन्तु केवल प्रमाण-संख्या के विषय में ही, जैसे कोई दो प्रमाण मानते हैं, कोई तीन और कोई चार। इस प्रकार, संख्या में ही विवाद है, प्रमेय की सत्यता में प्रायः सब लोगों का एक मत है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं। तार्किक लोग जिस ईश्वर या परलोक का साधन तर्क के द्वारा करते हैं, उसको चार्वाक भले ही न मानें, परन्तु उनसे भिन्न सब दर्शनकारों ने उसे स्वीकृत किया है। प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण माननेवाले नैयायिक या छह प्रमाण माननेवाले वेदान्ती जिस ईश्वर या परलोक को शब्द-प्रमाण से सिद्ध करते हैं, उसको, प्रत्यक्ष और शब्द दो ही प्रमाण माननेवाले सांख्य और प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण माननेवाले वैशेषिक भी स्वीकार करते ही हैं। भेद केवल इतना ही है—वैशेषिकों का कहना है कि इनकी सिद्धि अनुमान से ही है, शब्द से नहीं। और, जैसे अर्थापत्ति-प्रमाण को माननेवाले मीमांसक 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ रात्रि-भोजन-रूप अर्थ को अर्थापत्ति-प्रमाण सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार अर्थापत्ति को प्रमाण न माननेवाले वैशेषिक और नैयायिक भी उसी रात्रि-भोजन-रूप अर्थ को अनुमान से ही सिद्ध करते हैं। और भी, जिस प्रकार अनुपलब्धि-प्रमाण माननेवाले वेदान्ती अनुपलब्धि से घटाभाव का साधन करते हैं, उसी प्रकार अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं माननेवाले नैयायिक आदि भी उसी घटाभाव को प्रत्यक्ष-प्रमाण का प्रमेय समझते हैं। इस प्रकार, प्रमाणों की संख्या में ही

परस्पर विवाद देखा जाता है। प्रमेय-रूप अर्थ की सत्ता, अर्थात् सत्यता में किसी प्रकार का विवाद नहीं है, इसलिए यह 'शुष्कवाद' ही कहा जाता है। इसी अभिप्राय से पाणिनीय इस विषय में उदासीन नहीं रहते हैं। वेदान्ती यद्यपि छह प्रमाण मानते हैं, तथापि उनके मूलसूत्रकार व्यासजी ने नैयायिकों की तरह प्रमाण का कोई सूत्र नहीं बनाया।

प्रमाणों में परस्पर सम्बन्ध

प्रमाणों में परस्पर चार प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं। कोई प्रमाण किसी प्रमाण का प्राणप्रद होता है, कोई किसी का उपजीव्य। कोई किसी का अनुग्राहक होता है, और कोई किसी का पार्षद। जिस प्रमाण का प्रामाण्य, प्रमाणान्तर अर्थात् दूसरे प्रमाण के अधीन होता है, वह (प्रमाणान्तर) उस प्रमाण का प्राणप्रद होता है।

यथा, नैयायिकों के मत में श्रुति-प्रमाण का प्रामाण्य-ज्ञान, अनुमान-प्रमाण के अधीन होता है, इसलिए इनके मत में अनुमान श्रुति का प्राणप्रद कहा जाता है। नैयायिक श्रुति का प्रामाण्य स्वतः नहीं मानते। इनका कहना है कि श्रुति इसीलिए प्रमाण है कि वह प्रमाणभूत ईश्वर से प्रणीत है। इसमें अनुमान का प्रकार यह है—श्रुतिः (पक्ष) प्रमाणम् (साध्य), प्रमाणभूतेश्वरप्रणीतत्वात् (हेतु), यत् न प्रमाणं न तदीश्वरप्रणीतम् (व्यतिरेक-व्याप्ति), यथोन्मत्तप्रलपितम् (दृष्टान्त), अर्थात् श्रुति प्रमाण है, प्रमाणभूत ईश्वर-प्रणीत होने के कारण जो प्रमाण नहीं है, वह ईश्वर-प्रणीत भी नहीं है। इस प्रकार, अनुमान के द्वारा ही श्रुति का प्रामाण्य सिद्ध होता है, इसीलिए नैयायिकों के मत में अनुमान श्रुति का प्राणप्रद होता है। इसी प्रकार, स्मृति-प्रमाण की प्राणप्रद श्रुति ही है; क्योंकि स्मृति का प्रामाण्य श्रुति-प्रमाण के अधीन ही है। प्राप्त प्रामाण्यवाले जिस प्रमाण का साधन प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण) के अधीन हो, वह प्रमाणान्तर उस प्रमाण का उपजीव्य कहलाता है। जैसे, प्रत्यक्ष से भिन्न अनुमान आदि प्रमाण का साधन, प्रत्यक्ष-प्रमाण के ही अधीन है, इसलिए प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमान आदि प्रमाणों का उपजीव्य कहा जाता है। कारण यह है कि अग्नि के अनुमान का साधन जो धूम है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण के ही अधीन है, और शब्द-बोध का साधनीभूत जो शब्द है, उसका ज्ञान-श्रावण प्रत्यक्ष के ही अधीन है।

अनुग्राहक उसे कहते हैं, जिस प्रमाण का प्रामाण्य-ज्ञान उपलब्ध है, और साधन भी उपपन्न है। उस प्रमाण के स्वीकार करने में जो प्रमाणान्तर सहायता करता है, उस प्रमाण का वह प्रमाणान्तर अनुग्राहक होता है। जैसे, 'आत्मा मन्तव्यः' (बृ॰ आ॰), यह श्रुति आत्मा के मनन द्वारा अनुमान को ग्राह्य, अर्थात् ग्रहण करने योग्य बताती है। क्योंकि, अनुमान से आत्मविषयक विपरीत भावना निवृत्त हो जाती है। इसलिए, यहाँ श्रुति अनुमान की अनुग्राहिका होती है।

जिस प्रमाण का प्रामाण्य उपलब्ध हो, साधन भी उपपन्न हो और प्रमाणान्तर से अनुगृहीत भी हो, परन्तु किसी विशिष्ट विषय में बिना किसी प्रमाणान्तर की सहायता के उसकी प्रवृत्ति नहीं होती हो, अर्थात् प्रमाणान्तर से मार्ग-प्रदर्शन के बाद ही प्रवृत्ति होती हो, तो वह प्रमाण उस प्रमाणान्तर का पार्षद अर्थात् अनुगामी होता है, और

वह प्रमाणान्तर ही अग्रेसर रहता है। जिस प्रकार वेदान्तियों के मत में 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्', इस प्रबल सिद्धान्त के अनुसार अचिन्त्य और अतर्क्य जो परमात्मा आदि पदार्थ हैं, उनके विषय में स्वतन्त्र रूप से अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, जब श्रुति-प्रमाण से मार्ग का प्रदर्शन होता है, तभी वहाँ अनुमान का प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, अनुमान श्रुति का पार्षद, अर्थात् अनुगामी होता है, और श्रुति अग्रेसर रहती है। क्योंकि, पहले श्रुति मार्ग दिखाती है, और उसके पीछे अनुमान प्रवृत्त होता है।

किसी विषय-विशेष-स्थल में अनुमान और शब्द दोनों यदि स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त हों, तो वहाँ कोई पार्षद या कोई अग्रेसर नहीं होता है, वहाँ यदृच्छा से किसी का प्रयोग कर सकते हैं, अथवा दोनों का उल्लेख कर सकते हैं। दोनों के उल्लेख में भी यह नियम नहीं है कि किसका उल्लेख पहले करें, जो पहले बुद्धि पर आ जाय, उसी का उल्लेख पहले कर सकते हैं; क्योंकि इस विषय में दोनों स्वतन्त्र हैं।

प्रमाणों में बाध्य-बाधक-भाव

अब यहाँ यह विचार किया जाता है कि किसी विषय में जहाँ परस्पर-विरुद्ध दो प्रमाणों का एक काल में सन्निपात हो, वहाँ कौन किसका बाध्य और बाधक होता है। लोक में इस प्रकार का नियम नहीं है कि अमुक प्रमाण अमुक प्रमाण का बाधक ही होता है, या बाध्य ही। देखा जाता है कि कहीं प्रत्यक्ष का भी आप्तवचन से बाध हो जाता है, और कहीं प्रत्यक्ष से ही आप्तवचन का बाध हो जाता है। कहीं प्रत्यक्ष से अनुमान का और कहीं अनुमान से प्रत्यक्ष का ही बाध हो जाता है। जैसे—नेत्र में दोष रहने के कारण किसी रस्सी आदि में सर्प का प्रत्यक्ष हो जाता है, वहाँ 'नायं सर्पः' इस आप्तवाक्य से सर्प-प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है। और, जहाँ 'नायं सर्पः' यह उन्मत्त-प्रलपित वाक्य है, वहाँ वास्तविक अदूषित नेत्र से उत्पन्न सर्प के प्रत्यक्ष से उस वाक्य का बाध हो जाता है। जो अन्यथासिद्ध है, वही बाध्य होता है। प्रथम उदाहरण में नेत्र दोषजन्य होने के कारण सर्प प्रत्यक्ष अन्यथासिद्ध है, अतएव उसका बाध होता है। द्वितीय उदाहरण में 'नायं सर्पः' यह जो वचन है, वह उन्माद-रूप दोष से जन्य है, इसलिए अन्यथासिद्ध होने से उसका बाध हो जाता है।

प्रमाण के विषय में तत्तत् दर्शनों के अनुसार उक्त रीति से यद्यपि मतभेद पाया जाता है, तथापि आजकल व्यवहार में मुख्य रूप से तीन ही प्रमाण माने जाते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। अन्य प्रमाणों को तत्तत् दर्शनों के अनुसार पृथक् मानें अथवा तीन ही में उनका अन्तर्भाव मानें, परन्तु बाध्य-बाधक-भाव, जिस प्रमाण का जिस प्रमाण में अन्तर्भाव होगा, उसी के अनुसार माना जायगा। जैसे—जहाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा अनुमान दुर्बल होता है, वहाँ अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भूत जो अर्थापत्ति-प्रमाण है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा दुर्बल समझा जायगा, और इसीलिए प्रत्यक्ष से उसका बाध होता है। कारण यह है कि प्रबलता और दुर्बलता के जो हेतु हैं, वे दोनों में तुल्य हैं। जैसे, पर्वत पर प्रत्यक्ष से ही अग्नि के अभाव का निश्चय कर

कोई मनुष्य उतरा है, और उसके समीप कोई मनुष्य उसी पर्वत पर अग्नि का साधन अनुमान से करता है, इस अवस्था में वह अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल होने से बाधित होता है। क्योंकि, दोष-जन्य होने से वह अन्यथासिद्ध है। यदि धूम-ज्ञान से अग्नि का अनुमान करता हो, तो वहाँ वाष्प या धूलि-पटल में धूम का भ्रम-दोष होता है, और यदि वृक्षादि हेतु से अग्नि का अनुमान करता हो, तो वहाँ वृक्ष और अग्नि में व्याप्ति का भ्रम-दोष समझना चाहिए।

इसी प्रकार, कोई मनुष्य किसी पर्वत के ऊपर अत्यन्त जाड़ा रहने पर भी किसी व्यक्ति को अत्यन्त स्वस्थ और पुष्ट देखकर सोचता है कि बिना अग्नि के इस प्रकार के जाड़े में इतना स्वस्थ रहना अनुपपन्न है, इस अनुपपत्ति-मूलक अर्थापत्ति से अग्नि का साधन करता है, तो वह अर्थापत्ति-प्रमाण भी दोष-जन्य होने के कारण अन्यथासिद्ध होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल होता है। यहाँ अत्यन्त जाड़े में स्वस्थता का हेतु अग्नि से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, इस प्रकार का भ्रम ही यहाँ दोष है। यदि उसी पर्वत के ऊपर अग्नि के अभाव का निश्चय दोष-जन्य हो, तो दोष-जन्य अग्नि के अनुमान की अपेक्षा वह प्रत्यक्ष भी दुर्बल होता है। यदि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों दोष-जन्य हों, तो दोनों समान ही होते हैं।

प्रमाणसाध्य प्रमेय

इस प्रकार दर्शन-भेद से प्रमाणों में भेद तथा प्रमाणों में परस्पर सम्बन्ध और बाध्य-बाधक-भाव का विचार संक्षेप में किया गया। अब उन प्रमाणों से किस वस्तु की सिद्धि होती है, और जगत् के मूल-कारण के अन्वेषण में किस दर्शन में कौन प्रमाण उपयुक्त होता है, इस विषय में विचार किया जायगा। इसके पहले यह जान लेना चाहिए कि प्रमाण से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, किन्तु पूर्वसिद्ध जो वस्तु है, उसके स्वरूप का ज्ञान प्रमाण से किया जाता है। अर्थात्, यह वस्तु इस प्रकार की है, ऐसा ज्ञान प्रमाण से बोधित किया जाता है। इस प्रकार, प्रमाण से ज्ञापित जो वस्तु है, वही प्रमाणसाध्य कही जाती है, और जो प्रमाण से साध्य है, उसी का नाम प्रमेय है।

वह प्रमेय दो प्रकार का होता है—एक चेतन, दूसरा अचेतन। इन दोनों में अचेतन अप्रधान और चेतन ही प्रधान है; क्योंकि अचेतन चेतन के ही अधीन रहता है। इसलिए, पहले चेतन का ही विचार करना चाहिए। चेतन में भी दो भेद प्रतीत होते हैं—एक ब्रह्म, अर्थात् परमात्मा, दूसरा जीवात्मा। इनमें जीवात्मा की अपेक्षा ब्रह्म ही प्रधान है; कारण यह है कि ब्रह्म-ज्ञान के लिए जीवात्मा का प्रयत्न देखा जाता है। इसलिए, पहले ब्रह्म का ही विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस अवस्था में विचारणीय ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रमाणों की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है, यह विचारणीय है। क्योंकि, प्रमाणों का जो प्रमाण-भाव अर्थात् प्रामाण्य है, उसका उपजीव्य (कारण) ब्रह्म ही है, और वह प्रमाणातीत, अर्थात् प्रमाण से परे है। कारण यह है कि ब्रह्म की सत्ता से ही प्रमाणों का आत्म-भाव, अर्थात् प्रामाण्य या प्रमाणकत्व

प्राप्त है। क्योंकि, सूर्य, चन्द्र और अग्नि आदि जितने प्रकाशक-वर्ग हैं, उनका प्रकाश परमात्मा के ही प्रकाश से अनुप्राणित है। इसी प्रकार प्रमेय के प्रकाशक प्रमाण की सत्ता भी उस ब्रह्म-सत्ता के ही आश्रित (अधीन) रहता है। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० उ०)। इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है कि समस्त प्रकाशकत्व शक्ति का केन्द्र वही ब्रह्म-सत्ता है। इस अवस्था में प्रमाण ब्रह्म का प्रकाशक या प्रमापक नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म प्रमाणों का भी उपजीव्य, अर्थात् कारण होता है।

जिस प्रकार, अग्नि अपने उपजीव्य वायु को प्रकाशित या दग्ध नहीं करता, उसी प्रकार प्रमाण भी अपने उपजीव्य ब्रह्म का प्रकाशक या प्रमापक नहीं हो सकता। यहाँ शङ्का होती है कि ब्रह्म यदि प्रमाणों से परे है, तब तो उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि, प्रमाण की वहाँ गति ही नहीं है और प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन मानी जाती है—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' (सां० का०)। इसलिए, प्रमाण से सिद्ध न होने से ब्रह्म की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

इसका उत्तर यह होता है कि यदि ब्रह्म की असत्ता हो, तब तो प्रमाण का ही असत्त्व हो जायगा। क्योंकि, प्रमाणों का उपजीव्य, अर्थात् कारण तो ब्रह्म ही है। और, कारण के अभाव में कार्य होता नहीं, यह सिद्ध है। इसलिए, प्रमाण का विषय न होने पर भी प्रमाणों का उपजीव्य होने के कारण ब्रह्म की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रमाणसिद्ध दो प्रकार का है—एक, प्रमाण का उपजीव्य होने से, दूसरा, प्रमाण का विषय होने से। पहले का उदाहरण—निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म, और दूसरे का भूत-भौतिक सकल प्रपञ्च। इस स्थिति में प्रमाणों का उपजीव्य होने से ब्रह्म की सिद्धि होने में कोई विरोध नहीं होता।

प्रमाणों के विषय में ऐसा समझना चाहिए कि प्रमाण अनेक हैं। यदि उनमें कोई प्रमाण किसी प्रमाणान्तर का विषय होने से सिद्ध भी हो जाता है, तो उस प्रमाणान्तर की सिद्धि के लिए दूसरे प्रमाणान्तर की अपेक्षा बनी रहती है। इस अवस्था में अनवस्था दोष की आपत्ति हो जाती है। इसलिए, किसी प्रमाण को प्रमाण का अविषय होने से स्वयंसिद्ध मानना ही पड़ेगा, और उसको स्वतःप्रमाण भी मानना होगा। इस परिस्थिति में उस प्रमाण के साधक प्रमाणान्तर के न होने पर भी उसके अप्रामाण्य की शङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि उसका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है।

उदाहरण के लिए—सब दर्शनकारों के मत में प्रत्यक्ष को स्वतःप्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष-प्रमाण का प्रामाण्य अनुमान आदि के द्वारा सिद्ध नहीं किया जाता; क्योंकि, वह स्वतःसिद्ध है। अनुमान-प्रमाण का प्रामाण्य प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया जाता है। जैसे—पर्वत या किसी दूर-देश में धूम को देखकर अनुमान प्रमाण से अग्नि का निश्चय किया। बाद में वहाँ जाकर अग्नि को प्रत्यक्ष देखता है, इस प्रकार एक जगह अनुमान के प्रामाण्य को प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध कर उसी दृष्टान्त से सत्-हेतुमूलक अनुमान-प्रमाण का प्रामाण्य अनुमान-प्रमाण से भी सिद्ध कर सकते हैं। इसी प्रकार शब्द-प्रमाण का भी प्रामाण्य प्रत्यक्षमूलक ही होता है, किन्तु सर्वत्र

प्रत्यक्षमूलक ही शब्द का प्रामाण्य होता है, इस प्रकार का कहीं नियम नहीं है, कारण यह है कि अदृष्ट अर्थ का प्रत्यक्ष होना हमलोगों के लिए असम्भव ही है। यह जो प्रमाणों का प्रामाण्य है, वह प्रमाणान्तर से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रमाणान्तर से गृहीत होता है, अर्थात् केवल उसका ज्ञान ही प्रमाणान्तर से होता है। प्रमाण की उत्पत्ति तो कहीं स्वतः, कहीं परतः होती है। इस विषय में आगे विचार किया जायगा।

आत्मसाक्षात्कार का स्वरूप

ब्रह्म, प्रमाण से सिद्ध है, इस प्रकार का लोक में जो व्यवहार होता है, इसका तात्पर्य यही है कि प्रमाणों के प्राणप्रद होने से ब्रह्म प्रमाणसिद्ध है, प्रमाण के विषय होने से नहीं। द्वैतवादियों के मत में प्रमाण का विषय भी किसी प्रकार ब्रह्म हो सकता है, परन्तु अद्वैतवादियों के मत में किसी प्रकार भी ब्रह्म प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। कारण यह है कि अद्वैतात्मसाक्षात्कार होने पर त्रिपुटी का विलय हो जाता है, और उस समय न प्रमाता का प्रमातृत्व रहता है, न ब्रह्म का प्रमेयत्व ही। क्योंकि, प्रमातृ-प्रमेयभाव द्वैतमूलक होता है, और उस अवस्था में द्वैत का सर्वथा अभाव हो जाता है। दोनों के अभाव में प्रमाण का प्रमाणत्व भी स्वतः निवृत्त हो जाता है। इसी का नाम त्रिपुटी का विलय है।

यहाँ शङ्का होती है कि यदि प्रमातृ-प्रमेय-भाव का विलय हो जाय, तब तो अद्वैतात्मसाक्षात्कार ही असम्भव हो जायगा। कारण यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव का ही नाम साक्षात्कार है। और, प्रत्यक्ष का अनुभव प्रमाता और प्रमेय के अधीन है। प्रमाता और प्रमेय के न रहने पर प्रत्यक्ष अनुभव-रूप आत्मसाक्षात्कार भी शश-शृङ्ग की तरह असम्भव हो जायगा।

इसका उत्तर यह होता है कि अद्वैत-साक्षात्कार का तात्पर्य है—द्वैत-साक्षात्कार का अभाव। अर्थात्, द्वैत-साक्षात्कार का न होना ही अद्वैतात्म-साक्षात्कार है। इस अवस्था में अन्यत्व का कुछ भी भान नहीं होता। इसी अवस्था-विशेष का वर्णन आनन्दस्वरूप 'भूमा' शब्द से छान्दोग्य-उपनिषद् में किया गया है—'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा', अर्थात् जिस अवस्था-विशेष में अन्यत्व का दर्शन, श्रवण और ज्ञान नहीं होता है, वही भूमा है, वही सुख अर्थात् आनन्द है। इसको समूल भेदभावना-निवृत्ति भी कहते हैं। इसी का नाम अद्वैतात्मसाक्षात्कार है। किसी प्रकार के द्वैत का भान न होना ही अद्वैतात्मसाक्षात्कार का वाच्य अर्थ है, यही इसका तात्पर्य है। मोहन बाईं आँख से देखता है, इस वाक्य का तात्पर्य यही होता है कि दाईं आँख से नहीं देखता। यहाँ वाम नेत्र से दर्शन के सम्भव रहने पर भी, जिस प्रकार दक्षिण नेत्र से न देखने में ही उक्त वाक्य का तात्पर्य समझा जाता है, उसी प्रकार अद्वैतात्मसाक्षात्कार से द्वैत-साक्षात्कार का अभाव ही अर्थ समझा जाता है, यही श्रुति का तात्पर्य है। यहाँ अद्वैतात्मसाक्षात्कार की सम्भावना भी नहीं है; क्योंकि उस अवस्था में त्रिपुटी का

विलय होने से द्रष्टा और दृश्य का भेद ही नहीं रह जाता, जिसमें किसी प्रकार के अनुभव की सम्भावना हो। अतएव, द्वैत-साक्षात्कार का अभाव या समूल भेद-भावना की निवृत्ति में ही अद्वैतात्मसाक्षात्कार का तात्पर्य समझा जाता है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि, यदि ब्रह्म प्रमाण का विषय नहीं होता है, तो ब्रह्म का बोध कराने के लिए जो श्रुति की प्रवृत्ति होती है, वह किस प्रकार संगत होगी? और, ब्रह्म को उपनिषद्-प्रतिपाद्य भी बताया गया है—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', अर्थात् उस उपनिषद् से सिद्ध ब्रह्म को पूछता हूँ। ब्रह्म को प्रमाण का विषय न मानने से श्रुति से विरोध स्पष्ट हो जाता है।

इसका उत्तर यह होता है कि पूर्वोक्त जो अद्वैतात्मसाक्षात्कार की अवस्था है, उससे अव्यवहित पूर्वावस्था की प्राप्ति-पर्यन्त प्रमाणों की प्रवृत्ति निर्बाध रूप से होती है। क्योंकि, उसी अवस्था के अव्यवहित उत्तर-काल में अद्वैतात्मसाक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार में ही त्रिपुटी का विलय होता है, उस अद्वैतात्मसाक्षात्कार से अव्यवहित पूर्वावस्था प्राप्त कराने में ही उपनिषदों की सफलता है। इसी प्रकार, ब्रह्म में प्रमाणों की गति मानी जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैतवादियों के मत में प्रमाणों के प्राणप्रद होने से ब्रह्म की सिद्धि होती है, और द्वैतवादियों के मत में प्रमाण के विषय होने से भी ब्रह्म सिद्ध होता है।

रामानुजाचार्य के मत में प्रमाण-गति

अब यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि किसी प्रकार भी ब्रह्म में प्रमाणों की गति हो, किन्तु जब ब्रह्म का बोध कराने के लिए प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, उस समय द्वैत और अद्वैत में विरोध होने के कारण सन्देह होना अनिवार्य हो जाता है। कारण यह है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण से द्वैत सिद्ध होता है और श्रुति-प्रमाण से अद्वैत। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक सन्देह होता है कि भेदग्राही प्रत्यक्ष-प्रमाण से अद्वैतप्रतिपादक श्रुति का बोध होता है, अथवा अभेदप्रतिपादक श्रुति से भेदग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण का? इस विषय में कौन प्रमाण प्रबल है और कौन दुर्बल?

इसके उत्तर में रामानुजाचार्य का कथन है कि बलाबल का विचार वहाँ ही होता है, जहाँ बाध्य-बाधक-भाव रहता है। यहाँ बाध्य-बाधक-भाव ही यदि नहीं है, तो बलाबल का विचार ही कैसे हो सकता है। क्योंकि, भेदग्राहक प्रत्यक्ष भी प्रमाण ही है, और आत्मैक्यबोधक श्रुति भी प्रमाण है। यदि कोई शङ्का करे कि यदि भेदग्राहक प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, तो अभेदप्रतिपादक श्रुति किस प्रकार प्रमाण हो सकती है? क्योंकि, भेद और अभेद दोनों परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं? इसके उत्तर में रामानुजाचार्य का कहना है कि शरीर और शरीर के एकत्व के अभिप्राय से ऐक्यप्रतिपादक श्रुति का भी विरोध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि रामानुजाचार्य चित् और अचित् वर्ग को परमात्मा का शरीर मानते हैं। और, चित्-अचित्-शरीरविशिष्ट परमात्मा एक अद्वितीय तत्त्व है, यही ऐक्यबोधक श्रुति का तात्पर्य समझते हैं, और इसीलिए ये विशिष्ट द्वैतवादी कहे जाते हैं।

परन्तु, यह मत इनके अतिरिक्त और किसी को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि चित्-अचित्-वर्ग के साथ परमात्मा का शरीर-शरीरी-भाव सम्बन्ध मानने पर भी चित् और अचिदात्मक प्रपञ्च परमात्मा का शरीर हो सकता है, परन्तु परमात्मा का स्वरूप नहीं हो सकता। इस अवस्था में 'इदं सर्वं यदयमात्मा', अर्थात् यह दृश्यमान सकल-प्रपञ्च आत्मा ही, अर्थात् आत्मस्वरूप ही है, इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित प्रपञ्च का आत्म-स्वरूपत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए, किसी प्रकार लक्षणा-वृत्ति से आत्म-स्वरूप का तात्पर्य आत्मशरीर मानना होगा। 'मनुष्योऽहम्, गौरोऽहम्', इत्यादि प्रयोगों-जैसा यदि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इसको निरूढ प्रयोग मानें, तो भी निरूढ-लक्षणा मानना होगा। बिना लक्षणा किये इनके मत में श्रुति की संगति नहीं हो सकती। इस प्रकार की खींचातानी से लक्षणा-वृत्ति मानकर श्रुति का तात्पर्य लगाने पर भी अभिधा-वृत्ति से स्पष्ट प्रतीयमान अर्थ के साथ सामञ्जस्य नहीं होता, इसलिए स्वरसतः प्रतीयमान स्पष्ट जो श्रुति का अर्थ है, उसका निरादर ही सूचित होता है।

शङ्कराचार्य के मतानुयायियों का कहना है कि रामानुजाचार्य वास्तव में श्रुति को प्रमाण नहीं मानते, परन्तु नास्तिकों के समान ऐसा कहीं पर भी नहीं कहते कि श्रुति प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि श्रुति को प्रमाण न मानने से नास्तिकों के समान इनके वचन पर भी आस्तिकों का विश्वास नहीं होता। सर्वत्र इनकी यही शैली रही है कि अनुमान-प्रमाण से किसी अर्थ का निश्चय करने के बाद यदि श्रुति या किसी सूत्र के साथ विरोध हो, तो उस श्रुति या सूत्र का अर्थ, खींच-तान कर अपने अभिमत अर्थ के अनुसार लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु, वह वस्तुतः श्रुति या सूत्र का तात्पर्य नहीं होता।

ब्रह्म में प्रमाणगति : शाङ्कर मत

इस विषय में शङ्कराचार्य का अपना सिद्धान्त यह है कि 'तत्त्वमसि' (छा० उ०), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० उ०), इत्यादि जो ऐक्यप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, उनका शरीर-शरीरी-भाव से आत्मैक्यप्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है; क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यदि यह कहें कि ब्रह्म और जीव में वास्तविक ऐक्य मानने पर प्रमातृ-प्रमेय-भाव न होने से अद्वैतात्मसाक्षात्कार ही असम्भव हो जाता है, तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं कि, विरुद्धभावना-निवृत्ति ही अद्वैतात्मसाक्षात्कार का तात्पर्य है, और विरुद्धभावना-निवृत्ति-पर्यन्त ही प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है।

किसी का मत है कि, द्वैतप्रत्यक्ष और अद्वैतात्मसाक्षात्कार, इन दोनों के काल-भेद से अवस्था-भेद होने के कारण परस्पर-विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि एक वस्तु का कालान्तर में विभिन्न रूप से भासित होना असम्भव नहीं है। परन्तु, यह मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि, यदि प्रत्यक्ष सिद्ध द्वैत को सत्य मान लें, तब तो कालान्तर में भी द्वैत का नाश न होने से अद्वैत असम्भव ही हो जायगा। शरीर-शरीरी-भाव मानने पर भी शरीरविशिष्ट में आत्मत्व के न रहने से श्रुति के अभिमत सत्य अद्वैत की सम्भावना ही नहीं हो सकती। इसलिए, प्रत्यक्षसिद्ध द्वैत और श्रुति-प्रमाण

से सिद्ध जो अद्वैत है, उन दोनों में किसी एक को आरोपित मानना परमावश्यक हो जाता है। और, जिसको आरोपित माना जायगा, वह आरोपित वस्तुविषयक होने से दोषमूलक ही होगा। इसलिए, प्रमाणाभास होने से वही बाध्य होगा।

यहाँ एक बात और भी जानने योग्य है कि आरोप दो प्रकार का होता है—एक आहार्य, दूसरा अनाहार्य। अनाहार्य आरोप भ्रम ही होता है। इसलिए, वहाँ आरोपित वस्तु मिथ्या ही होती है और इसीलिए, मिथ्याभूत आरोपित वस्तु के बोधक प्रमाण के भी आभास-मात्र होने से वह अप्रमाण ही होगा। आहार्यारोप-स्थल में इस प्रकार का नियम नहीं है।

यद्यपि आहार्यारोप-स्थल में भी, अधिष्ठान-प्रदेश में आरोपित वस्तु का अभाव ही रहता है, तथापि आरोपित वस्तु में जो गुण है, उसके सदृश अधिष्ठान में रहनेवाले गुण का बोध करानेवाला प्रमाणभूत वचन अप्रमाण नहीं हो सकता। जिस प्रकार, 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः', 'सिंहोऽयं माणवकः',—यह ब्राह्मण सूर्य है, यह लड़का सिंह है, इन वाक्यों से ब्राह्मण में सूर्य का और लड़के में सिंह का आरोप किया जाता है, परन्तु यह आरोप भ्रममूलक नहीं है। क्योंकि, आरोप-काल में भी यह ब्राह्मण सूर्य नहीं है, यह लड़का सिंह नहीं है, इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान बना रहता है। इस स्थल में ब्राह्मण में सूर्यत्व के और माणवक में सिंहत्व के अभाव का ज्ञान रहते हुए भी उसके विरुद्ध माणवक में सिंह का और ब्राह्मण में सूर्य का जो हठात् आरोप किया जाता है, वही आहार्यारोप है।

ऐसे स्थल में ब्राह्मण में सूर्य का और माणवक में सिंह का तादात्म्य, न वक्ता ही समझता है और न श्रोता को ही ऐसा ज्ञान होता है। किन्तु, सूर्य तेजस्वी के रूप में प्रसिद्ध है और सिंह भी वीर के रूप में प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में, ब्राह्मण में अतिशय तेजस्विता और माणवक में अतिशय वीरता का बोध कराने में ही वक्ता का तात्पर्य समझा जाता है, और श्रोता भी ऐसा ही समझता है। इसलिए, ऐसे स्थलों में इस प्रकार का वाक्य अप्रमाण नहीं होता।

श्रुति और प्रत्यक्ष में अन्यता का आरोप

प्रकृत में, प्रत्यक्ष-प्रमाण से सिद्ध द्वैत को यदि सत्य मानें, तो श्रुति-प्रमाण से सिद्ध अद्वैत अवश्य आरोपित मानना होगा, यह एक पक्ष है। दूसरा, इससे विपरीत, यदि श्रुति-प्रमाण से सिद्ध अद्वैत को सत्य मानें, तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसिद्ध द्वैत को आरोपित मानना आवश्यक होगा। यदि पहला पक्ष, अर्थात् द्वैत को सत्य मानकर अद्वैत को आरोपित मानें, तो श्रुति ने हठात् अद्वैत का आरोप किया है, यह मानना होगा। इस अवस्था में यह आहार्यारोप होगा, अनाहार्यारोप नहीं हो सकता; क्योंकि अनाहार्यारोप भ्रममूलक होता है, और श्रुति को प्रमाण माननेवाले श्रुति का भ्रम कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।

यदि दूसरा पक्ष अर्थात् अद्वैत को सत्य मानकर द्वैत को आरोपित मानें, तब तो अनाहार्यारोप ही मानना होगा, आहार्यारोप नहीं मान सकते; क्योंकि आहार्यारोप

मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत जो द्वैत है, उसको जीवात्माओं से हठात् कल्पित मानना होगा, जो अनुभव से विरुद्ध होने के कारण असंगत होगा। क्योंकि, कल्पित वस्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं होती है, और द्वैत का प्रत्यक्ष होना सिद्ध है। एक बात और भी है कि जहाँ कहीं पर किसी अन्य वस्तु की कल्पना की जाती है, वहाँ वास्तव में वह कल्पित वस्तु नहीं रहती, ऐसी प्रतीति निरन्तर बनी रहती है। अतएव, कल्पित-वस्तु-प्रयुक्त व्यवहार कोई भी नहीं करता। जैसे—'सूर्योऽयं ब्राह्मणः', यहाँ ब्राह्मण को सूर्य मानकर कोई भी अर्घ नहीं देता। और, 'सिंहोऽयं माणवकः', यहाँ माणवक को सिंह समझकर कोई भी डरता नहीं है, और न कोई उसको हिंस्र समझकर उसे मारने के लिए ही तैयार होता है। अर्थात्, अद्वैत को सत्य मानकर द्वैत को आरोपित मानने से सब विपरीत हो जाता है। द्वैत को सत्य समझकर सकल सांसारिक व्यवहार चलता है। सकल प्राणी परमात्मा से अपने में भेद समझकर लौकिक या शास्त्रीय कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यदि प्राणिवर्ग परमात्मा से अपने में भेद हठात् किया हुआ समझता, तो आरोपित भेद-प्रयुक्त लौकिक व्यवहार कदापि उपपन्न नहीं होता, जैसे—पूर्वोक्त 'सूर्योऽयं ब्राह्मणः', 'सिंहोऽयं माणवकः' इत्यादि स्थलों में नहीं होता है। अतः, यहाँ आहार्यारोप न मानकर भ्रममूलक अनाहार्यारोप ही मानना होगा।

इस अवस्था में चार पक्ष होते हैं—(१) द्वैत की सत्यता में अद्वैत का अनाहार्यारोप, (२) द्वैत की सत्यता में अद्वैत का आहार्यारोप, (३) अद्वैत की सत्यता में द्वैत का अनाहार्यारोप और (४) अद्वैत की सत्यता में द्वैत का आहार्यारोप। इन चार सम्भावित पक्षों में चतुर्थ तो उक्त युक्ति से हो नहीं सकता, और न इसको कोई मानता ही है। इसी प्रकार, प्रथम पक्ष भी इष्ट नहीं है। परन्तु, श्रुति को प्रमाण न माननेवाले चार्वाक आदि नास्तिकों के मत से यह पक्ष किसी प्रकार सम्भव हो सकता है; क्योंकि ये लोग ऐसा मानते हैं कि शब्द-प्रमाण-जन्य भ्रम अद्वैतवादियों को होता है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। चतुर्थ और प्रथम पक्ष के अमान्य होने से द्वितीय और तृतीय पक्ष बचता है। द्वैत के सत्यत्व में अद्वैत का आहार्यारोप और अद्वैत के सत्यत्व में द्वैत का अनाहार्यारोप, इन दोनों में कौन ग्राह्य है, इसके ऊपर विचार करना है। श्रुति-प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष-प्रमाण को यदि प्रबल मानें, तो द्वितीय पक्ष ग्राह्य होगा। और, यदि प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रुति को प्रबल मानें, तो तृतीय पक्ष, अर्थात् अद्वैत के सत्यत्व, में द्वैत का अनाहार्यारोप ग्राह्य मानना होगा। अब कौन प्रमाण प्रबल है, यह विचारणीय है।

किसी का कहना है कि इस विषय में संशय नहीं हो सकता, कारण यह है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण प्रत्यक्ष से भिन्न सब प्रमाणों का उपजीव्य (कारण) होता है। इसलिए, उसका प्रमाणान्तर से बाध होना सम्भव नहीं। किन्तु, प्रत्यक्ष से ही इतर प्रमाणों का बाध्य करना सम्भव है। इस पर दूसरों का कहना है कि उपजीव्य का किसी प्रमाणान्तर से बाध नहीं होता, यह तो युक्त प्रतीत होता है, परन्तु उपजीव्य से प्रमाणान्तर का बाध होता है, यह कहना समुचित प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि यदि उपजीव्य उपजीवक का बाधक हो, तब तो

उपजीव्य रहेगा ही नहीं; क्योंकि उपजीवक का सापेक्ष ही उपजीव्य होता है, जैसे नियम का सापेक्ष नियामक। उपजीव्य से उपजीवक का बाध होने पर उपजीवक का ही अभाव हो जायगा। इस अवस्था में, उपजीवक के न रहने से उपजीव्य की स्वरूप-हानि हो जायगी। कारण यह है कि उपजीव्य का उपजीव्यत्व तभी रह सकता है, जब उपजीव्य का निरूपक दूसरा कोई उपजीवक रहे। इस स्थिति में, दोनों में कोई भी किसी का बाध्य या बाधक नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, अतएव दोनों में एक के बिना एक नहीं रह सकता। इसलिए, उपजीव्य-विरोध होने से संशय नहीं हो सकता, यह पक्ष सिद्ध हो जाता है।

इसके उत्तर में यह कहना कि संशय नहीं हो सकता, ठीक नहीं है; क्योंकि लोक में होनेवाला प्रत्यक्ष एक ही प्रकार का नहीं होता। किन्तु, प्रमाता, प्रमेय और देश, काल आदि के भेद से अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष हुआ करते हैं। जैसे—देवदत्त के जायमान प्रत्यक्ष से मैत्र का प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न है, और देवदत्त के ही जायमान घट-ज्ञान से उसी का पट-ज्ञान भिन्न है। इसी प्रकार, गत दिन होनेवाले घट-ज्ञान से आज का घट-ज्ञान भिन्न होता है। तद्वत्, देश और काल के भेद से अनन्त प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान होते रहते हैं। इसी प्रकार, अनन्त-प्रत्यक्ष प्रमा के ग्राहक प्रत्यक्ष-प्रमाण भी अनन्त प्रकार के हो सकते हैं; क्योंकि जितने प्रकार के ज्ञान हो सकते हैं, उतने ही उनके ग्राहक प्रमाण-व्यक्ति का होना भी नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार, अनुमानादि के विषय में भी अनन्त प्रमाण-व्यक्ति हो सकते हैं।

इस परिस्थिति में, प्रमाण-व्यक्ति के अनन्त होने के कारण जिस प्रत्यक्ष-व्यक्ति को कारण मानकर प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रमाणान्तर से उसी प्रत्यक्ष-व्यक्ति के बाध होने से उपजीव्य-विरोध कह सकते हैं, किन्तु दूसरे प्रत्यक्ष-व्यक्ति के उसी प्रमाणान्तर से बाध होने पर उपजीव्य-विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि वह दूसरा प्रत्यक्ष-व्यक्ति उस प्रमाणान्तर का उपजीव्य नहीं है। उदाहरण के लिए—देवदत्त का उपजीव्य जो अपना पिता है, उसके साथ विरोध होने से लोक में उपजीव्य-विरोध माना जाता है, हालाँकि अपने पिता के अतिरिक्त दूसरे किसी के साथ उसी देवदत्त का विरोध होने पर उपजीव्य-विरोध नहीं माना जाता, यद्यपि वह दूसरा व्यक्ति देवदत्त का अपना उपजीव्य नहीं है। और भी, जिस प्रकार रस्सी में होनेवाला जो सर्प का प्रत्यक्ष है, वह 'नायं सर्पः' यह आप्तवाक्य-जन्य ज्ञान से बाधित होता है। उस सर्प-प्रत्यक्ष का बाधक जो शब्द-जन्य ज्ञान है, उसका उपजीव्यभूत-प्रत्यक्ष 'नायं सर्पः' इस वाक्य का श्रवण है। 'नायं सर्पः' इस शब्द-जन्य ज्ञान से सर्प-प्रत्यक्ष के बाध होने पर भी 'नायं सर्पः' इस वाक्य-विषयक जो श्रावण-प्रत्यक्ष है, उसका बाध नहीं होता। क्योंकि, 'नायं सर्पः' यह जो श्रावण-प्रत्यक्ष है, वह शब्द-जन्य ज्ञान, जिससे सर्प-प्रत्यक्ष का बाध होता है, का उपजीव्य है।

एक बात और जानने योग्य है कि जहाँ विरोध रहता है, वहीं बाध्य-बाधक-भाव होता है, और विरोध न रहने पर बाध्य-बाधक-भाव की शङ्का ही नहीं उठती। कारण यह है कि जिस प्रमाण-व्यक्ति का जो प्रमाण-व्यक्ति उपजीव्य या प्राणप्रद या

अनुग्राहक अथवा अग्रेसर है, उसके साथ उस प्रमाण-व्यक्ति के बाध्य-बाधक-भाव की शङ्का ही किस प्रकार उठ सकती है ? क्योंकि, ऐसे स्थलों में प्राणप्रद होने के कारण अथवा उपजीव्य या अनुग्राहक या अग्रेसर होने के कारण, नित्य-सम्बन्ध होने से, विरोध ही नहीं रहता, इसलिए यहाँ बाध्य-बाधक-भाव की सम्भावना ही नहीं है।

शब्द-प्रमाण से श्रावण-प्रत्यक्ष का भी बाध

अब बाध्य-बाधक-भाव के प्रसंग में कुछ अनुपेक्षणीय आवश्यक विषयों का भी विवेचन किया जायगा। यह सर्व-सिद्धान्त है कि शब्द-प्रमाण की प्रवृत्ति, शब्द-विषयक श्रावण-प्रत्यक्ष के अधीन है। अर्थात्, जबतक शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष नहीं होता, तबतक शब्द-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी कारण, श्रावण-प्रत्यक्ष शब्द-प्रमाण का उपजीव्य सिद्ध होता है। इस अवस्था में यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि 'तत्त्वमसि', 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि अद्वैत-व्यवस्थापक जो अनेक श्रुतियाँ हैं, उनसे श्रावण प्रत्यक्ष में प्रतीयमान जो ज्ञातृ-ज्ञेय-प्रयुक्त भेद है, उसका बाध होता है, अथवा नहीं ? यदि श्रुति-प्रमाण से श्रावण-प्रत्यक्ष में प्रतीयमान भेद का बाध मानें, तब तो उपजीव्य-विरोध हो जाता है, जिसका परिहार होना असम्भव है; क्योंकि ज्ञातृ-ज्ञेय-प्रयुक्त भेद का बाध मानने से प्रमाण का प्रमाणत्व ही नष्ट हो जाता है। यदि ज्ञातृ-ज्ञेय प्रयुक्त भेद का बाध न मानें, तब तो भेद के अबाधित होने से सत्य मानना होगा, जो अद्वैत-सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है।

इस दुर्घट समस्या को सुलझाने के लिए इस प्रकार विचार करना होगा—लोक में देखा जाता है कि कोई भी मनुष्य अपने उपजीव्य के विरोध में प्रवृत्त नहीं होता, या विरोध करने की इच्छा भी करता। परन्तु, कितने ऐसे भी महापुरुष हैं, जो अपने अवश्यम्भावी विनाश की ओर ध्यान न देकर परोपकार, या दूसरों को विपत्ति से उद्धार करने में सहर्ष प्रवृत्त हो जाते हैं। यहाँ विचारना यह है कि यदि परोपकार के लिए जो व्यक्ति सबसे बढ़कर प्रिय अपने प्राण को भी कुछ नहीं समझता, वह अपने उपजीव्य-विरोध के लिए क्यों ध्यान देगा। वह परोपकार में ही अपना परम कल्याण मानता है। उदाहरण के लिए—

देवदत्त नाम का एक बहुत गरीब व्यक्ति था। वह सुन्दर, सुशील और पढ़ा-लिखा विद्वान् था। वह अपने रोगी और अशक्त पिता तथा परम वृद्ध और *अङ्गविकल पितामह का भिक्षा-वृत्ति से पालन करता था। एक समय परम समृद्ध* कोई राजा यदृच्छया घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे। उनके कोई पुत्र नहीं था, इसलिए एक सुयोग्य व्यक्ति को गोद लेना चाह रहे थे। देवदत्त के शील, सौन्दर्य और योग्यता से बहुत प्रभावित होकर राजा ने उसे गोद लेने के लिए उसके पिता से माँगा। पुत्रवत्सल पिता ने पुत्र की भलाई के लिए उसे राजा के अधीन कर दिया। पुत्र के हित को अपना प्रधान कर्त्तव्य मानकर उसके वियोग से अवश्य होनेवाली अपनी कष्टमयी दशा पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। यहाँ देवदत्त के पिता ने राजा के लिए देवदत्त का जो समर्पण किया, उससे देवदत्त के पिता के तुल्य ही उसके पितामह की

भी कष्टमयी दशा होने की सम्भावना है, फिर भी देवदत्त के पिता की उपजीव्य-विरोध-प्रयुक्त लोक में निन्दा नहीं होती, किन्तु पुत्रवत्सलता या परोपकारिता के कारण प्रशंसा ही होती है।

इस प्रकार, कितने देशभक्तों का उदाहरण प्रसिद्ध है, जिन्होंने देशोद्धार के लिए अपने असहाय माता-पिता को छोड़कर अपने प्राण तक को समर्पित कर दिया है। इससे भी उपजीव्य-विरोध-प्रयुक्त उनकी निन्दा नहीं होती, प्रत्युत उनके आदर के लिए स्मारक बनाये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि उपजीव्य-विरोध वहीं होता है, जहाँ अपने किये हुए आचरण से अपनी भाविनी जो दशा है, उसकी अपेक्षा अधिक कष्टदायिनी अवस्था अपने उपजीव्य को प्राप्त हो। देवदत्त को देने से उसके पिता की जो दशा होनेवाली है उसकी अपेक्षा देवदत्त के पितामह की अधिक कष्टकर दशा की सम्भावना नहीं है, इसलिए यहाँ उपजीव्य-विरोध नहीं कहा जा सकता। अथवा यों कहिए कि अपने सुख के लिए किया गया जो आचरण है, उसमें यदि अपने उपजीव्य की हानि होती हो, तो वहाँ उपजीव्य-विरोध होता है। यहाँ देवदत्त के पिता, या देश-भक्त अपने सुख के लिए कुछ आचरण नहीं करते, इसलिए यहाँ उपजीव्य-विरोध नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार, यहाँ प्रकृत में 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि आत्मैकत्वप्रतिपादक जो श्रुति है, वह, अद्वैतात्मसाक्षात्कार होने पर प्रमातृ-प्रमेय-भाव के विलय होने से अपना प्रमाणत्व भी नष्ट हो जायगा, यह जानती हुई भी माता के सदृश दया के परवश होकर मुमुक्षुजनों को आत्मसाक्षात्कार कराने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। इस अवस्था में, अपने संरक्षण के लिए श्रुति का व्यापार यदि नहीं रहता, तो अपने उपजीव्य-प्रत्यक्ष-प्रमाण के संरक्षण में भी व्यापार नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह कि आत्मैक्य-प्रतिपादक जो श्रुतियाँ हैं, वे वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध-प्रयुक्त भेद के द्वारा ही प्रवृत्त होती हैं, उसके प्रवृत्त होने के बाद उक्त सम्बन्ध-प्रयुक्त भेद क्षण-भर भी नहीं रह सकता, और उस भेद के अभाव में अपना अर्थात् श्रुति-प्रमाण का भी अभाव होना निश्चित है। इस प्रकार का निश्चित ज्ञान रहने पर भी श्रुति मुमुक्षुओं के हित ही अपना परम कर्त्तव्य समझती हुई, दया के परवश होने से, यह अवश्य मेरा कर्त्तव्य है यह मानकर, अवश्य होनेवाला अपने विनाश की ओर ध्यान नहीं देकर, जिज्ञासुओं को अद्वैत-तत्त्व का बोध कराने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। इस परिस्थिति में, आगे होनेवाले किसी भी परिणामविशेष के ऊपर ध्यान न देने से अपने विनाश के सदृश ही अपने उपजीव्य श्रावण-प्रत्यक्ष के ऊपर भी ध्यान न होने के कारण, किसी प्रकार भी उपजीव्य-विरोध नहीं कह सकते। कारण यह है कि जो विरोध मानकर विरोध किया जाता है, वही विरोध कहा जाता है। स्तनन्धय बालक जो अपनी माता को लात मारता है, वह उपजीव्य-विरोध नहीं माना जाता। इसीलिए, उसकी माता क्रुद्ध नहीं होती, प्रत्युत बदले में चुम्बन के द्वारा अपना प्रेम ही दिखाती है। इस प्रकार, अद्वैतप्रतिपादक श्रुति से अपना उपजीव्य श्रावण-प्रत्यक्ष में

रहनेवाला जो ज्ञातृ-ज्ञेय-सम्बन्ध-प्रयुक्त-भेद का प्रत्यक्ष है, उसका बाध होने पर भी उपजीव्य-विरोध नहीं होता।

इस अवस्था में, भेदग्राही प्रत्यक्ष और अभेदग्राहिणी श्रुति, इन दोनों में कौन प्रबल है और कौन दुर्बल, और कौन बाधक है, कौन बाध्य? इस प्रकार का पूर्वोक्त प्रश्न उसी प्रकार रह जाता है। इसका विचार किया जायगा।

बाध्य-बाधक-भाव में स्थूल विचार

बाध्य-बाधक-भाव के विषय में साधारण स्थूलबुद्धिवाले मनुष्य इस प्रकार आलोचना करते हैं—'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह जो श्रुति है, वह सब काल में आत्मैक्य अर्थात् अभेद का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह वर्त्तमानकालिक भेदग्राही प्रत्यक्ष से विरुद्ध होती है। और, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यह श्रुति सृष्टि के पहले आत्मैक्य (अभेद)-प्रतिपादन करती है। इसलिए, वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध नहीं होती; क्योंकि उस समय प्रत्यक्ष होना असम्भव है। किन्तु, प्रत्यक्षमूलक अनुमान प्रमाण से विरुद्ध होता है। अनुमान का प्रकार यह है—'प्रमाता (पक्ष) पूर्वमपि प्रमेयाद्भिन्नः (साध्य), प्रमातृत्वात् (हेतु), इदानीन्तनप्रमातृवत् (दृष्टान्त)।' अर्थात्, प्रमाता पहले भी प्रमेय से भिन्न होगा और प्रमाता होने के कारण, वर्त्तमानकालिक प्रमाता के समान। अथवा—'प्रमेयम्, प्रमातुः सकाशात् पूर्वमपि भिन्नम्, प्रमेयत्वात्, इदानीन्तन-प्रमेयवत्'—अर्थात् प्रमेय, प्रमाता से पहले भी भिन्न था, प्रमेय होने के कारण। जो-जो प्रमेय होता है, वह प्रमाता से भिन्न ही होता है, इस समय के प्रमेय के सदृश। इस प्रकार, दोनों अनुमानों से श्रुति विरुद्ध होती है। अतएव, श्रुति कहीं प्रत्यक्ष से विरुद्ध होती है, और कहीं अनुमान से।

अब यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि केवल एक श्रुति से प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों का बाध होगा, या इन दोनों से एक श्रुति का? अर्थात्, दो से एक प्रबल है, या एक से दो? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का मत है कि एक की अपेक्षा दो को प्रबल मानना उचित है। लोक में भी एक की अपेक्षा दो की बात अधिक मानी जाती है। इसलिए, 'प्रमाणद्वयाऽनुग्रहो न्याय्यः'—इस न्याय से प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से एक श्रुति का ही बाध मानना समुचित होगा। अतएव, प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध श्रुति को गौणार्थ मानकर किसी प्रकार से अपने सिद्धान्त के अनुसार उसका अर्थ लगाया जाता है।

बाध्य-बाधक-भाव में सूक्ष्म विचार

परन्तु, सूक्ष्म विचार करनेवाले मेधावियों के इस कथन पर है कि दो से एक का बाध होता है, या एक से दो का, विचार करना उचित नहीं है। क्योंकि, नेत्रवाला एक ही पुरुष यदि सूर्योदय का होना बताता है, तो उसके सामने हजारों रात माननेवाले अन्धों की बात प्रमाण नहीं होती। इस अवस्था में, निर्णय किस प्रकार किया जाय, यह विचार उपस्थित होता है। इस विषय में सबसे पहले यह विचारना है कि जगत् का मूल कारण एक है या अनेक? इसके निर्णय के बाद ही

वर्त्तमान वस्तुओं का निर्णय करना सुलभ है। और, मूल तत्त्व का अन्वेषण प्रत्यक्ष प्रमाण से हो नहीं सकता; क्योंकि इन्द्रियों की गति ही नहीं है। केवल श्रुति-अनुमान की ही वहाँ गति हो सकती है। वहाँ भी श्रुति को यदि मुख्य मानें और अनुमान को उसका पार्षद, तब तो अनुमान की अपेक्षा श्रुति ही प्रबल होगी।

इन सम्भावित दोनों पक्षों में कौन युक्त है? इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि मतभेद से दोनों ही पक्ष ठीक हो सकते हैं। कारण यह है कि भारतीय दर्शनकार दो प्रकार के हुए हैं—एक श्रौत और दूसरा तार्किक। मूल तत्त्व के अन्वेषण में जो श्रुति को ही सबसे बढ़कर प्रधान साधन मानते हैं, वे ही श्रौत कहे जाते हैं। श्रौतों का कहना है कि मूल तत्त्व का अनुसन्धान करना श्रुति के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से असम्भव है। इसीलिए, ये वेदवादी कहे जाते हैं। वेदान्तियों का भी यह मुख्य सिद्धान्त है। अत्यन्त परोक्ष जो जगत् का मूल कारण है, उसका निश्चय ये लोग श्रुति की ही सहायता से करते हैं। श्रुति से सिद्ध अर्थ यदि अनुमान से विरुद्ध या असम्भव प्रतीत हो, तो भी वही सत्य है, ऐसा इनका दृढ़ विश्वास है। इसी अभिप्राय से सायण माधवाचार्य ने वैदिकों के विषय में कहा है कि, 'न हि वेदप्रतिपादितेऽर्थेऽनुपपन्ने वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते, अपितु तदुपपादनमार्गमेव विचारयन्ति', अर्थात् वेद-प्रतिपादित अर्थ के अनुपपन्न या असम्भव प्रतीत होने पर भी वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती है, प्रत्युत वे उसके उपपादन-मार्ग का ही अन्वेषण करते हैं। यदि कोई अनुमान के द्वारा श्रुति-विरुद्ध अर्थ को सिद्ध करे, तो उसको ये लोग नहीं मानते, और उस अनुमान को भी 'अनुमानाभास' कहते हैं। इसी प्रकार, श्रुति से विरुद्ध स्मृति भी इनके मत में प्रमाण नहीं मानी जाती है। मीमांसा-शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि भी श्रौत ही हैं। इसलिए, उन्होंने 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमाने', 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा सब प्रमाणों की अपेक्षा श्रुति को ही अभ्यर्हित प्रमाण माना है।

जैमिनि के सदृश ही पाणिनीय भी श्रौत ही हैं। इसीलिए, अक्षरसमाम्नायमूलक सूत्र को भी वेद की तरह प्रमाण और अपरिवर्त्तनीय मानते हैं। 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति', 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' यह पाणिनीयों का परम सिद्धान्त है। इससे सूत्र का भी सब प्रमाणों से अभ्यर्हित होना सिद्ध होता है। श्रुति के विषय में पाणिनीयों का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—

'न चागमादृते धर्मः तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ॥१॥
धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
तांल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥२॥
अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति दुर्लभा ॥३॥
चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥४॥'

तात्पर्य यह है कि आगम, अर्थात् वेद या श्रुति, के बिना केवल तर्क से धर्म की व्यवस्था नहीं कर सकते। ऋषियों का भी ज्ञान श्रुतियों के ही कारण है ॥१॥ धर्म का जो मार्ग संसार में अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में व्यवस्थित है, लोक में प्रसिद्ध होने के कारण उसका किसी से बाध नहीं होता ॥२॥ अवस्था, देश और काल के भेद से पदार्थों की शक्ति विभिन्न प्रकार की हो जाती है, जैसे विलक्षणशक्तिशाली व्यक्ति भी परिस्थितिवश दुर्बल या निर्बल हो जाता है। युवावस्था का बल वृद्धावस्था में नहीं रहता। देश के भेद से, हिमालय का जल जिस प्रकार शीतल होता है, राजगृह-अग्निकुण्ड का जल जैसे उष्ण होता है, उस प्रकार अन्य देश का नहीं होता। काल भेद से, जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में सूर्य या आग का तेज असह्य होता है, उस प्रकार शीतकाल में नहीं। इस प्रकार अवस्था, देश और काल के भेद से पदार्थों की शक्ति मे भेद होने के कारण अनुमान से उसकी सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ है ॥३॥ जिस प्रकार अहं, मम, अर्थात् मैं, मेरा, इस प्रतीति में अनुगत रूप से भासमान जो चैतन्य है, उसका किसी प्रमाण से बाध नहीं होता, उसी प्रकार श्रुति-स्मृति-लक्षण जो आगम अविच्छिन्न प्रवाह-रूप में सनातन काल से चला आ रहा है, उसकी उपासना करनेवाले किसी भी तर्क के द्वारा विचलित नहीं किये जा सकते ॥४॥

इसी प्रकार, भाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है—'शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्', अर्थात् हमलोग शब्दप्रमाण माननेवाले हैं, जो शब्द (वेद) कहता है, वही हमारे लिए प्रमाण है। इस प्रकार, अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पाणिनीय भी पूर्ण वैदिक अर्थात् श्रौत हैं। ब्रह्मसूत्रकार बादरायण भी श्रौत ही हैं। इसीलिए, उन्होंने वेदान्त-सूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्', 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इत्यादि सूत्रों की रचना की है। पहले सूत्र में, अचिन्त्य ब्रह्म में श्रुति को ही सर्वाभ्यर्हित प्रमाण माना है। द्वितीय सूत्र से ब्रह्म को निरवयव या सावयव मानने में कृत्स्न-प्रसक्ति और निरवयवत्व शब्दकोप का जो आक्षेप किया गया है, उसका समाधान केवल श्रुति-प्रमाण से ही किया गया है। महाभारत में भी व्यासदेव ने कहा है—'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्' (भीष्म-पर्व, ५।१२)। अर्थात्, जो वस्तु अचिन्त्य, अथवा मन और बुद्धि से परे है, उसका साधन तर्क के बल पर न करे। इसलिए, अचिन्त्य पदार्थों के विषय में श्रुतिविरुद्ध अर्थ के साधन के लिए जो भी हेतु दिखाये जाते हैं, उन सब को 'हेत्वाभास' समझना चाहिए। नैयायिकों के मत में भी सब हेतु को 'सत् हेतु' ही नहीं माना गया है, उनके यहाँ भी 'हेत्वाभास' माना जाता है। इस प्रकार, विशुद्ध श्रौत-दर्शनकार तीन ही माने जाते हैं—मीमांसासूत्रकार जैमिनि, ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव और व्याकरणसूत्रकार पाणिनि।

तार्किक दर्शनकार

उपर्युक्त श्रौत-दर्शनकारों के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनकार तार्किक कहे जाते हैं। मूल तत्त्व के अन्वेषण में प्रधान साधन तर्क ही है। तर्क के बिना मूल तत्त्व का अन्वेषण

दुष्कर है, इस प्रकार जो अनुमान करनेवाले हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तर्क का अभिप्राय अनुमान ही है।

यद्यपि तार्किकों के मत में भी श्रुति को प्रमाण माना गया है, तथापि श्रुति की अपेक्षा अनुमान को ही इनके मत में मुख्य प्रमाण माना गया है। अनुमान का अनुसरण करनेवाली अनुमान से अविरुद्ध जो श्रुति है, उसी को प्रमाण माना जाता है। और, अनुमान से विरुद्ध जो श्रुति है, उसका गौण अर्थ मानकर अनुमानानुसार ही अर्थ लगाया जाता है। स्पष्ट प्रतीयमान मुख्य अर्थ को नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए नैयायिक और वैशेषिक, आकाश को अनुमान-प्रमाण से नित्य सिद्ध करते हैं। जैसे—'आकाशं नित्यम्, निरवयवत्वात्; यन्निरवयवं तन्नित्यम्, परमाणुवत्'; अर्थात् आकाश नित्य है, निरवयव होने से, जो निरवय होता है, वह नित्य होता है; जैसे परमाणु। इसी अनुमान से इनके मत में आकाश को नित्य सिद्ध किया जाता है। इस अवस्था में 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' (तै० उ० २।१।१), इस श्रुति से विरोध हो जाता है; क्योंकि उक्त श्रुति में आत्मा से आकाश की उत्पत्ति बताई गई है, और उत्पन्न पदार्थ नित्य होता ही नहीं, अतएव श्रुति से विरोध होना स्वाभाविक है। इस विरोध के परिहार के लिए, उक्त श्रुति में 'संभूतः' का अर्थ 'उत्पन्नः' न कर 'अभिव्यक्तः' किया जाता है। अर्थात्, आत्मा से आकाश की अभिव्यक्ति हुई, उत्पत्ति नहीं, यह अर्थ नैयायिक और वैशेषिक किया करते हैं।

इसी प्रकार, वर्त्तमानकाल में, चेतन और अचेतन में जो भेद प्रतीत होता है, या परस्पर चेतन में भी जो नानात्व प्रतीत होता है, इसी दृष्टान्त से सृष्टि के पूर्वकाल में भी चेतन, अचेतन और परस्पर चेतन में भी भेद या नानात्व, प्रायः सब नैयायिक और वैशेषिक मानते हैं। इस अवस्था में 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० आ० २।४।६), इस श्रुति से विरोध हो जाता है; क्योंकि यह श्रुति स्पष्ट अभेद-प्रतिपादन करती है। इस विरोध के परिहार के लिए आत्मा का मुख्य अर्थ आत्मस्वरूप न मानकर आत्माधीन अर्थ किया जाता है। अर्थात्, यह सकल प्रपञ्च आत्मा के अधीन है। इस प्रकार श्रुति के मुख्य अर्थ को छोड़कर अनुमान से सिद्ध अर्थ के अनुकूल गौण अर्थ को मानने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूल कारण के अन्वेषण में श्रुति-प्रमाण की अपेक्षा अनुमान को ही नैयायिक और वैशेषिक प्रधान साधन मानते हैं।

इसी प्रकार, श्री रामानुजाचार्य और श्री माध्वाचार्य आदि विद्वानों ने भी श्रुति की अपेक्षा अनुमान को ही प्रबल और मुख्य प्रमाण माना है। वर्त्तमानकाल में प्रतीयमान जो भेद है, उसके दृष्टान्त से सृष्टि के पूर्वकाल में भी ये लोग नैयायिकों की तरह भेद मानते हैं। इसीलिए, जीव और ब्रह्म में अभेद-प्रतिपादक जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, उसका भी भेद-परक अर्थ ही इन लोगों ने किया है। यह 'तत्त्वमसि' श्रुति अज्ञातार्थ-ज्ञापिका मानी जाती है। अर्थात्, अज्ञात जो जीव और ब्रह्म का ऐक्य है, उसकी ज्ञापिका अर्थात् बोध करानेवाली यह श्रुति है। इसका मुख्य स्पष्ट प्रतीयमान अर्थ है—तत् (ब्रह्म) त्वम् (जीवात्मा) असि (हो); अर्थात् वहीपूर्वोक्त

ब्रह्म तुम हो। इस प्रकार, शब्द से स्पष्ट प्रतीयमान जो मुख्य अर्थ है, उसको छोड़कर तर्क से सिद्ध जीव और ब्रह्म के भेद को स्थापित करने के लिए, इनके मत में, अनेक प्रकार के अनुमान के अनुसार, विभिन्न प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं। इन द्वैत-वादियों का भी परस्पर एकमत नहीं है। कोई ब्रह्म के साथ जीव के सम्बन्ध-बोधन में श्रुति का तात्पर्य मानते हैं; और कोई जीव के साथ ब्रह्म के शरीर-बोधन में। कोई ब्रह्म के अधीन जीव है, ऐसा अर्थ करते हैं और कोई ब्रह्म के अत्यन्त सदृश जीव है, इस अर्थ मे श्रुति का तात्पर्य समझते हैं। इस प्रकार, तर्क के आधार पर श्रुति के भी विभिन्न प्रकार के अर्थ इन लोगों ने किये हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि अदृष्ट वस्तु की सिद्धि के लिए श्रुति को आधार माने बिना केवल तर्क के आधार पर एक निश्चित वस्तु को किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकते। इसलिए, तर्क को प्रधानता देने के कारण श्रुति का अर्थ लगाने में तार्किकों का ऐकमत्य न होना स्वाभाविक हो जाता है।

सांख्याचार्य का तर्काग्रह

सांख्याचार्य महामुनि कपिल भी तार्किक ही हैं। उनका कहना है कि यद्यपि जगत् का मूल कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि वह साध्य नहीं है, किन्तु सिद्ध है। साध्य वस्तु में प्रमाण का अवकाश न होने पर भी सिद्ध वस्तु में प्रमाण का अवकाश अनिवार्य है। उदाहरण के लिए किसी ने कहा—'मोहन आयगा।' अब यहाँ विचारना है कि प्रयोक्ता का यह वाक्य, सत्य है अथवा मिथ्या ? दोनों में एक का भी निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं कर सकते; क्योंकि उस समय तक आगमन निष्पन्न नहीं हुआ है, जिससे प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रिय-सन्निकर्ष हो। दूसरे शब्दों में, वर्तमान का ही प्रत्यक्ष होता है, भूत-भविष्य का नहीं। और, अनुमान का भी अवकाश नहीं है, कारण यह है कि कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, और यहाँ अभी तक आगमन के निष्पन्न न होने से अभी तक कुछ कार्य नहीं हुआ है, जिससे आगमन का अनुमान किया जाय। परन्तु जहाँ आगमन सिद्ध है—जैसे, 'मोहन आ गया', वहाँ प्रमाण की गति सुलभ हो जाती है; क्योंकि आगम-क्रिया के निष्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की गति सुलभ है।

इसी प्रकार, जगत् का मूल कारण सिद्ध है, इसलिए प्रमाण का अवकाश होता है। यद्यपि जगत् का मूल कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, तथापि अनुमान की गति को कोई भी नहीं रोक सकता। कार्य को देखकर उसी के अनुरूप कारण का भी निश्चय कर लेना, लोक-प्रसिद्ध भी है। इनके मत की एक और भी विशेषता है, कि जगत् के मूल कारण के बोध कराने में अनुमान का प्रवेश हो सकता है, इतना ही इनका सिद्धान्त नहीं है; प्रत्युत, मूल-कारण के बोध कराने में अनुमान के अतिरिक्त दूसरे प्रमाण की गति नहीं हो सकती, यहाँ तक इनकी मान्यता है। इनके मत में श्रुति भी अनुमान के द्वारा ही मूलतत्त्व के बोध कराने में प्रवृत्त होती है। उदाहरण के लिए : अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने

पुत्र श्वेतकेतु के प्रति कहा है—'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति' (छा० उ० ६।८।३)।

अर्थात्, हे सोम्य! उस जल से ही इस शरीर-रूप शुङ्ग अर्थात् अंकुर को उत्पन्न हुआ समझो; क्योंकि यह निर्मूल, अर्थात् कारण-रहित नहीं हो सकता।

इसके बाद भी पुनः श्रुति कहती है—'तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽन्नादेवमेव खलु सोम्य! अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य! शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४)। अर्थात्, अन्न को छोड़कर इस शरीर का मूल कहाँ हो सकता है? इसी प्रकार तू अन्नरूप शुङ्ग (अंकुर) से जलरूप शुङ्ग और जलरूप शुङ्ग से तेजरूप शुङ्ग और तेजरूप शुङ्ग से सद्रूप मूलतत्त्व का अनुसन्धान करो। हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक ही है, सत् ही इसका आश्रय है, और सत् ही प्रतिष्ठा। इस प्रकार दृश्यमान शरीर-रूप स्थूल कार्य के द्वारा सूक्ष्म कारण का बोध कराती हुई श्रुति, परम सूक्ष्म मूलतत्त्व सत् के बोध कराने में अनुमान के द्वारा ही प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० ३।१।१) इत्यादि श्रुति भी अनुमान के साधन कार्यकारणभाव को बताती हुई अनुमान के द्वारा ही मूलकारण परमात्मा का बोध कराती है। यहाँ 'इमानि' (इदम्) शब्द के प्रयोग से भूत और भौतिक सकल प्रपञ्च-रूप कार्य को अंगुल्या निर्देश करती हुई श्रुति, हेतु के निर्देश से अनुमान द्वारा मूल कारण के अन्वेषण में अपना तात्पर्य बताती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मूल कारण के अन्वेषण में अनुमान का अनुसरण करनेवाली श्रुति भी स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त नहीं हो सकती, किन्तु अनुमान के द्वारा ही प्रवृत्त होती है। इसलिए, इनका सिद्धान्त है कि जगत् का मूलकारण अनुमान से ही सिद्ध हो सकता है, दूसरे प्रमाण से नहीं। भूत और भौतिक कार्य के अनुसार, उसके अनुरूप ही जगत् का मूल कारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति नाम का तत्त्व, जिसको सांख्यों ने मूल कारण माना है, केवल अनुमान-प्रमाण से सिद्ध होने के कारण आनुमानिक भी कहा जाता है। अनुमान-प्रमाण के ऊपर इनका इतना अधिक पक्षपात है कि इनका व्यवहार प्राचीन ग्रन्थों में 'आनुमानिक' शब्द से भी किया गया है।

पातञ्जल की तार्किकता

योगसूत्र के प्रणेता भगवान् पतञ्जलि भी तार्किक ही कहे जाते हैं। ये भी कपिल के सदृश ही जगत् के मूल कारण-प्रधान को अनुमान के द्वारा ही तर्क-प्रधान सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त इनका यह भी कहना है कि शब्द-प्रमाण ग्रन्थों में श्रुति-स्मृति आदि जितने प्रमाण-ग्रन्थ हैं, उनमें श्रुति सबकी अपेक्षा प्रमाण मानी जाती है। और, वह श्रुति भी ईश्वर की बनाई हुई है। अब यहाँ यह विचार होता है कि जब वेद ईश्वर का बनाया हुआ है, तो वेद बनाने से पूर्व ईश्वर को त्रिलोकवर्ती

अतीत और अनागत पदार्थों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। क्योंकि, कोई भी ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाण के द्वारा प्राप्त करने के बाद ही दूसरे को समझाने के लिए तज्ज्ञानबोधक वाक्य-निबन्ध की रचना करता है।

सम्भव है कि ईश्वर ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही सकल पदार्थों का मन में अनुसन्धान करके ही वेद की रचना की हो। इसमें भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान से ही अधिक ज्ञान प्राप्त किया हो, यह भी स्पष्ट ही है। क्योंकि, अनुमान की गति प्रत्यक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस स्थिति में, वेद भी अधिक अंशों में अनुमानमूलक ही है, यह सिद्ध हो जाता है। इसलिए, श्रुति की अपेक्षा अनुमान की ही प्रधानता पतञ्जलि ने भी मानी है और अनुमान में तर्क ही प्रधान है, इसलिए ये भी तार्किक कहे जाते हैं।

नैयायिकों का तर्काग्रह

गौतम-सूत्र के अनुयायी नैयायिक तो प्रसिद्ध तार्किक हैं। इनके मत में भी जगत् के मूलतत्त्व के अन्वेषण में तर्क ही प्रधान साधन है, ऐसा माना जाता है। यद्यपि इनके मत में जगत् के मूल कारण के बोध कराने में स्वतन्त्रतया भी श्रुति समर्थ होती है, फिर भी ये तार्किक नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि, 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः आस्ते' (श्वे० ३।२) इत्यादि श्रुति जगत् के मूल कारण के बोध कराने में स्वतन्त्रतया प्रवृत्त होती है, फिर भी अनुमान के द्वारा मूलतत्त्व के बोधित होने के बाद ही उसके अर्थ का अनुभव कराने में समर्थ होती है।

एक बात और भी है कि शब्द ऐतिह्य-मात्र से अर्थ को कहता है, इसलिए श्रवण-मात्र से श्रोताओं के हृदय में अर्थ का अनुभव नहीं कराता। और, अनुमान में यह विशेषता है कि प्रत्यक्ष दृष्टान्त के प्रदर्शन से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थ का भी अनुभव कराने में वह समर्थ होता है। मूल कारण-रूप जो सूक्ष्म अर्थ है, उसका बुद्धि पर आरोहण तर्क के ही द्वारा होता है, इस प्रकार मानने से ये भी तार्किक ही हैं, यह सिद्ध होता है।

वैशेषिक भी तार्किक हैं

वैशेषिकों के तार्किक होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है; क्योंकि, ये शब्द को पृथक् प्रमाण मानते ही नहीं। विश्वनाथ भट्ट ने 'भाषा-परिच्छेद' में स्पष्ट लिखा है—

'शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते।
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥'

इसका तात्पर्य यह है कि शब्द और उपमान, इन दोनों को पृथक् प्रमाण नहीं माना जाता। क्योंकि, ये दोनों अनुमान में ही गतार्थ हो जाते हैं, यह वैशेषिकों का मत है। इनमें यही विशेषता है कि ये शब्द को अप्रमाण नहीं मानते, किन्तु शब्द अनुमान का साधन होने से अनुमान में ही गतार्थ है, अनुमान से पृथक् नहीं है, यही इनका तात्पर्य है। इसीलिए, नास्तिकों में इनकी गणना नहीं होती; क्योंकि ये

श्रुति को अप्रमाण नहीं मानते। श्रुति को प्रमाण नहीं माननेवाले ही नास्तिक कहे जाते हैं। इनका कहना इतना ही है कि प्रमाणत्वेन अभिमत जितने शब्द हैं, वे अनुमान के साधनीभूत हैं; अर्थात् अनुमान के द्वारा ही अपने अर्थ का सत्यतया बोध कराते हैं। इसलिए, अनुमान में ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। पृथक् प्रमाण में इनकी गणना नहीं होती।

आस्तिक और नास्तिक

जो तार्किक श्रुति-प्रमाण को नहीं मानते, ये ही नास्तिक कहे जाते हैं। श्रुति-प्रमाण के अविरोधी जो तार्किक हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। इन आस्तिक तार्किकों के अतिरिक्त जो तार्किक हैं, जैसे—जैन, बौद्ध, कापिल आदि, वे नास्तिक माने जाते हैं। क्योंकि, वेद को जो प्रमाण नहीं मानता, वही नास्तिक है। इनकी श्रद्धा वेद में कुछ भी नहीं रहती, केवल तर्क के बल से ही मूलतत्त्व के अनुसन्धान में प्रवृत्त होते हैं।

यहाँ तक प्रासङ्गिक बातों को दिखाकर प्रकृत के ऊपर विचार किया जायगा। श्रुति और अनुमान इन दोनों में कौन प्रबल है और कौन दुर्बल, इस प्रश्न के उत्तर में मतभेद से दोनों ही प्रबल और दोनों ही दुर्बल हो सकते हैं, यह पहले बता चुके हैं। परन्तु, यह किस प्रकार सम्भव है, इसके ऊपर विचार किया जायगा।

श्रौत दर्शनकारों के मत से अनुमान की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है, और तार्किकों के मत में श्रुति की अपेक्षा अनुमान प्रबल होता है। श्रौत दर्शनकार सब आस्तिक हैं, और केवल तार्किकों में आस्तिक और नास्तिक दो भेद हैं।

श्रौतों और तार्किकों में मूल भेद

जहाँ दो श्रुतियों में परस्पर विरोध प्रतीत हो, वहाँ किसी एक का गौण अर्थ मानना ही होगा, ऐसा सब दर्शनकारों ने स्वीकार भी किया है। और, जहाँ श्रुति और अनुमान में विरोध प्रतीत हो, वहाँ ही दो मतभेद उपस्थित होते हैं। एक का कहना है कि श्रुति और अनुमान में परस्पर मतभेद होने पर अनुमान को ही आभासी मानना समुचित है, इस अवस्था में श्रुति को किसी प्रकार भी गौणार्थ मानना उचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि अनुमान परतः प्रमाण है; क्योंकि अनुमान का प्रामाण्य सद्व्याप्ति के अधीन है। इसीलिए, तार्किकों ने भी अनुमान को परतः प्रमाण माना है। और, श्रुति स्वतः प्रमाण है। इस अवस्था में स्वतः प्रमाण-भूत श्रुति, परतः प्रमाण-भूत अनुमान का अनुसरण नहीं कर सकती, किन्तु अनुमान का ही श्रुति का अनुसरण करना युक्त और समुचित है। इस प्रकार जो श्रुति को, स्वतः प्रमाण मानकर, अनुमान की अपेक्षा प्रबल मानते हैं, वे 'श्रौत' कहे जाते हैं। और, जो श्रुति को भी परतः प्रमाण मानते हैं, उनके मत में श्रुति और अनुमान में परस्पर विरोध होने पर अनुमान को ही कभी आभासी माना जाता है, और कभी श्रुति का ही गौण अर्थ मानकर अनुमान का अनुसरण कराया जाता है। इस प्रकार, श्रुति को भी जो परतः प्रमाण मानते हैं, वे ही दर्शनकार तार्किक कहे जाते हैं, जैसे—गौतम, कणाद आदि। इसलिए,

श्रुति का स्वतःप्रामाण्य मानना श्रौत होने का और परतःप्रामाण्य मानना तार्किक होने का बीज है।

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वेद के स्वतःप्रामाण्य या परतःप्रामाण्य में मतभेद क्यों हुआ? इसका उत्तर यही होता है कि जिसके मत में वेद अपौरुषेय, अर्थात् किसी पुरुष-विशेष से रचित नहीं है, इस प्रकार की निश्चित धारणा जिनको होती है, उनके मत में उसका स्वतःप्रामाण्य स्वयं सिद्ध हो जाता है। और, जिनके मत में वेद पौरुषेय, अर्थात् पुरुषविशेष से रचित है, उनके मत में उसका परतःप्रामाण्य भी सिद्ध होता है।

शब्द का प्रामाण्य, शब्द के प्रयोक्ता आप्त पुरुष के अधीन है। यथार्थवादी को आप्त कहते हैं। यहाँ पुरुष शब्द से ईश्वर लिया जाता है। ईश्वर ही सबकी अपेक्षा आप्ततम होता है। इसीलिए, ईश्वर-रचित होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य माना जाता है। अतएव, आप्तों के मत में वेद का परतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। इस प्रकार दर्शनकारों या दर्शनों में भेद होने का क्या कारण है, इस विचार में सबका मूल कारण वेद का पौरुषेयत्व या अपौरुषेयत्व होना ही सिद्ध होता है।

पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व का विचार

अब यह जिज्ञासा होती है कि वास्तव में वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय? और दोनों में कौन युक्त है? क्या ईश्वर ने वेद की रचना की है? जैसे व्यास ने महाभारत की या कालिदास ने रघुवंश की? या ईश्वर ने वेद को प्रकाशित किया है, जैसे प्राचीन पुस्तकों का आज प्रकाशन होता है? इन दोनों पक्षों में यदि वेद को ईश्वर से प्रकाशित माना जाय, तो वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है, और यदि ईश्वर से रचित माना जाय, तब तो पौरुषेयतत्व सिद्ध होता है। इन दोनों में कौन पक्ष युक्त है, इस विषय में श्रुति के आधार पर ही विचार करना समुचित प्रतीत होता है। श्रुति कहती है—
'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादि श्रुति में परमात्मा के निःश्वास से वेद का उद्भव माना गया है। यहाँ विचारना यह है कि लोक में निःश्वास अनायास, अर्थात् बिना परिश्रम देखा जाता है। और, अबुद्धि-पुरःसर भी देखा जाता है, अर्थात् निःश्वास लेने में बुद्धि का व्यापार कुछ भी नहीं रहता।

अतएव, यदि वेद को ईश्वर से रचित मानें, तो वेद की रचना में ईश्वर का किसी प्रकार अनायास, अर्थात् परिश्रम का अभाव मान सकते हैं। यद्यपि दृष्ट, अदृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, मूर्त्त, अमूर्त्त, चेतन और अचेतन आदि सकल पदार्थ के अवभासक वेद की रचना में परिश्रम का होना अनिवार्य है, तथापि परमात्मा के अचिन्त्यशक्तिमान् होने के कारण सर्वार्थावभासक वेद की रचना में प्रयास का अभाव भी सम्भावित है। परन्तु, अबुद्धि-पुरःसर वेद की रचना होना नहीं बनता। तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र वाक्य-रचना में बुद्धि का कुछ व्यापार अत्यावश्यक होता है। बिना बुद्धि लगाये किसी स्वतन्त्र वाक्य की रचना नहीं हो सकती, इसलिए वेद की रचना में निःश्वसित-न्याय से

प्राप्त अबुद्धि-पुरःसरत्व का होना युक्त नहीं होता है। इसलिए, बुद्धि-पुरःसरत्व की उपपत्ति के लिए वेद को ईश्वर-रचित न मानकर ईश्वर से प्रकाशित ही मानना समुचित होता है। ईश्वर से प्रकाशित मानने में अनायासत्व और अबुद्धि-पुरःसरत्व, दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है। प्रकाशित मानने से वेद अपौरुषेय भी सिद्ध होता है।

और भी, जो दर्शनकार अदृष्ट और दृष्ट की सिद्धि अनुमान-प्रमाण के द्वारा ही करते हैं, वे यह भी मानते हैं कि वेद से अन्यत्र कहीं भी अबुद्धि-पुरःसर वाक्य की रचना नहीं देखी जाती, इसलिए वेद की रचना बुद्धि-पुरःसर ही है, अर्थात् बिना बुद्धि-व्यापार के वेद की रचना नहीं हो सकती, इस प्रकार के दर्शनकार, श्रुति में जो निःश्वसित उक्ति है, उसका अनायास-मात्र अर्थ में तात्पर्य मानकर किसी प्रकार श्रुति का सङ्गमन करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके मत में निःश्वसित शब्द का अनायास-मात्र अर्थ होता है, अबुद्धि-पुरःसर नहीं, उनके मत में वेद पौरुषेय सिद्ध होता है। और, जो निःश्वसित शब्द का अनायास और अबुद्धि-पुरःसर दोनों अर्थ मानते हैं, उनके मत में वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है।

श्रौत दर्शनकारों का यही सिद्धान्त है कि यदि निःश्वसित शब्द से अवश्य प्रतीयमान अबुद्धि-पुरःसर अर्थ के मानने पर भी श्रुति का अर्थ सामञ्जस्येन उपपन्न हो जाता है, तो उसका त्याग करना समुचित नहीं है। इसलिए, श्रुति के अनुसार वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध हो जाता है और यही युक्त भी प्रतीत होता है। इस अवस्था में अनुमान से श्रुति प्रबल है, श्रौतों का यह मत भी सिद्ध हो जाता है।

सत्ता के भेद से श्रुति और प्रत्यक्ष में अविरोध

अब श्रुति और प्रत्यक्ष में बाध्य-बाधक-भाव के विषय में विचार किया जायगा। प्रमाण अपने विषय की सत्ता का ज्ञान कराता है, यह सर्वसिद्धान्त है। सत्ता, साधारणतः दो प्रकार की होती है—एक पारमार्थिकी, दूसरी व्यावहारिकी। 'तत्त्वमसि' महावाक्य अद्वैत की पारमार्थिक सत्ता का बोध कराता है, और द्वैतग्राही जो प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह द्वैत की व्यावहारिक सत्ता का बोध कराता है। इस अवस्था में श्रुति और प्रत्यक्ष का विषय भिन्न होने से विरोध नहीं होता, इसलिए बाध्य-बाधक-भाव भी नहीं हो सकता। यदि द्वैतग्राही प्रत्यक्ष से भी पारमार्थिक सत्ता का ही बोध होता, तो दोनों में विरोध होने से बाध्य-बाधक-भाव का विचार होता, 'विषयैक्ये बाध्य-बाधक-भावो भवति न तु विषयभेदे', अर्थात् विषय के एक होने पर ही बाध्य-बाधक-भाव होता है—विषय-भेद में नहीं, यह सबका सिद्धान्त है। इस अवस्था में अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति से द्वैतग्राही प्रत्यक्ष का बाध होता है। इस प्रकार कहने का तात्पर्य यही होता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण, द्वैत की पारमार्थिक सत्ता के बोधक नहीं, किन्तु व्यावहारिक सत्ता के ही बोधक हैं।

प्रमेय-विचार

प्रमाण से जिसका साधन किया जाता है, या प्रमाण से जो सिद्ध है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं। प्रमेय दो प्रकार का होता है—एक चेतन, दूसरा अचेतन। इनमें

चेतन प्रधान है, और अचेतन अप्रधान। क्योंकि, भूत या भौतिक जितनी अचेतन वस्तुएँ हैं, वे चेतन के ही उपभोग के साधन हैं। चेतन भी दो प्रकार का होता है—एक जीव, और दूसरा ईश्वर। जीव की अपेक्षा ईश्वर प्रधान है; क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है तथा ईश्वर के ज्ञान के लिए जीव का प्रयत्न देखा जाता है। इसलिए, पहले ईश्वर का ही विचार किया जाता है।

ईश्वर के विषय में चार्वाक-मत

चार्वाक-मतानुयायी ईश्वर को नहीं मानते। इनके मत में ईश्वर कोई तत्त्व नहीं है। क्योंकि, इनके मत में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं माना जाता, और प्रत्यक्ष से ईश्वर का ज्ञान होता नहीं। बीज से अंकुर की उत्पत्ति जो होती है, वह मृत्तिका और जल के संयोग से स्वाभाविक है। उसके लिए किसी अदृष्ट कर्त्ता की कल्पना व्यर्थ है। यदि कोई कर्त्ता रहता, तो कदाचित् किसी को कहीं पर अवश्य उपलब्ध होता। उपलब्ध नहीं होता, इसलिए ईश्वर कोई वस्तु नहीं है, यह इनका परम सिद्धान्त है। यदि कहें कि ईश्वर नहीं है, तो शुभ या अशुभ कर्म का फल कौन देगा? तो इसके उत्तर में इनका कहना है कि किस कर्म-फल के बारे में आप पूछते हैं—लौकिक या पारलौकिक? यदि लौकिक कर्म के बारे में आप कहें, तो निग्रह और अनुग्रह में समर्थ राजा ही, चोरी आदि बुरे काम करनेवालों को दण्ड, और अच्छे काम करनेवालों को पारितोषिक देता है। यदि पारलौकिक कर्मों के विषय में कहें, तो इसमें इनका कहना है कि यज्ञ, तप आदि जितने वैदिक कर्म हैं, वे भोग के साधन नहीं हैं, केवल अपनी जीविका के लिए धूर्त्तों का प्रचार मात्र है। जातमात्र शिशु को जो सुख-दुःख का उपभोग प्राप्त होता है, वह काकतालीय न्याय से यदृच्छया हुआ करता है। इसमें किसी अदृष्ट कारण की आवश्यकता नहीं होती, जिससे ईश्वर की कल्पना की जाय।

ईश्वर के विषय में मतान्तर

चार्वाक के अतिरिक्त जैन और बौद्ध भी ईश्वर को नहीं मानते। बौद्धों के मत में सर्वज्ञ मुनि बुद्ध से भिन्न अन्य कोई ईश्वर नहीं है। जैन भी अर्हत् मुनि के अतिरिक्त किसी दूसरे को ईश्वर नहीं मानते। सांख्यों के मत में भी पुरुष (जीव) से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं माना जाता। मीमांसकों के मत में भी शुभ और अशुभ कर्म के फल को देनेवाला कर्म ही है, इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं। कतिपय मीमांसक ईश्वर को भी मानते हैं। वैयाकरणों के मत में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, ये चार प्रकार के जो शब्द हैं, उनमें सकल शब्दों का मूल कारण मूलाधारस्थ परा नाम का जो शब्द है, वही ईश्वर है। रामानुजाचार्य के मत में जीव से भिन्न जीवों का नियन्ता जीवान्तर्यामी ईश्वर माना जाता है। जीव-वर्ग और जड़-वर्ग ईश्वर का शरीर माना जाता है। वही ईश्वर जीव से किये गये शुभ या अशुभ कर्म का फल कर्म के अनुसार देता है। वह ईश्वर ज्ञानस्वरूप है। अनुकूल ज्ञान का ही नाम

आनन्द है। इसीलिए, श्रुति में ईश्वर को आनन्द-स्वरूप भी माना गया है। ज्ञान आदि जो गुण हैं, उनका आश्रय भी ईश्वर ही है। इनके मत में स्वरूपभूत ज्ञान से गुणभूत ज्ञान भिन्न माना जाता है। यही ईश्वर, जगत्-रूप कार्य की उत्पत्ति में, तीन प्रकार से कारण बनता है। 'बहुस्याम्'—बहुत हो जाऊँ, इस प्रकार संकल्पविशिष्ट ईश्वर निमित्त कारण होता है। अपना विशेषणभूत शरीर-रूप, जो सूक्ष्म चित् और अचित् अंश है, तद्विशिष्ट होने से उपादान कारण होता है। और, ज्ञान, शक्ति, क्रिया आदि से विशिष्ट होने के कारण सहकारी कारण भी कहा जाता है। जीव का भी नियन्ता ईश्वर ही है। जिस प्रकार शरीर के अन्तःस्थित सूक्ष्म जीव शरीर का नियमन करता है; उसी प्रकार जीवों के अन्तःस्थित सूक्ष्मतर ईश्वर भी जीवों का नियमन करता है। केवल इतना ही अन्तर है कि जीव अपने इच्छानुसार सर्वावयवेन शरीर का नियमन नहीं कर सकता, और ईश्वर सर्वावयवेन अपनी इच्छा से जीवों का नियमन करता है; क्योंकि जीव अल्पशक्ति और ईश्वर परिपूर्ण शक्ति-विशिष्ट है। एक बात और ज्ञातव्य है कि ईश्वर यद्यपि अपनी इच्छा से जीवों के नियमन करने में समर्थ है, तथापि जीवकृत उन कर्मों के अनुसार ही उनका नियमन करता है। अन्यथा वैषम्य आदि दोष ईश्वर में आ जायगा।

ईश्वर के विषय में नैयायिक आदि का मत

नैयायिक, वैशेषिक, माध्व, माहेश्वर आदि दर्शनकारों के मत में ईश्वर को उपादान कारण नहीं माना जाता। ये लोग जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर को निमित्त कारण ही मानते हैं। कर्म के फल को देनेवाला यही ईश्वर है। किन्तु, माहेश्वरों में नकुलीश, पाशुपत और प्रत्यभिज्ञावादी ईश्वर को कर्मानुसार फल देनेवाला नहीं मानते। इनका कहना है कि ईश्वर को कर्मावलम्बी मानने से उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। और, इनके अतिरिक्त माहेश्वर, नैयायिक, वैशेषिक और माध्व ऐसा मानते हैं कि कर्म के अनुसार ही ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। पातञ्जलों के मत में भी ईश्वर को जीव से भिन्न माना जाता है, किन्तु वह जगत् का न उपादान कारण होता है, और न निमित्त कारण ही। वह निर्गुण, निर्लेप और निर्विशेष है।

ईश्वर के विषय में अद्वैतवादियों का मत

अद्वैतवादी शङ्कराचार्य के मत में ईश्वर परमात्मा, निर्गुण, निर्लेप, निर्विशेष और पारमार्थिक है। वह जगत् का न निमित्त कारण है, और न उपादान ही। क्योंकि, इनके मत में जगत् की पारमार्थिक सत्ता ही नहीं है, तो उसके कारण की कल्पना ही व्यर्थ है। जगत् की सत्ता तो केवल व्यावहारिक है। इस व्यावहारिक जगत् का कारण, मायोपाधिक परमात्मा है। निर्विशेष शुद्ध परमात्मा न किसी का कार्य है और न कारण ही। यही शुद्ध परमात्मा जब मायारूप उपाधि से युक्त होता है, तब ईश्वर कहलाता है। यही माया-विशिष्ट ईश्वर स्वप्राधान्येन जगत् का निमित्त कारण और मायाप्रधान्येन उपादान कारण होता है। माया-विशिष्ट का एकदेशभूत केवल मायाश्रय,

जगत् का विवर्त्तोपादान होता है। जीवकृत शुभ और अशुभ कर्मों का फल यही ईश्वर देता है, और वह भी कर्मों के अनुसार ही फल देता है।

ईश्वर-सत्ता में प्रमाण

अब पूर्वोक्त ईश्वर का ज्ञान किस प्रकार होगा, इसका विचार किया जाता है। जो दर्शनकार ईश्वर को मानते ही नहीं, उनके मत में प्रमाण का विचार निरर्थक ही है। क्योंकि, वन्ध्यापुत्र के अन्वेषण में किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। और, जो दर्शनकार ईश्वर को मानते हैं, उन लोगो का भी ईश्वर के ज्ञान में परस्पर मतभेद देखा जाता है। मनुष्यों को जो ईश्वर-विषयक ज्ञान होता है, वह अवस्था-भेद से दो प्रकार का है—एक, मोक्षावस्था में होनेवाला; दूसरा, मोक्षावस्था से पूर्व होनेवाला। इन दोनों मे पहला अद्वैतवादी शंकराचार्य के मत में नहीं हो सकता; क्योंकि उनके मत में उपाधि-रहित स्वरूप में अवस्थान का ही नाम मोक्ष है, इसलिए वहाँ औपाधिक द्वैत का प्रतिभास होना असम्भव है। द्वैतवादी-वैशेषिकों के मत में भी मोक्षावस्था में जीव के सकल-विशेष गुण का उच्छेद हो जाता है, इसलिए वहाँ किसी विषय का भी ज्ञान नहीं होता। नैयायिकों के मत में भी प्रायः यही बात है। सांख्यों के मत में भी जीवात्मा असङ्ग और निर्लेप है। मोक्षावस्था में असङ्ग-रूप से ही अवस्थित रहने के कारण ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव नहीं रहता, अतः किसी विषय का भी ज्ञान नहीं हो सकता। पातञ्जलों के मत में भी यही बात है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भी जीव ही ईश्वर-रूप से आविर्भूत होता है। अतएव, स्वरूप से भिन्न कोई ईश्वर नहीं रहता, जिसका ज्ञान सम्भव हो।

इनसे भिन्न जो द्वैतवादी तार्किक हैं, उनके मत में मोक्षावस्था में ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। मोक्षावस्था से पहले मोक्ष का साधनीभूत जो आत्मज्ञान होता है, वह तत्त्वान्वेषण-रूप ही है। तार्किकों के मत में तत्त्व का अन्वेषण पहले अनुमान के ही द्वारा होता है, उसी के अनुसार पीछे श्रुति प्रवृत्त होती है। ईश्वर-विषयक ज्ञान में भी इनका यही क्रम है। अर्थात्, पहले अनुमान से ईश्वर सिद्ध करना, उसके बाद श्रुति को तदनुसार संगमन करना। इन द्वैतवादियों के मत से रामानुजाचार्य का मत विपरीत है। इनका कहना है कि ईश्वर के विषय में पहले श्रुति प्रवृत्त होती हैं, और उसके बाद अनुमान। माध्व लोग अनुमान को प्रमाण ही नहीं मानते। इसलिए, इनके मत में श्रुति से ईश्वर का ज्ञान होना स्वाभाविक ही है।

आत्म-प्रत्यक्ष में श्रुति का प्राधान्य

अद्वैतवादी शङ्कराचार्य के मत में अद्वैत आत्मा के साक्षात्कार-साधन के लिए पहले श्रुति ही प्रवृत्त होती है, उसके बाद श्रुति के अनुसार ही अनुमान प्रवृत्त होता है। इसके पहले अनुमान की गति नहीं होती।

यहाँ आशंका यह होती है कि जितना शीघ्र अनुमान से किसी वस्तु का अनुभव होता है, उतना शब्द से नहीं। रस्सी में होनेवाला जो साँप का भ्रम-ज्ञान है, उसकी निवृत्ति 'नायं सर्पः' (यह साँप नहीं है)—इस शब्द के सुनने से उतना शीघ्र

नहीं होती, जितना शीघ्र 'यतो नायं चलति अतो नायं सर्पः' (यह चलता नहीं है, इसलिए यह साँप नहीं है)—इस प्रकार के अनुमान से भ्रम की निवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि सर्पाभाव के साक्षात्कार में जितना अन्तरङ्ग साधन अनुमान होता है, उतना शब्द नहीं। कारण यह है कि शब्द ऐतिह्य-मात्र से अर्थ का अनुभव कराता है, और अनुमान, प्रत्यक्ष दृष्टान्त के द्वारा उसे झटिति बुद्धि पर आरूढ करा देता है।

शङ्कराचार्य ने स्वयं अपने भाष्य में लिखा है—'अथ दृष्टसाम्येन अदृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिः सन्निकृष्यतेऽनुभवस्य विप्रकृष्यते तु श्रुतिः ऐतिह्यमात्राऽभिधानात्' (ब्र० सू० भा० २।१।४)। अर्थात्, प्रत्यक्ष दृष्टान्त के द्वारा दृष्ट वस्तु के सदृश ही अदृष्ट अर्थ का समर्थन कराती हुई युक्ति (अनुमान) अनुभव के अत्यन्त समीप है, और श्रुति विप्रकृष्ट, अर्थात् साक्षात् अनुभव कराने में बहिरङ्ग साधन है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साक्षात् अनुभव कराने में श्रुति की अपेक्षा अनुमान की शक्ति प्रबल है। इस अवस्था में आत्म-साक्षात्कार के विषय में बहिरङ्ग श्रुति की गति पहले हो, और अन्तरङ्ग अनुमान की गति पहले न हो, इसमें क्या कारण है? यदि अनुभव कराने में अनुमान में शब्द की अपेक्षा प्रबल शक्ति है, और वह झटिति अनुभव करा सकता है, तो आत्म-साक्षात्कार में भी अनुमान की गति पहले होनी चाहिए।

इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार होता है कि द्वैतवादियों के मत में किसी प्रकार परमात्मा के अनुसन्धान में श्रुति की अपेक्षा अनुमान-प्रमाण की गति पहले हो सकती है, परन्तु अद्वैतवादियों के मत में किसी प्रकार भी पहले अनुमान का प्रवेश होना असम्भव ही है। क्योंकि, जहाँ ज्ञाता की अपेक्षा ज्ञेय भिन्न प्रतीत होता है, वहाँ शब्द की अपेक्षा अनुमान की प्रबलता हो सकती है, परन्तु जहाँ ज्ञेय के साथ अपना ऐक्य हो; जैसे, 'दशमस्त्वमसि'—दसवाँ तुम हो, इत्यादि स्थल में वहाँ अनुमान की अपेक्षा श्रुति ही, अर्थात् शब्द ही, अनुभव के समीप अन्तरङ्ग साधन होता है। इसीलिए पञ्चदशी में कहा है—'दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेवापरोक्षधीः', दसवाँ तुम हो, इत्यादि स्थलों में शब्द से ही साक्षात् अनुभव होता है। यहाँ अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् अनुभव में, शब्द के अतिरिक्त साधन का, 'शब्दादेव' के 'एव' शब्द से स्पष्ट निराकरण किया है। वेदान्त का एक दृष्टान्त है—

किसी समय दस मनुष्य स्नान करने के लिए नदी में गये थे। लौटने के समय आपस में गिनने लगे और सभी लोग अपने को छोड़कर नौ को ही गिनते थे, दसवाँ किसी की भी समझ में नहीं आया, वह नदी में डूब गया, यह समझकर सब रोने लगे। इसी बीच एक बुद्धिमान् मनुष्य वहाँ आया, और बात को समझकर समझाने लगा कि यदि वह डूबा होता, तो किसी ने अवश्य देखा होता। जब बहुत समझाने पर भी वे लोग न समझ सके, तब उसने कहा कि अच्छा, तो हमारे सामने गिनो। इतना कहने पर जब उसने फिर उसी प्रकार अपने को छोड़कर नौ को गिना, तो उस बुद्धिमान् मनुष्य ने कहा—'दशमस्त्वमसि', दसवाँ तुम हो। इस शब्द के श्रवणमात्र से दसवाँ का साक्षात्कार कर वे सभी प्रसन्न हो गये। इस प्रकार, अभेद-साक्षात्कार के लिए अनुमान की अपेक्षा शब्द ही शीघ्र अनुभावक होता है, यह सिद्ध होता है।

एक बात और भी है कि निर्विशेष आत्मैक्य का ज्ञान कराने में अनुमान किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। कारण यह है कि कोई भी प्रमाण सविशेष वस्तु का ही ज्ञान करा सकता है, निर्विशेष का नहीं। अर्थात्, प्रमाण यही बता सकता है कि यह वस्तु ऐसी है, परन्तु आत्मा ऐसा है, इस प्रकार का निश्चय नहीं कर सकते; क्योंकि वह निर्विशेष है। इसलिए, उस निर्विशेष आत्मा के बोध कराने में अनुमान किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता। इसी बात को 'केन' श्रुति भी पुष्ट करती है—'यन्मनसा न मनुते'—जिसका मन से मनन नहीं कर सकते, यहाँ 'मनन' से अनुमान का ही बोध होता है।

यद्यपि निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्य के बोध कराने में श्रुति का भी सामर्थ्य नहीं है, इस बात का अनुमोदन, अपना असामर्थ्य बताती हुई श्रुति स्वयम् कहती है—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१), अर्थात् मन के साथ वाक् (श्रुति या शब्द) भी विना समझे लौट आती है। फिर भी, इसी रूप से 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते', 'यन्मनसा न मनुते', 'नेति-नेति', 'निर्गुणः', 'अग्राह्यम्', 'अलक्षणम्' इत्यादि श्रुतियाँ भी निषेध-मुख से ही ब्रह्मात्मैक्य के बोध कराने में किसी प्रकार समर्थ होती हैं। अथवा लक्षणा-वृत्ति से बोध कराती हैं। लक्षणा और अनुमान में इतना ही अन्तर है कि जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है, वहाँ ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। अर्थात्, जिस निर्विशेष या सविशेष ब्रह्म में श्रुति का तात्पर्य उपक्रम, परामर्श, उपसंहार, अभ्यास आदि साधनों से अवगत होता है, वही लक्षणा से दिखाया जाता है। और, अनुमान साधन के सम्बन्ध से साध्य का ज्ञान कराता है। निर्विशेष ब्रह्म का किसी के साथ सम्बन्ध है नहीं, इस अवस्था में अनुमान का अवकाश होता ही नहीं। यदि कहें कि इस प्रकार तो श्रुति के बाद भी अनुमान की गति नहीं हो सकती, तो इसे इष्टापत्ति ही मानना होगा। पूर्व में श्रुति के पार्षद होने से उसके पीछे अनुमान की जो गति बताई गई है, वह ब्रह्मविशेष और सोपाधिक ईश्वर के विषय में ही है, निरुपाधिक ब्रह्म के विषय में नहीं।

ईश्वर के विषय में भी अनुमान से पूर्व श्रुति की प्रवृत्ति

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि जगत् के कारणीभूत सोपाधिक ईश्वर के विषय में श्रुति से पहले अनुमान की गति क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि जगत् का कुछ कारण अवश्य है, इस प्रकार के निश्चय होने के बाद ही, उसी कार्य-कारण-भाव मूलक कार्य के द्वारा कारण का बोध करानेवाला अनुमान-प्रमाण का संचार होता है। जन्य, क्षित्यंकुरादि को देखकर सन्देह उत्पन्न होता कि क्या यह क्षित्यंकुरादि कार्य, स्वयं स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, अथवा इसका बनानेवाला कोई है? इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति के विना नहीं हो सकती। क्योंकि, चेतन की सहायता के विना अचेतन का परिणाम लोक में कहीं भी नहीं देखा जाता, फिर भी इस नियम के विरुद्ध कपिल आदि दर्शनकारों ने अचेतन-प्रधान का स्वयं स्वतन्त्र परिणाम मानते हुए, इस विषय को स्वतन्त्र प्रधान कारण-वाद की कोटि में रखा है। इसी प्रकार उपादान कारण के विना लोक में कोई कार्य

उत्पन्न नहीं होता, फिर भी स्वभाववादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपादान कारण के बिना भी स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इस अवस्था में क्षिति-अंकुर आदि कार्य को निमित्त और उपादान के बिना भी स्वभाव से ही उत्पन्न होनेवाला मान लें, तो इसमें उनका क्या अपराध है ? इसलिए, श्रुति को आधार माने बिना किसी भी तर्क के आधार पर जगत् के निश्चित कारण को सिद्ध करना कठिन ही नहीं, अपितु, असम्भव है। जब श्रुति के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि सकल भूत और भौतिक वर्ग किसी से क्रियमाण या कृत हैं, तभी उस कार्य-कारणभाव-मूलक अनुमान की प्रवृत्ति होती है। इन उपर्युक्त बातों को साक्षात् श्रुति भी पुष्ट करती है; यथा—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।७)। अर्थात्, जो वेद को नहीं जानता, वह उस ब्रह्म का मनन नहीं कर सकता। यहाँ मनन का अर्थ अनुमान ही होता। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'—इस बृहदारण्यक श्रुति में श्रवण के बाद जो मनन का विधान किया है, इसका भी यही तात्पर्य है कि श्रुति-वाक्य के श्रवण के अनन्तर अनुमान-साध्य मनन हो सकता है। श्रवण श्रुति-वाक्य से ही होता है, और मनन से अनुमान का ग्रहण होता है। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः'—इस स्मृति का भी यही तात्पर्य हो सकता है। इन्हीं सब बातों से सिद्ध होता है कि अनुमान का उपजीव्य श्रुति ही है।

जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, उनके मत में भी तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता मोक्ष के लिए होती ही है। उन तत्त्वों में जीव के साथ अपने मूलतत्त्व का भी ज्ञान इतर से विविक्ततया करना अत्यावश्यक हो जाता है। क्योंकि, उनके मत में भी बिना विवेक-ज्ञान के मोक्ष नहीं होता। विवेक-ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। क्योंकि, किसी भी ज्ञान का साधन प्रमाण ही होता है। ईश्वर को नहीं माननेवाले जितने दार्शनिक हैं, वे प्रायः सब तार्किक हैं। उनके मत में जीव के स्वरूप-ज्ञान के लिए पहले अनुमान प्रवृत्त होता है, उसके बाद उसके पार्षद होने से श्रुति की प्रवृत्ति होती है।

जीव का स्वरूप

ईश्वर के स्वरूप-निरूपण के बाद क्रमप्राप्त जीव का स्वरूप कैसा है, वह नित्य है, या अनित्य, उसका परिमाण क्या है, इत्यादि विषयों का विचार किया जाता है। चार्वाकों के मत में चैतन्य-विशिष्ट देह को ही जीवात्मा माना गया है। वही कर्ता और भोक्ता है। उसका मूल स्वरूप, पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतों का परमाणु-पुञ्ज ही है। जब इन भूत-परमाणुओं का देह-रूप से परिणाम होता है, तभी उसमें (देह में) चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। उसी समय वह चैतन्य-विशिष्ट देह जीव कहलाने लगता है। इनके मत में जड़ और बोध उभय-स्वरूप जीव होता है। चैतन्य-विशिष्ट देह में जो चैतन्य अंश है, वही बोधरूप है, और देह-अंश जड़रूप है। देह अनेक प्रकार का होता है, इसलिए जीव भी अनेक हो जाता है और देह के साथ ही वह उत्पन्न या विनष्ट होता है, इसलिए अनित्य भी है। चार्वाकों में भी पीछे अनेक भेद हो गये हैं। कोई प्राण को ही जीवात्मा मानता है, कोई इन्द्रियों को और कोई मन को ही। इन सब मतों का खण्डन न्याय-दर्शन में भली भाँति किया गया है।

बौद्धों में जो शून्यवादी माध्यमिक हैं, उनके मत में व्यवहार-दशा में भासमान जो जीव है, उसका मूल-स्वरूप शून्य ही है। इनके अतिरिक्त बौद्धों के मत में विज्ञान-स्वरूप जीवात्मा है। क्षणिक विज्ञानों का जो प्रवाह है, तत्स्वरूप होने के कारण जीवात्मा प्रतिक्षण बदलता रहता है, इसीलिए अनित्य भी है। पूर्व-पूर्व-विज्ञानजन्य जो संस्कार है, उसका उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होता रहता है, इसीलिए इनके मत में स्मरण की अनुपपत्ति नहीं होती और पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण बना रहता है।

जैनों के मत में आत्मा को देह-परिमाण माना गया है और देह से भिन्न भी माना गया है। जैसे-जैसे देह बढ़ती है, उसमें रहनेवाला आत्मा भी उसी प्रकार बढ़ता रहता है, और देह के अपचय अर्थात् क्षीण होने पर आत्मा का भी अपचय होता रहता है। देह के साथ आत्मा का भी सदा उपचय और अपचय होते रहने के कारण इनके मत में भी आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं माना जाता है। आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं होने पर भी इनके मत में वह परिणामी नित्य माना जाता है। जो एक रूप से सदा वर्तमान रहता है, वही कूटस्थ नित्य कहा जाता है। जितने आस्तिक दर्शन हैं, उनके मत में आत्मा कूटस्थ नित्य माना जाता है।

आत्मा के कूटस्थ नित्य होने में आक्षेप

आत्मा कूटस्थ नित्य क्यों है, कूटस्थ न मानने से क्या दोष होता है—इसका विचार किया जाता है। नैयायिकों और वैशेषिकों के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि इनके मत में भी आत्मा कूटस्थ नित्य नहीं होता; क्योंकि आत्मा के जितने बुद्धि, सुख, दुःख आदि गुण हैं, वे सब अनित्य माने जाते हैं, यह इनका परम सिद्धान्त है। इसलिए, बुद्धि आदि गुणों के अनित्य होने से जब-जब इनका उत्पाद या विनाश होगा, उसी समय उन गुणों के आश्रयभूत आत्मा में भी उपचय या अपचय होना अवश्यम्भावी है। कारण यह है कि जबतक धर्मी में विकार नहीं होता, तबतक उसके धर्म में भी विकार नहीं हो सकता। 'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्'—इस सर्वसिद्धान्तन्याय का भी यही तात्पर्य है कि बढ़ता या घटता हुआ धर्म, धर्मी में विकार अवश्य करता है। शङ्कराचार्य ने भी शारीरक भाष्य में 'उभयथा च दोषात्' इस सूत्र के ऊपर लिखा है : 'न चान्तरेण मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवति, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्'—तात्पर्य यह है कि मूर्त्ति में उपचय हुए बिना गुण में उपचय नहीं होता। कार्यभूत पृथिवी आदि भूतों में गुणों के उपचय-अपचय से मूर्त्ति में भी उपचय-अपचय देखा जाता है। जैसे—पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँच गुणों के रहने से पृथिवी सब भूतों की अपेक्षा स्थूल है। केवल एक गन्ध-गुण के कम हो जाने से जल पृथिवी की अपेक्षा सूक्ष्म हो जाता है। जल की अपेक्षा तेज सूक्ष्म है, उसमें गन्ध और रस ये दो गुण कम हो जाते हैं। तेज की अपेक्षा वायु सूक्ष्म है, उसमें गन्ध, रस और रूप ये तीन गुण कम हो जाते हैं। इसकी अपेक्षा भी आकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, इसमें गन्ध, रस, स्पर्श, रूप ये चार गुण कम हो जाते हैं। आकाश में एक शब्दमात्र ही गुण रहता है। इन भूतों में

देखा जाता है कि ये अत्यन्त सूक्ष्म आकाश से जितने स्थूल होते जाते हैं, उनमें एक-एक गुण अधिक बढ़ता जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्त्ति के उपचय और अपचय गुणों के उपचय और अपचय के अधीन हैं।

वस्तुतः, बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्ति और विनाश के समय जीवात्मा में भी विकार होना अवश्यम्भावी है। इसीलिए किसी प्रकार भी जीवात्मा इनके मत में कूटस्थ नहीं हो सकता।

आत्मा का कूटस्थत्व-समर्थन

इसका समाधान इस प्रकार होता है कि जब बुद्धि आदि गुणों को आत्म-स्वरूप के अन्तर्गत मानें, तभी यह आक्षेप हो सकता है, अन्यथा नहीं। नैयायिक और वैशेषिक लोग बुद्धि आदि गुणों को आत्मस्वरूप से इतर मानते हैं, अर्थात् जीवात्मा में वर्त्तमान भी बुद्धि आदि जो गुण हैं, वे जीवात्मस्वरूप से भिन्न हैं, ऐसी इनकी मान्यता है। जिस प्रकार भूतल में विद्यमान घट आदि पदार्थ भूतल-स्वरूप से भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा में विद्यमान भी बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न ही हैं। इसका रहस्य यह है कि नैयायिक और वैशेषिक के मत में गुण और गुणी में भेद माना जाता है, इसीलिए द्रव्य आदि पदार्थों मे द्रव्यादि से भिन्न गुणों की गणना की गई है।

इस स्थिति में, बुद्धि आदि गुणों की उत्पत्ति और विनाश होने पर भी बुद्धि आदि का आश्रय जो आत्मा है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं आता। इसीलिए, आत्मा के कूटस्थ होने में कोई आपत्ति नहीं होती। और, इसीलिए, इनके मत में आत्मत्व-सामान्य केवल आत्मा में ही रहता है, बुद्धि आदि गुण-विशिष्ट में नहीं रहता। जिस प्रकार, आत्मा के शरीर-विशिष्ट होने पर भी आत्मत्व-सामान्य, केवल आत्मा में ही रहता है, शरीर-विशिष्ट आत्मा में नहीं; क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न है—उसी प्रकार, आत्मा के ज्ञानादि गुणों से युक्त होने पर भी ज्ञानादि गुणों से भिन्न केवल आत्मा में ही आत्मत्व-सामान्य रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि ज्ञान आदि गुण आत्मा के ही हैं, तथापि शरीर के सदृश आत्मस्वरूप में उनका अन्तर्भाव नहीं होता, किन्तु आत्मस्वरूप से भिन्न ही रहता है।

यहाँ एक बात और जानने योग्य है कि यदि ज्ञान-गुण का आत्मस्वरूप में अन्तर्भाव नहीं मानते, तो ज्ञान-स्वरूप न होने के कारण नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में आत्मा जड़ सिद्ध हो जाता है। क्योंकि, ज्ञान से भिन्न सकल वस्तु अचेतन ही होती है। इसलिए, ज्ञान से भिन्न होने के कारण इनके मत में आत्मा भी पाषाण के सदृश जड़ ही सिद्ध होता है। जीवित दशा में ज्ञान के आश्रय होने से किसी प्रकार चेतन मान भी लें, फिर भी मुक्तावस्था में ज्ञान-गुण के बिलकुल नष्ट होने से पाषाण की तरह अचेतन ही आत्मा इनके मत में सिद्ध होता है।

जीव के विषय में अन्य मत

मीमांसकों में प्रभाकर-मतानुयायी इसी प्रकार मानते हैं। जैन लोग आत्मा को ज्ञान से भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। मीमांसकों में कुमारिलभट्टानुयायी

आत्मा को अंश-भेद से चेतन और जड़ दोनों मानते हैं। इनके मत में आत्मा बोधाबोधस्वरूप माना जाता है। पञ्चदशी का चित्रदीप-प्रकरण देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। सांख्य, पातञ्जल, शैव तथा वेदान्त-दर्शनों में आत्मा को ज्ञान-स्वरूप ही माना गया है। यहाँ सांख्य के मत में ज्ञान-स्वरूप जो आत्मा है, उसके स्वरूप के अन्तर्गत या अनन्तर्गत कोई भी गुण नहीं है, वह निर्गुण, निर्लेप और असङ्ग है। पातञ्जल और अद्वैत वेदान्तियों का यही मत है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य और द्वैतवादी माध्वाचार्य, नैयायिक तथा वैशेषिक लोग आत्मा को सगुण मानते हैं।

जीव-परिमाण

अब जीवात्मा के परिमाण के विषय में विचार किया जायगा। बौद्धों के मत में विज्ञान-सन्तति को ही आत्मा माना जाता है। और, विज्ञान गुणभूत है, इसलिए स्वतन्त्र रूप से उसका कुछ भी परिमाण नहीं हो सकता। उस विज्ञान-सन्तति रूप आत्मा का कोई आश्रय भी नहीं है, इसलिए आश्रय के अनुरोध से भी परिमाण नहीं कह सकते। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य और वल्लभमतानुयायी जीवात्मा को अणु-परिमाण मानते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्धों के अन्तर्गत माध्यमिक लोग जीव को मध्यम-परिमाण मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल और अद्वैतवादी वेदान्ती जीव को व्यापक मानते हैं।

जीव का कर्त्तृत्व

नैयायिक और वैशेषिक के मत में जीव को कर्त्ता माना जाता है, और जीव का जो कर्त्तृत्व है, उसको सत्य ही माना जाता है। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य का कहना है कि यद्यपि जीवात्मा कर्त्ता और इसका कर्त्तृत्व सत्य ही है, तथापि वह कर्त्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, किन्तु नैमित्तिक है। अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि जीव का कर्त्तृत्व औपाधिक है। सांख्य और पातञ्जल के मत में जीव का कर्त्तृत्व प्रातिभासिक माना जाता है। वास्तविक कर्त्तृत्व इनके मत से प्रकृति का ही है। उसी के सम्बन्ध से जीवात्मा में कर्तृत्व भासित होता है, इसीलिए प्रातिभासिक कहा जाता है। जिसके मत में जैसा कर्त्तृत्व है, उसके मत में वैसा ही भोक्तृत्व भी माना जाता है।

अचिद्वर्ग-विचार

अब चेतन और भोक्ता आत्मा के भोग्यभूत जड़-वर्ग का विचार संक्षेप में किया जाता है। लोक में दृश्यमान जितने भूत और भौतिक पदार्थ हैं, उनके अस्तित्व के विषय में किसी का भी विवाद नहीं है। जाल के अन्तर्गत जो सूर्य की मरीचिका है, उसमें दृश्यमान जो धूलि के सूक्ष्म कण हैं, वे ही सबसे सूक्ष्म होने के कारण दृश्यमान सकल भूत भौतिक जड़-वर्ग के कारण होते हैं। यह चार्वाकों का मत है। इनके मत में जालस्थ सूर्य की मरीचिका में दृश्यमान जो रज के कण हैं, वे ही सबसे सूक्ष्म

होने के कारण परमाणु कहे जाते हैं। ये परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु के भेद से चार प्रकार के होते हैं। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इनके मत में यह कोई तत्त्व नहीं है। और, प्रत्यक्ष से भिन्न इनके मत में कोई प्रमाण भी नहीं माना जाता, जिससे आकाश-तत्त्व की सिद्धि हो।

बौद्धों के मत में जालस्थ सूर्य की किरणों में जो रज के कण देखे जाते हैं, उनको भी अनुमान-प्रमाण से सावयव माना जाता है। और, जो उनके अवयव सिद्ध होते हैं, वे ही परमाणु हैं। वहीं से सकल प्रपञ्चरूप कार्य का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से निरन्तर चलता रहता है। चार्वाकों के सदृश बौद्ध भी आकाश को नहीं मानते। जैनों के मत में एक ही प्रकार का परमाणु जगत् का मूल कारण माना जाता है। इनके मत में आकाश को तत्त्वान्तर माना जाता है। नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना है कि पूर्वोक्त रज के कणों के अवयव, जिनको बौद्धों ने अनुमान से सिद्ध किया है, वे भी परमाणु शब्द के वाच्य नहीं हैं। किन्तु, उनसे भिन्न उन पूर्वोक्त अवयवों के जो अवयव अनुमान द्वारा सिद्ध होते हैं, वे ही वस्तुतः परमाणु कहे जाते हैं। ये ही परमाणु चार प्रकार के भूतों के मूल कारण हैं। दो परमाणुओं के संयोग से जो कार्य उत्पन्न होता है, वही 'द्व्यणुक' कहा जाता है। यही पूर्वोक्त रजकण के अवयव हैं। इसी को बौद्ध लोग 'परमाणु' मानते हैं।

तीन 'द्व्यणुक' के संयोग से उत्पन्न जो कार्य है, वही 'त्र्यणुक' कहा जाता है। यही 'त्र्यणुक' जाल-सूर्य की मरीचिका में दृश्यमान रज का कारण है। इसी को चार्वाक लोग परमाणु मानते हैं। इनके मत में भी आकाश को तत्त्वान्तर माना जाता है। पृथिवी आदि चार भूतों के चार परमाणु और आकाश, इन पाँचों को ये लोग नित्य मानते हैं। इनकी उत्पत्ति किसी दूसरे से नहीं होती, इसलिए इनका दूसरा कोई मूल कारण नहीं है। मीमांसक और वैयाकरण परमाणु को भी अनित्य मानते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँच भूतों में पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर कारण होता है। अर्थात्, पृथिवी का जल, जल का तेज, तेज का वायु और वायु का आकाश कारण होता है। आकाश भी इनके मत में अनित्य होता है। आकाश की उत्पत्ति शब्द से मानी जाती है। इनके मत में सकल प्रपञ्च का मूल कारण शब्द ही है।

सांख्य और पातञ्जल के मत में शब्द भी मूल कारण नहीं होता, किन्तु इसकी उत्पत्ति अहङ्कार से मानी जाती है। अहङ्कार का कारण महत्तत्त्व और महत्तत्त्व का कारण त्रिगुणात्मक प्रधान माना जाता है। इसी का नाम मूल प्रकृति है। यही सकल प्रपञ्च का मूल कारण है। यह कार्य नहीं है, इसलिए इसका दूसरा कोई कारण भी नहीं है। इसीलिए, सांख्याचार्य ने कहा है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्', अर्थात् मूल में कोई दूसरा मूल नहीं रहने से मूल अमूल ही रहता है।

अद्वैत वेदान्तियों के मत में प्रधान को भी मूल कारण नहीं माना जाता। इनके मत में प्रधान भी कार्य है; क्योंकि, 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्', 'तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत्' (तै० उ० ३।८।६) इत्यादि श्रुति में सत् को तम से व्याप्त बताया गया है। इसलिए, 'तम' शब्द का वाच्य किसी तत्त्व को मूल कारण मानना

समुचित प्रतीत होता है। वह तम शब्द का वाच्य सर्वथा असत् नहीं हो सकता; क्योंकि 'कथमसतः सज्जायेत सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।२)। इस छान्दोग्य श्रुति से असत्कारणवाद के ऊपर आक्षेप कर सत्कारणवाद की ही स्थापना की गई है। वह 'सत्' शब्द का वाच्य मूल तत्त्व न जड़ है, और न आत्मतत्त्व से भिन्न ही। क्योंकि, उक्त श्रुति के समान अर्थवाली जो 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐत० १।१) यह श्रुति है, उसमें आत्मा और एक शब्द का प्रयोग देखा जाता है और यही सृष्टि के आदि में 'आसीत्' क्रिया का कर्त्ता है। तात्पर्य यह है कि 'अग्रे' शब्द से सृष्टि के आदि में तमस् और सत् शब्द से जिस अर्थ का निर्देश किया गया है, उसी का वर्णन इस श्रुति में 'आत्म' और 'एक' शब्द से किया जाता है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि सृष्टि का मूल कारण आत्मशक्ति से भिन्न कोई भी प्रधान या परमाणु आदि जड़ पदार्थ नहीं है, जिसका तमस् शब्द और सत् शब्द से बोध हो। श्रुति में 'एक' और 'एव' शब्द से आत्मा से भिन्न दूसरे किसी कारण का भी अभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए, मूलतत्त्व के अन्वेषण में जो श्रुति को ही प्रधान मानते हैं, उनके मत में जगत् का मूल कारण आत्मशक्ति ही है।

आरम्भ आदि वाद-विचार

अब यह विचार उपस्थित होता है कि मूल कारण से उत्पन्न जो दृश्यमान सृष्टि है, वह मूल कारण से आरब्ध तत्त्वान्तर है, या मूल कारण का संघात? अथवा मूल-कारण का परिणाम-विशेष है या विवर्त्त? उक्त चार प्रकार की शङ्काओं के आधार पर ही प्रधान रूप से चार वाद प्रचलित हुए हैं। आरम्भवाद वैशेषिक और नैयायिकों का है। संघातवाद बौद्धों के मत में माना जाता है। सांख्य-मत में परिणामवाद और वेदान्तियों के मत में विवर्त्तवाद माना जाता है। इन्हीं प्रधान चार वादों का निर्देश संक्षेप-शारीरक में सर्वज्ञात्म महामुनि ने किया है—

> 'आरम्भवादः कणभक्षपक्षः संघातवादस्तु भदन्तपक्षः।
> सांख्यादिपक्षः परिणामवादः वेदान्तपक्षस्तु विवर्त्तवादः॥'

तात्पर्य यह है कि समवायी, असमवायी और निमित्त ये जो तीन प्रकार के कारण हैं, वे तीनों परस्पर मिलकर अपने से भिन्न कार्य का आरम्भ, अर्थात् उत्पादन करते हैं, इसी का नाम आरम्भवाद है। यह नैयायिकों और वैशेपिकों का अभिमेत है। यहाँ एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि असमवायी और निमित्त कारण से भिन्न कार्य होता है, यह तो प्रायः सब दर्शनकारों का अभिमत है, परन्तु समवायी कारण, जिसको उपादान भी कहते हैं, से भिन्न कार्य होता है, यह नैयायिक और वैशेपिकों के अतिरिक्त कोई भी नहीं मानता। तन्तु-समुदाय से आरब्ध, अर्थात् उत्पन्न जो पट-रूप कार्य है, वह अपने कारणभूत तन्तु-समुदाय से भिन्न है, यही आरम्भवाद का निष्कर्ष है। समवायी कारण का ही नाम उपादान कारण है। तन्तु आदि जो पट के उपादान कारण हैं, उनका समुदाय ही पट-रूप कार्य है, उपादान

कारण से भिन्न पट-रूप कार्य नहीं है, यह संघादवात सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धों का अभिप्रेत है। इनके मत में यह संघात प्रतिक्षण नवीन रूप में उत्पन्न होता रहता है, इसलिए ये क्षणिकवादी कहे जाते हैं। इनके मत में कारण अपने विनाश के द्वारा ही कार्य का उत्पादक होता है—'अभावाद्भावोत्पत्तिः' इनका परम सिद्धान्त है।

बौद्धों में जो शून्यवादी माध्यमिक हैं, उनके मत में कार्य का कोई सत्रूप कारण नहीं है; किन्तु असत्, अर्थात् शून्य ही प्रतिक्षण कार्यरूप से भासित होता रहता है। इसी का नाम 'असत्ख्यातिवाद' है। और, इनमें जो विज्ञानवादी योगाचारमतानुयायी हैं, वे आत्मा को विज्ञान-स्वरूप मानते हैं। वही विज्ञान-स्वरूप आत्मा प्रतिक्षण नवीन बाह्य घटादि रूप से भासित होता रहता है। इसी का नाम 'आत्मख्यातिवाद' है।

तात्त्विक अन्यथाभाव का नाम परिणाम है। अर्थात्, जो अपने रूप को छोड़कर दूसरे रूप में बदल जाता है, वही परिणाम कहा जाता है। दूध अपना द्रवत्व रूप को छोड़कर दही के रूप को ग्रहण करता है, दही दूध का परिणाम है, ऐसा व्यवहार लोक में प्रचलित है। सांख्य, पातञ्जल और रामानुजाचार्य 'परिणामवाद' को ही मानते हैं। इनके मत में मूल प्रकृति या माया का ही परिणाम सकल प्रपञ्च है, ऐसा माना जाता है।

अतात्त्विक अन्यथाभाव का नाम विवर्त्त है। अर्थात्, जो अपने रूप को नहीं छोड़कर रूपान्तर से भासित होता है, उसी को विवर्त्त कहते हैं। जैसे रस्सी अपने रूप को नहीं छोड़कर सर्प के रूप में भासित होती है, और शुक्ति अपने रूप को नहीं छोड़कर रजत के रूप में भासित होती है। इसीलिए, रस्सी का विवर्त्त सर्प और शुक्ति का विवर्त्त रजत कहा जाता है। अद्वैत वेदान्तियों का विवर्त्तवाद इष्ट है। इनके मत में ब्रह्म का ही विवर्त्त अखिल प्रपञ्च माना जाता है। जिस प्रकार रस्सी सर्प-रूप से भासित होती है, और शुक्ति रजत-रूप से, उसी प्रकार ब्रह्म भी अखिल प्रपञ्च-रूप से भासित होता है। इसी को 'अध्यासवाद' भी कहते हैं। इसी को वेदान्तसार में इस प्रकार लिखा है—

'सतत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणाम उदाहृतः।
अतत्त्वतोऽन्यथाभावः विवर्त्तः समुदीरितः॥'

एक दृष्टि सृष्टिवाद भी लोक में प्रचलित है, परन्तु यह विवर्त्तवाद से भिन्न नहीं माना जाता। किन्तु, इसके अन्तर्गत ही हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य ने जिस समय जहाँ पर जिस प्रकार जिस वस्तु को देखा, उसी समय उसी प्रकार उसी जगह उसी की अविद्या से उसी वस्तु की सृष्टि हो जाती है। इसका दृष्टान्त शुक्ति में रजत का आभास ही है। जैसे, कुछ अन्धकार से आवृत किसी प्रदेश में प्रातःकाल में देवदत्त ने रजत देखा। उसी क्षण वह रजत, उसी प्रदेश में उसी देवदत्त की अविद्या से उसी प्रकार सृष्ट हो जाता है। क्योंकि, यज्ञदत्त को वह रजत उस समय उस जगह नहीं प्रतीत होता है, अथवा देवदत्त को ही देशान्तर या कालान्तर में प्रतीत नहीं होता है।

इसी प्रकार, यह प्रपञ्च भी जिस प्रकार जिस मनुष्य से जहाँ पर देखा जाता है, उसी की अविद्या से वहीं पर उसी प्रकार उसकी सृष्टि हो जाती है। इस पक्ष में यही विशेषता होगी कि जीव के एकत्व-पक्ष में प्रपञ्च भी एक ही रहेगा और जीव के अनेक मानने में प्रपञ्च भी अनेक मानना होगा। एक बात और जान लेनी चाहिए कि अद्वैत वेदान्तियों के मत में जीव को एक मानें, चाहे अनेक; परन्तु वह औपाधिक ही होगा, पारमार्थिक नहीं।

तान्त्रिक लोग यद्यपि अद्वैतवादी हैं, तथापि मूल कारण के विषय में वे प्रतिबिम्बवाद मानते हैं। इनका कहना है कि यदि आरम्भवाद माना जाय, तो कार्य-कारण में भेद होने से अद्वैत सिद्ध नहीं होगा, किन्तु द्वैत की आपत्ति हो जायगी। यदि परिणामवाद मानें, तो ब्रह्म को विकारी मानना होगा। क्योंकि, जितने पदार्थ परिणामी होते हैं, वे सब विकारी और अनित्य अवश्य होते हैं, किन्तु ब्रह्म को नित्य और कूटस्थ माना गया है। इस कारण से परिणामवाद नहीं माना जाता। और, संघातवाद में अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करने से श्रुति और अनुमान से विरोध हो जाता है। यदि अद्वैतमत के अनुरोध से विवर्त्तवाद मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति के समय रज्जु का भान नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की प्रतीति के समय में ब्रह्म की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि, भ्रमस्थल में जिसका अध्यास होता है, उसी का स्फुरण (भान) होता है, अधिष्ठान का नहीं। 'अध्यस्तमेव परिस्फुरति भ्रमेषु'—यह सबका मान्य सिद्धान्त है। यदि कहें कि अध्यस्त, अर्थात् व्यवहार-दशा में ब्रह्म की प्रतीति न होना स्वाभाविक है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि 'घटोऽस्ति', 'घटः सन्' इत्यादि स्थलों में सद्रूप से ब्रह्म का भान होना अद्वैत-वादियों का भी अभीष्ट है।

इस प्रकार, जब पूर्वोक्त वादों में यही बात होती है, तो प्रतिबिम्बवाद को ही स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसकी पद्धति यह है कि जिस प्रकार दर्पण से बाहर रहनेवाले जो मुख आदि पदार्थ हैं; उन्हीं का प्रतिबिम्ब दर्पण में भासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में तदन्तर्गत होने के कारण प्रतिबिम्ब-रूप जगत् भासित होता है। अब यहाँ यह आशंका होती है कि जिस प्रकार दर्पण से भिन्न और उसके बाहर मुख आदि की सत्ता अवश्य रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न और उसके बाहर जगत् की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि, बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब का होना असम्भव है। यदि ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता स्वीकार कर लें, तो द्वैत होने से अद्वैत-सिद्धान्त भंग हो जाता है। यदि इस दोष के परिहार के लिए ब्रह्म से भिन्न बिम्बभूत जगत् की सत्ता न मानें, तो 'प्रतिबिम्बवाद' के मूल में ही कुठाराघात हो जाता है। क्योंकि, बिम्ब के अधीन ही प्रतिबिम्ब की स्थिति रहती है, यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिए, प्रतिबिम्बवाद को नहीं मानना चाहिए।

इसका उत्तर यह होता है कि यह बात ठीक है कि बिम्ब के अधीन प्रतिबिम्ब की स्थिति होने से प्रतिबिम्ब का कारण बिम्ब होता है, परन्तु वह उपादान कारण नहीं है, किन्तु निमित्त कारण है। क्योंकि, उपादान कारण कार्यावस्था में कार्य के साथ ही

अन्वित रहता है, कार्य से पृथक् उसकी स्थिति नहीं रहती। जैसे, घट का उपादान मृत्तिका घट के साथ ही कार्यावस्था में रहती है, घट से पृथक् नहीं, इसीलिए मृत्तिका घट का उपादान कहलाती है। और, दण्ड कार्यावस्था में भी घट से पृथक् देखा जाता है, इसलिए दण्ड घट का निमित्त-कारण कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतिबिम्ब से कार्यावस्था में भी पृथक् दृश्यमान होने के कारण प्रतिबिम्ब का निमित्त-कारण ही बिम्ब है, उपादान नहीं। अब यहाँ यह विचार करना है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त-कारण की नियमेन स्वरूपतः अपेक्षा है या नहीं? यदि नियमेन स्वरूपतः निमित्त की अपेक्षा मानें, तब तो दण्ड के अभाव में घट की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। और, देखा जाता है कि दण्ड के अभाव में भी हाथ से चाक को घुमाकर घट बनाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त कारण की स्वरूपतः नियमेन अपेक्षा नहीं है।

जिस प्रकार दण्ड के अभाव में भी दण्ड के स्थान में हाथ से चाक घुमाकर घट की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार बिम्ब-रूप जो निमित्त कारण जगत् है, उसके अभाव में भी बिम्बस्थानीय माया के सम्बन्ध से ही ब्रह्म में जगत्-रूप प्रतिबिम्ब का भान होता है। इसलिए, प्रतिबिम्बवाद को दुर्घट नहीं कह सकते।

ख्याति-विचार

इन सब मतभेदों का प्रदर्शन केवल मूल कारण के विषय में ही है, अन्यत्र यथासम्भव सबकी व्यवस्था देखी जाती है। जैसे, शुक्ति में जहाँ रजत का भ्रम होता है, वहाँ प्रायः सब लोगों ने शुक्ति को रजत का विवर्तोपादान नहीं माना है। यहाँ तक कि परिणामवाद के मुख्य आचार्य सांख्य और पातञ्जल ने भी परिणामवाद का आदर न कर विवर्त्तवाद को ही माना है। यहाँ शुक्ति में रजत की प्रतीति के समय अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है, यह बात प्रायः सब लोग मानते हैं। इसी का नाम 'अनिर्वचनीय ख्याति' है।

आरम्भवाद को माननेवाले नैयायिकों और वैशेषिकों ने भी यहाँ आरम्भवाद को नहीं माना है। केवल इनका यही कहना है कि यहाँ न रजत है, और न वह उत्पन्न ही होता है, दोषवश शुक्ति ही रजत-रूप से भासित होती है। इसी का नाम 'अन्यथाख्याति' है।

सत्ख्यातिवाद

रामानुजाचार्य के मतानुयायियों का कहना है कि यदि वहाँ रजत न होता, तो रजत की प्रतीति कभी नहीं होती, और प्रतीति होती है, इसलिए वहाँ रजत का अस्तित्व अवश्य मानना होगा। किन्तु, उसका अस्तित्व प्रतीति-क्षण में ही उत्पन्न होता है, यह जो कोई कहते हैं, वह युक्त नहीं है। क्योंकि, ऐसा मानने में विकल्प शङ्काओं का समाधान नहीं होता। यहाँ शङ्का इस प्रकार होती है कि शुक्ति में रजत-उत्पादन करने की शक्ति या सामग्री है, अथवा नहीं? यदि कहें कि शुक्ति में रजत-उत्पादन करने की सामग्री नहीं है, तब तो किसी भी अवस्था में रजत नहीं उत्पन्न हो सकता।

क्योंकि, सामग्री-रूप कारण के अभाव में रजत-रूप कार्य का अभाव होना स्वाभाविक है—'कारणाभावात् कार्याभावः।' यदि कहें कि दोष से वहाँ रजत की उत्पत्ति होती है, तोभी ठीक नहीं है; क्योंकि दोष का यह स्वभाव है कि दोष के नहीं रहने पर वस्तु के जितने अंश का यथार्थ ज्ञान होता है, उससे अधिक अंश का ज्ञान वह नहीं करा सकता। जैसे, दोष-रहित किसी पुरुष के समीप यदि कोई आवे, तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ज्ञान जितना अंश में स्पष्टतया होगा, तिमिरादि दोष हो जाने पर उसकी अपेक्षा कम अंशों का ही ज्ञान होगा, अधिक का नहीं। तात्पर्य यही है कि दोष से पहले जितने अंश का यथार्थ ज्ञान होता है, दोष होने के बाद उससे अधिक अंश का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, किन्तु उसके कम अंश का ही ज्ञान होगा। इसलिए, वास्तविक पक्ष में शुक्ति के यथार्थ ज्ञान में रजत का भान नहीं होता; अतएव दोष भी रजत-अंश को उत्पन्न नहीं कर सकता।

यदि यह कहें कि शुक्ति में रजत की प्रतीति होने से, शुक्ति में रजत की उत्पादक सामग्री अवश्य रहती है, तब तो मेरा ही पक्ष सिद्ध होता है। भेद केवल इतना ही है कि उस सामग्री से उत्पन्न होनेवाला रजत शुक्ति के उत्पत्ति-काल में ही होगा, प्रतीति-काल में, जो आपका अभिमत है, नहीं। एक बात और है कि रजत की जो उत्पादक सामग्री है, वह शुक्ति की उत्पादक सामग्री की अपेक्षा बहुत कम है। जिस समय तिमिरादि दोष से अधिक भी शुक्ति-अंश की प्रतीति नहीं होती, उस समय स्वल्प भी रजत का अंश, स्वयं भासित होने लगता है। और, दोष के हट जाने पर शुक्ति की प्रतीति होने लगती है। उस समय, अधिक जो शुक्ति का अंश है, उससे दृष्टि का प्रतिघात हो जाने से विद्यमान रजत-अंश का भी भान नहीं होता, जिस प्रकार, सूर्य के तेज से दृष्टि का प्रतिघात हो जाने पर आकाश में विद्यमान नक्षत्रों का भी भान नहीं होता। सभी भ्रम-स्थलों में यही रीति समझनी चाहिए। इसी का नाम 'सत्ख्यातिवाद' है।

अख्यातिवाद

इस विषय में मीमांसकों का कहना है कि रजत भ्रम-स्थल में रजत किसी प्रकार भी नहीं है, और प्रतीति के समय भी उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु, 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में 'इदम्' अंश का ही प्रत्यक्ष होता है, रजत-अंश का नहीं। इदम् अंश के प्रत्यक्ष होने से इदम् अंश के सदृश होने के कारण रजत का जो पूर्व सञ्चित संस्कार है, उसका उद्बोध हो जाता है, और उसीसे रजत का स्मरण-मात्र होता है। रजत का अनुभव नहीं होता है।

इसका निष्कर्ष यह होता है कि रजत भ्रम-स्थल में इदम् अंश का प्रत्यक्ष और रजत-अंश का स्मरण ये दो ज्ञान होते हैं। यहाँ इदम् अंश के प्रत्यक्ष से विरुद्ध स्मरण में परोक्षत्व-अंश है। इसी प्रकार स्मरण से विरुद्ध प्रत्यक्ष में शुक्ति का अंश है। तिमिर आदि दोष से जब-जब दोनों विरुद्ध अंशों का भान नहीं होता, उस समय दोनों में विलक्षणता की प्रतीति नहीं होती। इसलिए, दोनों ज्ञान भी एक समान ही भासित होते हैं। इसी का नाम 'अख्याति' है।

प्रसंगानुसार ख्याति के विषय में सब दर्शनकारों का जो मत दिखाया गया है, उसका निष्कर्ष यही निकलता है कि परिणामवाद को माननेवाले सांख्य और पातञ्जल भी ऐसे भ्रम-स्थलों में विवर्त्तवाद को ही मानते हैं, और विवर्त्तवाद को माननेवाले शंकराचार्य भी दही में दूध का दही-रूप से परिणाम मानते ही हैं। केवल नैयायिक और वैशेषिक यहाँ और पट आदि स्थलों में 'आरम्भवाद' को ही मानते हैं। धान की राशि में प्रायः सब लोग 'संघातवाद' मानते हैं। इस प्रकार, मूल कारण से इतर स्थल में यथासम्भव आरम्भादि वादों की व्यवस्था होनी चाहिए। एक बात और भी है कि शंकराचार्य के अनुयायियों ने भी मूल कारण के विषय में यद्यपि विवर्त्तवाद माना है, तथापि वे ही लोग कारण-भेद से परिणामवाद को वहाँ भी मानते हैं। उदाहरण के लिए प्रकृति, माया आदि पदवाच्य जो आत्मशक्ति है, उसको परिणामी उपादान कारण सब लोगों ने माना है।

कार्य-कारण में भेदाभेद का विचार

आरम्भवाद में उपादान कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, यह पहले भी कहा जा चुका है। अब विचारना यह है कि जब कारण से कार्य को भिन्न मानते हैं, तब तो दोनों के साथ एक सम्बन्ध को भी अवश्य मानना होगा। नैयायिकों ने समवाय नाम का एक सम्बन्ध माना भी है। अब यहाँ यह शंका होती है कि पट में तन्तु और पट ये दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् प्रतीत नहीं होतीं। इस अवस्था में कार्य-कारण का भेद, अनुपलब्धि-प्रमाण से बाधित होने पर भी, नैयायिक और वैशेषिक स्वीकार करते हैं, यह एक गौरव हो जाता है। भेद मानने पर भी दोनों के बीच एक सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है, यह एक दूसरा गौरव है। इतना गौरव आदि दोष रहने पर भी नैयायिकों और वैशेषिकों का भेद मानना समुचित नहीं प्रतीत होता।

इसका उत्तर यह होता है कि यदि तन्तु और पट में भेद न मानें, तो तन्तु में भी पट-बुद्धि होनी चाहिए, परन्तु किसी भी तन्तु में पट-बुद्धि नहीं देखी जाती। और, तन्तु में 'पट' शब्द का व्यवहार भी कोई नहीं करता। लोक में पट से जो व्यवहार होता है, वह तन्तु से नहीं देखा जाता। और 'पट', शब्द से जिस आकार का बोध होता है, वह भी तन्तु से नहीं होता। तन्तु में बहुत्व और पट में एकत्व-संख्या भी देखी जाती है। इस प्रकार, बुद्धि-भेद, शब्द-भेद, आकार-भेद, कार्य-भेद और संख्या-भेद होने के कारण नैयायिक और वैशेषिक कार्य और कारण में भेद को स्वीकार करते हैं। इस अवस्था में असत् जो पटादि कार्य हैं, वे कारक-व्यापार से उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता है। सत्ता के साथ सम्बन्ध होना ही उत्पत्ति है। यह भी सिद्ध हो गया। इसी का नाम 'असत् कार्यवाद' है।

इन आरम्भवादियों के अतिरिक्त संघातवादी, परिणामवादी और विवर्त्तवादी कार्य और कारण में भेद मानते ही नहीं, इसलिए इनके मत में समवाय-सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं करना पड़ता। उपादान के अवस्था-विशेष का ही नाम कार्य है, यह इनका सिद्धान्त है। बुद्धि आदि का भेद तो अवस्था आदि के भेद होने से भी हो सकता है; इसलिए वे भेद के साधक नहीं हो सकते।

और भी, यदि कार्य और कारण में भेद मानें, तो कारण में जो परिमाण है, उससे द्विगुण परिमाण कार्य होना चाहिए। क्योंकि, कारण का जो परिमाण है, वह अविनष्ट रूप से कार्य में विद्यमान है और उससे भिन्न कार्य का भी परिमाण उतना ही अलग होना चाहिए। इस प्रकार, दोनों के विभिन्न परिमाण होने से भेद-पक्ष मानने में कार्य का द्विगुण परिमाण होना अत्यावश्यक हो जाता है। और, उस प्रकार का द्विगुण परिमाण कार्य में नहीं देखा जाता; इसलिए कारण के अवस्था-विशेष का ही नाम कार्य है, यह मानना आवश्यक होता है। कारण का अवस्था-विशेष रूप से जो आविर्भाव होता है, उसी का नाम 'उत्पत्ति' है। इन अवस्था-विशेषों का जो आविर्भाव और तिरोभाव है, वह उन वस्तुओं के स्वभाव से ही हुआ करता है।

पट (वस्त्र) आदि कार्यों के तुरी[1], वेमा[2] आदि जो कारण हैं, वे तन्तु के इस (वस्त्ररूप) अवस्थाविशेष की प्राप्ति में जो प्रतिबन्धक हैं, उन्हीं को 'दूर' करते हैं। कारक व्यापार का भी, प्रतिबन्धक के दूर करने में ही, साफल्य है। अर्थात्, कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार का जो लोक में व्यवहार है, उसका तात्पर्य यही है कि कारण के कार्यावस्था प्राप्त करने में जो प्रतिबन्धक हैं, उन्हीं को दूर करना कारण या कारक व्यापार का काम है, दूसरा नहीं। यह बात योग-सूत्र की वृत्ति में नागेश भट्ट ने स्पष्ट लिखी है। जिस प्रकार स्वभाव से ही नीचे की ओर बहता हुआ जो जल है, उसका प्रतिबन्धक सेतु होता है, उसी प्रकार सुखकारक वस्तु के रूप में स्वभावतः परिणत होती हुई जो प्रकृति है, उसका प्रतिबन्धक, उस सुख के भोग करनेवाले पुरुषों का पाप-कर्म होता है। इसी प्रकार, दुःखकारक वस्तु के रूप से स्वभावतः परिणत होती हुई जो प्रकृति है, उसका प्रतिबन्धक भोक्ता पुरुषों का पुण्य-कर्म होता है। अर्थात्, सुखकारक वस्तु के रूप से प्रकृति का स्वयं स्वभाव से ही परिणाम होता रहता है। केवल मनुष्य का किया हुआ पाप कर्म ही, सुखकारक वस्तु के रूप में, प्रकृति के परिणाम को रोकता है। इसी प्रकार, दुःखकारक वस्तु के रूप से प्रकृति के स्वतः परिणाम को, मनुष्यों का किया हुआ पुण्य-कर्म, प्रतिबन्धक होकर, रोकता है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पट आदि कार्य उत्पत्ति से पहले भी तन्तु आदि के रूप में विद्यमान ही था, इसलिए इनके मत में सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है कि कार्य की उत्पत्ति के पहले और नाश के बाद भी किसी रूप में कार्य की सत्ता अवश्य रहती है। वस्त्र के फट जाने पर और जल जाने पर भी खण्ड और भस्मादि रूप से उसकी सत्ता मानी जाती है। विनष्ट हुई वस्तुओं के विनाश के बाद भी किसी रूप में उसकी स्थिति देखी जाती है। इसलिए, सर्वत्र विनाश अन्वय के साथ ही रहता है, यह बात सिद्ध होती है। और इसीलिए, विनाश-कार्य का

---

१. जुलाहों के कपड़ा बुनने का काठ का एक औजार, जिससे बाने का सूत भरा जाता है। तोरिया, ढरकी। २. करघा।

जो रूप रहता है, उसी रूप से उसकी सत्ता का निरूपण करना चाहिए। तपाये हुए लौह-पिण्ड के ऊपर जो जल का बिन्दु गिरता है, यद्यपि उसका कोई भी अवयव नहीं देखा जाता, तथापि उसकी सत्ता अदृश्यावयव[1] रूप से मानी जाती है। अर्थात्, उस जलबिन्दु का अवयव लौह-पिण्ड से पृथक् अदृश्य-रूप में रहता ही है, सर्वथा उसका नाश कभी नहीं होता। यही सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है।

जड़-वर्ग की सृष्टि का प्रयोजन

इन सब वादों पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जड़-वर्ग की सृष्टि का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यही होता है कि जितने जड़-वर्ग हैं, वे भोक्ता जीवात्मा के भोग्य हैं। जीवात्माओं के भोग के लिए ही इनकी सृष्टि होती है। यह सर्वसिद्धान्त मत है। जीवात्मा को जब शब्दादि विषयों का, इन्द्रियों की सहायता से, अनुभव होता है। उस समय जीवात्मा अपनी मनोवृत्ति के अनुसार सुख या दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि इन्द्रियाँ भी विषयों की तरह जड़ ही हैं, तथापि, सात्त्विक होने के कारण इन्द्रियों में प्रकाशकत्व-शक्ति रहती है, और घटादि विषयों में नहीं। क्योंकि, घटादि विषयों में तमोगुण की प्रबलता से सत्त्वगुण नहीं के बराबर रहता है।

इन्द्रियों की भौतिकता

नैयायिक और वैशेषिक इन दोनों के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है। इनका कहना है कि किसी प्रकार इन्द्रियों को यदि भौतिक न मानें, तो विषयों के ग्रहण का जो प्रतिनियम है, वह नहीं बनता। अर्थात्, इन्द्रियाँ भूतों के विशेष गुणों के ग्रहण में समर्थ होती हैं। जैसे आकाश का विशेष गुण जो शब्द है, उसी का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय करती है, शब्द से भिन्न दूसरे किसी भी विषयों के गुणों का ग्रहण नहीं करती। इसलिए, सिद्ध होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का ही कार्य है। इसी प्रकार, त्वगिन्द्रिय भी वायु का विशेष गुण जो स्पर्श है, उसी के ग्रहण में समर्थ होती है, उससे भिन्न रूप आदि के ग्रहण में समर्थ नहीं होती। इसलिए, त्वगिन्द्रिय वायु का ही कार्य है। चक्षुरिन्द्रिय, तेज का विशेष गुण जो रूप है, उसी का ग्रहण करता है, दूसरे का नहीं, इसलिए चक्षु तेज का कार्य है। इसी प्रकार, रसनेन्द्रिय, जल के विशेष गुण रस का ही ग्रहण करती है, दूसरे का नहीं, इसलिए रसनेन्द्रिय जल का कार्य सिद्ध होती है। और, घ्राणेन्द्रिय भी पृथिवी के विशेष गुण गन्ध का ही ग्रहण करती है, दूसरे का नहीं, इसलिए घ्राणेन्द्रिय पार्थिव सिद्ध होती है। सारांश यह हुआ कि भूतों के विशेष गुणों के ग्रहण करने के कारण ही इन्द्रियाँ भौतिक कहलाती हैं।

एक बात और भी ज्ञातव्य है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों के जो परमाणु हैं; वे प्रत्येक सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के होते हैं। और,

१. जिसका अवयव नहीं देखा जाय।

आकाश तो स्वभावतः सात्त्विक है। सात्त्विक अंश से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति भी मानी जाती है, इसलिए इन्द्रियों को सात्त्विक कहना न्याय-संगत ही है।

सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना जाता। इनके मत में इन्द्रियों को सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण आहङ्कारिक माना जाता है। आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के कारण जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्च-तन्मात्र हैं, उन्हीं की सहायता से सात्त्विक अहङ्कार इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। इसीलिए, इन्द्रियों के विशेष विषयों के ग्रहण करने का जो नियम है, वह विरुद्ध नहीं होता। यथा, शब्द-तन्मात्र की सहायता से सात्त्विक अहङ्कार श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करता है, इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ही ग्रहण करती है, रूपादि का नहीं। इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्र की सहायता से त्वगिन्द्रिय, रूप-तन्मात्र की सहायता से चक्षुरिन्द्रिय, रस-तन्मात्र की सहायता से रसनेन्द्रिय और गन्ध-तन्मात्र की सहायता से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति सात्त्विक अंश से होती है। इसलिए, जो इन्द्रिय जिस तन्मात्र की सहायता से उत्पन्न होती है, वह इन्द्रिय उसी विषय के ग्रहण करने में समर्थ होती है, यह नियम सिद्ध होता है। कतिपय विद्वान् इन्द्रियों की उत्पत्ति में तन्मात्राओं की सहायता नहीं मानते। इनका सिद्धान्त है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद भूत-तन्मात्र इनके पोषक होते हैं और नियमतः पोषक-तन्मात्राओं के अनुसार ही विषयों का ग्रहण होता है।

इस प्रकार, किसी के मत में इन्द्रियों को भौतिक माना जाता है और किसी के मत में आहङ्कारिक। परन्तु, शङ्कराचार्य का किसी भी मत में आग्रह नहीं है, अर्थात् दोनों में किसी पक्ष को मानें, उनकी दृष्टि में कुछ विरोध नहीं है। इसीलिए, शारीरिक भाष्य में, 'अन्तरा-विज्ञान-मनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्', इस सूत्र के ऊपर लिखा है—'यदि तावद् भौतिकानीन्द्रियाणि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवतः', अर्थात्—यदि इन्द्रियों को भौतिक मानें, तो भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के साथ ही इन्द्रियों की उत्पत्ति और प्रलय होता है, यह मानना होगा। इस प्रकार, उत्पत्ति और प्रलय दिखाकर 'अथ त्वभौतिकानीन्द्रियाणि' इत्यादि ग्रन्थों से इन्द्रियों के अभौतिकत्व अर्थात् आहङ्कारिकत्व-साधन में विरोध का परिहार किया है। इस प्रकार, दोनों पक्षों का समर्थन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी एक पक्ष-विशेष में शङ्कराचार्य का पक्षपात या आग्रह नहीं है। विद्यारण्य मुनि ने इन्द्रियों को भौतिक माना है—'सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमादिन्द्रियपञ्चकम्' इत्यादि श्लोकों में भूतों के सत्त्व अंश से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

इन्द्रियों का परिमाण

इन्द्रियों के परिमाण के विषय में अनेक दार्शनिकों का मत है कि इन्द्रियों का अणु-परिमाण है। सांख्य और पातञ्जल के मत में इन्द्रियों का परिमाण विभु अर्थात् व्यापक माना जाता है। इन्द्रियों में किसी इन्द्रिय का भी किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष ज्ञान

नहीं होता है, अनुमान से ही इन्द्रियों का ज्ञान किया जाता है, इसलिए इन्द्रियों को अतीन्द्रिय कहा जाता है।

कर्मेन्द्रियों का भौतिकत्व

ज्ञानेन्द्रियों के सदृश कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति भी पञ्चभूतों से ही मानी जाती है। प्रत्येक भूतों से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के भेद से दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आकाश से ज्ञानशक्ति के द्वारा श्रोत्र और क्रियाशक्ति के द्वारा वाग्-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार वायु से त्वगिन्द्रिय और पाणि, तेज से नेत्रेन्द्रिय और पाद, जल से रसनेन्द्रिय और पायु और पृथ्वी से घ्राणेन्द्रिय और उपस्थ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रत्येक भूतों से ज्ञानशक्ति की सहायता से ज्ञानेन्द्रिय और क्रियाशक्ति की सहायता से कर्मेन्द्रिय, ये दो-दो इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार, शब्द आकाश का गुण है, इसलिए शब्द का ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय भी आकाशीय सिद्ध होता है। शब्द के अभिव्यञ्जक होने से वागिन्द्रिय भी आकाशीय होता है। वायु का गुण स्पर्श है और स्पर्श का ग्राहक त्वगिन्द्रिय है, इसलिए त्वगिन्द्रिय वायवीय सिद्ध होता है, इसी प्रकार वायु में क्रियाशक्ति प्रधान है और पाणि में भी क्रिया अधिक देखी जाती है, इसलिए पाणि भी वायवीय सिद्ध होता है। तेज का गुण रूप होता है और रूप का ग्राहक है चक्षु, इसलिए चक्षु तैजस या तेजोरूप कहा जाता है, इसी प्रकार पाद-तल में तैलादि के मर्दन से नेत्र का सुस्वास्थ्य होता है, इसलिए नेत्र के साथ पाद का अधिक सम्बन्ध होने के कारण पाद भी तैजस कहा जाता है। जल का गुण रस है, इसलिए रस के ग्राहक रसनेन्द्रिय को और जल के सदृश मल-शोधक और जीवन का आधार होने से पायु को जलीय कहा जाता है। पृथ्वी का गुण गन्ध है, इसलिए गन्ध का ग्राहक घ्राणेन्द्रिय को और दुर्गन्धव्यञ्जक होने के कारण उपस्थ-इन्द्रिय को पार्थिव कहा जाता है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि जिस प्रकार तेज के गुण रूप के ग्राहक होने से चक्षु को तैजस कहते हैं, उसी प्रकार तेज में अनुभूयमान जो स्पर्श है, उसके ग्राहक होने से त्वगिन्द्रिय को भी तैजस क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि तेज में स्पर्श का अनुभव होता है, तथापि वह तेज का प्राकृतिक गुण नहीं है। केवल कारण (वायु) के सम्बन्ध से तेज में स्पर्श का अनुभव होता है। इसी प्रकार, जल आदि में भी रूपादि का अनुभव कारण-गुणपूर्वक होता है।

मन

मन उपर्युक्त सब इन्द्रियों का प्रेरक होता है। कर्मेन्द्रियों को प्राण के द्वारा यह प्रेरित करता है, और ज्ञानेन्द्रियों को भी प्राण की सहायता से ही स्वयं प्रेरित करता है। नैयायिक और वैशेषिक मन को भौतिक नहीं मानते हैं। इनके मत में मन को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है।

सांख्य और पातञ्जल का सिद्धान्त है कि राजस अहङ्कार से सहकृत अर्थात् युक्त जो सात्विक अहङ्कार है, उसीसे मन की उत्पत्ति होती है। अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि

सब महाभूतों के सात्त्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है। इसमें कुछ लोगों का कहना है कि यद्यपि मन में सब भूतों का अंश है, तथापि वायु का अंश सबसे अधिक है, इसीलिए मन की गति सबसे अधिक है।

न्याय आदि दर्शनों में मन का अणु-परिमाण माना गया है। सांख्य-तत्त्व-विवेचन तथा 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'—इस सूत्र की नागेशकृत वृत्ति में मन को विभु माना गया है। इसलिए, सांख्य और पातञ्जल के मत में मन विभु सिद्ध होता है। मीमांसकों का भी यही सिद्धान्त है। जो मन को अणु-परिमाण मानते हैं, उनके मत में मन का एक काल में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसीलिए अनेक विषयों का एक काल में ज्ञान भी नहीं होता। अष्टावधानियों और शतावधानियों को एक काल में अनेक ज्ञान जो प्रतीत होता है, वह भी भ्रम ही है। वहाँ जितने ज्ञान होते हैं; उन ज्ञानों के अधिकरण कालांश उतने ही प्रकार के भिन्न-भिन्न होते हैं। उन कालांशों का अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उनका ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए, एक ही काल में अनेक ज्ञान होते हैं, इस प्रकार का भ्रम निवृत्त नहीं होता। रसगुल्ला आदि मिठाइयों के खाने में जो रस, गन्ध स्पर्श आदि की प्रतीति एक ही काल में होती है, वह भी अत्यन्त सूक्ष्मतर कालांशों के ज्ञान न होने के कारण ही। वास्तव में यह प्रतीति भी भ्रम ही है। मन को जो विभु मानते हैं, उनके मत में एक काल में अनेक ज्ञान होना सम्भव है। क्योंकि, मन के व्यापक होने के कारण एक काल में भी अनेक इन्द्रियों के साथ इसका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

मन की चार वृत्तियाँ होती हैं : १—संशयात्मिका, २—निश्चयात्मिका, ३—गर्वात्मिका और ४—स्मरणात्मिका। एक ही मन चार वृत्तियों के भेद से चार स्वरूप को धारण करता है। जिस समय संशयात्मक वृत्ति रहती है, उस समय 'मन' कहा जाता है। जब निश्चयात्मिका वृत्ति रहती है, तब बुद्धि कही जाती है। इसी प्रकार गर्वात्मिका वृत्ति से 'अहङ्कार' और स्मरणात्मिका वृत्ति से 'चित्त' कहा जाता है। पूर्णप्रज्ञाचार्य के मतानुयायियों के मत में मन की पाँच अवस्थाएँ हैं—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतना। चित्त की व्याप्ति का नाम चेतना है।

नकुलीश पाशुपत दर्शन में तीन ही प्रकार का अन्तःकरण माना गया है—मन, बुद्धि और अहङ्कार। इन तीन प्रकार के अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी क्रमशः तीन ही प्रकार की हैं—संकल्प, अध्यवसाय और गर्व अर्थात् अहङ्कार। इनके मत में चित्त मन की अवस्था-विशेष का नाम नहीं है। किन्तु, जीव का बोध-स्वरूप जो गुण है, वही चित्त है।

ज्ञान

मन का मुख्य प्रयोजन ज्ञान ही है। चैतन्य का ही नाम ज्ञान है, जिसका दूसरा नाम दृक्-शक्ति है। माहेश्वर लोग चैतन्य के दो भेद मानते हैं—एक दृक्-शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से उपकृत जो मन है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक है। परोक्ष ज्ञान के उत्पादन में

मन को विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती। परोक्ष ज्ञान में मन की स्वतन्त्रता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में मन विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध के अधीन रहता है, अर्थात् बिना विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध के केवल मन प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। वहाँ विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर वह सम्बन्ध ही, इन्द्रिय से स्पृष्ट जो मन है, उससे संयुक्त आत्मा में किसी गुणविशेष को उत्पन्न करता है, इसी गुणविशेष का नाम 'ज्ञान' है। यह नैयायिकों और वैशेषिकों का सिद्धान्त है। इनके मत में ज्ञान, निराकार और अनित्य माना जाता है। केवल ईश्वर का ज्ञान नित्य है। रामानुजाचार्य के मत में जीव का भी ज्ञान नित्य माना गया है। विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से केवल घट-ज्ञान, पट-ज्ञान इत्यादि विशेष अवस्थाओं के रूप से प्रकाशित होते हैं। और, सब विषयों में नैयायिकों का सिद्धान्त ही इनका अभिमत है। नकुलीश पाशुपत दर्शन में चित्त नाम का जो जीव का विशेष गुण है, वही बोधरूप होने के कारण विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध होने पर दीप की तरह घटादि पदार्थों को को प्रकाशित करता है।

वैभाषिक बौद्धों के मत में घटादि पदार्थों के दो रूप होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्य रूप घटादि पदार्थ जल के आहरण आदि लौकिक कार्य का सम्पादन करता है और उनका आभ्यन्तर जो रूप है, वही जब विषय और इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, तब इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों से सम्बद्ध मन में प्रवेश करता है, इसीको 'ज्ञान' कहते हैं। इनके मत में एक लोक-व्यवहार भी सुगमता से उत्पन्न हो जाता है। जब गुरु शिष्य को किसी पदार्थ को समझाता है, तब उसकी परीक्षा के लिए पूछता है—'आगतं किल ते मनसि'? अर्थात् यह विषय तुम्हारे मन में आया? इस प्रश्न से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विषय-स्वरूप का मन में आना ही 'ज्ञान' कहा जाता है। विज्ञानवादी जो बौद्ध हैं, उनके मत में बाह्य अर्थ कुछ भी नहीं है। विज्ञान-स्कन्ध ही पूर्व-संस्कार से उन घट, पट आदि विषयों के आकार में परिणत होता रहता है और बाह्य रूप प्रतीत होता है। बौद्धों के मत में ज्ञान साकार है और क्षणिक होने से अनित्य भी माना जाता है। माध्वाचार्य के मत में मन के परिणाम-विशेष को ही 'ज्ञान' माना जाता है।

पातञ्जल दर्शन में मन को विभु माना गया है। उसी व्यापक मन का जो हृदय-प्रदेश है, उसी की, विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से, परिणति होती है, उसी परिणति का नाम मनोवृत्ति है, उसी मनोवृत्ति का आत्मा में प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब भी व्यापक आत्मा के हृदय-प्रदेश में ही पड़ता है। उसी मनोवृत्ति के प्रतिबिम्ब से युक्त जो आत्म-चैतन्य है, वही इनके मत में 'ज्ञान' है।

सांख्यों के मत में विषय से सम्बद्ध जो मनःप्रदेश है, उसी का परिणाम होता है और विषय-सम्बद्ध जो आत्मप्रदेश है, वही प्रतिबिम्ब होता है। इतना ही पातञ्जल मत से इनके मत में भेद है।

सांख्यवादी एकदेशी मन को अणु मानते हैं। उनके मत में इन्द्रियों के द्वारा मन का विषय-प्रदेश में गमन होता है, और वहीं परिणाम भी होता है। अद्वैत वेदान्तियों में मत में भी मन को अणु माना गया है। इसलिए, इन्द्रिय द्वारा

विषय-प्रदेश में मन का गमन और वहीं विषयाकार से मन का परिणाम, ये दोनों पूर्वोक्त सांख्य मत के तुल्य ही हैं। परिणाम को ही वृत्ति कहते हैं, और उस वृत्ति से सम्बद्ध आत्म-चैतन्य ही ज्ञान है। मूर्त्त और अमूर्त्त निखिल जगद्व्यापक जो आत्मा है, उसकी व्याप्ति जिस प्रकार विषय, हृदय और मन में है, उसी प्रकार मनोवृत्ति में भी उसकी व्याप्ति रहती है। आत्म-स्वरूप का ही नाम चैतन्य है। इनके मत में ज्ञान को साकार और अनित्य माना जाता है। यद्यपि इनके मत में चैतन्य नित्य है, तथापि वृत्ति से सम्बद्ध चैतन्य को औपाधिक होने के कारण अनित्य ही माना जाता है। एक बात और भी है—परोक्ष ज्ञान-काल में मन का विषय-प्रदेश में गमन नहीं होता है। क्योंकि, विषय और इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से वहाँ मन के गमन का कोई साधन नहीं रहता है। अनुमान या शब्दादि से होनेवाला ज्ञान परोक्ष ही होता है। इस प्रकार शब्द आदि अर्थ का ज्ञान कराना मन का प्रयोजन सिद्ध होता है।

पदार्थ-विचार

तीनों लोक में विद्यमान जो पदार्थ हैं, उनका संकलन वैशेषिकों ने सात ही पदार्थों के अन्तर्गत किया है। किन्तु, इनके अतिरिक्त भी कितने पदार्थों का संग्रह अन्य दर्शनों में मिलता है। इन सातों में भी कई एक पदार्थों को और दर्शनकारों ने नहीं माना है। किसी दूसरे में ही इनका अन्तर्भाव किया है। इन सब बातों को संक्षेप में दिखाया जाता है।

वैशेषिकों के मत में सात ही पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये ही नौ द्रव्य हैं। गुण चौबीस प्रकार के होते हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। पाँच कर्म हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। इन सबको चलनात्मक कहते हैं। पर और अपर दो प्रकार का सामान्य होता है। नित्य द्रव्य में रहनेवाले विशेष अनन्त प्रकार का होता है। समवाय एक ही होता है। अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।

जगत् में चेतन, अचेतन जितने पदार्थ हैं, उनके यथार्थतः स्वरूप-ज्ञान के लिए, द्रव्य क्या है ? उनके गुण कौन-कौन हैं ? धर्मी क्या है, उसका धर्म क्या है ? उसकी जाति कैसी है ? किसके साथ किसका साधर्म्य और किसके साथ किसका वैधर्म्य है ? इत्यादि बातों का ज्ञान परमावश्यक है। किसी वस्तु का यदि कहीं पर साधन करना होता है, तो साधर्म्य या वैधर्म्य के दृष्टान्त से ही उस वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि पर आरूढ होता है। 'दृष्टान्त' का ही नाम 'उदाहरण' और 'निदर्शन' है। 'दृष्टः अन्तः अर्थात् निश्चयो येन सः'—यही दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात्,

जिसके द्वारा सिद्धान्त का निश्चय किया जाय, वही 'दृष्टान्त' है। अनुमान से जो ज्ञान होता है, उसका निश्चय दृष्टान्त से ही किया जाता है।

परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच जो न्याय के अङ्ग बताये गये हैं, उनमें दृष्टान्त ही अनुमान का जीवन है। यदि बुद्धिमान् मनुष्य हो, तो एक दृष्टान्त से ही वस्तु-तत्त्व का ज्ञान अच्छी तरह कर सकता है। इन पाँच अवयवों को प्रायः सभी दर्शनकार मानते हैं। उदाहरण के अतिरिक्त और अवयवों के मानने में मतभेद होने पर भी उदाहरण को सब दर्शनकारों ने एक स्वर से माना है। जैसे—बौद्धों ने दो ही अवयवों को माना है—उदाहरण और निगमन। मीमांसक लोग तीन अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। अद्वैत वेदान्ती भी तीन ही मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण; और कहीं उदाहरण, उपनय और निगमन। कोई हेतु, उदाहरण और उपनय—ये तीन अवयव मानते हैं। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य के मत में कोई नियम नहीं है—कहीं तो पाँचों अवयव माने गये हैं, और कहीं उदाहरण और उपनय ये दो ही। इनका कहना है, जितने अवयवों से वहाँ काम चल जाय, उतने ही अवयवों का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु, उदाहरण की उपेक्षा किसी ने नहीं की है। इसलिए, सब अवयवों में उदाहरण ही प्रधान अवयव माना जाता है।

परन्तु, उदाहरण भी बुद्धि पर तभी शीघ्र आरूढ होता है, जब सात पदार्थों का पूर्णतया विवेक ज्ञान होता है। पदार्थों के यथार्थ ज्ञान होने पर ही उदाहरणमूलक अनुमान से उन पदार्थों का ज्ञान सुलभ हो जाता है, जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए अवश्य ज्ञातव्य हैं। इसलिए, पदार्थों का विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। नैयायिकों के मत में सोलह पदार्थ माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान। यद्यपि इनका अन्तर्भाव उक्त सात पदार्थों में ही हो जाता है, और नैयायिकों का यह अभिमत भी है, तथापि मोक्ष के साधनीभूत जो तत्त्व-ज्ञान हैं, उनके लिए सोलहों का पृथक्-पृथक् निर्देश करना नैयायिकों ने उचित ही समझा है।

तात्पर्य यह है कि इनके मत में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष माना गया है और दुःख का कारण प्रेत्यभाव है। पुनः-पुनः गर्भवास और जन्म लेना ही 'प्रेत्यभाव' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जन्म-मरण का जो चक्कर है, वही 'प्रेत्यभाव' है। प्रेत्यभाव का कारण प्रवृत्ति है। सुख-दुःख के उपभोगरूप फल जिससे उत्पन्न होता है, वही प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का कारण दोष है। मनोगत राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि को ही 'दोष' कहते हैं और दोष का कारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति शरीर, इन्द्रियादि से व्यतिरिक्त आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से ही होती है। इस प्रकार आत्म-ज्ञान के उपयोगी आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग-रूप जो प्रमेय हैं, उनके ज्ञान के लिए उक्त प्रमेयों का निर्देश करना अत्यावश्यक है। प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण का मुख्य प्रयोजन है। इसलिए, प्रमाण का भी निर्देश करना आवश्यक है। प्रमाणों में भी

अनुमान ही 'जिसका जीवन दृष्टान्त है'—सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म तत्त्व के बोध कराने में समर्थ होता है। इसमें भी संशय के निराकरण के लिए तर्क की आवश्यकता है। पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह-रूप वाद के बिना निर्णय भी दृढ़ नहीं होता—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'—अतः वादान्त पदार्थों का निर्णय आवश्यक है।

इसके अलावा जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान, इनका भी तत्त्व-विचार-रूप कथा में प्रयोग करना दोष माना गया है, अतएव इसके लिए स्वरूप-ज्ञान आवश्यक है। इससे सिद्ध होता है कि सूत्रकार ने जितने पदार्थ लिखे हैं, वे सब मोक्ष में उपयोगी हैं।

एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि वाद में छल आदि का प्रयोग स्वयं न करे, यदि वादी प्रयोग करे, तो मध्यस्थ को ज्ञात करा देना चाहिए। यदि वादी प्रतिनिविष्ट मूर्ख हो, तो चुप रहना अच्छा है, अथवा मध्यस्थ की अनुमति से छल आदि के द्वारा भी इसे परास्त करना चाहिए, इसलिए कि मूर्ख को ही विजयी समझकर उसके मत में लोग न चले जायँ।

चार्वाक आदि के मत से तत्त्व-विचार

केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले चार्वाकों के मत में पृथिवी, जल, तेज और वायु ये ही चार तत्त्व माने जाते हैं। इन्हीं चार तत्त्वों के जो परमाणु हैं, वे ही जगत् के मूल कारण हैं, ऐसी इनकी मान्यता है। बौद्धों में जो माध्यमिक हैं, उनके मत में एक शून्य को ही मूल-तत्त्व माना गया है। योगाचार-मतवाले एक विज्ञान-स्कन्ध को ही मूल तत्त्व मानते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में दो तत्त्व माने जाते हैं—एक आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कन्ध आन्तर तत्त्व कहे जाते हैं। पृथिवी, जल आदि चार भूतों के परमाणु को बाह्य-तत्त्व माना गया है। इनके अतिरिक्त भी इनके मत में चार तत्त्व (सत्य) हैं—समुदाय-सत्य, निरोध-सत्य, दुःख-सत्य और मार्ग-सत्य। ये सब उत्पत्तिशील हैं, इस प्रकार का ज्ञान समुदाय-सत्य है। सब क्षणिकवादी इस ज्ञान को निरोध-सत्य कहते हैं। सब शून्य हैं, इस ज्ञान को दुःख-सत्य और सब निरात्मक है, इस ज्ञान को मार्ग-सत्य कहते हैं। इन चारों की संज्ञा आर्य-सत्य भी है।

जैनों के मत में संक्षेप से दो ही तत्त्व माने गये हैं—एक जीव, दूसरा अजीव। इन्हीं दो के प्रपञ्च-रूप पाँच तत्त्व और भी हैं—जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इनके अतिरिक्त—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष, इन सात तत्त्वों को भी ये लोग मानते हैं।

रामानुजाचार्य के मत में तत्त्व

रामानुजाचार्य के मत में सकल पदार्थ-समूह, प्रमाण और प्रमेय के भेद से दो प्रकार का माना गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। प्रमेय भी तीन प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण और सामान्य। द्रव्य छह प्रकार के माने जाते हैं—ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल। त्रिगुणात्मक

प्रधान को ही प्रकृति कहते हैं। गुण दस प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति। द्रव्य-गुण, एतदुभयात्मक ही सामान्य है। इनके मत में ईश्वर भी पाँच प्रकार के हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। वैकुण्ठवासी नारायण, जिनको मुक्त लोग प्राप्त करते हैं, को 'पर' कहा जाता है। 'व्यूह' भी चार प्रकार का है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। एक ही परमात्मा के चार भेद जगत् की उत्पत्त्यादि व्यवस्था और उपासना के लिए कल्पित हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज, इन छह गुणों से परिपूर्ण वासुदेव को माना जाता है। संकर्षण में ज्ञान और बल दो ही गुण हैं। ऐश्वर्य और वीर्य, दो गुण प्रद्युम्न में प्रधान हैं। शक्ति और तेज ये दो गुण अनिरुद्ध में प्रधान हैं। मत्स्य, कूर्मादि अवतार का नाम 'विभव' है।

'अन्तर्यामी' उसको कहते हैं, जो सकल जीवों के हृदय-प्रदेश में सदा विद्यमान रहता है, जो जीवों का नियमन करने से नियन्ता भी कहा जाता है और जिसका साक्षात्कार योगीजन समाधि-काल में करते हैं। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति'—यह गीता-वाक्य 'य आत्मनि अन्तस्तिष्ठन् अन्तर्यमयति' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य और 'यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये' दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्' इत्यादि शिवमहिम्न-श्लोक भी इसी परम तत्त्व का निर्देश करते हैं।

मन्त्र द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित देवालयों की प्रतिमाओं का नाम 'अर्चावतार' है। जीव ईश्वर के परतन्त्र है, प्रतिशरीर में वह भिन्न और नित्य है। यह जीव तीन प्रकार का होता है—बद्ध, मुक्त और नित्य। संसारी जीव को 'बद्ध' कहते हैं। नारायण की उपासना से जो वैकुण्ठ चले गये हैं, उनको 'मुक्त' कहते हैं। संसार से जिसका कभी स्पर्श नहो, उसको 'नित्य' कहते हैं। जैसे—अनन्त, गरुड आदि। वैकुण्ठ-लोक को नित्यविभूति कहते हैं। स्वप्रकाश और चेतनात्मिका जो बुद्धि है, उसी को ज्ञान कहते हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली जो प्रकृति है, वही चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका भी है। पञ्चतन्मात्र, पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और मन—ये ही चौबीस तत्त्व हैं। काल विभु और जड है। सत्त्व आदि जो दस गुण हैं, वे द्रव्य के ही आश्रित हैं। सत्त्व दो प्रकार का है—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध सत्त्व नित्य-विभूति और मिश्र प्रकृति में रहता है। सत्त्व रजोगुण और तमोगुण से संपृक्त है, अतएव वह 'मिश्र' कहा जाता है। राग और लोभ का कारणीभूत जो गुण है, वह रज है। मोह, प्रमाद और आलस्य का जो कारण है, वही तम है। पाँचो भूत में वर्त्तमान जो गुण है, वही शब्द है। स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्रसिद्ध गुण हैं। छह द्रव्यों में रहनेवाला जो सामान्य है, वही संयोग है। यह अनित्य और अव्याप्य वृत्ति है।

सब कारणों के कारणत्व का जो निर्वाहक है, वही शक्ति है। यह छह द्रव्यों में रहनेवाला सामान्य गुण है। धर्मभूत ज्ञान, प्रभा और शुद्ध सत्त्व इन तीनों को द्रव्य और गुण भी कहते हैं। द्रव्य के आश्रित होने से गुण कहते हैं, और सङ्कोच-विकासशील होने से द्रव्य भी कहते हैं। इस प्रकार, संक्षेप में रामानुजाचार्य के मत से पदार्थों का दिग्दर्शन कराया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को रामानुज-दर्शन देखना चाहिए।

माध्व-मत से पदार्थ-विवेचन

माध्व-मत में दस पदार्थ माने गये हैं, जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनके मत में द्रव्य बीस प्रकार के होते हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहङ्कार-तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य्य आदि अनेक प्रकार के गुण इनके 'पदार्थ-संग्रह' आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

विहित, निषिद्ध और उदासीन—ये तीन प्रकार के कर्म हैं। नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के सामान्य हैं। भेद के नहीं रहने पर भी भेद-व्यवहार का निर्वाह करानेवाला विशेष है। इनके मत में समवाय नहीं माना जाता। विशेषण के सम्बन्ध से जो विशेष्य का आकार होता है, उसी का नाम विशिष्ट है। हाथ आदि परिमापी से नापा हुआ वस्त्र और आकाश को अंशी कहते हैं। शक्ति चार प्रकार की होती है—अचिन्त्यशक्ति, आधेयशक्ति, सहजशक्ति और पदशक्ति। एकनिरूपित अपर में रहनेवाले धर्म का नाम सादृश्य है। यह दो में रहनेवाला द्विष्ठ धर्म नहीं है। अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। दिशा को अव्याकृताकाश कहते हैं। यह सृष्टि और प्रलय में भी विकार-रहित नित्य है और भूताकाश से भिन्न है। ब्रह्माण्ड का जो उपादान है, वही प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के समुदाय का नाम गुणत्रय है। यही गुणत्रय, जिसका साक्षात् उपादान हो, महत्तत्त्व है। उस महत्तत्त्व का कार्य अहङ्कार है। बुद्धि दो प्रकार की है—तत्त्वरूपा और ज्ञानरूपा। यहाँ तत्त्वरूप बुद्धि को द्रव्य माना गया है। मन भी दो प्रकार का है—एक, तत्त्वरूप; दूसरा, अतत्त्वरूप। वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न होनेवाला मन तत्त्वरूप है, दूसरा इन्द्रिय है। तत्त्वरूप मन पाँच प्रकार का है—मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चेतना। इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को मात्रा या तन्मात्रा कहते हैं। इन्हीं का नाम विषय भी है। इन्हीं तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। ये ही पंचभूत हैं। इन्हीं पंचभूतों का का कार्य सकल ब्रह्माण्ड है।

अविद्या के पाँच भेद हैं—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र और व्यामोह। अन्य प्रकार के भी चार भेद हैं—जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया। सब अविद्या जीव के ही आश्रित हैं। आदि से अन्त तक इक्यावन वर्ण हैं। अन्धकार प्रसिद्ध ही है। वैशेषिकों की तरह तेज का अभाव-रूप अन्धकार नहीं है। स्वप्न के उपादान का नाम वासना है। आयुष्य का व्यवस्थापक काल है। जो बिम्ब के विना

न रहे और बिम्ब के सदृश हो, वह प्रतिबिम्ब है। दोष से भिन्न गुण होता है। इनके मत में रूप आदि के लक्षण और अवान्तर भेद प्रायः नैयायिकों के समान ही होते हैं। परिमाण तीन प्रकार का है—अणु, मध्यम और महत्। इन दोनों का संयोग एक नहीं है, किन्तु भिन्न प्रकार का है। यथा—घटनिरूपित संयोग पट में और पटनिरूपित संयोग घट में। ये दोनों संयोग भिन्न हैं। वेग के हेतुभूत गुण का नाम लघुत्व है; मृदुता को मृदुत्व कहते हैं। काठिन्य कड़ापन नहीं है, किन्तु यह एक भिन्न गुण ही है; क्योंकि सम्बन्धिद्रव्य की प्रतीति के विना भी काठिन्य की प्रतीति होती है। अन्योन्याभाव का ही नाम पृथक्त्व है। ध्वनि को शब्द कहते हैं। यह पंचभूतों का गुण है। ज्ञान का ही नाम बुद्धि है। अनुभव तीन प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द। बुद्धि से प्रयत्न-पर्यन्त तत्त्व मन के ही धर्म हैं, और वे अनित्य भी हैं। संस्कार चार प्रकार का होता है—वेग, भावना, योग्यता और स्थिति-स्थापक। प्रकाश का ही नाम आलोक है। बुद्धि की भगवन्निष्ठता, अर्थात् भगवान् में ही बुद्धि को लगा देना 'शम' है। इन्द्रियों का निग्रह करना 'दम' है। दयाको ही 'कृपा' कहते हैं। सुख-दुःख-द्वन्द्वसहिष्णुता का नाम 'तितिक्षा' है। दूसरे की अपेक्षा के विना कार्य के अनुकूल जो गुण है, उसी को 'बल' कहते हैं। भय आदि प्रसिद्ध ही हैं। प्रभृति शब्द से सत्य, शौच आदि को समझना चाहिए। उत्क्षेपण आदि चलनात्मक कर्म हैं। मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व आदि को सामान्य कहते हैं। यह प्रतिव्यक्ति भिन्न और अनित्य है; क्योंकि व्यक्ति के साथ ही यह उत्पन्न और विनष्ट होता है। और, व्यक्ति के विद्यमान रहते भी सुरापान आदि से ब्राह्मणत्व आदि का नाश होना प्रसिद्ध है। इसके अलावा विश्वामित्र में तप के प्रभाव से ब्राह्मणत्व आ गया, यह भी प्रसिद्ध ही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामान्य अनित्य है। माध्व-मत में भी जीवत्व-सामान्य नित्य माना जाता है; क्योंकि जीव नित्य है। सामान्य दो प्रकार का होता है—एक, जातिरूप; दूसरा, उपाधिरूप। सर्वज्ञत्व, प्रमेयत्व आदि जो सामान्य है, वह उपाधि-रूप है। ईश्वर नित्य है, इसलिए इसमें रहनेवाला सर्वज्ञत्व भी नित्य है। और, घट-पटादि में रहनेवाला प्रमेयत्व अनित्य है; क्योंकि घट-पटादि अनित्य हैं।

सकल पदार्थ में रहनेवाला विशेष भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। ईश्वर आदि नित्य पदार्थों में रहनेवाला नित्य और घटादि अनित्य पदार्थों में रहनेवाला अनित्य है। विशिष्ट भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। सर्वज्ञत्व आदि विशेषण विशिष्ट परब्रह्म आदि-रूप नित्य हैं, और दण्डादि विशेषण विशिष्ट दण्डी आदि अनित्य हैं। अवयव का नाम अंश है, और तद्विशिष्ट अवयवी अंशी है। जैसे, पट और आकाश आदि। वह अवयव-तन्तु से भिन्न और हाथ आदि से परिमित, अर्थात् नापा हुआ है। उक्त अवयव से विशिष्ट ही अवयवी तन्तु से उत्पन्न होता है। आकाश आदि के जो अवयव हैं, वे अनारम्भक हैं; अर्थात् वे किसी को उत्पन्न नहीं करते। आकाश भी सावयव है, इसीलिए इस आकाश-भाग में पक्षी उड़ते हैं, अन्यत्र नहीं, इस प्रकार की व्यवस्था उपपन्न होती है। परमेश्वर में सम्पूर्ण शक्ति है। इससे भिन्न स्थल में शक्ति अपने आश्रय के अनुसार है; प्रतिमा आदि में मन्त्रों से अधिष्ठित

होने के कारण आधेयशक्ति है। स्वभाव सहजशक्ति है। पदों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध-शक्ति है। जीवों का सादृश्य नित्य है और घट आदि का अनित्य। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—ये तीन अभाव धर्मी से भिन्न हैं। अन्योन्याभाव धर्मी-स्वरूप ही है। नित्यात्मक अभाव नित्य और अनित्यात्मक अनित्य है। शशशृङ्ग का अभाव अत्यन्ताभाव और नित्य है। घट आदि का अभाव उसका प्रागभाव-स्वरूप है; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

माहेश्वर आदि के मत में तत्त्व-विचार

माहेश्वरों में नकुलीश पाशुपत दर्शन के अनुसार पाँच पदार्थ माने गये हैं। जैसे—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। इसमें कार्य अस्वतन्त्र है। विद्या, कला और पशु के भेद से तीन प्रकार का है। विद्या जीव का गुण है। अचेतन वस्तु का नाम 'कला' है। वह कार्य और कारण के भेद से दो प्रकार का है। पाँच भूत और पाँच उनके गुण, ये दस प्रकार के कार्य होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण—ये तेरह कारण कहे जाते हैं। स्वतन्त्र कारण परमेश्वर है। आत्मा का ईश्वर के साथ सम्बन्ध ही योग है। धर्म और अर्थ के साधक को विधि कहते हैं। दुःखान्त मोक्ष का नाम है।

शैवों के मत में पति, पशु और पाश तीन पदार्थ माने गये हैं। पति शिव है और पशु जीव। पाश चार प्रकार का होता है—मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जीवात्मा और परमात्मा को एक ही माना गया है, और सब जड़-वर्ग पूर्ववत् हैं। परन्तु, जड़ आत्मा से भिन्न और अभिन्न दोनों माना जाता है। और सब नकुलीश पाशुपत दर्शन के ही समान हैं। रसेश्वर दर्शन में कार्य-कारण आदि पाँच पदार्थ हैं, वे सब नकुलीश पाशुपत दर्शन के समान हैं। मीमांसक लोगों ने पदार्थों के बारे में मुख्यतया कोई विचार नहीं किया है। क्योंकि, मीमांसाशास्त्र का मुख्य ध्येय वाक्यार्थ-विचार है। इसलिए, वाक्यार्थ का ही इसमें विचार किया गया है। फिर भी, समवाय आदि कतिपय पदार्थों के खण्डन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शेष विषयों में वैशेषिकों के मत का ही आदर किया गया है। 'अनिषिद्ध-मप्यनुमितं भवति' इस न्याय से भी यही सिद्ध होता है।

पाणिनीयों के विषय में भी यही बात है। व्याकरणशास्त्र शब्दार्थ-विचार में ही प्रधान माना जाता है। फिर भी, अद्वैत वेदान्त के अनुसार ही इनका सिद्धान्त है।

सांख्यों के मत में भी चार प्रकार के तत्त्व माने गये हैं—(१) प्रकृति-मात्ररूप, (२) प्रकृति-विकृति-उभयरूप, (३) केवल विकृतिरूप और (४) अनुभयरूप। अर्थात्, प्रकृति-विकृति दोनों से भिन्न। त्रिगुणात्मक-प्रधान (मूल प्रकृति) को प्रकृति-मात्ररूप कहते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र—ये प्रकृति-विकृति-उभयरूप हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत और मन ये सोलह पदार्थ केवल विकृतिमात्र-रूप हैं। इन दोनों के अतिरिक्त पुरुष अनुभय-रूप है। इसी बात को सांख्य-कारिका में लिखा है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥'

पातञ्जलों के मत में भी प्रायः ये ही सब पदार्थ माने गये हैं। केवल एक ईश्वर इनके मत में अधिक माना गया है। ईश्वर के विषय में इनका सूत्र है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

अद्वैत-मत में तत्त्व-विचार

अद्वैत वेदान्तियों के मत से परमार्थ में एक-रूप एक ही पदार्थ या तत्त्व है। इसी को द्रष्टा कहते हैं। इनके मत में द्वैत का मान अनादि अविद्या से परिकल्पित है। तदनुसार द्रष्टा और दृश्य दो पदार्थ होते हैं। उपाधि-भेद से द्रष्टा के तीन रूप होते हैं—ईश्वर, जीव और साक्षी। कारणीभूत-अज्ञान उपाधि से युक्त होने के कारण ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर भी तीन प्रकार का है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त जो अज्ञान है, उस अज्ञान-रूप उपाधि से युक्त होने के कारण 'जीव' कहा जाता है। ईश्वर और जीव ये दोनों, उक्त अपनी उपाधि से युक्त हैं। जो केवल उपाधि से रहित है, उसको 'साक्षी' कहते हैं। प्रपंच का नाम दृश्य है। दृश्य भी तीन प्रकार का होता है। अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त। अविद्या, अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध, अविद्या में चित् का आभास और जीव-ईश्वर का विभाग—ये चार अव्याकृत कहे जाते हैं। अविद्या से उत्पन्न शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच सूक्ष्मभूत और अविद्या से ही उत्पन्न अन्धकार ये अमूर्त्त कहे जाते हैं। क्योंकि, पञ्चीकरण से पहले इन सूक्ष्म भूतों की मूर्त्तावस्था असम्भव है। अन्धकार भी अमूर्त्त ही है।

अमूर्त्त अवस्थावाले इन सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक अंश से एक-एक ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। और, सब सात्त्विक अंश मिलकर मन को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार, उसी अव्यक्तावस्था में प्रत्येक के राजस अंश से एक-एक कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। सम्मिलित राजस अंशों से प्राण की उत्पत्ति होती है। उसके बाद भूतों का पञ्चीकरण होता है। पाँच भूतों के परस्पर सम्मिश्रण का नाम पञ्चीकरण है। पञ्चीकरण से ही मूर्त्तावस्था होती है। इस प्रकार समस्त भौतिक भूमण्डल उत्पन्न होता है।

अन्धकार आदि के विषय में मतभेद

नैयायिक और वैशेषिक अन्धकार को भावरूप पदार्थ नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि तेज का अभाव-स्वरूप ही तम है, दूसरा कोई पदार्थ नहीं। 'नीलं तमश्चलति' यहाँ नील-रूप और चलन-क्रिया की प्रतीति होती है, वह केवल भ्रम-रूप ही है। इसीलिए दीपिकाकार ने तम का लक्षण अभावात्मक ही किया है—'प्रौढप्रकाशकस्तेजः सामान्याभावस्तमः', अर्थात् अत्यन्त प्रकाशक जो तेज है, उसका अभाव-स्वरूप ही तम है। वह अतिरिक्त कोई भावरूप पदार्थ नहीं है। मीमांसक भी

तम को यद्यपि अभाव-स्वरूप ही मानते हैं, तथापि वैशेषिकों के मत से इनमें यही विशेषता है कि ये तेज के अभाव-रूप तम को नहीं मानते, किन्तु तेजोज्ञान के अभाव-स्वरूप तम को मानते हैं। इनका कहना है—'आलोकज्ञानविरहस्तमसो लक्षणं मतम्', अर्थात् आलोक-ज्ञान का अभाव ही तम है। मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के मतानुयायी कुछ लोग तम को भी द्रव्य मानते हैं। इनके विषय में एक प्राचीन श्लोक है—

'छायायास्तमसश्चापि सम्बन्धाद्गुणकर्मणोः।
द्रव्यत्वं केचिदिच्छन्ति मीमांसकमताश्रयाः॥'

अर्थात्, कोई-कोई मीमांसक-मतानुयायी, गुण और कर्म के सम्बन्ध होने के कारण, छाया और तम को भी द्रव्य मानते हैं। श्रीधराचार्य के मत में भी तम को द्रव्य माना गया है, परन्तु वे नील-रूप को आरोपित मानते हैं। वेदान्तियों के मत में भी तम को द्रव्य ही माना गया है। वेदान्तियों में केवल रामानुजाचार्य के मत में तम का पृथिवी में अन्तर्भाव माना गया है। परन्तु, माध्व और अद्वैत वेदान्ती तम को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में दिक् को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। रामानुजाचार्य, पाणिनीय और अद्वैत वेदान्ती—इन लोगों के मत में दिक् का आकाश में अन्तर्भाव माना गया है। माध्व लोग अव्याकृत आकाश-स्वरूप दिक् को मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य और माहेश्वर—इन लोगों के मत में काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है। चार्वाक, बौद्ध, सांख्य और पातञ्जल के मत में काल को नहीं माना जाता। अद्वैत वेदान्तियों के मत में अविद्या में ही काल का अन्तर्भाव माना गया है। समवाय को केवल नैयायिक और वैशेषिक ही मानते हैं। इनसे भिन्न चार्वाक से लेकर अद्वैत वेदान्ती-पर्यन्त किसी दार्शनिक ने भी समवाय को पदार्थ नहीं माना है। रामानुजाचार्य वैशेषिक शास्त्र में बताये गये गुणों में बहुत गुणों का अन्यत्र अन्तर्भाव मानते हैं। जैसे—संख्या को संख्येय द्रव्य में ही अन्तर्भूत माना गया है, संख्येय के अतिरिक्त इनके मत में संख्या नाम का गुण नहीं माना जाता। और, संयोगाभाव से भिन्न कोई पृथक्त्व भी नहीं माना जाता। विभाग भी 'संयोगनाश का ही नाम है। देश और काल के संयोग-विशेष का ही नाम परत्व और अपरत्व है, भिन्न कोई गुण नहीं। गुरुत्व-शक्ति विशेष रूप ही है, और द्रवत्व भी द्रवद्रव्य-स्वरूप के अतिरिक्त कोई पृथक् गुण नहीं है। स्नेह भी आश्रय का स्वरूप-विशेष ही है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये सब उपाधिविशेष से युक्त बुद्धि के ही नाम हैं।

ईश्वरनिष्ठ जो ज्ञानविशेष है, उसी को धर्म माना गया है। इसी प्रकार, संयोगविशेष को ही चलनात्मक कर्म माना जाता है। और, अवयव-संस्थान-विशेष को ही 'सामान्य' कहा जाता है। नैयायिक, वैशेषिक और माध्व लोग भाव के अतिरिक्त अभाव को पदार्थ मानते हैं। मीमांसक, रामानुजाचार्य और अद्वैत वेदान्ती के मत में अभाव को अधिकरण-स्वरूप ही माना जाता है।

यहाँ तक मूलतत्त्व और उसके विकारभूत पदार्थों के विषय में विचार संक्षेप में किया गया। मूलतत्त्व के ज्ञान से मोक्ष होता है, यह पहले ही कह चुके हैं। अब विकार-ज्ञान से बन्ध होता है, और बन्ध क्या है? इस पर विचार किया जायगा। यहाँ बन्ध से संसार-बन्ध ही लिया जाता है।

बन्ध

संसार में आबालवृद्ध प्रत्येक प्राणी में सुख, दुःख और मोह का अनुभव सदा देखा जाता है। यहाँ सुख, दुःख और मोह क्या है? इस विषय में सांख्य और पातञ्जल के मत में पदार्थ ही सुख-दुःख-मोह-स्वरूप है, ऐसा माना जाता है। सब पदार्थों में दुःख, सुख और मोह सदा वर्त्तमान रहते हैं। क्योंकि, सब पदार्थ त्रिगुणात्मक ही हैं। जब भोक्ता पुरुषों के शुभकर्म का उदय होता है, उस समय शुभ कर्म के संस्कार का भी प्रादुर्भाव होता है। उसी से पदार्थ में रहनेवाला जो सुख-रूप गुण है, वह दुःख और मोह को अभिभूत कर प्रादुर्भूत होता है। उसी प्रकार अशुभ कर्मों के उदय होने से दुःख-रूप जो पदार्थगत गुण है, वह सुख और मोह को परास्त कर प्रादुर्भूत होता है। शुभ, अशुभ इन दोनों कर्मों के उदय न होने से मोह-रूपी गुण प्रकट होता है। यही सुख, दुःख और मोहात्मक संसार 'बन्ध' माना गया है। वेदान्तियों के मत में पदार्थों को सुख-दुःख-मोहात्मक नहीं माना गया है। इनका कहना है कि पदार्थ सुख दुःख-मोह-रूप नहीं हैं; किन्तु सुख, दुःख और मोह के प्रयोजक हैं। सुख, दुःख और मोह तो मन की वृत्तिविशेष का ही नाम है। वही वृत्तिविशेष पूर्वार्जित कर्मजन्य संस्कार से, पदार्थों के ज्ञान से, सुख, दुःख और मोह-रूप में आविर्भूत और तिरोभूत होती रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ का ज्ञान ही सुख-दुःख आदि का प्रधान साधन है।

प्रामाण्यवाद

सुख, दुःख आदि का साधनीभूत जो ज्ञान है, वह दो प्रकार का होता है—पहला, प्रामाण्य; दूसरा, अप्रामाण्य। प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में प्रायः सब दर्शनकारों में मतभेद रहता है। यहाँ यही प्रश्न उठता है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः है, अथवा परतः? यहाँ नैयायिक, वैशेषिक और बौद्ध—इन लोगों के मत में प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों परतः मानी जाती है। मीमांसकों और वेदान्तियों का कहना है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः है, परतः नहीं। अप्रामाण्य की उत्पत्ति प्रायः सब दर्शनकारों ने परतः मानी है। केवल बौद्धों के मत में अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी स्वतः मानी जाती है। और सांख्यों के मत में अप्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है। जैनों का कहना है कि प्रामाण्य या अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है, किन्तु ज्ञप्ति अभ्यस्त स्थल में स्वतः और अनभ्यस्त स्थल में परतः होती है। इतना ही इनके मत में भेद है। अब यहाँ एक बात और जानने योग्य है कि बन्ध का साधनीभूत जो पदार्थ-ज्ञान है, वह चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, दोनों ही बन्ध के साधन में उपयोगी होते हैं। इसलिए, इसमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि दोनों का फल बन्ध ही है।

परन्तु, मोक्ष का साधनीभूत जो तत्त्व-ज्ञान है, वह प्रमाण होने पर ही मोक्ष का साधक होता है, अप्रमाण होने पर नहीं।

मोक्ष

मोक्ष का स्वरूप किसके मत में कैसा है, यह दिखाया जाता है। चार्वाकों के मत में स्वातन्त्र्य अथवा मृत्यु को ही 'मोक्ष' कहते हैं। बौद्धों में शून्यवादी माध्यमिकों के मत में आत्मा का सर्वथा उच्छेद ही 'मोक्ष' माना जाता है। इनके अतिरिक्त योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में निर्मल ज्ञान का जो उदय है, उसी को 'मोक्ष' माना जाता है। जैनों का कहना है कि कर्म से सम्पादित जो देह-स्वरूप आवरण है, उसके अभाव में आत्मा का जो सतत ऊर्ध्वगमन है, वही 'मोक्ष' है। रामानुजाचार्य का मत है कि सर्वकर्तृत्व से भिन्न जो परमात्मा के सर्वज्ञत्व आदि गुण हैं, उनकी प्राप्ति और भगवत्स्वरूप का यथार्थ अनुभव होना ही 'मोक्ष' है। इनका मत है कि मुक्तात्मा में भगवान् के सब गुण चले आते हैं, केवल सर्वकर्तृत्व गुण नहीं आता। माध्वाचार्य के मत में सर्वकर्तृत्व, लक्ष्मीपतित्व और श्रीवत्स-प्राप्ति—इन तीन गुणों से रहित दुःख से अमिश्रित पूर्ण सुख का नाम ही 'मोक्ष' है। परम ऐश्वर्य की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है, ऐसा नकुलीश पाशुपतों का मत है। शैवों के मत में शिवत्व-प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। प्रत्यभिज्ञावादियों के मत में पूर्णात्मता का लाभ ही 'मोक्ष' है। रसेश्वरवादी पारद रस आदि से देह के स्थैर्य को ही 'मोक्ष' मानते हैं। यही इनके मत में जीवन्मुक्ति है। अशेष गुणों का उच्छेद ही 'मोक्ष' है, यह वैशेषिकों का मत है। नैयायिकों के मत में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को ही 'मोक्ष' माना जाता है। नैयायिकों में कुछ एकदेशियों का कहना है कि मुक्ति में आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति ही नहीं होती, किन्तु सुख की उपलब्धि भी होती है। मीमांसकों के मत में स्वर्ग की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। मूलाधारस्थ चक्र में वर्तमान जो परावाक् नाम का ब्रह्म है, उसका साक्षात्कार होना ही 'मोक्ष' है—यह पाणिनीयों का सिद्धान्त है। प्रकृति के उपरम, अर्थात् शान्त होने पर पुरुष के अपने रूप में जो अवस्थान है, वही सांख्यों का 'मोक्ष' है। कृतकृत्य होने के कारण गुणत्रय, अर्थात् सत्त्व, रज और तम पुरुषार्थ से शून्य हो जाता है, उस समय अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है—यही प्रकृति का लय 'मोक्ष' कहा जाता है। पातञ्जलों के मत में चिति-शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थान का ही नाम 'मोक्ष' है। अद्वैत वेदान्तियों के मत में मूल अज्ञान की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप का अधिगम, अर्थात् साक्षात्कार या प्राप्ति का ही नाम 'मोक्ष' है। यहाँ तक प्रमाण से लेकर मोक्ष-पर्यन्त प्रायः सब पदार्थों के स्वरूप का विवेचन मतभेद-प्रदर्शनपूर्वक संक्षेप में किया गया। अब दर्शन-भेद में बीज दिखाया जायगा।

दर्शन-भेद में बीज

'दर्शन' शब्द में जो दृश् धातु है, उसका अर्थ ज्ञान-सामान्य होता है। 'दृश्यते, अनुसन्धीयते पदार्थानां मूलतत्त्वमनेन इति दर्शनम्', अर्थात् पदार्थों के मूलतत्त्व का अनुसन्धान जिसके द्वारा किया जाय, वही दर्शन है। इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है

कि संसार में जितने जड या चेतन पदार्थ उपलब्ध होते हैं, उनके मूलतत्त्व का साक्षात्कार करने में जो शास्त्र उपयोगी होता है, उसी का नाम 'दर्शन' है। मूलतत्त्व का अनुसन्धान ही मोक्ष का परम साधन है, यह प्रायः सभी दर्शनकारों का अभिमत है। और मूलतत्त्व का अनुसन्धान केवल एक प्रमाण के द्वारा ही कर सकते हैं। प्रमाण एक नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। इस अवस्था में 'कारणभेदात् कार्यभेदः' अर्थात् कारण में भेद होने से कार्य भी भिन्न होता है—इस नियम के अनुसार प्रमाण में भेद होने के कारण दर्शनों में भी भेद होना स्वाभाविक हो जाता है। अब यहाँ यह सन्देह हो जाता है कि यद्यपि प्रमाणों में अनेक प्रकार के भेद हैं, तथापि दर्शनकारों का एक विशेष प्रकार के प्रमाण में ही पक्षपात क्यों हो जाता है? क्योंकि, हमलोगों-जैसे साधारण बुद्धिवालों का किसी विशेष प्रमाण में पक्षपात होने पर भी निर्मल अन्तःकरणवाले सर्वज्ञ-तुल्य महात्माओं का किसी विशेष प्रमाण में—कि यही प्रमाण तत्त्वान्वेषण में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं—इस प्रकार का पक्षपात होना अनुचित प्रतीत होता है। और भी, नास्तिकों के अतिरिक्त जितने आस्तिक दर्शनकार हैं, प्रायः सब लोग मानते हैं कि मूलतत्त्व के अन्वेषण में एक श्रुति ही समर्थ है, दूसरा कोई नहीं। इस अवस्था में भी दर्शन-भेद निर्मूल हो जाता है।

इस सन्देह का उत्तर प्रमाण-विचार के प्रसंग में प्रायः दिया जा चुका है, जैसे, किसी का श्रुति में विश्वास नहीं है, किसी का मन्द विश्वास है, किसी का अमन्द। किसी का दृढ विश्वास है तो किसी का उससे भी दृढतर। इस प्रकार, विश्वास के तारतम्य से प्रमाण-विशेष में पक्षपात होना स्वाभाविक हो जाता है। अतः, प्रमाण-विशेष में श्रद्धा होने के कारण ही कोई प्रत्यक्ष को ही मूलतत्त्व के अन्वेषण में समर्थ समझ सकते हैं, कोई अनुमान को ही। कोई मूल कारण के अन्वेषण में श्रुति को ही सर्वप्रधान समझते हैं। इस प्रकार, तत्त्वानुसन्धान के साधनीभूत तीन प्रमाण मुख्य हैं—अध्यक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके भेद से दार्शनिक भी तीन प्रकार के हो जाते हैं—कोई आध्यक्षिक (जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है), कोई आनुमानिक और कोई श्रौत।

दर्शन के भेद होने में एक और भी कारण है कि जिस प्रकार आँखवालों में भी कोई दूरस्थ वस्तु को भी देख लेता है और कोई समीपस्थ वस्तु को ही देखता है, दूरस्थ को नहीं। कोई समीपस्थ को भी नहीं देखता, और अत्यन्त समीप हो जाने पर देखता है। इसी प्रकार, तर्क से भी कोई सूक्ष्म का कोई सूक्ष्मतर और कोई सूक्ष्मतम का भी ज्ञान कर लेता है। इसी प्रकार, किसी की बुद्धि श्रुति के वाच्य अर्थ को ही समझकर संतुष्ट हो जाती है, किसी की बुद्धि व्यंग्य अर्थ भी समझने के लिए चेष्टा करती है, और समझ भी जाती है, और किसी की बुद्धि निगूढ से भी निगूढ अर्थ के समझने में झटिति प्रविष्ट हो जाती है और निगूढ अर्थ को समझ भी लेती है। इस प्रकार, बुद्धि के भेद से श्रुति के तात्पर्य को समझने में भी मतिभेद होना सम्भव है। इस स्थिति में, तत्त्व के अनुसन्धान के साधनीभूत प्रमाण के एक माननेवालों में भी बुद्धि-वैचित्र्य

होने के कारण उस प्रमाण से साध्य तत्त्व के अन्वेषण में वैषम्य, अर्थात् भेद हो जाना दुर्निवार हो जाता है। इसलिए, प्रमाण भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न जो दर्शन हैं, उनमें पुनः प्रविष्ट होकर अन्वेषण करने से पूर्वज्ञात तत्त्व से विभिन्न तत्त्व भी भासित होने लगते हैं। इसलिए, अन्विष्यमाण तत्त्व के भेद होने से दर्शन का भेद होना दुर्निवार है।

इसलिए, श्रौत और तार्किक, जो दर्शनकार हैं, उनमें विभिन्न विचारकों की विभिन्न विचार-सरणी के अनुसार पुनः-पुनः विचार करने पर एक प्रमाण माननेवालों में भी अनेक प्रकार के विभिन्न दर्शन हो गये हैं। इस प्रकार, विचार-सरणी के भेद से दर्शनों के अनेक होने पर भी सब दर्शनकारों का एक जो उद्देश्य—'आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति'—है, वह अक्षुण्ण ही रहता है। सब दर्शनकारों के समन्वयात्मक विचार से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि केवल उद्देश्य में ही सबका ऐकमत्य नहीं है, प्रत्युत, उद्देश्य-प्राप्ति का साधन जो मूलतत्त्व का ज्ञान है, उसके विषय में भी सब दर्शनकारों का अभिप्राय एक ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार के भेद के नियमन में जगन्नियन्ता परमात्मा की अलौकिक और अनिर्वचनीय इच्छा ही प्रतीत होती है। क्योंकि, जगत् में सब जन्तुओं की एक ही प्रकार की प्रवृत्ति हो, तब तो जिस मार्ग में जन्तुओं की प्रवृत्ति होगी, उस मार्ग की पराकाष्ठा, 'चाहे वह अच्छा हो या बुरा', सब लोग कुछ काल में प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार, जगत् का सब व्यवहार लुप्त हो जाने से सब शून्य-सा हो जायगा। इस स्थिति में, जगत् का तत्त्व ही नष्ट हो जायगा; क्योंकि मार्ग-भेद ही जगत् की स्थिरता का सम्पादन करता है। मार्ग-भेद होने का कारण यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के जन्तु होते हैं, और एकजातीय और एकदेशीय होने पर भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जन्तु की प्रवृत्ति विभिन्न प्रकार की होती रहती है। इसलिए, भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार मार्ग-भेद होना स्वाभाविक हो जाता है।

परमात्मा ने अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा सबसे पहले त्रिगुणात्मक प्रकृति की रचना की है। सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। और, वे तीनों गुण, प्रत्येकशः अनन्त प्रकार के होते हैं। उन अनन्त सत्त्वांशों में किसी सत्त्व-अंश का किसी रजोगुण के अंश के साथ, और किसी सत्त्वांश का किसी तमोगुण के अंश के साथ संयोग होता है। इस प्रकार, क्रमशः पञ्चभूतों को उत्पन्न कर सकल चेतन-अचेतन पदार्थों को प्रकाशित किया है। उनमें करोड़ों से अधिक व्यक्तियों में भी दो के साथ सर्वांश में समता नहीं होती। एक बात और है कि प्रवाह-रूप से निरन्तर विद्यमान जो जगत् की अवस्थिति है, और उसके साधनीभूत जो मार्ग-भेद हैं, उनमें केवल जन्तुओं का नाना प्रकार का होना ही एक कारण नहीं है। किन्तु, एकजातीय होने पर भी प्रवृत्ति का भेद होना भी एक कारण होता है। और प्रवृत्ति भी जिस प्रकार वर्ण-भेद, जाति-भेद, आश्रय-भेद से अनेक प्रकार की होती है, उसी प्रकार वह ज्ञान के भेद से भी अनेक प्रकार की होती है।

यद्यपि ज्ञान के भेद न होने पर भी विचित्र जगत् के व्यवहार का अभाव नहीं होता है; क्योंकि विचित्र प्रवृत्ति के कारणीभूत वर्ण-भेद, जाति-भेद, आश्रय-भेद आदि अनेक कारण विद्यमान रहते हैं, फिर भी जगत् का व्यवहार अनेक प्रकार का और अनियत होने के कारण, उसमें विविध प्रकार के कारणों की अपेक्षा रहती है। इसलिए, उन कारणों में ज्ञान का भेद होना भी एक कारण परमात्मा को अभिप्रेत है, यह मानना होगा।

तत्त्वान्वेषण का उपयोग

तत्त्व ज्ञान के भेद से भी प्रवृत्ति में भेद देखा जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी को जैसा तत्त्व भासित हुआ, उसने उसी प्रकार का दर्शन बनाया, यह प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जगद्वैचित्र्य के मूल कारण के अनुसन्धान में प्रवृत्त, अर्थात् लगे हुए महर्षियों के ज्ञान के अनुसार जितने और जिस प्रकार के तत्त्व भासित हुए, उतने ही और उसी प्रकार के तत्त्वों का निदर्शन उन दर्शनों में किया गया है। अर्थात्, जिसको जितना और जिस प्रकार का तत्त्व अपनी बुद्धि के अनुसार भासित हुआ, उसने उसी के अनुसार अपना दर्शन बनाया। इसलिए, तत्त्वभेद भी दर्शन-भेद का ज्ञापक होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रमाण का भेद, बुद्धि का भेद और विचार-सरणी का भेद दर्शन-भेद के मुख्य कारण होते हैं। अब यहाँ सन्देह होता है कि दर्शनकारों की प्रवृत्ति तत्त्वान्वेषण के लिए क्यों होती है।

इसका उत्तर यही हो सकता है कि मनुष्य, अपनी सद्गति के लिए मन, वचन और शरीर से यथाशक्ति प्रयत्न करता रहता है, यह स्वभावसिद्ध और प्रसिद्ध भी है। सद्गति भी कम, अधिक, अच्छी, बुरी आदि भेद से अनेक प्रकार की है। और, उन सद्गतियों की जो पराकाष्ठा है, उसी को प्रत्येक दर्शनकार ने 'मोक्ष' माना है। मोक्ष का साधन सर्वतन्त्र से सिद्ध और लोक-प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान ही है। 'तत्त्वज्ञानान्मोक्षः' सर्वसिद्धान्त है। इसलिए, तत्त्वान्वेषण के लिए ज्ञानियों की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है।

तत्त्वज्ञान से मोक्ष-साधन

अब तत्त्वज्ञान से मोक्ष का साधन किस प्रकार होता है, यह विचारणीय विषय है। इस विषय में यह भी जान लेना चाहिए कि मोक्ष बन्ध का प्रतिद्वन्द्वी है। चेतन के साथ अचेतन का जो सम्बन्ध है, वही बन्ध है। यद्यपि अचेतन वस्तुएँ भूत-भौतिक-शरीर आदि के भेद से अनन्त प्रकार की हैं, तथापि जीवात्मा के साथ जो शरीर का सम्बन्ध है, वही मुख्य बन्ध माना गया है। शरीर के अतिरिक्त और वस्तुओं के साथ जो जीवात्मा का सम्बन्ध है, वह शरीर के द्वारा ही है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिए, जिस प्रकार हाथी के बिक जाने पर अंकुश के मूल्य के लिए विवाद नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर, शरीर के द्वारा इतर वस्तु के साथ जो सम्बन्ध है, वह योंही नष्ट हो जाता है, उसके लिए पृथक् यत्न की कुछ अपेक्षा नहीं होती। इसलिए, चेतन जीवात्मा के साथ अचेतन शरीर का जो

सम्बन्ध है, वही बन्ध है, यह सिद्ध होता है। इसलिए, मोक्ष के अभिलाषी पुरुषों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्धरूपी जो बन्ध है, उसके नाश के लिए यत्न करता रहे। क्योंकि, जबतक बन्ध का नाश नहीं होता, तबतक मोक्ष होना असम्भव है। और, बन्ध का नाश तबतक नहीं हो सकता, जबतक यह यथार्थ ज्ञान नहीं हो कि बन्ध कब हुआ, किसने बन्ध किया और बन्ध का स्वरूप क्या है। क्योंकि, प्रतिद्वन्द्वी के यथार्थ ज्ञान होने के बाद ही उसका नाश करना सुलभ होता है। इस स्थिति में सम्बन्ध कब हुआ, यह तो विचार करने की बात नहीं है; क्योंकि अगत्या सम्बन्ध को सभी दर्शनकारों ने अनादि स्वीकृत किया है। अनादि होने के कारण ही सम्बन्ध के सम्पादयिता के विषय में भी विचार नहीं किया जा सकता।

केवल विचारना यही है कि अनादि अविच्छिन्न प्रवाह-रूप से आजतक वर्त्तमान जो यह बन्ध है, इसका रक्षक कौन है, इसमें भी यही रक्षक है, इस प्रकार विशेष ज्ञान न होने पर भी रक्षक कोई अवश्य है—यह बात प्रायः सब दर्शनकारों ने स्वीकार की है। इसीका ईश्वर आदि अनेक शब्दों से व्यवहार शास्त्रकारों ने किया है। जब, बन्ध का स्वरूप कैसा है, यह विचार आरम्भ होता है, तब तो चेतन और अचेतन दोनों के मूलतत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, दोनों सम्बन्धियों के यथावत् यथार्थ ज्ञान हुए विना यह पदार्थ ऐसा है, इस प्रकार का निश्चय करना असम्भव हो जाता है। इस स्थिति में सम्बन्ध जिस कारण से परिरक्षित हो, उसका यथार्थ ज्ञान होने के बाद ही उस सम्बन्ध के दूर करने का उपाय जान सकते हैं। इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपाय होने के कारण मूलतत्त्व का अनुसन्धान करना परमावश्यक हो जाता है।

इस प्रकार, मूलतत्त्वों का अन्वेषण करने के बाद मुमुक्षुजनों के परम उपकारी दर्शनकारों ने चार व्यूह दिखाये हैं—(१) मोक्ष, (२) उसकी प्राप्ति का उपाय, (३) बन्ध और (४) उसका निमित्त। इनमें मोक्ष का स्वरूप पहले दिखाना आवश्यक है। कारण यह है कि ज्ञान के विना इच्छा नहीं हो सकती। सामान्य ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली इच्छा भी उस प्रकार बलवती नहीं होती, जिस प्रकार विशेष ज्ञान से उत्पन्न इच्छा बलवती होती है। विशेष ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली वही इच्छा है, जो क्षण-भर भी विना प्रयत्न के नहीं रहने देती। मोक्ष-प्राप्ति के लिए उसका उपाय भी अवश्य ज्ञातव्य है, इसलिए उसका भी प्रदर्शन आवश्यक है। इस प्रकार, मोक्ष का प्रतिद्वन्द्वी जो बन्ध है, उसका भी यथावत् ज्ञान करना आवश्यक है। क्योंकि, बन्ध के नाश के लिए उसका स्वरूप-ज्ञान उपयोगी होता है। इसी प्रकार, बन्ध के नाश के लिए बन्ध के निमित्त का भी ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि, कारण के नाश से ही कार्य का नाश सुलभ होता है—'कारणनाशात् कार्यनाशः।'

अब एक आशङ्का और होती है कि जब एक महर्षि तत्त्वों का वर्णन कर ही चुके, तब पुनः दूसरों की प्रवृत्ति तत्त्वान्वेषण में क्यों हुई ? और, उससे उपकार ही

क्या होता है ? प्रत्युत विभिन्न, तत्त्वों का वर्णन करने से बड़े-बड़े विद्वानों के चित्त में भी भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।

इसका उत्तर यही होता है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धि-भेद होने के कारण दूसरे के ऊपर सहसा किसी का विश्वास नहीं होता, बल्कि मानव-प्रकृति के अनुसार उससे भी अधिक सूक्ष्म तत्त्वों को प्रकाशित करना चाहता है। इसलिए, बुद्धि-भेद होने के कारण विभिन्न तत्त्वों के अनुसन्धान के लिए महात्माओं की भी प्रवृत्ति अनिवार्य है। दार्शनिकों में भी मति-भेद का मूल कारण किसी प्रमाणविशेष में उनका पक्षपात ही है, यह पहले भी लिखा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि महर्षियों ने प्रमाण-विशेष के द्वारा ही तत्त्वों का अन्वेषण किया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये ही तीन मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। आध्यक्षिक, तार्किक और श्रौत—ये तीन प्रकार के तत्त्वदर्शी दार्शनिक हुए हैं। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माननेवाले आध्यक्षिक कहे जाते हैं। क्योंकि, अध्यक्ष प्रत्यक्ष का ही नामान्तर है। यद्यपि प्रत्यक्ष को सभी ने प्रमाण माना है, तथापि वे लोग आध्यक्षिक नहीं कहे जाते, कारण यही है कि मूलतत्त्व के अन्वेषण में चार्वाक के अतिरिक्त और किसी ने भी प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना है। किन्तु, अनुमान या शब्द-प्रमाण से ही मूलतत्त्वों का अनुसन्धान किया है। इसीलिए, तार्किकों या श्रौतों को आध्यक्षिक नहीं कहा जाता। केवल चार्वाक ही, जो केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही मूलतत्त्व का अन्वेषण करने की चेष्टा करते हैं, आध्यक्षिक कहे जाते हैं। जो तर्क की सहायता से मूल तत्त्व का अन्वेषण करते हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किक भी दो प्रकार के होते हैं—एक आस्तिक, दूसरा नास्तिक। इनमें नास्तिक लोग श्रुति का प्रमाण नहीं मानते। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक ऐकान्तिक दूसरा अनैकान्तिक। एकान्त निश्चय को कहते हैं। तत्त्व को निश्चय करनेवाला ऐकान्तिक है। बुद्ध मुनि ने 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार निश्चय कर आर्यसत्य-नामक चार तत्त्वों का उपदेश किया है। इसी कारण बौद्ध लोग 'ऐकान्तिक' कहे जाते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यं, क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं स्वलक्षणम्'—ये ही चार प्रकार के 'आर्य-सत्य' तत्त्व हैं। यहाँ आदर के लिए द्विरुक्ति की गई है। जैन लोग 'अनैकान्तिक' कहे जाते हैं। ये लोग अनुमान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का अन्वेषण करते हुए भी वस्तु-तत्त्व की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सके कि 'यह तत्त्व ऐसा ही है।' यदि कोई कहे कि 'सर्वं दुःखम्', तो इनका कहना है कि 'स्यात्', अर्थात् हो सकता है। यदि कोई कहता है कि 'सर्वं सुखम्', तोभी इनका यही उत्तर होता है कि 'स्यात्', हो सकता है। यहाँ 'स्यात्' शब्द अनेकान्त अर्थात् 'अनिश्चय' का द्योतक निपात है। इसी 'स्यात्' कहने के कारण जैन लोग 'स्याद्वादी' कहे जाते हैं।

श्रुति-प्रमाण के अविरोधी जो तार्किक हैं, वे आस्तिक कहे जाते हैं। केवल इनका श्रुति की अपेक्षा अनुमान में विशेष आदर रहता है। इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। 'आस्तिक' शब्द की परिभाषा यही मानी जाती है कि 'अस्ति इति स्थिरा मतिर्यस्य स आस्तिकः', अर्थात्, है, इस प्रकार की स्थिर धारणा जिसकी हो, वही

आस्तिक है। एक बात और ज्ञातव्य है कि जो आस्तिक तार्किक हैं, उनकी श्रद्धा श्रुति के विषय में मन्द ही रहती है। इनकी अपेक्षा भी माहेश्वरों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अत्यन्त मन्द होती है। ये लोग नास्तिकों की तरह ऐसा नहीं कहते कि श्रुति अप्रमाण है, परन्तु उदासीन के जैसा अपने विरुद्ध श्रुति का अर्थ गौण मानकर भी अपने अनुकूल लगाने की चेष्टा नहीं करते। दूसरे शब्दों में, अपने मत के विरुद्ध श्रुति का समन्वय करने की चेष्टा भी नहीं करते। इनकी अपेक्षा नैयायिकों और वैशेषिकों की श्रद्धा श्रुति के विषय में अधिक देखी जाती है। क्योंकि, जो श्रुति इनके मत के विरुद्ध प्रतीत होती है, उसको गौणार्थ मानकर अपने सिद्धान्त के अनुसार श्रुति के अर्थ करने में इनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। श्रुति में मन्द श्रद्धावाले तार्किक सांख्य और पातञ्जल हैं। ये लोग अनुमान से सिद्ध प्रकृति को श्रुति के अनुकूल सिद्ध करने के लिए 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुति को अपने पक्ष के अनुसार योजित करते हैं। नैयायिक आदि की अपेक्षा श्रुति में इनकी अधिक श्रद्धा है।

ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के भेद से श्रुति के द्वैविध्य के कारण श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं। कर्मकाण्ड की अधिकता और ज्ञानकाण्ड की अल्पता के कारण श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म ही है, ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड के अङ्ग होने के कारण कर्म का उपयोगी मात्र होता है। कर्मकाण्ड अङ्ग और ज्ञानकाण्ड अङ्गी, इस प्रकार की जो विपरीत कल्पना करते हैं, वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग की अधिकता दोषावह होती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि कर्मकाण्ड अधिक होने से अङ्गी और ज्ञानकाण्ड अल्प होने से अङ्ग है। इस प्रकार, ज्ञान की अपेक्षा कर्म को ही प्रधान माननेवाले श्रौत मीमांसक कहे जाते हैं। इनसे भिन्न जो वेदान्ती श्रौत हैं, वे ज्ञान की अपेक्षा कर्मकाण्ड की प्रधानता को उचित नहीं समझते। क्योंकि, मनुष्यों की बुद्धि को सन्मार्ग में प्रवृत्त करना ही श्रुतियों का प्रधान ध्येय रहता है। कर्म में तो मनुष्य-मात्र की प्रवृत्ति नैसर्गिक ही है। ज्ञान में बुद्धि को हठात् प्रवृत्त करना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव-सा है। इसलिए जब कर्म और उपासना के द्वारा चित्त की शुद्धि हो जाती है, तभी मनुष्य ज्ञान-मार्ग का अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, कर्मरूपी अङ्ग का ज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्तार होने पर भी कुछ दोष नहीं होता। क्योंकि, फलमुख गौरव दोषावह नहीं होता है—'फलमुखगौरवस्यादोषत्वम्' यह सर्वसिद्धान्त है।

वेदान्तियों में भी दो मत प्रचलित हैं—द्वैतवाद और अद्वैतवाद। माध्वाचार्य और रामानुजाचार्य द्वैतवादी हैं। रामानुजाचार्य यद्यपि चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा को शरीर-शरीरी भाव से अद्वैत मानते हैं, तथापि जीव और परमात्मा में तथा आत्मा और अनात्मा में भेद मानने के कारण द्वैतवादी माने जाते हैं। माध्वाचार्य तो स्पष्ट द्वैतवादी हैं। शङ्कराचार्य अद्वैतवादी हैं, ये विवर्त्तवाद के आधार पर अद्वैतवाद का व्यवस्थापन करते हैं। इसी प्रकार, पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत माने जाते हैं। मालूम होता है, विशिष्ट द्वैत के प्रतिद्वन्द्वी भाव से 'शुद्धाद्वैत' शब्द का प्रयोग किया गया है। पाणिनीय लोग तो विवर्त्तवाद मानते ही हैं, इससे इनके स्पष्ट अद्वैतवादी

होने में सन्देह नहीं है। निम्बार्काचार्य द्वैत और अद्वैत दोनों स्वीकार करते हैं, इसलिए 'द्वैताद्वैतवादी' कहे जाते हैं। इस प्रकार, दार्शनिकों में तारतम्य दिखाकर भारतवर्ष में कितने दार्शनिक हुए, और उनका क्या सिद्धान्त है, इत्यादि बातों के ज्ञान के लिए संक्षेप में उनके परिचय दिये जाते हैं।

भारतीय दर्शनकार

भारतवर्ष में दो प्रकार के दर्शनकार हुए हैं—एक नास्तिक; दूसरा आस्तिक। नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक आध्यक्षिक; दूसरा तार्किक। आध्यक्षिक, जो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, चार्वाक हैं। तार्किक नास्तिकों में भी दो भेद हैं—एक क्षणिकवादी, दूसरा स्याद्वादी। क्षणिकवादी बौद्ध हैं और स्याद्वादी जैन। आस्तिक भी दो प्रकार के हुए हैं—एक निर्गुण आत्मवादी, दूसरा सगुण आत्मवादी। सगुणात्मवादी भी दो प्रकार के हुए हैं—एक तार्किक; दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न तार्किक; दूसरा स्पष्ट तार्किक।

प्रच्छन्न तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक प्रच्छन्न द्वैतवादी, दूसरा स्पष्ट द्वैतवादी। रामानुज-सम्प्रदाय के लोग प्रच्छन्न द्वैतवादी हैं। विशिष्ट अद्वैतवादी जीव और ईश्वर में भेद मानते हैं। माध्व लोग स्पष्ट द्वैतवादी हैं। वे किसी प्रकार भी अद्वैत नहीं मानते। स्पष्ट तार्किक भी दो प्रकार के हैं—एक भोग-साधन अदृष्टवादी, दूसरा उत्पत्ति-साधन अदृष्टवादी। भोग साधन अदृष्टवादी भी दो प्रकार के हैं—एक विदेह मुक्तिवादी, दूसरा जीवन्मुक्तिवादी। विदेह मुक्तिवादी भी दो प्रकार के होते हैं—आत्मभेदवादी और आत्मैक्यवादी। आत्मभेदवादी भी दो प्रकार के हैं—कर्म-निरपेक्ष ईश्वरवादी और कर्म सापेक्ष ईश्वरवादी। कर्म-निरपेक्ष ईश्वरवादी नकुलीश पाशुपत हैं, और कर्म-सापेक्ष ईश्वरवादी शैव हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शी आत्मैक्यवादी हैं। रसेश्वर जीवन्मुक्तिवादी हैं। उत्पत्तिसाधन अदृष्टवादी भी दो प्रकार के हैं—एक शब्द को प्रमाण माननेवाले, दूसरे शब्द-प्रमाण को नहीं माननेवाले। शब्द-प्रमाण को नहीं माननेवाले वैशेषिक, और शब्द-प्रमाण को माननेवाले नैयायिक हैं।

श्रौत भी दो प्रकार के होते हैं—एक वाक्यार्थवादी, दूसरे पदार्थवादी। वाक्यार्थवादी मीमांसक और पदार्थवादी वैयाकरण हैं। निर्गुणात्मवादी भी दो प्रकार के हैं—एक तार्किक, दूसरा श्रौत। तार्किक भी दो प्रकार के हैं—निरीश्वर और सेश्वर। सांख्य निरीश्वरवादी और पातञ्जल सेश्वरवादी हैं। शाङ्कर अद्वैतवादी हैं। इस प्रकार, सत्रह दर्शनकारों का, जिनमें सोलह दर्शनकारों के मत का विवेचन 'सर्वदर्शन' में सायण माधवाचार्य ने भलीभाँति किया गया है, संग्रह संक्षेप में किया गया। इसके बाद कौन दर्शन किस दर्शन की अपेक्षा अभ्यर्हित है, यह दिखाया जायगा।

दर्शन-तारतम्य-विचार

इस विषय में पहले यह बात जान लेनी चाहिए कि विवाद-स्थल में, जिस दर्शन में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व का, जितनी ही अधिक सूक्ष्मेक्षिका बुद्धि से अनुसन्धान किया गया है, वही दर्शन उत्कृष्ट अर्थात् अभ्यर्हित माना जाता है। पूर्व में नास्तिक

और आस्तिक-भेद से दो प्रकार के दर्शन बता चुके हैं। नास्तिकों की अपेक्षा आस्तिक-दर्शन को सब लोग अभ्यर्हित मानते हैं। इसका कारण आगे बताया जायगा। पहले नास्तिकों का तारतम्य बताया जाता है।

नास्तिकों में सबसे स्थूल विचारवाले आध्यक्षिक, अर्थात् चार्वाक माने जाते हैं। कारण यह है कि समस्त सांसारिक व्यवहार का निर्वाहक जो अनुमान है, उसको भी ये लोग प्रमाण नहीं मानते। प्रत्यक्ष से अनुभूयमान जो पृथिवी, जल, तेज और वायु—ये चार तत्त्व हैं, इन्हींको ये लोग मूलतत्त्व मानते हैं। जाल-सूर्य-मरीचि में प्रत्यक्ष दृश्यमान जो रज के कण हैं, वही इनके मत में परमाणु माने जाते हैं। वह अणुत्व की पराकाष्ठा है। इनके मत में प्रत्यक्ष विषय से भिन्न कोई तत्त्व ही नहीं है। इसलिए, सब दर्शनों की अपेक्षा चार्वाक-दर्शन निम्न कोटि का माना जाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मसूत्रकार व्यासदेव ने खण्डनीय मानकर भी इनके मत का उल्लेख नहीं किया। इसीलिए, सब दर्शनकार इनको हेय दृष्टि से देखते हैं। चार्वाकों की अपेक्षा बौद्ध दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि, ये लोग भूतों को मूलतत्त्व न मानकर चार भूतों के परमाणु को ही मूलतत्त्व मानते हैं।

एक बात और है कि बौद्ध लोग जाल-सूर्य की मरीचि में रहनेवाले रज के कणों को ही परमाणु नहीं मानते, जैसा कि चार्वाकों ने माना है, किन्तु उन रजकणों के सूक्ष्म अवयवों को ही ये लोग परमाणु मानते हैं। क्योंकि, मरीचिस्थ जो रज के कण हैं, वे प्रत्यक्ष दृश्यमान होने से संघात-रूप होते हैं, और संघात सावयव ही होता है और जो सावयव होता है, वह परमाणु नहीं हो सकता, इसलिए उनके निरवयव जो अवयव हैं, वे ही परमाणु शब्द के वाच्य हो सकते हैं। सूर्यमरीचिस्थ रज के कणों को अपनी सूक्ष्मेक्षिका से अनुमान द्वारा सावयव अनुसन्धान करने के कारण ही ये लोग चार्वाकों की अपेक्षा अभ्यर्हित माने जाते हैं। ये लोग आकाश को तत्त्वान्तर नहीं मानते। इनका कहना है कि पृथिवी आदि का अभाव-रूप ही आकाश है, भाव-रूप तत्त्वान्तर नहीं है। बौद्धों में भी चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक—इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि, सर्वसाधारण के अनुभवारूढ जो आभ्यन्तर और बाह्य पदार्थ हैं, माध्यमिक लोग शून्य मानकर उनका अपलाप करते हैं। 'सर्वं शून्यं शून्यम्', इनका परम सिद्धान्त है। इनकी अपेक्षा योगाचार का मत श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि, बाह्य घट-पटादि पदार्थों का अपलाप करने पर भी उनके आभ्यन्तर अर्थ को ये लोग मानते हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि आभ्यन्तर जो ज्ञान है, वही बाह्य घट-पटादि के आकार में भासित होता है। इनकी अपेक्षा भी सौत्रान्तिकों का दर्शन श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि ये लोग बाह्य घटादि अर्थ को भी वस्तुतः स्वीकार करते हैं। किन्तु, इनका भी कहना है कि बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान से सिद्ध होने के कारण बाह्य वस्तु अनुमेय ही होती है। इसलिए, वैभाषिकों का मत इनकी अपेक्षा अभ्यर्हित माना जाता है। क्योंकि, वैभाषिक लोग बाह्य अर्थ का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। बाह्य घट, पट आदि अर्थ प्रत्यक्ष हैं—यह आबालवृद्ध सकल जनों का

प्रसिद्ध अनुभव है। इसलिए, बाह्य अर्थ को अप्रत्यक्ष मानना, अथवा असत्य मानना या अनुमेय मानना अथवा आभ्यन्तरार्थ असत्य मानना, यह सब प्रतीति के विरुद्ध होने के कारण परमार्थतः उपेक्ष्य हैं। क्योंकि, कल्पना प्रतीति का अनुसरण करती है, प्रतीति कल्पना का अनुसरण नहीं करती।

इन चार प्रकार के बौद्धों की अपेक्षा जैनों का मत अभ्यर्हित माना जाता है। जैन लोग अपनी सूक्ष्मेक्षिका से आकाश को भी तत्त्वान्तर मानते हैं। बौद्धों की तरह वे आकाश को अभाव-स्वरूप नहीं मानते। बौद्धों की अपेक्षा जैनों में एक विशेषता और भी है कि इन लोगों ने मूलभूत परमाणु एक स्वरूप ही है, इस प्रकार तर्क-बल से अनुसन्धान कर निश्चय किया है। बौद्धों की तरह पृथिवी आदि के भेद से ये चार प्रकार के मूलतत्त्व नहीं मानते। पृथिवी आदि भेद तो पृथिवी से घट आदि की तरह बाद में होता है। इनके मत में किसी वस्तु के सम्बन्ध में, यह ऐसा ही है, इस प्रकार का निश्चय नहीं कर सकते। इनके मत में सब कुछ अनेकान्त अर्थात्, अनिश्चित ही है। इसीलिए ये लोग अनैकान्तिक या स्याद्वादी कहे जाते हैं। इस प्रकार, चर्वाक से जैन-पर्यन्त छह दर्शनों का संक्षेप से तारतम्य दिखाकर आस्तिक दर्शनकारों का भी तारतम्य दिखाया जाता है।

इसके पहले 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दों का वाच्य अर्थ क्या है, इसके ऊपर भी विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। 'अस्ति इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' और 'नास्ति इति मतिर्यस्य स नास्तिकः', इस व्युत्पत्ति से यही अर्थ प्रतीत होता है कि 'अस्ति'— अर्थात् है, इस प्रकार जिसकी मति है, वह आस्तिक और 'नास्ति' नहीं है, इस प्रकार की जिसकी मति है, वह नास्तिक कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यही नास्तिक और आस्तिक शब्दों का वाच्य अर्थ है। परन्तु ऐसा अर्थ करने पर भी सन्देह बना ही रहता है कि 'अस्ति' का कर्त्ता कौन है ! 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः'—इस सूत्र में, जिससे आस्तिकः, नास्तिकः, दैष्टिकः, इन प्रयोगों की सिद्धि होती है, निर्दिष्ट मति को ही यदि कर्त्ता मान लें, तब तो यह अर्थ होगा कि मति है जिसकी, वह आस्तिक और मति नहीं है जिसकी, वह नास्तिक। इस स्थिति में चोर आदि भी आस्तिक कहाने लगेंगे। केवल पाषाण आदि अचेतन ही नास्तिक होंगे, जिनकी मति नहीं है। इसी दोष का वारण करने के लिए पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—'इति लोपोऽत्र द्रष्टव्यः', अर्थात् सूत्र में 'इति' शब्द भी है, जिसका लोप हुआ है। इस, 'इति' शब्द के स्मरण से यह अर्थ होता है कि अस्ति, है, इति, इस प्रकार की मति बुद्धि है जिसकी, वह आस्तिक है और इसके विपरीत नास्तिक। इतने पर भी सन्देह रह जाता है कि अस्ति का कर्त्ता कौन है ! यदि लौकिक दृश्यमान घट, पट आदि पदार्थों को ही 'अस्ति' का कर्त्ता मान लें, तब तो सब लोग ही आस्तिक हो जायँगे, नास्तिक कोई नहीं होगा; क्योंकि, लौकिक पदार्थों का अस्तित्व सभी कोई मानते हैं। इसलिए, अस्ति का कर्त्ता लौकिक पदार्थ कभी नहीं हो सकता, बल्कि परलोक या पारलौकिक पदार्थ ही अस्ति का कर्त्ता हो सकता है। इसी अभिप्राय से

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैयट ने स्पष्ट लिखा है—'परलोककर्तृका सत्ताऽत्र ज्ञेया'—अर्थात् इस अस्ति का कर्त्ता परलोक ही हो सकता है, दूसरा नहीं।

इससे यही सिद्ध होता है कि परलोक है, इस प्रकार की मति हो जिसकी, वह है आस्तिक और परलोक नहीं है, इस प्रकार जिसकी मति हो, वह है नास्तिक। इस प्रकार अर्थ करने से परलोक नहीं माननेवाले चार्वाक आदि छह दर्शनकार नास्तिक कहे जाते हैं और इनके अतिरिक्त सब दर्शनकार, परलोक की सत्ता मानते हैं, जो आस्तिक कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भूत और भौतिक जितने प्रतीयमान पदार्थ हैं, उनके अस्तित्व में तो किसी का भी विवाद नहीं है। इसलिए, उसको यदि अस्ति का कर्त्ता मानते हैं, तब तो 'नास्तिक' शब्द का कोई भी विषय नहीं रह जायगा। क्योंकि, भौतिक पदार्थों को नहीं माननेवाला कोई भी चार्वाक आदि में नहीं है। इसलिए दृश्यमान पदार्थों से भिन्न अदृश्यमान परलोक ही अस्ति का कर्त्ता सम्भावित है।

अथवा 'अस्ति, नास्ति' इत्यादि सूत्र में अस्ति का कर्त्ता भी अस्ति ही हो सकता है। अर्थात्, सूत्र में अस्ति पद की आवृत्ति से अस्ति; अर्थात् त्रिकालाबाध्य सत् पदार्थ, अस्ति, अर्थात् है, ऐसी मति हो जिसकी, वह है आस्तिक। इसके विपरीत है नास्तिक।

त्रिकालाबाध्य, अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो, ऐसे सत् पद के अर्थ में 'अस्ति' अव्यय प्रसिद्ध है। 'अस्ति क्षीरा गौः' इस उदाहरण में अस्ति का विद्यमान ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इस पाणिनि-सूत्र में भी अलुप्य-मानार्थक अस्ति का प्रयोग किया गया है। श्रुति-स्मृति-लोक-व्यवहार से भी यही प्रतीत होता है कि परलोक, ईश्वर, वेद का प्रामाण्य माननेवाले ही आस्तिक कहे जाते हैं, और नहीं माननेवाले नास्तिक। अब पूर्व प्रतिज्ञात आस्तिकों में तारतम्य दिखाया जाता है।

आस्तिक-दर्शन

आस्तिकों के दो भेद पहले ही बताये जा चुके हैं—एक श्रौत दूसरा तार्किक। जो मूलतत्त्व के अनुसन्धान में श्रुति को ही प्रधान साधन मानते हैं, वे श्रौत कहे जाते हैं। जो दार्शनिक तर्कोपस्कृत अनुमान को ही मूलतत्त्व के अन्वेषण में प्रधान साधन मानते हैं, वे तार्किक कहे जाते हैं। तार्किकों की अपेक्षा श्रौत दर्शनकार अभ्यर्हित माने जाते हैं, और तार्किक निम्न कोटि के। इसका कारण यही है कि अतिसूक्ष्म मूलतत्त्व के विषय में, यह ऐसा ही है, इस प्रकार का निश्चय केवल तर्क की सहायता से कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि, 'तर्कोऽप्रतिष्ठः', तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। कारण यह है कि मनुष्य-बुद्धि के अनुसार ही तर्क हुआ करता है। बुद्धि में तारतम्य होने के कारण एक तर्क दूसरे तर्क से कट जाता है। श्रुति में यह बात नहीं है। अपौरुषेय या ईश्वर-प्रणीत श्रुति में मनुष्योचित दोष की सम्भावना ही नहीं है। विशेषतः अदृष्ट पदार्थों के विषय में श्रुति ही मार्ग-प्रदर्शिका होती है। तर्क से सत्य मूलतत्त्व का ही अनुसन्धान होगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। एक बात और भी कह सकते हैं कि मनुष्य की बुद्धि की सीमा होती है, और जिसकी सीमा नहीं है, उस

निस्सीम आत्मतत्त्व या ईश्वर-तत्त्व के ज्ञान कराने में अनुमान किसी प्रकार भी सफल नहीं हो सकता, जबतक श्रुति का प्रकाश नहीं मिलता।

आस्तिक दर्शनकारों में यद्यपि कोई भी श्रुति को अप्रमाण नहीं मानता, पर तोभी कोई श्रुति को मुख्य और तर्क को गौण मानता है, और कोई तर्क को ही मुख्य और श्रुति को गौण मानता है। जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा है, वह उसी को प्रधान मानता है, इतर को गौण। रामानुजाचार्य और माध्वाचार्य श्रुति को पूर्ण प्रमाण मानते हैं, परन्तु कहीं अनुमान को भी अधिक प्रश्रय देते हैं। रामानुजाचार्य का यह सिद्धान्त प्रतीत होता है कि श्रुति से सिद्ध जो अर्थ है, वह अनुमान से भी अवश्य सिद्ध होता है। इन्होंने कहीं पर भी श्रुति की अवहेलना नहीं की है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' के टीकाकार विद्वत्प्रकाण्ड अभ्यङ्कर जी ने अपनी भूमिका में प्रच्छन्न तार्किक कहकर रामानुजाचार्य की जो अवहेलना की है, वह उसी प्रकार है, जिस प्रकार प्रच्छन्न बौद्ध कहकर शङ्कराचार्य की अवहेलना की गई है। वास्तव में, रामानुजाचार्य उसी प्रकार मान्य और अभ्यर्हित हैं, जिस प्रकार शङ्कराचार्य। इसलिए, सब दर्शनों की अपेक्षा जिस प्रकार शाङ्कर दर्शन अभ्यर्हित और मूर्धन्य माना जाता है, उसी प्रकार रामानुज-दर्शन भी मूर्धन्य और अभ्यर्हित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। दो-एक विषयों में शाङ्कर दर्शन और रामानुज-दर्शन में गहरा मतभेद पाया जाता है। इसी के कारण दोनों के अनुयायियों ने परस्पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया है। वास्तव में यह उचित नहीं है। उचित तो यह था कि दोनों मिलकर परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते।

प्रकृत में, आस्तिक दर्शनों में श्रुति को अप्रमाण किसी ने भी नहीं माना है, यह पहले भी बताया जा चुका है। तोभी मूलतत्त्व के अन्वेषण में किसी ने श्रुति के ही आधार पर अनुसन्धान किया है, और किसी ने श्रुति की सहायता से अनुमान के द्वारा। और, किसी ने श्रुति की सहायता न लेकर भी केवल अनुमान के द्वारा ही मूलतत्त्व का अनुसन्धान किया है। इस प्रकार, माहेश्वर दर्शनकारों ने अनुमान के बल पर ही मूलतत्त्व का अन्वेषण किया है। माहेश्वरों में भी चार भेद पाये जाते हैं—शैव, नाकुलीश पाशुपत, प्रत्यभिज्ञावादी और रसेश्वरवादी। इन लोगों में प्रायः बहुत ऐकमत्य है, और भेद बहुत कम। रसेश्वरवादी जीवन्मुक्ति में बहुत अभिनिविष्ट हैं। प्रत्यभिज्ञावादी जीव और ईश्वर में भेद नहीं मानते। अर्थात्, दोनों को एक ही मानते हैं। नकुलीश पाशुपत, जगत् की सृष्टि में ईश्वर को कर्म-सापेक्ष नहीं मानते। क्योंकि, कर्म-सापेक्ष मानने पर ईश्वर की स्वतन्त्रता ही नष्ट हो जाती है। परन्तु, कर्म-सापेक्ष न मानने से ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोष हो जाते हैं, इसलिए कर्म-सापेक्ष ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

इन चार प्रकार के माहेश्वरों में तत्त्वों के विषय में प्रायः ऐकमत्य रहता है। केवल इनमें नकुलीश पाशुपत ईश्वर को कर्म-निरपेक्ष मानते हैं। अर्थात्, सृष्टि में परमात्मा स्वतन्त्र है, वह कर्म की अपेक्षा नहीं रखता, यह इनकी मान्यता है। इनके अतिरिक्त और लोग ऐसा नहीं मानते। प्रत्यभिज्ञावादी से भिन्न माहेश्वरानुयायी जीव

और ईश्वर में भेद मानते हैं। इन लोगों में तारतम्य नहीं के बराबर है। इनके अतिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य और पातञ्जल हैं, वे यद्यपि तार्किक ही हैं, तथापि माहेश्वरों की अपेक्षा इनकी श्रुति में विशेष श्रद्धा रहती है। इसलिए, माहेश्वरों की अपेक्षा ये अभ्यर्हित माने जाते हैं।

वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा न्याय-दर्शन को ही लोग अभ्यर्हित मानते हैं। क्योंकि, वैशेषिक लोग शब्द को प्रमाण नहीं मानते। इनका कहना है कि श्रुति का प्रामाण्य तो अनुमान से ही सिद्ध किया जाता है। इसलिए, अनुमान में ही श्रुति गतार्थ है। केवल अनुमान का साधनीभूत जो अर्थ है, उसी को श्रुति उपस्थापित करती है। इसलिए, शब्द इनके मत में स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जाता। नैयायिकों के दर्शन में शब्द को भी स्वतन्त्र प्रमाणान्तर माना गया है। वैशेषिकों की अपेक्षा श्रुति में अधिक श्रद्धा रखने के कारण ही न्याय-दर्शन को अभ्यर्हित माना गया है। उक्त चार माहेश्वरों से न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग-दर्शन अभ्यर्हित माना जाता है। इसका कारण तो बता ही चुके हैं। अब न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा सांख्य-योग को अभ्यर्हित माना जाता है, इसका कारण क्या है, यह विचार करना है। नैयायिक और वैशेषिक ने अनुमान के बल से जगत् का मूल कारण परमाणु को स्थिर किया है, परन्तु परमाणु का भी कोई कारण है, यह बात इनके अनुमान में नहीं आई। सांख्य और पातञ्जल ने अनुमान से ही परमाणु के भी कारण, त्रिगुणात्मक प्रकृति, को खोज निकाला। यहाँ तक नैयायिकों और वैशेषिकों की पहुँच नहीं हो पाई थी। इसीलिए, सांख्य-पातञ्जल की अपेक्षा इनका दर्शन निम्नकोटि का माना जाता है।

सांख्य और पातञ्जल परमाणु को भी अनित्य मानते हैं और अनुमान के ही बल से उन्होंने त्रिगुणात्मक प्रकृति को जगत् का मूल कारण स्थिर किया है। इसके अतिरिक्त ये लोग आत्मा को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को जड़ ही मानते हैं। यह पहले भी बताया गया है। इन्हीं सब कारणों से सांख्य और पातञ्जल-दर्शन को नैयायिक और वैशेषिक-दर्शन की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। पाणिनीय और जैमिनि-दर्शन विशुद्ध श्रौत-दर्शन हैं, इसलिए उनकी अपेक्षा इनको अभ्यर्हित माना जाता है। नैयायिकों की अपेक्षा तत्त्व के अनुसन्धान में भी ये लोग आगे बढ़े हैं। क्योंकि, आकाश से भी परे आकाश के कारणीभूत शब्द-ब्रह्म का इन लोगों ने अनुसन्धान किया है।

पृथिवी, अप्, तेज और वायु के जो परमाणु हैं, उनमें क्रमशः पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तरोत्तर परमाणुओं के कारणत्व का पाणिनीयों और जैमिनियों ने स्वीकार किया है। नैयायिक लोग तर्क के बल से तत्त्व का अनुसन्धान करते हुए भी परमाणु के कारण का अनुसन्धान नहीं कर सके, प्रत्युत परमाणु को नित्य ही मानते हैं। इनमें भी जैमिनियों की अपेक्षा पाणिनीय अभ्यर्हित माने जाते हैं। कारण यह है कि जैमिनियों का उपजीव्य व्याकरण ही है। क्योंकि, व्याकरण से सिद्ध प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का अवलम्बन कर जैमिनीय केवल वाक्यार्थ का ही विचार करते हैं। और भी, व्याकरण की पवित्रता के विषय में इन्होंने अपना विचार स्पष्ट अभिव्यक्त किया है—

पृथिवी पर सबसे पवित्र जल है, जल से भी पवित्र मन्त्र हैं और ऋग्, यजु, साम इन त्रिवेदी मन्त्रों से भी पवित्र व्याकरण है। यथा—

'आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमञ्च मन्त्राः।
तेषाञ्च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥'

वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी व्याकरण को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बताया है—'तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते।'

सांख्यशास्त्र की भी अपेक्षा व्याकरण-दर्शन अभ्यर्हित है। इसका कारण यही है कि सांख्य लोग अचेतन प्रकृति को ही मूल-कारण मानते हैं और व्याकरण-दर्शन शब्द-ब्रह्म को, जिसको स्फोट ब्रह्म भी कहते हैं, मूल-कारण मानता है। यह शब्द-ब्रह्म चेतन और कूटस्थ नित्य है, इसी का विवर्त्त अखिल प्रपञ्च है। यह शब्द-ब्रह्म प्रकृति से भी परे अनादि और अनन्त है। यही शब्द-ब्रह्म, जिसको स्फोट कहते हैं, शक्ति-प्रधान होने से वाङ्मय जगत् का और शक्य (शक्त)-प्रधान होने से अर्थमय जगत् का विवर्त्तोपादान होता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्पष्ट लिखा है—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'

यहाँ शब्द को चेतन कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द चेतन है। शङ्कराचार्य का विवर्त्तवाद भी इनका अभिमत है। वास्तव में शाङ्कर दर्शन और व्याकरण-दर्शन दोनों समकक्ष हैं। इनमें तारतम्य नहीं है। सर्वदर्शन-संग्रह की भूमिका में पण्डितप्रवर अभ्यङ्करजी ने सांख्य-दर्शन से व्याकरण-दर्शन को निम्न कोटि का बताया है, यह सर्वथा अनुचित और स्फोट-तत्त्व के अनभिज्ञत्व का परिचायक है।

इस विषय के अधिक जिज्ञासुओं को हमारा 'शब्द-सृष्टि-विमर्श' (स्फोटवाद) देखना चाहिए। एक बात प्रायः निर्विवाद-सी है कि आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन, जो विवर्त्तवाद को मानता है, सब दर्शनों का मूर्धन्य श्रौत दर्शन है। इस स्थिति में चार्वाक से लेकर अन्य सब दर्शनों में, जो दर्शन शाङ्कर दर्शन के जितने प्रत्यासन्न अर्थात् नजदीक है, वह उतना ही अभ्यर्हित माना जाता है। शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्त्तवाद है। विवर्त्तवाद आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न, अक्षणिक, कूटस्थ, नित्य, निर्विकार, बोधस्वरूप, अवाङ्मनसगोचर, ईश्वर, ब्रह्मादि-पदवाच्य, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-रहित, असङ्ग और निर्विशेष मानता है। इस स्थिति में, शाङ्कर दर्शन के सबसे नजदीक व्याकरण-दर्शन ही आता है। इसका कारण यही है कि शङ्कराचार्य का मुख्य सिद्धान्त विवर्त्तवाद है। व्याकरण-दर्शन से भिन्न कोई भी दर्शन विवर्त्तवाद का समर्थन नहीं करता है। आत्मा के कूटस्थ नित्यत्व आदि के विषय में भी यही बात है। सांख्य-दर्शन ने तो विवर्त्तवाद के प्रतिकूल परिणामवाद को ही माना है। इसके अतिरिक्त शाङ्कर मत के विरुद्ध आत्मा में परस्पर भेद भी माना है। इसलिए भी, सांख्य-दर्शन को, शाङ्कर दर्शन के सिद्धान्त के समीप होने से, व्याकरण-दर्शन की अपेक्षा जो श्रेष्ठ बताया गया है, वह भी सर्वथा अनुचित है। बल्कि, यह कहने में भी

कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती कि शङ्कराचार्य का जो विवर्त्तवाद मुख्य सिद्धान्त है, उसका उपजीव्य व्याकरण-दर्शन ही है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शाङ्कर दर्शन का व्याकरण-दर्शन के साथ जितना सामञ्जस्य है, उतना और किसी के साथ नहीं। परन्तु, आत्ममीमांसा के विषय में शाङ्कर दर्शन सबसे बाजी मार ले जाता है, जब कि व्याकरण-दर्शन का मुख्य उद्देश्य पदार्थ-मीमांसा ही है।

शास्त्रकारों का उद्देश्य

प्रायः सब शास्त्रकारों का उद्देश्य साक्षात् या परम्परया अद्वैत ब्रह्म के बोध कराने में ही सफल होता है। क्योंकि, शास्त्रकार लोग साधारण जन की तरह भ्रान्त नहीं होते। स्वभावतः लोगों की उन्मार्ग में प्रवृत्ति होती रहती है, उसके वारण के लिए ही शास्त्र की रचना में उनकी प्रवृत्ति होती है। यह समान उद्देश्य सब शास्त्रकारों का है। बादरायण और जैमिनि प्रभृति सूत्रकारों और शङ्कराचार्य, शबरस्वामी आदि भाष्यकारों की भी शास्त्र-रचना में इसी उद्देश्य से प्रवृत्ति हुई है।

अद्वैत-मत में कर्म की अपेक्षा

कोई-कोई सन्देह करते हैं कि शङ्कराचार्य नास्तिकों की तरह कर्म के विरोधी हैं, परन्तु उनका यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि चित्त-शुद्धि के लिए वे कर्म को अवश्य कर्त्तव्य मानते हैं। इनके कहने का तात्पर्य यही होता है कि चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से ही होती है, सकाम कर्म से नहीं। कारण यह है कि सकाम कर्म से चित्त में राग ही पैदा होता है। और राग एक प्रकार का मल ही है, इसलिए सकाम कर्म से चित्त निर्मल कभी नहीं हो सकता। इसलिए निष्काम कर्म ही, चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है। यदि यह कहें कि निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता को वे स्वीकार करते हैं, तो निष्कर्मवादी क्यों कहे जाते? इसका उत्तर यही हो सकता है कि कर्म का त्याग करना चाहिए, इस बुद्धि से कोई भी कर्म का त्याग नहीं करता, किन्तु निद्रावस्था में स्वभाव से ही कर्म का त्याग हो जाता है। वहाँ किसी का भी यह सङ्कल्प नहीं होता कि मैं कर्म का त्याग करता हूँ और, वह कर्म-त्याग के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करता है।

किन्तु, कर्म का बीज जो देहाभिमान है, उसका अभाव हो जाने पर स्वभाव से ही उस समय कर्म का त्याग हो जाता है। उस समय मनुष्य कर्म को नहीं छोड़ता, किन्तु कर्म ही मनुष्य को छोड़ देता है, इसीका नाम नैष्कर्म्यावस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म की अवश्यकर्त्तव्यता का विधान आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है—'कण्टकं कण्टकेन विशोधयेत्'; इसी प्रकार निष्काम कर्म के द्वारा ही देहाभिमान को हटाया जा सकता है, जिससे नैष्कर्म्यावस्था की प्राप्ति सम्भव है। इस अवस्था की प्राप्ति-पर्यन्त निष्काम कर्म की परम आवश्यकता होने के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म में ही प्रवृत्त कराया है। एक बात और भी ध्यान में रखना चाहिए कि केवल निष्काम

कर्म से ही मनुष्य-जीवन की कृतार्थता नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञान में ही कृतार्थता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते।'

हे अर्जुन ! समस्त कर्म ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। तात्पर्य यही है कि समस्त कर्त्तव्य कर्मों का फल आत्मा का ज्ञान ही होता है। जब निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि होती है, उस समय अधिकार-प्राप्ति के बाद आत्मज्ञान की ओर मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वयम् आगे बढ़ने लगती है। इसी उद्देश्य से भगवान् ने गीता में कहा है—'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।' अर्थात्, चित्त-शुद्धि के बाद आत्मज्ञान का अधिकार प्राप्त होने पर इसी जन्म में या जन्मान्तर में मैं स्वयम् या अन्य कोई भी गुरु तुझे आत्म-ज्ञान का उपदेश करेगा ही। यद्यपि भगवान् जानते थे कि विना आत्म-ज्ञान की कृतार्थता नहीं होती, तथापि अर्जुन को निष्काम कर्म में प्रवृत्त कराया ही। इसी प्रकार, शास्त्रकारों ने भी उन सब विभिन्न तत्त्वों का इसी प्रकार से प्रतिपादन किया है कि तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर आत्मज्ञान के अधिकार की प्राप्ति हो जायगी। परन्तु, विभिन्न तत्त्वों के ज्ञान से कृतार्थता हो जायगी, यह आचार्यों का अभिप्राय नहीं है। मनुष्यों की उन्मार्ग में जो नैसर्गिक प्रवृत्ति होती रहती है, उसको रोकने के लिए ही विभिन्न लोक-बुद्धि के अनुसार जो कर्त्तव्य उनके विशुद्ध हृदय में भासित हुए, उन्हीं के अनुसार अपने-अपने शास्त्रों की रचना आचार्यों ने की है।

जिस प्रकार, अनेक रोगों से ग्रस्त किसी रोगी को देखकर चतुर चिकित्सक यही सोचता है कि ये सब रोग अवश्य निवारणीय हैं, पर एक ही औषध से सब रोग नहीं छूट सकते, और अनेक औषधों का एक काल में प्रयोग भी नहीं हो सकता। कारण, उससे अनिष्ट की सम्भावना है। इसलिए, किसी एक प्रधान रोग के निवारण के लिए ही यत्न करना चाहिए। यह सोचकर अवश्यनिवारणीय किसी प्रधान रोग के लिए ही औषध देता है और अन्य रोगों के निवारण में वह उदासीन रहता है, इसीसे यह नहीं समझना चाहिए कि और अन्य रोगों के निवारण में वैद्य का तात्पर्य नहीं है। किन्तु, प्रधान रोग के निवारण करने पर औरों का उपचार किया जायगा, यही उसका अभिप्राय रहता है। अतएव, सब रोगों के निवारण में ही वैद्य का तात्पर्य समझा जाता है।

इस प्रकार, प्रकृत में भी, सब शास्त्रकारों का यह तात्पर्य अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही समझा जाता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अपने 'प्रधानभेद' में स्पष्ट लिखा है—

'सर्वेषां मुनीनां विवर्त्तवाद एव पर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव तात्पर्यम्। नहि ते मुनयो भ्रान्ताः। सर्वज्ञत्वात्तेषाम्। किन्तु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवति, इति तेषां नास्तिक्यवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः।'

तात्पर्य यह है कि सब मुनियों का विवर्त्तवाद में ही अन्तिम निर्णय है, इसलिए अद्वितीय परमात्म-तत्त्व के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य समझना चाहिए। वे मुनि लोग भ्रान्त नहीं थे। क्योंकि, वे सर्वज्ञ थे। किन्तु, बाह्य विषयों में नैसर्गिक प्रवृत्ति के

कारण मनुष्यों का मन सहसा परम पुरुषार्थ में प्रवेश नहीं कर सकता, अतएव उनके नास्तिक्य-वारण के लिए शास्त्रकारों ने प्रस्थान-भेद को दिखलाया है। उन शास्त्रकारों के तात्पर्य को नहीं समझने के कारण ही, वेदविरुद्ध अर्थ में ही उनका तात्पर्य समझकर, उसी को उपादेय मानकर ये अनेक विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। यह सर्वसिद्धान्तसिद्ध है कि वेदान्त ही सब शास्त्रों में मूर्धन्य है और सब उसी का प्रपञ्च है। श्रीसरस्वती ने ही कहा है—

'वेदान्तशास्त्रमेव सर्वेषां शास्त्राणां मूर्धन्यम्, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतम्।'

सूत्रकार का श्रौतत्व

वेदान्त-शास्त्र के मूर्धन्य होने में यही कारण है कि ब्रह्मसूत्र के प्रणेता बादरायण परम श्रौतप्रवर थे। मूल कारण के अनुसन्धान में श्रुति के अतिरिक्त और किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते थे। वह समझते थे कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तर्क मनुष्य-बुद्धि के अधीन है, और मनुष्य-बुद्धि सीमित है, इसलिए अत्यन्त अदृष्ट निस्सीम ब्रह्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने के लिए बिना श्रुति की सहायता के वह कभी समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए, 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इस सूत्र की रचना बादरायण ने की है। इस सूत्र के बनाने में इनका यही अभिप्राय सूचित होता है कि वास्तविक तत्त्व-ज्ञान के लिए श्रुति-प्रमाण पर ही ये निर्भर हैं। सूत्र का अर्थ यह होता है कि जगत् के मूलतत्त्व का ज्ञान एक श्रुति-प्रमाण से ही साध्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत्कारण के स्वरूप-ज्ञान के लिए श्रुति का निर्णय ही सर्वमान्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह होता है कि श्रुतिप्रतिपादित मूलतत्त्व का स्वरूप यदि लौकिक युक्ति से विरुद्ध हो, तोभी उसको अदेय मानना चाहिए। ऐसे स्थलों में युक्ति या तर्क की उपेक्षा ही आवश्यक है। इसीमें श्रौतों का श्रौतत्व है। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य और पूर्णप्रज्ञाचार्य—इन तीनों प्रधानाचार्यों के मत से भी सूत्र का यही भाव निकलता है। इन तीनों में भेद इतना ही है कि शङ्कराचार्य अद्वैत और द्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय विवर्त्तवाद मानकर करते हैं। और, रामानुजाचार्य शरीर-शरीरी-भाव मानकर विशिष्ट अद्वैत में श्रुति का तात्पर्य बताते हैं। इसी प्रकार पूर्णप्रज्ञाचार्य द्वैत में और निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत में श्रुति का समन्वय करते हैं।

परन्तु, शङ्कराचार्य के विवर्त्तवाद में श्रुतियों का सामञ्जस्य जिस प्रकार सुगमता से होता है, उस प्रकार और दार्शनिकों के मत में नहीं होता। कोई तो श्रुति को गौण मानते हैं, और कोई खींच-तानकर अपने पक्ष में अर्थ लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु, शङ्कराचार्य ने बुद्धिमान् तार्किकों का भी श्रुति में विश्वास दृढ़ कराने के लिए, विरोध का परिहार किस प्रकार होगा, यह आक्षेप कर विवर्त्तवाद में सब विरोधों का परिहार सफलतापूर्वक किया है। लोक में भी रज्जु, सर्प आदि विवर्त्त-स्थल में वास्तव में सर्प नहीं रहता और भय वास्तव में होता है। इस प्रकार, परस्पर दोनों अर्थ, सर्पाभाव और भय, का सामञ्जस्य रहता ही है। सायणाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में

स्पष्ट लिखा है कि 'न हि श्रुतिविप्रतिपन्नेऽर्थे वैदिकानां बुद्धिः खिद्यते, अपि तु तदुपपादन-मार्गमेव विचारयन्ति।' अर्थात्, श्रुतिप्रतिपादित अर्थ के युक्ति-विरुद्ध होने से वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती, किन्तु वह उसके उपपादन-मार्ग का ही विचार करती है। इस दिशा म शङ्कराचार्य का श्रौतत्व पराकाष्ठा को पहुँचा-सा प्रतीत होता है। विवर्त्तवाद के अङ्गीकार करने पर, प्रतीयमान जो भेद है, वह अविद्या-कल्पित सिद्ध हो जाता है। अविद्या-कल्पित होने से ही भेद को आविद्यक भी कहते हैं। इस स्थिति में 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यह छान्दोग्य श्रुति, विना सङ्कोच के सुगमता से उपपन्न हो जाती है। इसी बात को सायणाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में लिखा है—'तस्मादाविद्यको भेदः श्रुताद्वितीयत्वोप-पादनाय अभिधीयते, न तु व्यसनितया', अर्थात् ब्रह्म की श्रुति-प्रतिपादित अद्वितीयत्व की उपपत्ति के लिए ही भेद को 'आविद्यक' माना गया है, कुछ व्यसनिता के कारण नहीं।

विवर्त्तवाद के स्वीकार करने से निर्विशेष ब्रह्मवाद, नैष्कर्म्यवाद, जगन्मिथ्यात्ववाद, केवल ज्ञान से मोक्ष, मोक्ष में सुख-दुःख-राहित्य, ब्रह्म का ज्ञान-स्वरूपत्व, ज्ञान का एकत्व और नित्यत्व, अविद्योपहित ब्रह्म का कारणत्व, ईश्वर-जीव में औपाधिक भेद और मायावाद इत्यादि वाद जो शाङ्कर दर्शन में प्रसिद्ध हैं, ये सभी सरलता से उपपन्न हो जाते हैं, और श्रुति का स्वारसिक जो अर्थ है, वह भी सरलता से उपपन्न हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि श्रुति के अर्थ को सरलता से उपपन्न होने के लिए ही शङ्कराचार्य ने उक्त वादों को स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि श्रुति के श्रवण-मात्र से स्पष्ट प्रतीयमान जो अर्थ हैं, उनकी सङ्गति, विवर्त्त आदि वादों के स्वीकार करने में ही हो सकती है। अन्यथा, श्रुति को गौणार्थ मानना आवश्यक हो जायगा। अतएव, सूत्रकार श्रौतों में अग्रगण्य हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

भाष्यकार की प्रवृत्ति

यह बता चुके हैं कि सूत्रकार भगवान् बादरायण श्रौतों में अग्रणी हैं। इनके सूत्रों के व्याख्यान में प्रवृत्त जो भाष्यकार हैं, उनको चाहिए कि सूत्रों की व्याख्या ऐसी करें कि सूत्रकार के श्रौतत्व में बाधा न आवे। अर्थात्, उनके श्रौताग्रणी होने में व्याघात न हो। जितने श्रौत दर्शनकार हैं, वे सभी, श्रुति के श्रवण-मात्र से प्रतीयमान जो स्वारसिक अर्थ है, उसकी उपेक्षा नहीं करते। बल्कि, उसके समर्थन के लिए ही प्रयत्न करते हैं। सामान्य अर्थ भी जो श्रुति से अभिहित होता है, उसकी भी उपेक्षा श्रौत लोग नहीं करते, और स्वारसिक अर्थ के विषय में तो कहना ही क्या है। यदि व्यञ्जना-वृत्ति से लब्ध जो व्यंग्य अर्थ है, उसका श्रुत्यन्तर से विरोध न हो, तो उस विषय में भी उनकी वही विचार-धारा रहती है। यदि श्रुत्यन्तर से विरोध हो, तो दुर्बल श्रुति का दूसरे अर्थ में तात्पर्य समझा जाता है।

श्रुतियों का बलाबल-विचार

कौन श्रुति दुर्बल है, और कौन प्रबल, इस विषय में विचार किया जाता है। श्रुति के पाँच प्रकार के अर्थ होते हैं—व्यंग्य, लक्ष्य, वाच्य, प्राथमिक और स्वारसिक। इन पाँचों में उत्तरोत्तर अर्थ की बोधिका जो श्रुति है, वह प्रबल समझी जाती है। और,

पूर्वार्थबोधिका जो श्रुति है, वह दुर्बल समझी जाती है। इनमें व्यंग्य, लक्ष्य और वाच्य तो प्रसिद्ध ही हैं। प्राथमिक और स्वारसिक, ये दोनों वाच्यविशेष ही हैं। जो अर्थ वाक्य-श्रवण-मात्र से ही बुद्धि पर आरूढ हो जाय, वही प्राथमिक है। और जो अर्थ प्रकृति-प्रत्यय के विशेषालोचनपूर्वक उसी वाक्य के श्रवण-समय में प्रतीयमान हो, वह स्वारसिक कहा जाता है। इसी प्राबल्य-दौर्बल्य-भाव का अनुसरण कर उपक्रम, परामर्श और उपसंहार के अनुरोध से सूत्रकार भगवान् बादरायण ने समन्वयाध्याय में श्रुतियों का समन्वय दिखाया है। अब सूत्र के व्याख्यान में प्रवृत्त भाष्यकार और वृत्तिकार का भी यही कर्त्तव्य हो जाता है कि इस तत्त्व की उपेक्षा न करें। अर्थात्, श्रुति के प्राबल्य-दौर्बल्य-भाव के अनुसार और उपक्रम आदि के अनुरोध से ही सूत्रों का भाष्य या वृत्ति करना भाष्यकार या वृत्तिकार का परम कर्त्तव्य हो जाता है।

इन उपर्युक्त बातों के ऊपर ध्यान देकर यदि सब भाष्यों को देखा जाय, तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शाङ्कर दर्शन सब दर्शनों में मूर्धन्य है। एक बात और है कि सूत्रधार ने सब श्रुतियों का समन्वय नहीं किया है, किन्तु किसी-किसी श्रुति का अनुसन्धान कर इसी प्रकार समन्वय करना चाहिए। इसी समन्वय मार्ग के अनुसार वादग्रस्त विषयों में उन विषयों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का एकत्र संकलन करना चाहिए। इसके बाद उन श्रुतियों की एकवाक्यता से पूर्वापर-संदर्भ के अनुसार ही विवादग्रस्त विषयों का निर्णय करना चाहिए। इससे भिन्न प्रकार के निर्णय करने में वास्तविकता का अभाव हो रहता है। इसलिए, वादग्रस्त कुछ विशेष विषयों में कुछ श्रुतियों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है, अतएव, मोक्षावस्था को प्रतिपादित करनेवाली कुछ श्रुतियों का संग्रह किया जाता है—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥' (ईशो० ७; बृ० आ० १।५।७)
'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। (केन० १२)
'निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (का० ३।१५)
'यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥' (कठ० ३।१८)
'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥' (कठ० ४।१५)
'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (कठ० ६।१४ बृ० आ० ४।४।७)
'स विशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।' (मां० १२)
'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' (मुं० ३।२।८)
'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं पुरुषमुपैति।' (मुं० ३।१।३)
'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥' (मुं० २।२।८)
'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।' (मुं० ३।२।९)

'यो वेदनिहितं गुहायां परमेव्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।' (तै० २।१।१)
'तरति शोकमात्मवित् ।' (छां० ७।१।३)
'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।' (छां० ८।१२।१)
'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ।' (बृ० ४।४।२५)
'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।' (बृ० ४।४।६
'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् ।' (बृ० २।४।१४)
'अभयं वै जनकं प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४)
'तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशाँश्छिनत्ति ।' (श्वे० ४।१५)
'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।' (श्वे० १।१५)
'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।' (श्वे० ३।८)
'यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् । स इदं सर्वं भवति ।' (बृ० १।१।४।१०)
'तदक्षरं वेदयते यस्तु स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ।' (प्र० ४।११)
'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः ।' (कै० ११)
'तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः विमुच्यते ।' (कै० १०)
'परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद ।' (नृ० ५)
'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।' (म० ना० १।११)
'तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।' (नृ० पू० १।६)
'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति ।' (कै० ६)
'छिन्नपाशस्तया जीवः संसारं तरते सदा ।' (क्षु० १२)
'छित्वा तन्तुं न बध्यते ।' (क्षु० २४)

चार अर्थ

मोक्षावस्था का प्रतिपादन करनेवाली ये ही प्रधान श्रुतियाँ हैं, इनसे भिन्न बहुत-सी श्रुतियाँ और भी हैं, जो मोक्षावस्था का प्रतिपादन करती हैं। परन्तु, विस्तार-भय से सबका संग्रह नहीं किया गया।

इन उपर्युक्त और इनसे भिन्न जो मोक्षावस्था की प्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, उनके ऊपर ध्यान देकर समालोचना करने से चार प्रकार के अर्थ प्रतीत होते हैं— (१) आत्मविज्ञान, (२) पाशविमोक, (३) आत्मस्वरूप-सम्पत्ति, (४) शोकादिराहित्य। ये चारों अर्थ सब श्रुतियों में निर्दिष्ट नहीं है, फिर भी यथासम्भव किसीका किसीमें विभिन्न शब्दों के द्वारा किसी प्रकार चार अर्थों का निर्देश पाया ही जाता है। इन चारों के स्वरूप का निर्णय सबकी एकवाक्यता से करना चाहिए। इनमें पहले आत्मविज्ञान की मीमांसा करनी चाहिए।

उपर्युक्त श्रुतियों में किसी में विद्वान्, किसी में विद्, किसी में वेद और किसी में ज्ञात्वा, इत्यादि उपसर्ग-रहित विद् धातु और ज्ञा धातु का प्रयोग आता है। इससे इनका अर्थ सामान्य ज्ञान ही प्रतीत होता है और विजानतः, विज्ञाय और विज्ञानवान्

इत्यादि वि-उपसर्गविशिष्ट ज्ञा धातु से ज्ञान में कुछ विशेषता प्रतीत होती है। वह विशेषता किस प्रकार की है, इस जिज्ञासा में हुए, अनुपश्यतः इत्यादि श्रुति में उक्त पदों के साथ एकवाक्यता करने से प्रत्यक्ष-दर्शन, अर्थात् साक्षात्कार ही अर्थ गृहीत होता है। 'प्रत्यबुध्यत' इस श्रुति में उक्त प्रतिबोध शब्द से भी यही साक्षात्कार अर्थ प्रतीत होता है।

आत्मसाक्षात्कार-विवेचन

श्रुति में उक्त साक्षात्कार का विषय आत्मा ही होता है। यद्यपि श्रुति में उक्त ज्ञान का विषय विभिन्न प्रतीत होता है, तथापि उन सबका तात्पर्य एक ही आत्मा में श्रुति और अनुभव से सिद्ध है। जैसे 'आत्मवित्'—इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय आत्मा अपने शब्द से ही निर्दिष्ट है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः'—विज्ञान से समस्त भूतवर्ग आत्मा ही हो जाता है, यह बताया गया है और यही भूतों की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति है। अर्थात्, विज्ञान से सब भूत आत्मस्वरूप ही हो जाता है, इस अवस्था में इतर रूप से भूतों का भान ही नहीं हो सकता है। यही आत्मस्वरूप-सम्पत्ति, वेदन का विषय आत्मा ही है, इस बात को श्रुति लक्षित करती है। 'आत्मैवाभूत्' यहाँ 'एव' शब्द से आत्मा से भिन्न वस्तु में वेदन, अर्थात् ज्ञानविषयता का निषेध भी करती है। क्योंकि, स्वरूप-सम्पत्ति वेदन के अनुरूप ही होती है। अर्थात्, जिस वस्तु का संवेदन अर्थात् साक्षात्कार होगा, उसी स्वरूप से वह भावित होगा। इसी श्रुति के अनुरोध से 'एकत्वमनुपश्यतः' इस श्रुति में दर्शन का विषय जो एकत्व बताया गया है, वह भी आत्मैकत्व का ही बोधक है, और यही मान्य भी है। ब्रह्म शब्द और आत्म शब्द पर्यायवाची हैं, इसलिए 'ब्रह्मविद्' इस श्रुति में वेदनविषयक जिस ब्रह्म का निर्देश है, वह भी आत्मा से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस श्रुति में दर्शन का विषय जिस परावर को बताया गया है, उसका भी अर्थ 'आत्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुरोध से आत्मा ही हो सकता है, दूसरा नहीं। आत्मविचार में और भी यह श्रुति आती है—

'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा सम्प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता, प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।'

—मु० उ० २।२।७

इस श्रुति में 'परिपश्यन्ति' क्रिया का कर्म अर्थात् दर्शन क्रिया का विषय पूर्व वाक्य में प्रयुक्त आत्मा ही होता है; क्योंकि तत् शब्द से उसी का परामर्श हो सकता है। इसलिए—'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—वाक्य में परावर शब्द से भी आत्मा का ही ग्रहण सिद्ध होता है। एक बात और भी विचारणीय है कि उस श्रुति में ब्रह्म या आत्मा के लिए 'आनन्दरूपम् अमृतम्' इस विशेषण के देने से और 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण-निर्देश से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म और आनन्द में भेद नहीं है। इसलिए, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रुति में वेदन अर्थात् ज्ञान का विषय जो आनन्द कहा गया है, वह ब्रह्मरूप ही आनन्द है।

क्योंकि, ब्रह्म से अतिरिक्त तो कोई आनन्द है ही नहीं। यदि यह कहें कि ब्रह्म से भिन्न यदि कोई आनन्द नहीं है, तो 'ब्रह्मणः' में षष्ठी विभक्ति किस प्रकार होगी ? क्योंकि, भेद में ही षष्ठी विभक्ति होती है, अभेद में नहीं। तो इसका उत्तर यह होता है कि 'ब्रह्मणः आनन्दम्' यहाँ औपचारिक षष्ठी है, जिस प्रकार—'राहोः शिरः'—यहाँ औपचारिक षष्ठी मानी गई है। केवल लोक में, अमुकस्य आनन्दः इस प्रकार का सप्रतियोगिक आनन्द का ही प्रयोग देखा जाता है, इसलिए 'ब्रह्मणः' यह षष्ठी-निर्देश कर दिया। वास्तव में तो ब्रह्म और आनन्द में कुछ भी भेद नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि अनेक श्रुतियों में आनन्द और ब्रह्म के साथ समानाधिकरण से निर्देश मिलता है। 'आनन्दरूपममृतम्'—इस मुण्डक श्रुति में तो विशेषकर रूप शब्द से ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप बताया है।

एक बात और है कि आनन्द और ब्रह्म में भेद माननेवाले जो द्वैतवादी हैं, उनके मत में भी—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'—इस श्रुति में आनन्द को औपचारिक मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, ब्रह्मानन्दविषयक ज्ञान परोक्ष नहीं होता; क्योंकि परोक्ष ब्रह्मानन्द के ज्ञान से भय की निवृत्ति नहीं होती। शब्दजन्य ब्रह्मविषयक परोक्ष-ज्ञान तो हमलोगों को है ही, परन्तु भय की निवृत्ति नहीं। इसलिए, ब्रह्मविषयक वेदन, अर्थात् ज्ञान अपरोक्ष ही मानना चाहिए। अपरोक्ष का ही अर्थ साक्षात्कार या प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में ब्रह्म का आनन्द हमलोगों को नहीं हो सकता, कारण यह है कि दूसरे का आनन्द दूसरा नहीं अनुभव कर सकता। इस हालत में ब्रह्मानन्द के सदृश आनन्द में लक्षणा द्वैतवादियों को मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है कि आनन्द में लक्षणा स्वीकार करने की अपेक्षा 'ब्रह्मणः' में षष्ठी-विभक्ति में ही लक्षणा स्वीकार करना आवश्यक है; क्योंकि 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस सिद्धान्त से यही समुचित प्रतीत होता है। और, यहाँ लक्षणा स्वीकार करने पर भी 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'विज्ञानरूपममृतम्' इत्यादि समानाधिकरण-स्थल में बिना लक्षणा के काम नहीं चलेगा। गौरवाधिक्य के लिए वहाँ लक्षणा आवश्यक है।

आनन्देन रूप्यते-निरूप्यते इत्यानन्दरूपम्, अर्थात् जो आनन्द से सिद्ध किया जाय, वह आनन्दरूप है। इस प्रकार खींच-तानकर श्रुति का अर्थ करना स्पष्टार्थ श्रुति के लिए अन्याय्य है, और इस प्रकार क्लिष्ट कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है। इसलिए, ब्रह्म और आनन्द में एकता अर्थात् अभिन्नता ही श्रुति का अभिप्रेत है, यह सिद्ध होता है।

आत्मैकत्व का उपपादान

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दृश्यमान प्रपञ्च के नानात्व-निवारण करनेवाली जो 'एकत्वमनुपश्यतः' श्रुति है, उसका जिस प्रकार दृश्यमान प्रपञ्च में प्रतिभासमान भेद के निवारण में तात्पर्य है, उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान जो भेद है, उसके निवारण में तात्पर्य है, अथवा नहीं ? यदि प्रथम पक्ष, अर्थात् द्रष्टा और दृश्य के बीच प्रतिभासमान भेद के निवारण में भी श्रुति का तात्पर्य मानते हैं, तब तो द्रष्टा का द्रष्टृत्व और दृश्य का दृश्यत्व भी नहीं रहता। क्योंकि, द्रष्टृ-दृश्यभाव भेद-

प्रयुक्त ही होता है, अर्थात् दृश्य के न रहने से द्रष्टा नहीं रह सकता, और न द्रष्टा के न रहने से दृश्य ही। इस प्रकार, दोनों के न रहने पर दर्शन का दर्शनत्व भी नहीं रह सकता। इस अवस्था में अद्वैत श्रुति तो बिना सङ्कोच के उपपन्न हो जाती है, कारण यह है कि अद्वैत में ही दृश्य आदि सकल भेद-प्रपञ्च का अभाव सम्भव है। परन्तु, 'अनुपश्यतः' यह दर्शन श्रुतिविरुद्ध हो जाती है; क्योंकि बिना द्रष्टा और दृश्य के दर्शन होना असम्भव है। अर्थात्, दर्शन में दृश्य और द्रष्टा की अपेक्षा अवश्य रहती है।

यदि द्वितीय पक्ष मानें, अर्थात् दृश्य और द्रष्टा के बीच जो भेद है, उसके निवारण में श्रुति का तात्पर्य न मानें, तो 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' यह सब भूतों की आत्म-भवन-श्रुति विरुद्ध हो जाती है। क्योंकि, यहाँ आत्म-शब्द स्व-शब्द का पर्याय द्रष्टा के स्वरूप का निदर्शक है। जब द्रष्टा और दृश्य में भेद विद्यमान रहे, तब दृश्य की आत्मस्वरूप-सम्पत्ति नहीं घटती। इस अवस्था में 'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' और 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि श्रुतियों की सङ्गति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और भी श्रुतियों में जो एव शब्द है, उससे आत्म-भवन के प्रतिपादन में बहुत जोर देखा जाता है। इसलिए, इन दोनों पक्षों में दोष समानरूप से आ जाता है।

इसका समाधान, आत्म-श्रुति, एकत्व-श्रुति और दर्शन-श्रुति, इन तीनों श्रुतियों के विरोध के परिहार में ही है। उक्त तीनों श्रुतियो के विरोध का परिहार इसी प्रकार हो सकता है—

'यथा शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥' (क० उ० ४।१५)

इस श्रुति में आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न जो अवस्था है, उसका दृष्टान्त शुद्ध जल से दिया गया है। दृष्टान्त का प्रयोजन यही होता है कि दार्ष्टान्तिक अर्थ का सुगमता से बोध हो जाय।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलाने से वह तद्वत् हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञान से ज्ञानियों का आत्मा भी मिलकर एक हो जाता है। इस श्रुति में शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से तादृशता (उसी प्रकार हो जाने) का विधान है। अब यह विचार करना है कि यहाँ तादृशता का क्या अभिप्राय है? क्या तादृशता का अर्थ उसके समान जातीय हो जाना है अथवा तद्रूप हो जाना? अर्थात्, जिस शुद्ध जल में जो शुद्ध जल मिलाया गया, वह शुद्ध जल उस शुद्ध जल का समानजातीय होकर उससे भिन्न ही रहता है, अथवा तद्रूप हो जाता है, अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् उसके समान जातीय होकर उससे भिन्न मान लें, तब तो आसेचनोक्ति व्यर्थ हो जाती है; क्योंकि आसेचन अर्थात् मिलाने के पहले भी उसका समानजातीयत्व था ही, फिर उसके समान जातीय होने के लिए मिलाना व्यर्थ ही है। इसलिए, तादृशता का अर्थ उसका सजातीय होना नहीं है, किन्तु तद्रूप हो जाना ही है, अर्थात् दोनों में भेद नहीं रहता, इसी में श्रुति का तात्पर्य है।

इसी प्रकार, दार्ष्टान्तिक स्थल में भी समस्त प्रपञ्च का विवर्त्तोपादन जो परमात्मा है, वही आसेचन का आधारभूत शुद्धजलस्थानीय है। वह विवर्त्त के उपादान होने के

कारण अत्यन्त शुद्ध है। जो विवर्त्त का उपादान होता है, वह भासमान दोष से दूषित कदापि नहीं होता, जैसे रज्जु में भासमान सर्प के विष से रज्जु कभी दूषित नहीं होता। इसी प्रकार, आधेयभूत जल के स्थान में ज्ञानियों का जो आत्मा है, वह भी समस्त कर्म-वासनाओं और अन्तःकरण के सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर अत्यन्त शुद्ध ही रहता है। ज्ञानियों के आत्मा का परमात्मा में यह आसेचन, श्रुति में उक्त 'विजानतः' पद का वाच्य विज्ञान ही है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुद्ध जल में शुद्ध जल के मिलाने से दोनों का भेद प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा के आसेचन रूप विज्ञान से भेद की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार जब *'यथा शुद्धेशुद्धमासिक्तम्'* श्रुति का अर्थ स्थिर हो जाता है, तब पूर्वोक्त जो आसेचन-श्रुति, एकत्व-श्रुति और दर्शन-श्रुति, ये तीन श्रुतियाँ हैं, इनमें आत्म-श्रुति और एकत्व-श्रुति परस्परविरुद्ध नहीं होती, प्रत्युत अनुकूल ही होती हैं। केवल दर्शन-श्रुति विरुद्ध-सी प्रतीत होती है। तथापि वस्तुतः विचार करने से कुछ भी विरोध नहीं रहता। कारण यह है कि प्रत्यक्ष का अर्थ होता है—त्रिविध चैतन्यों का ऐक्य अर्थात् एक होना। आत्म-चैतन्य, ज्ञान-चैतन्य और विषय-चैतन्य, इन तीनों चैतन्यों की जब एकता हो जाती है, तब उसी को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। उन त्रिविध चैतन्यों के ऐक्यरूप प्रत्यक्ष में भेद का भान होना आवश्यक नहीं है। कहीं भेद का भान होता है और कहीं नहीं भी। सविकल्प घट आदि के प्रत्यक्ष में भेद का भान होता है, और निर्विकल्प आत्मैक्य-प्रत्यक्ष में भेद का भान नहीं होता। इसलिए, दर्शन में भेदावास की आवश्यकता नहीं होने के कारण दर्शन-श्रुति भी विरुद्ध नहीं होती, यह सिद्ध होता है।

आत्मप्रत्यक्ष का स्वरूप

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३।४।१) यह श्रुति, ब्रह्म को साक्षात्प्रत्यक्ष बताती है। यहाँ अपरोक्षात् इस पञ्चम्यन्त पद का अपरोक्षम् यह प्रथमान्त ही अर्थ प्रायः सब आचार्यों ने माना है। यहाँ तक कि शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रधान आचार्यों ने भी यही माना है। इस अर्थ में किसी का भी विवाद नहीं है। अपरोक्षम् का प्रत्यक्ष ही अर्थ होता है। अब यहाँ विचार उपस्थित होता है कि प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तो तीन अर्थों में होता है—'घटस्य प्रत्यक्षम्'—यहाँ ज्ञान अर्थ में, 'घटः प्रत्यक्षः' यहाँ विषय अर्थ में और 'घटस्य ज्ञापकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्' यहाँ विषयविशेष के साधन में भी प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु, इस प्रकृत श्रुति का अर्थ क्या है, यह विचारणीय है।

यद्यपि इन तीनों अर्थों में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है, तथापि ज्ञानविशेष ही इसका मुख्य अर्थ माना जाता है, विषय और साधन में जो प्रयोग देखा जाता है, वह गौण अर्थात् लक्षणा-वृत्ति से ही है। प्रत्यक्ष शब्द को तीनों अर्थों में मुख्य मानकर अनेकार्थ मानना समुचित नहीं है। कारण यह है कि अनेकार्थ मानने में अनेक गौरव हो जाते हैं। एक तो, शक्त्यन्तर की कल्पना ही गौरव है, दूसरा, वक्ता का

तात्पर्य समझने के लिए संयोग, विप्रयोग आदि की कल्पना में गौरव हो जाता है। जहाँ परस्परविरुद्ध अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं, वहाँ लक्षणा से निर्वाह न होने के कारण ही अगत्या अनेकार्थ मानकर गौरव स्वीकार करना पड़ता है। जैसे, सैन्धव आदि पदों में लक्षणा से काम न चलने से अनेकार्थ माना जाता है। उसी प्रकार, यदि सर्वत्र अनेकार्थ मान लें, तो लक्षणा का कोई विषय ही नहीं रह जाता। इसलिए उक्त श्रुति में मुख्य अर्थ के सम्भव होने से गौण अर्थ मानना अनुचित हो जाता है। इस स्थिति में ब्रह्म प्रत्यक्ष ज्ञानरूप ही है, और आत्म-चैतन्य का ही नाम प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) है, यह सिद्ध हो जाता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण श्रुति-सम्मत भी है।

वैशेषिक आदि 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' यह जो प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं, वह युक्त और श्रुतिसम्मत नहीं है। क्योंकि, ब्रह्म नित्य होने के कारणजन्य नहीं हो सकता। विषयाकार जो मनोवृत्ति है, वही इन्द्रिय-जन्य है, और उस वृत्ति से युक्त जो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म चैतन्य है, उसी की उपाधि वह मनोवृत्ति है, इसलिए वृत्ति में जो ज्ञानत्व का व्यवहार होता है, वह औपचारिक माना जाता है। इसी प्रकार के औपचारिक ज्ञान में द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा रहती है। मुख्य जो आत्म-स्वरूप ज्ञान है, उसमें द्रष्टा और दृश्य की अपेक्षा नहीं रहती। चैतन्य और ज्ञान ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, ये भिन्नार्थक नहीं हैं। जब यही आत्मचैतन्य आविर्भूत होता है, तभी 'ज्ञान हुआ' इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। एक बात और भी जानने योग्य है कि चैतन्यरूप ज्ञान का आविर्भाव सर्वत्र नहीं होता, किन्तु विशुद्ध-सात्त्विक स्वच्छ जो पदार्थ हैं, उन्हीं में ज्ञानरूप चैतन्य का आविर्भाव होता है। घट आदि की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्वच्छ हैं। उनकी अपेक्षा भी मन स्वच्छतर है, और उसकी अपेक्षा भी मनोवृत्ति स्वच्छतम है।

इससे यही सिद्ध होता है कि मूर्त्त, अमूर्त्त, चेतन और अचेतन आदि सकलप्रपञ्च में निरन्तर विद्यमान रहता हुआ भी ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य अत्यन्त स्वच्छतम मनोवृत्ति में ही आविर्भूत होता है, जिस प्रकार पाषाण आदि में घर्षण-विशेष (पॉलिश) से स्वच्छता आ जाने पर ही उसमें प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव होता है, अन्यथा नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयाकार मनोवृत्ति में आविर्भूत जो ब्रह्म-चैतन्य है, उसीका प्रत्यक्ष शब्द से लोक में व्यवहार होता है। यद्यपि घट आदि अचेतन पदार्थों में भी चिद्रूप ब्रह्म का ही आविर्भाव होता है, तथापि वह आविर्भाव घट आदि विषयाकाररूप से होता है, साक्षात् नहीं। जब ब्रह्म का साक्षात् आविर्भाव होता है, उस समय तो वह मुक्त ही हो जाता है। इसीलिए, श्रुति में 'यत्साक्षादपरोक्षाद्-ब्रह्म' ऐसा साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष बताया है। इससे सिद्ध होता है कि जब ब्रह्म-चैतन्य विषयाकार-मनोवृत्ति से अवच्छिन्न, अर्थात् युक्त होकर आविर्भूत होता है, उसी समय वह ज्ञानशब्द का वाच्य कहा जाता है, यही श्रौत दर्शनों का सिद्धान्त है। जब वही ज्ञानविषय चैतन्य से भिन्न प्रकार से आविर्भूत होता है, तब 'परोक्ष' कहा जाता है, और इससे भिन्न 'प्रत्यक्ष'।

इसका रहस्य यह है कि लोक में जो 'अयं घटः' इस आकार का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ विषय-देश में मन के गमन होने के कारण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का

विषयचैतन्य से भिन्न अविर्भाव नहीं होता, और शास्त्रीय आत्म प्रत्यक्ष में तो द्रष्टा और दृश्य का भी भेद भासित नहीं होता है। इसलिए, ब्रह्म-चैतन्य और विषय-चैतन्य में कुछ भी भेद नहीं रहता। यही—'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'—इस श्रुति का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मस्वरूप जो ज्ञान है, वही निर्विकल्पक है। लौकिक और शास्त्रीय निर्विकल्पक में इतना ही भेद है कि लोक में 'इदंकिञ्चित्' इस निर्विकल्पक ज्ञान में दृश्यगत विशेषता का भान नहीं होता, और शास्त्रीय निर्विकल्पक जो आत्मप्रत्यक्ष है, उसमें दृश्य और द्रष्टा—उभयगत भेद का भी भान नहीं होता। इसलिए, आत्म-साक्षात्कार को निर्विकल्पकतर कह सकते हैं।

पाश-विमोक का स्वरूप

उदाहृत श्रुतियों में निर्दिष्ट आत्म-विज्ञान का स्वरूप यथासम्भव संक्षेप में दिखाया गया, अब क्रमप्राप्त पाश-विमोक (बन्धनमुक्ति) के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। बन्ध के साधन का ही नाम 'पाश' है और शरीर के साथ सम्बन्ध का नाम 'बन्ध'। बन्ध का मूल अविद्या-ग्रन्थि है और वह कर्म से सम्पादित किया जाता है। नाम और रूपात्मक कार्य-कारण के संघात को 'शरीर' कहते हैं।

बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु, जन्म, तृष्णा, भय, सुख और दुःख इत्यादि जितने शरीर के धर्म प्रतीत होते हैं, वे सभी बन्धमूलक ही हैं। बन्ध को ही मृत्यु-मुख कहते हैं। यह मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों के ऊपर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। अविद्या ही मुख्य पाश है, यह भी सिद्ध है। तन्मूलक जितने शरीर आदि हैं, सभी अविद्या-जन्य होने से ही पाश कहे जाते हैं। उसी अविद्या-रूपी पाश का जो वियोग है, उसीको पाशविमोक, पाशहानि, पाशविमोचन इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इसका तात्पर्य अशरीरत्व-स्थिति है।

अब आत्मसाक्षात्कार से शरीरत्व की निवृत्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश किया जाता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः' इस श्रुति में आत्म-साक्षात्कार से समस्त भूतों का आत्मस्वरूप हो जाना बताया गया है। यहाँ भूत शब्द से पञ्चभूतमय जड़-प्रपञ्च का ही ग्रहण होता है। अब यहाँ आशङ्का यही होती है कि आत्मसाक्षात्कार से जड़-प्रपञ्च आत्मस्वरूप किस प्रकार हो सकता; क्योंकि ज्ञान मात्र से अन्य का अन्य रूप हो जाना असम्भव है। विज्ञान से अन्य की अन्यरूपता यदि न मानें, तो श्रुति से विरोध हो जाता है; इसलिए प्रपञ्च आत्मा का ही विवर्त्त है। इस प्रकार विवर्त्तवाद को अगत्या स्वीकार करना ही पड़ता है। यदि विवर्त्तवाद का आश्रय लेते हैं, तो शङ्का का अवकाश ही नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रज्जु में विवर्त्तमान जो सर्प है, वह रज्जु के साक्षात्कार होने से रज्जुरूप ही हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का विवर्त्त जो चेतनाचेतनात्मक अखिल प्रपञ्च है, वह भी आत्मसाक्षात्कार से आत्मस्वरूप ही हो जाता है, यह स्वयंसिद्ध है। यदि भूत-मात्र आत्मस्वरूप हो जाता है, तो भूतमय शरीर का भान, आत्मज्ञान के बाद शरीरत्वेन

आत्मा से पृथक् किस प्रकार हो सकता है ? इससे आत्मसाक्षात्कार के बाद अशरीरत्व की स्थिति सिद्ध हो जाती है, और यही पाशविमोचन है।

आत्मस्वरूप-सम्पत्ति

अब पूर्वोक्त श्रुतियों में जो आत्मस्वरूप-सम्पत्ति का निर्देश है, उसकी मीमांसा की जाती है—'यस्तु विज्ञानवान् भवति', इस श्रुति में बताया गया है कि आत्म-साक्षात्कारवाला पुरुष उस स्थान को प्राप्त करता है, जिससे पुनर्जन्म नहीं होता। यह स्थान-विशेष कैसा है ? इस जिज्ञासा में, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस मुण्डक श्रुति के साथ एकवाक्यता करने से दिव्य पुरुष-रूप ही स्थान-विशेष प्रतीत होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि उस दिव्यपुरुष की प्राप्ति जो होती है, वह भेदेन प्राप्ति होती है, या अभेदेन ? सब श्रुतियों के समन्वयात्मक विचार करने से इसका समाधान यही होता है कि अभेदेन प्राप्ति होती है। भेदेन प्राप्ति मानने में बहुत श्रुतियों का विरोध हो जाता है। जैसे—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्', 'एवमात्मा भवति', 'ब्रह्मैव भवति', 'स तदभवत्', 'स इदं सर्वं भवति', 'परमेव भवति', 'सर्वमात्मैवाभूत्' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ उक्त अभेद को ही पुष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त एव शब्द से भेद का निषेध भी करती हैं।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष यदि सर्वात्मक, अर्थात् सर्वस्वरूप हो जाता है, तो—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह। ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै० २।१।१)—मोक्षप्रतिपादक इस श्रुति में, मोक्षावस्था में जो सब कामनाओं की प्राप्ति बताई गई है, उसकी संगति किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि, उस अवस्था में ज्ञानियों से भिन्न कोई भी पदार्थ या ब्रह्म भी नहीं रह जाता, जिसकी प्राप्ति सम्भावित हो। इसका उत्तर यह होता है कि—'सर्वान् कामान् अश्नुते'—श्रुति में बताया गया है, जिसका अर्थ सब कामनाओं का उपभोग या प्राप्ति लोग समझते हैं। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'—इस श्रुति, जो मोक्ष अवस्था का ही प्रतिपादन करती है, में उसी अवस्था में सब कामनाओं का विमोचन बताया गया है। इन दोनों श्रुतियों में परस्पर भासमान जो विरोध है, उसका परिहार पहले करना आवश्यक है, जिससे उक्त शंका का भी परिहार स्वयं हो जाता है। विरोध-परिहार के लिए श्रुति में उक्त प्रत्येक पद के ऊपर ध्यान देना होगा।

'कामा येऽस्य हृदि श्रिताः'—श्रुति में 'हृदि श्रिताः' इस पद से, और 'सोश्नुते सर्वान् कामान्'—इत्यादि श्रुति में 'ब्रह्मणा' इस पद से विरोध का परिहार स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। 'हृदि श्रिताः कामाः' का तात्पर्य है—मनोगत कामनाएँ। इससे श्रुति का तात्पर्य है कि ये वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार की जो मनोगत कामनाएँ हैं, उनका समूल नाश या अत्यन्तनाश-रूप प्रमोचन होता है और मनोगत कामनाओं से भिन्न बाहर की कामनाएँ हैं, उनका ब्रह्म-रूप से व्यापन के अर्थ में दोनों श्रुतियों का सामञ्जस्य है। कुछ कामनाओं का विमोचन और कुछ कामनाओं का स्वीकार,

इस प्रकार अर्थ करके श्रुतियों के विरोध का जो परिहार किया जाता है, वह युक्त नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि 'कामाः' और 'कामान्' का विशेषण दोनों में 'सर्वे' और सर्वान्' दिया है, जिसका 'समस्त कामनाएँ' ऐसा तात्पर्य होता है।

श्रुति का अर्थ

सह शब्द का अर्थ साहित्य होता है, और वह साहित्य नित्य साकांक्ष है—'केन कस्य साहित्यम्', अर्थात् किसके साथ किसका साहित्य। यदि 'केन' इस आकांक्षा की पूर्त्ति 'ब्रह्मणा' के साथ करें, तो युक्त नहीं होता है। कारण यह है कि श्रुति में 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' यह एक वाक्य है, और 'ब्रह्मणा विपश्चिता' यह दूसरा। इसी प्रकार साम्प्रदायिक पाठ है। और, वाक्यान्तर में प्रयुक्त जो नित्य साकांक्ष पद है, उसकी पूर्त्ति, वाक्यान्तर में प्रयुक्त शब्द से करना, बिना किसी विशेष कारण के अयुक्त या अनुचित समझा जाता है।

इसलिए, कामनाओं में ही एक कामना के दूसरे कामना के साथ परस्पर साहित्य का ग्रहण किया जाता है, जिसका युगपत् अर्थात् एक काल में या साथ-साथ अर्थ होता है। जैसे, 'सर्वे सहैव समुपस्थिताः' (सब लोग एक ही बार या साथ-साथ उपस्थित हुए) इस वाक्य में होता है। इसीसे 'कस्य' इस आकांक्षा की भी पूर्त्ति हो जाती है। इसका फलितार्थ यह होता है कि ज्ञानियों का सब कामनाओं के साथ एक काल में सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है कि कामनाओं के साथ सम्बन्ध का नाम कामनाओं की प्राप्ति नहीं है, बल्कि कामनाओं की व्याप्ति है। कारण यह है कि श्रुति में 'अश्नुते' यह जो पाठ है, उसमें 'अशू व्याप्तौ संघाते च' इस व्याप्ति अर्थ में पठित स्वादिगण के धातु का ही प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ, 'व्याप्नोति' होता है, 'प्राप्नोति' नहीं।

अब ज्ञानियों का शब्द, स्पर्श, रूप आदि अखिल कामनाओं की व्याप्ति किस प्रकार होती है? इस आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए दूसरे वाक्य में आता है—'ब्रह्मणा'। अर्थात्, ब्रह्म रूप से ही अखिल कामनाओं को व्याप्त करता है। ब्रह्म कैसा है? इस आकांक्षा का उत्तर—ब्रह्म के विशेषण 'विपश्चिता' पद से देते हैं। विपश्चिता का अर्थ है—वि-विशेषेण पश्यत्—देखता हुआ चित्-चैतन्य। अर्थात्, स्वयं प्रकाशमान ज्ञान ही इसकी विशेषता है। तात्पर्य यह है कि आन्तर जो सूक्ष्म चित् अर्थात् ज्ञान है, उसी से सब शब्द आदि विषयों को वह देखता है, बाह्य रूप से नहीं। भावार्थ यही होता है कि ज्ञानी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और ब्रह्म-रूप से ही अखिल प्रपञ्च को व्याप्त करता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—इस श्रुति में जो कहा गया है, वही 'सोऽश्नुते' इत्यादि श्रुति में भी पर्याय से वर्णित है।

साम्य का उपपादन

अब यहाँ एक आशङ्का और होती है कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—इस श्रुति में साम्य का प्रतिपादन किया गया है, और साम्य-भेद घटित होता है। इस स्थिति में आत्मा का एकत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुति विरुद्ध हो जाती है। इसका उत्तर

यह होता है कि साम्य भेद-घटित ही होता है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। कहीं भेद-घटित और कहीं भेदाघटित, दोनों प्रकार का साम्य होता है। यहाँ 'आत्मैवाभूत्' इत्यादि उदाहृत अनेक श्रुतियों की एकवाक्यता से सामञ्जस्य के लिए भेद से अघटित साम्य का ही ग्रहण किया जाता है, भेद-घटित साम्य का नहीं। भेदाघटित साम्य को वैयाकरणों ने भी 'इव' शब्द के अर्थ-निरूपण के प्रसङ्ग में स्वीकार किया ही है। इसी के अनुसार आलङ्कारिकों ने भी ऐसे स्थलों में अनन्वयालङ्कार का उदाहरण दिया है—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि। एक बात और है, 'परमं साम्यम्' में जो साम्य का विशेषण 'परमं' दिया है, उसका अर्थ अत्यन्त साम्य ही होता है और अपना अत्यन्त साम्य अपने साथ ही हो सकता है, दूसरे के साथ नहीं। यदि भेद-घटित साम्य को ही मान लें, तो किस धर्म से साम्य लिया जाय, इस प्रकार विशेष जिज्ञासा होती है। यदि इस जिज्ञासा के परिहार के लिए सुखातिशय-रूप विशेष धर्म को मानें, तो सुख के साधक पुण्यकर्म को मानना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि, सुख का कारण पुण्यकर्म ही होता है। यहाँ श्रुति में आया है—'पुण्यपापे विधूय', अर्थात् समस्त पुण्य-पाप को नष्ट कर साम्य को प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि श्रुति में 'निरञ्जनः' यह विशेषण दिया है, जिसका अर्थ होता है, किसी प्रकार के सम्बन्ध से रहित होना। जिसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, उसका किसी भी धर्म से साम्य नहीं कह सकते। इसलिए, श्रुति का यही तात्पर्य सिद्ध हो सकता है कि आत्मसाक्षात्कारवाला पुरुष, पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर कर्मजन्य शरीर आदि सम्बन्ध से रहित हो, अपने ही साथ साम्य को प्राप्त करता है; अर्थात् उपमारहित हो जाता है।

शोकादि-राहित्य का विचार

अब शोकादि-राहित्य का विचार किया जाता है। यहाँ आदि पद से मोह, भय, जन्म, मरण, सुख, दुःख का ग्रहण समझना चाहिए। उक्त श्रुतियों में इन्हीं का अभाव कहा गया है। इन्हीं की समष्टि का नाम संसार है। 'प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः'—इस श्रुति में प्रिय और अप्रिय शब्द से सुख, दुःख का ही ग्रहण किया जाता है। सुख का नाम प्रिय और दुःख का अप्रिय है। शब्द, अर्थ आदि जो विषय हैं, वे स्वरूप से ही प्रिय नहीं हैं, किन्तु सुख के जनक होने के कारण ही प्रिय कहे जाते हैं। इसलिए, शब्द आदि विषय प्रिय शब्द के वाच्य नहीं होते। इससे मुक्ति में जिस प्रकार दुःख का अभाव होता है, उसी प्रकार सुख का भी अभाव होता है। द्वैतवादियों के मत में अप्रिय के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य माना जाता है, प्रिय के निषेध में नहीं। बल्कि, उनका कहना है कि सुखातिशय की प्रतीति मुक्ति में होती है। परन्तु, यह श्रुति के अक्षरार्थ से विरुद्ध हो जाता है। 'न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' इस द्वन्द्व-निर्देश से अप्रिय के साथ प्रिय के निषेध में भी श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है। एक बात और है कि प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का कारण शरीर का सम्बन्ध ही है, और शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर अप्रिय स्पर्श के सदृश ही प्रिय स्पर्श के निषेध में भी श्रुति का

तात्पर्य सिद्ध हो जाता है। 'कारणाभावात् कार्याभावः'—कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। इस स्थिति में प्रिय और अप्रिय दोनों के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य सिद्ध होता है।

आत्म-विज्ञान आदि में क्रम

'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः'—इस श्रुति में पञ्चम्यन्तनिर्देश से आत्म-विज्ञान और पाश-विमोचन में हेतुहेतुमद्भाव अर्थ सूचित होता है। अर्थात्, आत्म-विज्ञान कारण और पाश-विमोचन कार्य है। अन्य श्रुतियों में भी 'दृष्टे', 'ज्ञात्वा', 'विजानतः', 'निचाय्य' इत्यादि हेतुगर्भित शब्दों से भी उक्त ही अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'नामरूपाद्विमुक्तः', 'परात्परं पुरुषमुपैति', 'पुण्यपापे विधूय', 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि स्थलों में पाश-विमोचन और आत्मस्वरूप-सम्पत्ति में हेतुहेतुमद्भाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार, आत्मस्वरूप-सम्पत्ति और शोकादि-राहित्य में भी हेतुहेतुमद्भाव, सूचित होता है। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'—इससे भी हेतुहेतुमद्भाव, सूचित होता है। यद्यपि यह नियम है कि जिस पदार्थ में हेतुहेतुमद्भाव रहता है, उसमें क्रम अवश्य रहता है, तथापि यहाँ क्रम विद्यमान रहता हुआ भी लक्षित नहीं होता है। क्योंकि, यहाँ कारण कार्य को इतना शीघ्र उत्पन्न करता है कि क्रम रहता हुआ भी वह प्रतीत नहीं होता। इसी अभिप्राय से 'आत्मैवाभूद्विजानतः' श्रुति में, *'विजानतः' शब्द में वर्तमान काल का* द्योतक शतृप्रत्ययान्त का निर्देश किया है। इसका फलितार्थ यही होता है कि आत्म-विज्ञान, अविद्या, काम, कार्य, शरीर आदि पाशों के विमोचन द्वारा आत्मस्वरूपता का अनुभव कराकर शोक-मोहादि से विमुक्त कर देता है। यही मोक्ष-पदार्थ श्रुति-सम्मत होता है। शंकराचार्य ने इसी को अपने दर्शन में सिद्ध किया है।

मोक्ष में कर्म के सम्बन्ध का निषेध

बहुत लोगों ने मोक्ष को कर्मजन्य और मोक्षावस्था में भी कर्म-सम्बन्ध माना है, परन्तु यह श्रौत सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त अनेक श्रुतियों से विरोध हो जाता है। यहाँ तक कि 'न कर्मणा न प्रजया धनेन'—इत्यादि श्रुति से अमृतत्व-प्राप्ति में कर्मजन्यत्व का निषेध भी किया है। 'नास्त्यकृतः कृतेन'—इस श्रुति का भी मोक्ष के कर्मजन्यत्व के निषेध में ही तात्पर्य है। इसी प्रकार, *'न कर्म लिप्यते नरे', 'हन्ति कर्म शुभाऽशुभम्'*, 'सर्वाणि कर्माणि दग्ध्वा'—इत्यादि अनेक श्रुतियों से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का निषेध भी किया गया है। और भी बन्धप्रतिपादक श्रुतियों की समालोचना करने से मोक्ष में कर्म-सम्बन्ध का अभाव ही सिद्ध होता है। बन्ध और मोक्ष, दोनों परस्पर-विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी पदार्थ हैं। इस अवस्था में जिस प्रकार परस्परविरुद्ध दो पदार्थों में एक के स्वरूप का निर्णय कर लेने पर दूसरे का स्वरूप-निर्णय उसके विपरीत अर्थात् असिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार बन्ध-प्रतिपादक श्रुतियों से बन्ध के स्वरूप का निर्णय करने पर, मोक्ष का स्वरूप उसके विरुद्ध अर्थात् सिद्ध हो जाता है। बन्ध-प्रतिपादक श्रुतियों में तो कर्म को बन्ध का अव्यभिचारी बताया गया है, अर्थात्

जहाँ कर्म है, वहाँ बन्ध अवश्य है; और जहाँ बन्ध है, वहाँ कर्म भी अवश्य है। 'न ह्यस्य कर्म क्षीयते' (बृ० १।४।१५); 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति' (बृ० ४।४।६); '...स्मै लोकाय कर्मणे'; 'पुण्यो ह्वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन' (बृ० ३।२।१३);

...गो लोकेभ्योऽधो निनीषते' (कौ० ३।८)—इन सब ...ए सिद्ध होता है कि बन्ध और कर्म दोनों परस्पर ...ा एक नहीं रह सकता। इसलिए, पूर्वोक्त मोक्ष ही ...क भी है। श्रुति को माननेवाला कोई भी इसको

...ा श्रौतत्व

...का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इसी प्रकार, ...तियों को यथागति एकत्र कर—उनके परम प्रतीयमान, ...कर—एकवाक्यतया समन्वयात्मक विचार करने से ...है, वही श्रौततर और सबसे उच्च स्तर का प्रतीत ...में भी कितने सिद्धान्त युक्तिविरुद्ध प्रतीत होते हैं, ...दोष का लेश भी नहीं रह जाता। एक बात और भी ...त्त्वावधारण के समय श्रुति के सामने युक्ति का कुछ भी ...युक्ति में औदासीन्य ही रहता है। यही श्रौतों का ...ा चुके हैं। एक बात और भी समझने योग्य है कि— ...(श्वे० ३।१६) इत्यादि वर्णन युक्ति के सर्वथा ...भी युक्ति में उदासीन होकर स्वाभाविक ही परमात्मा में ...श्रौतत्व है। रामानुजाचार्य ने भी श्रीभाष्य में ...करणायत्तद्रष्टृत्वादिकम्, अपितु स्वभावत एव।' ...र्थात् परमात्मा का जो द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व आदि गुण हैं, ...न्तु स्वाभाविक ही हैं। इस प्रकार उपयुक्त विषयों पर ...कि शङ्कराचार्य का अद्वैतदर्शन श्रौततर है।

...र्थभूत सत्य (पदार्थ) परमात्मा ही है। वही आत्मा ...; अर्थात् द्रष्टा है। चित् और ज्ञान शब्द का भी ...कार की विशेषता से शून्य अर्थात् निर्विशेष है। वह इस प्रकार का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अचिन्त्य होने से मन का भी अविषय है। उसी परमात्मा की शक्ति मायापदवाच्य अविद्या है। सत्त्व, रज और तमोमय जगत् का मूल कारण वही अविद्या है। यह आत्मशक्ति (अविद्या) पारमार्थिक सत्य न होने के कारण असत्स्वरूपा और व्यावहारिक सत्य होने से सत्स्वरूपा भी है। उभयात्मक होने के कारण ही अनिर्वचनीय भी कही जाती है। चित् के साथ इसका सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है। जिस प्रकार आकाशतत्त्व काठ, ढेला,

मिट्टी आदि के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार वह चित् भी अविद्या के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है। अविद्या में सर्वावयव से चित् की व्याप्ति होने से अविद्या के कार्य सकल पृथिवी आदि मूर्त्त पदार्थों में और बुद्धि आदि अमूर्त्त पदार्थों में चित् की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यह एक प्रकार का सम्बन्ध हुआ। जिस प्रकार, स्फटिक स्वच्छ होने के कारण समीप वस्तु में रहनेवाली रक्तिमा को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अविद्या भी अन्ततः गुणत्रय के बीजभूत होने पर भी स्वरूपतः स्वच्छ ही है, इसलिए चित् को ग्रहण करती है। यही चिदाभास कहा जाता है। यह द्वितीय प्रकार है। जिस प्रकार दर्पण अपने सामने वर्त्तमान मुख आदि के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह अविद्या भी चित् के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, और प्रतिबिम्बित जो चित् है, उसका भी चिदाभास शब्द से व्यवहार किया जाता है। यह तीसरा प्रकार है।

ईश्वर और जीव

इन तीन प्रकारों में, प्रथम प्रकार से, चित् की व्याप्ति, जिस प्रकार समष्टिभूत अविद्या में रहती है, उसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या और उसके कार्यभूत पृथिवी आदि मूर्त्त पदार्थों और बुद्धि आदि अमूर्त्त पदार्थों में भी वह रहती है। जिस प्रकार, आकाश की व्याप्ति मृत्-समूह में, मृत्-खण्ड में और उसके कार्यभूत घट-शराब आदि निखिल प्रपञ्च में सर्वत्र सर्वदा रहती है एवं द्वितीय और तृतीय प्रकार से होनेवाला चित् के साथ अविद्या का जो सम्बन्ध है, वह स्वच्छ वस्तु में ही होता है। जिस प्रकार, स्वच्छ स्फटिक आदि मणियाँ समीपस्थ वस्तुओं की रक्तिमा का ग्रहण करती हैं, अस्वच्छ मृत्तिका आदि नहीं, उसी प्रकार दर्पण आदि ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं, काष्ठ आदि नहीं। प्रथम प्रकार से, आकाश की तरह चित् की व्याप्ति स्वच्छ और अस्वच्छ सकल पदार्थों में है। एक बात और भी है कि प्रथम या द्वितीय प्रकार से चित् का अविद्या से जो सम्बन्ध है, उससे बुद्धि आदि में प्रतीयमान जो चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब है, उसमें भी प्रथम प्रकार से पुनः चित् की व्याप्ति रहती ही है। इस अवस्था में यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार बुद्धि चित् से अवच्छिन्न रहती है, उसी प्रकार चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब से भी। यही बात 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः' (बृ० उ० ३।७।११) इस घटक श्रुति से बोधित होती है।

आभास और प्रतिबिम्ब में बहुत कम अन्तर है। परन्तु, बुद्धि से अवच्छिन्न जो चित् है, उससे आभास और प्रतिबिम्ब में इस प्रकार अन्तर देखा जाता है—जिस प्रकार आकाश का काम अवकाश देना है। घटाकाश भी अवकाश देने का काम करता ही है। अवकाश देने में घटाकाश घट की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार उस शक्ति से अवच्छिन्न चित् भी शुद्ध चित् के कार्य का सम्पादन करता है, घटाकाश की तरह अपनी उपाधि की अपेक्षा नहीं करता। यही माया-समष्टि से अवच्छिन्न जो चित् है, वह ईश्वर-पद का वाच्य होता है। यह ईश्वर, माया के कार्य सत्त्व, रज और तम में सत्त्व गुण की उपाधि से युक्त होने से हरि, रजोगुण की

उपाधि से युक्त होने से ब्रह्मा और तमोगुण की उपाधि से युक्त होने से शंकर, इन तीन रूपों को धारण करता है। इन तीनों में वर्तमान जो सत्त्व, रज और तम हैं, ये बिलकुल विशुद्ध नहीं हैं, किन्तु अपने से भिन्न दोनों गुणों से अंशतः मिश्रित हैं। ये हरि, हर और हिरण्य-गर्भ भी ईश्वर से उपाधिवशात् भिन्न होने पर भी वस्तुतः अभिन्न ही हैं, जैसे मठान्तर्वर्ती घटाकाश मठाकाश से अभिन्न होता है। इसीलिए, इन तीनों को भी ईश्वर कहा जाता है। इसी प्रकार व्यष्टिभूत अविद्या में प्रतिबिम्बित जो चित् है, वह जीव-पद का वाच्य होता है। जिस प्रकार, दर्पण में स्थित प्रतिबिम्ब दर्पण का अनुसारी होता है, अर्थात् प्रतिबिम्ब दर्पण के निश्चल रहने पर निश्चल रहता है और दर्पण के चञ्चल रहने पर चञ्चल। दर्पण में जो मलिनता आदि हैं, उनसे भी वह प्रभावित होता है। इससे जीव और ईश्वर, दोनों का औपाधिक होना सिद्ध होता है। भेद केवल इतना ही है कि जीव उपाधिभूत अविद्या के अधीन है और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया के वश नहीं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' (वृ० उ० २।५।१६); 'मायाभासेन जीवेशौ करोति' (वृ० ता० उ०) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इसी सत्य को प्रतिपादित करती हैं। जो माया विशुद्ध चित् को भी अपने सम्बन्ध-मात्र से विभक्त कर जीव, ईश्वर आदि अनेक रूपों में दिखाई देती है, वह और उसका सम्बन्ध दोनों अनादि माने जाते हैं। सभी दर्शनकार अपने-अपने मत के अनुसार मूल कारण को अनादि स्वीकार करते हैं, इस कारण छह पदार्थ अनादि माने जाते हैं—जीव, ईश, विशुद्ध चित्, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या और उसके साथ चित् का योग। इसीको संक्षेपशारीरक में इस प्रकार लिखा है—

'जीव ईशो विशुद्धो चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितेर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

माया का चित् से जो सम्बन्ध है, वह मायिक अर्थात् माया-परिकल्पित ही है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत। चिदात्मा में जो माया का अध्यास है, वही अनादि है, और जितने अध्यास हैं, सब सादि हैं।

अध्यास का स्वरूप

अध्यास किस प्रकार होता है, इसका संक्षेप में निर्देश किया जाता है। सर्वप्रथम शुद्ध चिदात्मा में अनादि माया का अध्यास होता है, इसके बाद अध्यास-विशिष्ट चिदात्मा में माया के परिणामीभूत अहङ्कार का अध्यास होता है। केवल शुद्ध चिदात्मा में अहंकार का अध्यास नहीं होता; क्योंकि वह (शुद्ध चिदात्मा) स्वयं प्रकाश है। इसीलिए, तद्विषयक अज्ञान नहीं हो सकता, किसी रूप से अज्ञात जो वस्तु है, वही अध्यास का अधिष्ठान हो सकती है। प्रथम अध्यास तो अनादि है, इसलिए उसमें अज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अहङ्कार के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है, उसमें अहङ्कार के धर्म जो काम, संकल्प आदि हैं, और इन्द्रिय के धर्म जो काणत्व आदि हैं, उनका अध्यास होता है। 'अहमिच्छामि', 'अहं कामः',

इस प्रकार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस चिदात्मा में अहंकार का अध्यास नहीं होता, उसमें इन्द्रियों के धर्म जो काम, संकल्प आदि हैं, उनका भी अध्यास नहीं हो सकता; किन्तु अध्यस्ताहंकार-विशिष्ट में ही काम आदि का अध्यास हो सकता है। अहंकार के अध्यास से विशिष्ट उसी चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का भी अध्यास होता है। इन्द्रियाध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रिय के धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अहं चक्षुः' (मैं आँख हूँ) इस प्रकार की प्रतीति किसी को नहीं होती।

एक बात और भी है कि, समीप रहनेवाली सभी वस्तुओं का अध्यास अवश्य होता ही है, इस प्रकार का यदि कोई नियम रहता, तब तो किसी प्रकार मानना ही होता, परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रतीति के अनुसार ही अध्यास होता है, अन्यथा नहीं। यदि 'चक्षुरहम्' इस प्रकार की प्रतीति होती, तो इन्द्रियों का भी अध्यास समझा जाता, परन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि इन्द्रियों का अध्यास न मानें, तो इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यही है कि इन्द्रियों का कहीं अध्यास नहीं होता है, यह बात तो नहीं है, वरन् केवल अहंकाराध्यासविशिष्ट चिदात्मा में इन्द्रियों का अध्यास नहीं होता है, यही तात्पर्य है। मायाध्यासविशिष्ट चिदात्मा में तो इन्द्रियों का अध्यास होता ही है; क्योंकि 'चक्षुषा पश्यामि' (आँख से देखता हूँ), इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है, और यह प्रतीति घट, पट आदि के समान अध्यस्त इन्द्रियों को ही हो सकती है; क्योंकि भूत और भौतिक एकताप्रपञ्च चिदात्मा में ही कल्पित हैं और अहंकाराध्यासविशिष्ट जो चिदात्मा है, उसी में मनुष्यादिवैशिष्ट्य से देह का अध्यास होता है; क्योंकि 'अहं मनुष्यः', इस प्रकार की प्रतीति लोक में अनुभूत है। एक बात और है कि देह का भी सामान्य रूप से अध्यास नहीं होता है; क्योंकि, 'देहोऽहम्' (मैं देह हूँ), इस प्रकार सामान्यतः प्रतीति नहीं होती। और भी, मनुष्यादि के अध्यास से विशिष्ट जो चिदात्मा है, उसमें स्थूलत्वादि देह-धर्मों और पुत्र, भार्या आदि धर्मों का अध्यास होता ही है; क्योंकि 'अहं स्थूलः' (मैं मोटा हूँ), ऐसी प्रतीति होती है, और पुत्र के पूजित होने पर मैं ही पूजित हुआ, इस प्रकार का भी व्यवहार लोक में देखा जाता है।

एक बात और भी ध्यातव्य है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) की प्रतीति से शुक्ति में जो रजत का अध्यास होता है, उस अध्यस्त रजत में शुक्तिगत जो इदन्त्व-धर्म है, उसका पुनः अध्यास होता है। इसी प्रकार, पूर्वोक्त सकल अध्यास-स्थलों में अध्यस्त जो माया प्रभृति हैं, उनका पुनः अध्यास होता है, इसी को 'अन्योन्याध्यास-ग्रन्थि' कहते हैं। जिस प्रकार, दो रज्जुओं के परस्पर जोड़ने से दृढ ग्रन्थि हो जाती है, उसी प्रकार अध्यास-स्थलों में भी अन्योन्याध्यास से दृढ ग्रन्थि हो जाती है।

इस प्रकार की अध्यास-परम्परा में भी शुद्ध चिदात्मा किसी प्रकार भी अशुद्ध (दूषित) नहीं होता है। कारण, अध्यास का जो अधिष्ठान है, उसका आरोपित

वस्तु के साथ किसी प्रकार भी स्पर्श वस्तुतः नहीं होता। इस पर आचार्यों ने भी कहा है—

'नहि भूमिरूपरवती मृगतृड्जलवाहिनीं सरितमुद्वहति।
मृगवारिपूरपरिपूरवती न नदी तथोपरभुवं स्पृशति॥'

तात्पर्य यह है कि ऊपर भूमि मृगतृष्णा-जल की वाहिनी सरिता का उद्वहन अर्थात् स्पर्श नहीं करती, और मृगमरीचिकारूपी जल से परिपूर्ण नदी भी ऊपर भूमि का स्पर्श नहीं करती, अर्थात् ऊपर भूमि और मृगतृष्णा-जल का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार, अनादि सम्बन्ध से चिदात्मा के साथ सम्बद्ध जो माया है, उसमें चिदात्मा, सूक्ष्म होने के कारण, भीतर प्रवेश करता हुआ और व्यापक होने के कारण उसके बाहर भी रहता हुआ परिलक्षित होता है। एवम्प्रकारेण माया से वस्तुतः असम्बद्ध चिदात्मा, माया-उपाधि से युक्त होने के कारण 'ईश्वर' कहा जाता है। केवल चिदात्मा में ईशितृत्व (शासनकर्तृत्व) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि वह निर्लेप है। वह साक्षी होने के कारण मायाविशिष्ट भी नहीं हो सकता, प्रत्युत माया से असम्बद्ध ही रहता है। माया के जड़ होने से मायाविशिष्ट में साक्षित्व भी नहीं हो सकता है। इसलिए, चिदात्मा माया के सम्बन्ध से ईश्वर और माया से असम्बद्ध होने के कारण साक्षी भी कहा जाता है। माया भी चिदात्मा के सम्बन्ध से गुणवैषम्य के द्वारा परिणामोन्मुख होती है और गुणवैषम्य होने से ही अनेक प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। कोई परिणाम रजोगुण और तमोगुण के अंशतः मिश्रण रहने से सत्त्व-प्रधान होता है, वही शुद्ध सत्त्व-प्रधान कहा जाता है, पुनः उस शुद्ध सत्त्व-प्रधान के भी परिणाम रजोगुण-तमोगुण के अंशतः सम्मिश्रण होने से सत्त्व-प्रधान ही होते हैं। किन्तु, यह मलिनसत्त्व-प्रधान कहा जाता है। इस प्रकार, मलिनसत्त्व-प्रधान प्रकृति के व्यष्टिभूत अनन्त प्रकार के सत्त्व-प्रधान ही प्रकृति के परिणाम होते हैं।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि सत्त्व-प्रधान व्यष्टिभूत प्रकृति के जो परिणाम हैं, उन्हीं में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है। शुद्ध रजोगुण-तमोगुण-प्रधान अथवा मलिन रजोगुण-तमोगुण-प्रधान जो प्रकृति के परिणाम हैं, उनमें चित् का प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ता; क्योंकि वे शुद्ध रजोगुण या तमोगुण-प्रधान होने के कारण अस्वच्छ होने से प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। और, सत्त्व-प्रधान-व्यष्टिभूत-प्रकृति-परिणामों के समूह में भी चित् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, जैसे अनेक दर्पणों के परस्पर सन्निहित होने पर भी मिलकर एक प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने में उनका असामर्थ्य ही देखा जाता है। इसी व्यष्टिभूत मलिनसत्त्व-प्रधान-प्रकृति के अनन्त परिणामों में चित् के जो प्रतिबिम्ब हैं, वे ही जीव कहे जाते हैं। इसी बात को विद्यारण्यमुनि ने पञ्चदशी में दूसरे शब्दों में कहा है—शुद्ध सत्त्व-प्रधान-प्रकृति के परिणामों को माया, और मलिनसत्त्व-प्रधान-प्रकृति के परिणामों को अविद्या कहते हैं, एवं मायोपाधि से अवच्छिन्न चित् (चैतन्य) को ईश्वर और अविद्योपाधि से अवच्छिन्न चित् को जीव कहते हैं। इन दोनों (ईश्वर और जीव) में

यह भी विशेषता है कि ईश्वर माया के वश में नहीं है, किन्तु माया ही ईश्वर के वश में रहती है, और जीव अविद्या के वश में रहता है—

'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥
अविद्यावशगस्त्वन्य तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥'—पंचदशी

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि दर्पण आदि उपाधि के विनाश होने से उसमें निहित प्रतिबिम्ब का भी विनाश देखा जाता है, इस स्थिति में अविद्या के नाश होने पर जीव का भी नाश अवश्यम्भावी है, इस अवस्था में जीव मुक्त हो गया, यह जो लोक-विख्यात व्यवहार है, वह नहीं बनता, और मोक्ष के लिए कोई यत्न भी नहीं कर सकता, कारण यह है कि कोई भी आदमी अपने विनाश के लिए यत्न नहीं करता।

इसका उत्तर यह होता है कि दर्पण आदि उपाधि से प्रतिबिम्ब नाम की किसी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाता, किन्तु बिम्ब को ही भिन्न रूप से दिखाया जाता है। इसलिए, उपाधि के विलय होने पर पृथक् प्रतिभास न होने के कारण जीव को मुक्त कहा जाता है, और जीव भी उपाधि के अधीन ही रहता है; क्योंकि प्रतिबिम्ब का नियमानुसार उपाधि के अधीन होना स्वाभाविक है।

जीव और ईश्वर के स्वरूप

प्रकृति की समष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर और प्रकृति की व्यष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। इन दोनों में वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु औपाधिक भेद है। वह भी इतना ही है कि ईश्वर उपाधि के अधीन नहीं है, और जीव उपाधि के अधीन है। इसलिए, यह ईश्वर, उपाधि का और उपाधि के वशीभूत जीवों का नियमन करने से ही ईश्वर कहा जाता है। 'क्षरात्मानावीशते देव एकः' (श्वेत० १।१०)—इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। श्रुति में क्षर शब्द का अर्थ उपाधि ही है। यह ईश्वर जिस प्रकार उपाधि से अवच्छिन्न है, उसी प्रकार उपाधि के वशीभूत या प्रतिबिम्बीभूत जीव से भी अवच्छिन्न रहता है। और, जिस प्रकार उपाधि के भीतर या बाहर वह व्याप्त है, उसी प्रकार प्रतिबिम्ब के भीतर और बाहर भी। यह परम सूक्ष्म होने से भीतर और व्यापक होने से बाहर भी व्याप्त रहता है। इस स्थिति में, 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः' यह घटक श्रुति भी बिना विरोध के उपपन्न हो जाती है। द्वैतवादियों के मत में घटक श्रुति उपपन्न नहीं होती; क्योंकि इनके मत में जीव का स्वरूप अणु माना गया है और परमाणु के भीतर नहीं रहने से उसमें प्रवेश का होना असम्भव ही है। भेद-प्रतिपादक 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ० २।४।५)—इत्यादि श्रुति भी उपपन्न हो जाती है। क्योंकि, जिस प्रकार जलावच्छिन्न आकाश और जलप्रतिबिम्बाकाश में औपाधिक भेद भी सिद्ध है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर के औपाधिक भेद के प्रतिपादन करने में इस प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं और उपाधि के विलय होने पर 'तत्त्वमसि' आदि अभेद प्रतिपादक श्रुतियों की भी उपपत्ति हो जाती है।

अब यहाँ यह सन्देह होता है कि सब श्रुतियों की उपपत्ति सिद्ध हो जाने पर भी परस्परविरुद्ध भेद, ऐक्य और घटक इन तीनों का वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यही होता है कि वेदान्त-वाक्यों की प्रवृत्ति मुमुक्षु जनों के हित के लिए ही हुई है और मुमुक्षुओं का परमसाध्य जो मोक्ष है, उसी का उपपादन ऐक्यप्रतिपादक श्रुतियों से किया गया है। मोक्ष का साधनभूत जो परमात्म-दर्शन है, वह साधकों के भेददर्शी होने के कारण ही भेदप्रतिपादक श्रुतियों से वर्णित है। घटक श्रुति, आत्मदर्शन के मार्ग को बताती हुई कहती है—साधकों को चाहिए कि अन्तर्यामी होने के कारण परमात्मा का अनुसन्धान करे। श्रुति के अर्थों के ध्यानपूर्वक अध्ययन और मनन करने से उसका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। इस प्रकार, जीव और परमात्मा के अभेद (एकत्व) सिद्ध हो जाने पर भी किसी का प्रश्न होता है कि यदि आत्मा में एकत्व-धर्म मानते हैं, तो आत्मा सविशेष हो जाता है, निर्विशेष नहीं रहता, जो शांकर मत का परम सिद्धान्त है। यदि एकत्व को न मानें, तब तो द्वैत गले पड़ जाता है, अद्वैत सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यही होता है कि एकत्व कोई धर्मान्तर नहीं है, बल्कि द्वित्व का अभाव-रूप ही है। अर्थात्, वहाँ द्वित्व का सर्वथा अभाव है।

ब्रह्म में श्रुति-प्रमाण की गति

'न जीवो म्रियते' (छा० उ० ६।११।३); 'जीवः स विशेयः' (श्वेत० उ० ६) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ जीव के विषय में प्रमाण हैं। इसी प्रकार, ईश्वर के विषय में भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां' (म० ना० उ० १७।५); 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' (श्वेत० उ० ६।७) इत्यादि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु, शुद्ध निर्विशेष और असङ्ग चिद्रूप ब्रह्म तो किसी प्रकार भी श्रुति का विषय नहीं हो सकता है और न अनुमान का ही। इस अवस्था में, उक्त ब्रह्म किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि निर्विशेष और असङ्ग मानने में वाच्य-वाचक-भाव-रूप सम्बन्ध भी उसमें नहीं होता, इस अवस्था में वाच्य-मर्यादा से श्रुति भी ब्रह्म के उपपादन में समर्थ नहीं होती। इस असामर्थ्य को 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते,' इत्यादि श्रुतियाँ भी स्वयं स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हैं।

इतना होने पर भी मुमुक्षु-जनों के कल्याण के लिए बद्धपरिकर श्रुति भी किसी प्रकार निषेध-मुख से शुद्ध चिद्घन-रूप ब्रह्म का बोध कराने में सफल हो ही जाती है। जिस प्रकार नवोढा नायिका से उसकी सखी पूछती है कि इस जनसमूह में तुम्हारा पति कौन है? उस समय वह नायिका लज्जा से कुछ भी नहीं बोलती। जब पुनः अंगुलि के निर्देश से पूछती है कि क्या वह लाल मुरेठा बाँधे तुम्हारा पति है? तो वह कहती है, 'नेति', अर्थात् नहीं। फिर सखी पूछती है कि क्या वह हाथ में जो छड़ी लिये है, वह पति है? उत्तर देती है—'नेति', इसी प्रकार जब सबके पूछने पर उसकी सखी यही उत्तर पाती है—'नेति नेति'। तब अन्त में उसके पति के ही ऊपर अंगुलि निर्देशकर पूछती है, इस पर वह नवोढा नायिका चुप हो जाती है, कुछ भी नहीं बोलती। इसी मौन उत्तर से वह चतुर सखी समझ लेती है कि यही इसका पति है।

ठीक इसी प्रकार, 'स एषः नेति नेति' (बृ० उ० ३।६।२६); 'अस्थूलम् अनणु' (बृ० उ० ३।८।८); 'अशब्दमरूपमस्पर्शम्' (क० उ० ३।१५) इत्यादि श्रुतियाँ निषेध-मुख से ही अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य चिद्घन, आनन्द-सत्स्वरूप ब्रह्म के बोध कराने में सफल और चरितार्थ हो जाती हैं।

बन्ध का स्वरूप

चित् सम्बन्ध से माया का जो परिणाम होता है, उसे पदार्थ-निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही कह चुके हैं। भूत और भौतिक निखिल जगत्-प्रपञ्च, मूर्त, अमूर्त और अव्याकृत तीन प्रकार के भेद से जो पहले कह आये हैं, वे सब माया के ही परिणाम हैं। माया और माया के परिणामों के साथ होनेवाला जो चित् का सम्बन्ध है, वही बन्ध है। मैं अज्ञ हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और मैं शरीरी हूँ—इत्यादि अनेक प्रकार से उसका अनुभव होता है। सुख-दुःख का जितना भी अनुभव होता है, उसका मूल कारण बन्ध ही है। 'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति' (छा० उ० ८।१२।१) इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। अर्थात्, जबतक शरीर का सम्बन्ध रहेगा, तबतक प्रिय और अप्रिय का अपहान, अर्थात् नाश नहीं हो सकता। प्रिय, अप्रिय का जो असंस्पर्श है, वही मोक्ष है। जबतक द्वैत दर्शन रहेगा, तबतक किसी प्रकार भी प्रिय और अप्रिय का असंस्पर्श नहीं हो सकता। इसीलिए, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति अपेक्षित होती है। अर्थात्, आत्मैक्यस्वरूप की सम्पत्ति के बिना प्रिय और अप्रिय के असंस्पर्श-रूप मोक्ष भी दुर्लभ है। और, आत्मैक्यस्वरूप सम्पत्ति भी कर्म और कर्म-मूलक शरीरादि-सम्बन्ध-रूप पाश-विमोचन के बिना दुर्लभ ही है। आत्म-विज्ञान के बिना पाश-विमोचन भी दुर्वच ही है। आत्म-विज्ञान भी अधिकार के बिना दुर्घट है। इसलिए, अधिकार-प्राप्ति के लिए चित्त-शुद्धि परमावश्यक है। क्योंकि, चित्त-शुद्धि ही, अधिकार के सम्पादन द्वारा मोक्ष की इच्छा को उत्पन्न कर उसके द्वारा आत्म-विज्ञान के प्रतिपत्ति करने में सहायक होती है। जबतक चित्त की शुद्धि न हो, तबतक जन्म-साफल्य के लिए निष्काम कर्म अवश्य करते रहना चाहिए। निष्काम कर्म की कर्त्तव्यता के विषय में तीन कल्पों (पक्ष या प्रकार) की कल्पना की जाती है।

प्रथम कल्प—निष्काम कर्म केवल चित्त-शुद्धि का कारण होता है। चित्त-शुद्धि हो जाने पर मोक्ष की इच्छा स्वभावतः हो जाती है। इसके बाद गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान होता है। द्वितीय कल्प—निष्काम कर्म ही चित्त-शुद्धि के द्वारा मोक्ष की इच्छा का कारण होता है। मोक्ष की इच्छा के बाद गुरु के उपदेश आदि से आत्म-विज्ञान होता है। तृतीय कल्प—निष्काम कर्म ही आत्म-विज्ञान का कारण होता है। यह निष्काम कर्म ही चित्त-शुद्धि, मोक्षेच्छा और गुरु के उपदेश आदि के द्वारा आत्म-विज्ञान का सम्पादन करता है। प्रत्येक अवस्था में आत्मैक्य-विज्ञान के बाद द्वैत के दर्शन न होने से लेशतोऽपि कर्म का अवसर नहीं रहता, और किसी काम के लिए कर्म की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

कर्म का उपयोग

अब प्रकरणवश, कर्म का उपयोग किस प्रकार होता है, यह विचारणीय है। निष्काम कर्म, चित्त-शुद्धि और मोक्षेच्छा, इन तीनों में कौन किसका कारण है और कौन किसका कार्य, यही विचार का विषय है।

पहले यह जानना आवश्यक है कि निष्काम कर्म से ही चित्त-शुद्धि होती है, सकाम कर्म से नहीं। क्योंकि, सकाम कर्म तो राग आदि मलों को ही उत्पन्न करता है, जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है। और, जबतक चित्त-शुद्धि नहीं होती, तबतक निष्काम कर्म भी नहीं हो सकता। कारण यह है कि राग आदि मलों से युक्त मन में निष्काम कर्म का आचरण असम्भव-सा ही है। इस अवस्था में अन्योन्याश्रय दोष का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार, मोक्ष की इच्छा होने पर ही चित्त-शुद्धि के लिए यत्न होना सम्भव है। चित्त-शुद्धि होने पर ही मोक्ष की इच्छा हो सकती है, यह दूसरा अन्योन्याश्रय है। और भी, निष्काम कर्माचरण के बाद ही चित्त-शुद्धि के द्वारा मोक्ष की इच्छा हो सकती है। मोक्ष की इच्छा होने के बाद ही निष्काम कर्म हो सकता है, यह तीसरा अन्योन्याश्रय होता है। अब यहाँ तीनों की व्यवस्था किस प्रकार की जायगी, यह विचारणीय है।

इसकी क्रमिक व्यवस्था इस प्रकार होती है—पहले जब सकाम कर्मों के फल का बार-बार अनुभव करने पर उन कर्मफलों में अल्पता और अस्थिरता की बुद्धि होती है, तब चित्त में वैराग्य का अंकुर उदित होता है। उस वैराग्य से काम आदि मलों के न्यून होने पर चित्त की शुद्धि और मोक्ष की इच्छा शनैः-शनैः बढ़ने लगती है। यद्यपि निष्काम कर्माचरण श्रुतिविहित होने से विद्यमान ही रहता है, तथापि वैराग्य के उदय होने के बाद सकाम कर्म का ह्रास होने से सबल होकर मोक्ष की इच्छा बढ़ने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त तीनों में कार्यकारणभाव उत्पत्ति में नहीं है, किन्तु वृद्धि में ही है। अर्थात्, उक्त तीनों की सहायता से तीनों मे उत्कर्ष का ही आधिक्य होता है।

साक्षात्कार के साधन

इस प्रकार, निष्काम कर्म के आचरण से जब चित्त सर्वथा विशुद्ध हो जाता है, तब तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न होती है। इसके बाद ही आत्म-विज्ञान सम्पादन करने के योग्य होता है। मोक्ष की तीव्र इच्छा वही है कि जिसके होने पर मनुष्य, क्षणभर भी मोक्ष के लिए प्रयत्न किये विना नहीं रह सकता। आत्मसाक्षात्कार का ही नाम आत्म-विज्ञान है। जिस प्रकार माता अपने पुत्रों को उन्मार्ग से सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करती है, उसी प्रकार श्रुति भी मुमुक्षुजनों को सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने के लिए मोक्ष के साधनीभूत आत्मसाक्षात्कार का उपदेश करती है— 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।' (बृ० उ० २।४।६)। अर्थात्, आत्मा का दर्शन—साक्षात्कार करना चाहिए। उपाय के विना साक्षात्कार

होना असम्भव है, इसलिए श्रुति दर्शन का उपाय भी स्वयं बताती है—'श्रोतव्यः' अर्थात् श्रवण करना चाहिए। 'दशमस्त्वमसि', इस वाक्य में जिस प्रकार शब्द से ही दशम आत्मा का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी शब्दरूप श्रुति के श्रवण से ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, यही श्रुति का तात्पर्य है।

इस प्रकार का साक्षात्कार आत्मा की अविरत भावना से ही हो सकता है। जिस प्रकार, चित्त के कल्मष के नष्ट न होने से नास्तिकों को श्रुतियों पर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार यदि श्रुति के अर्थ में असम्भावना या विपरीत भावना से दृढ़तर विश्वास नहीं हो, तो अविरत भावना भी असम्भव है। इसलिए, असम्भावना या विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए मनन की आवश्यकता समझती हुई श्रुति श्रवण के बाद मनन, 'मन्तव्यः' का ही उपदेश करती है। निरन्तर आत्मविषयक अनुसन्धान का ही नाम मनन है। इसी का नाम अनवरत भावना है। अनवरत भावना के बिना निदिध्यासन नहीं हो सकता, इसीलिए 'मन्तव्यः' के बाद 'निदिध्यासितव्यः'—निदिध्यासन का विधान श्रुति करती है। निदिध्यासन का अर्थ तन्मयता ही होता है।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु मूलस्वरूप में जीवात्मा का जो अवस्थान है, वही 'मोक्ष' कहा जाता है। उस अवस्था में कुछ अपूर्व प्राप्तव्य नहीं रह जाता है। यद्यपि आत्मा का, बद्धावस्था में भी, मूल स्वरूप में अवस्थान रहता ही है, तथापि वह अज्ञात है, अर्थात् उसे आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। इसलिए, अज्ञान या अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है, यह सिद्ध होता है। श्रीगौडपादाचार्य ने माण्डूक्य-कारिका में लिखा है—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

अर्थात्, अविद्या या अज्ञान के नाश का ही नाम मोक्ष और अविद्या का ही नाम बन्ध है। उक्त मोक्ष का साधन केवल एक ज्ञान (विद्या) ही है, और पूर्वोक्त आत्मसाक्षात्कार का ही नाम विद्या है। आत्मा के साक्षात्कार होने पर जीवित मनुष्य भी मुक्त ही है। इसीका नाम जीवन्मुक्त है। इस मुक्तावस्था में द्वैत के भान होने पर भी कोई क्षति नहीं है। जिस प्रकार, नेत्र में तिमिर (मोतियाबिन्द) आदि दोष से दो चन्द्रमा देखे जाने पर दो चन्द्र किसलिए हुए, इस प्रकार का सन्देह किसी को नहीं होता है। अथवा, सन्देह होने पर भी जगत् में एक ही चन्द्रमा है, दूसरा नहीं, इस प्रकार के आप्त वचन से वह निवृत्त हो जाता है।

यद्यपि आप्त वचन से दो चन्द्रों के अज्ञान का नाश होने पर भी दोष से दो चन्द्रों का भान होता ही है, तथापि फिर शङ्का नहीं होती कि ब्रह्मा ने दूसरे चन्द्र को क्यों बनाया। इसलिए, जिस प्रकार दो चन्द्रों को देखना भी किसी काम का नहीं होता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त को होनेवाला जगत् का अवभास किसी काम का नहीं होता। क्योंकि, उसे निश्चित ज्ञान है कि ये सब अज्ञान हैं, अविद्या हैं, इसलिए यह सद्योमुक्त है।

इस अवस्था में, उसका आत्मा त्यक्ताभिमान होकर अपने मूलस्वरूप में जाने के लिए उद्यत हो जाता है। जिस प्रकार, स्वामी अपने भृत्य के ऊपर से जब अपना ममत्व हटा लेता है, तब वह भृत्य भी अपने घर की ओर उन्मुख हो जाता है।

यही बात 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० उ० ३।२।७) इस श्रुति से सिद्ध होती है। प्राणियों के शरीर का परिणाम दो प्रकार का होता है—एक, जीव से त्यक्ताभिमान शरीर का विशरण-रूप और दूसरा, जीव से गृहीताभिमान का संरोहण-रूप। प्राणियों की मृतावस्था में शरीर में रहनेवाले जो स्थूलभूत हैं, वे अपनी-अपनी प्रकृति में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं और सद्योमुक्त के शरीरगत जो सूक्ष्म तत्त्व हैं, वे भी अपने मूल कारण में जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही दोनों में विशेषता है। एक बात और है कि प्रेतावस्था में जिनका विशरण प्रारम्भ हो गया है, ऐसे स्थूल भूत भी शरीर के रूप में प्रत्यभिज्ञात होते हैं। इसी प्रकार, सद्योमुक्त के सूक्ष्मभूत भी, जिनका विशरण प्रारम्भ हो गया है, कुछ काल पर्यन्त संस्कार के वश से अनुवृत्त होते हैं। किन्तु, उनका संस्कार भी क्षयोन्मुख रहता है; क्योंकि वृद्धि का कुछ कारण नहीं है। संस्कार के अवसान में ही कैवल्य या मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसका आत्म-विज्ञान सामान्यतः उत्पन्न होकर भी साक्षात्कार अवस्था को प्राप्त नहीं करता, वह देवयान-मार्ग द्वारा क्रमशः साक्षात्कार अवस्था को प्राप्त होता है।

न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम हैं। एक समय व्यासदेव ने इस मत को दूषित कहकर खण्डित किया था। इस पर गौतम ने प्रतिज्ञा की, कि मैं व्यास का मुख इस नेत्र से नहीं देखूँगा। बाद में व्यासदेव ने अनुनय-विनय से गौतम को प्रसन्न किया, इस पर गौतम ने अपने योग-बल से पैर में नेत्र प्रकटित कर उसी नेत्र से व्यास के मुख को देखा। इसीलिए, इस दर्शन को 'अक्षपाद-दर्शन' कहते हैं।

इस दर्शन में भी वैशेषिक-दर्शन की तरह पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस् की सिद्धि बताई जाती है। न्याय-दर्शन में सोलह पदार्थ माने गये हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। इन्हीं पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है।

न्याय-शास्त्र के पाँच अध्याय हैं—प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक है। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रमाण से लेकर निर्णय-पर्यन्त नव पदार्थों के लक्षण किये गये हैं। द्वितीय आह्निक में वाद आदि सात पदार्थों के लक्षणों पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में संशय का परीक्षण, उसका कारण और उसके स्वरूप पर विचार है तथा प्रत्यक्ष आदि जो चार प्रमाण हैं, उनकी प्रामाणिकता का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में अर्थापत्ति आदि का अन्तर्भाव दिखाया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, और अर्थ, इन चार प्रमेयों का परीक्षण किया गया है तथा द्वितीय आह्निक मे बुद्धि और मन का परीक्षण किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में प्रवृत्तिदोप, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग का विचार किया गया है और द्वितीय आह्निक में बुद्धि और मन की परीक्षा की गई है। इस प्रकार, तृतीय अध्याय के दो आह्निकों और चतुर्थ अध्याय के एक आह्निक में केवल प्रमेय की ही परीक्षा है। वे प्रमेय बारह हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनःप्रवृत्ति, दोप, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में दोप-निमित्तकत्व का निरूपण हुआ है। और, यह बतलाया गया है कि परमाणु निरवयव हैं। पाँचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में जाति का निरूपण और द्वितीय आह्निक में निग्रह-स्थान का निरूपण किया गया है। इस प्रकार कुल पाँच अध्याय विवृत हुए हैं।

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों पर विचार

प्रमाण—अब यह विचार किया जाता है कि प्रमाण, प्रमेय इत्यादि जो सोलह पदार्थ बताये गये हैं, उनमें सबसे पहले प्रमाण का ही क्यों निर्देश किया गया है?

गौतम का यह सिद्धान्त है—'मानाधीना मेयसिद्धिः', अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन है। प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती, इसीलिए सर्वप्रथम प्रमाण का विचार किया गया है। प्रमाण की परिभाषा करते हुए महर्षि गौतम ने कहा है कि 'यथार्थ अनुभव का जो कारण है, और उस अनुभव का प्रमा से नित्य सम्बद्ध जो आश्रय है, वही प्रमाण कहा जाता है।' प्रमा के आश्रय और प्रमा से नित्य सम्बद्ध होने से ही परतन्त्र सिद्धान्त-सिद्ध ईश्वर को भी न्याय-दर्शन में प्रमाण माना जाता है। समान तन्त्र से सिद्ध और परतन्त्र से असिद्ध का नाम प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। महर्षि गौतम ने भी कहा है - 'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः', अर्थात् समान तन्त्र से सिद्ध और दूसरे तन्त्र से असिद्ध का नाम प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। ईश्वर का प्रामाण्य समान तन्त्र वैशेषिक से सिद्ध है, और परतन्त्र मीमांसा से असिद्ध है। इसलिए, ईश्वर को प्रतितन्त्र-सिद्धान्त-सिद्ध कहा जाता है। प्रमाण के लक्षण में निवेशित प्रमा का जो आश्रय है, उसीसे नैयायिकों का अभिमत ईश्वर का प्रामाण्य सिद्ध होता है। ईश्वर के प्रामाण्य के विषय में महर्षि गौतम ने कहा है—'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्', अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेद की तरह आप्त के प्रामाण्य होने से ही आप्तोपदेश-रूप वेद का भी प्रामाण्य होता है। आप्त उसको कहते हैं, जिसने धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, यथार्थ कहनेवाला है, और रागादि वश से भी असत्य बोलनेवाला नहीं है। इससे स्पष्ट है कि नैयायिकों का अभिमत जो ईश्वर का प्रामाण्य है, वह महर्षि गौतम को भी मान्य है। ईश्वर-प्रामाण्य के विषय में प्रसिद्ध नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमावली के चतुर्थ स्तवक में कहा है—

'मितिः सम्यक् परिच्छित्तिः तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते॥
साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ।
भूतार्थाऽनुभवे निविष्टनिखिलप्रस्तावस्तुक्रमः॥
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः।
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥'—न्या० (कु० ४।५-६)

तात्पर्य यह है कि सम्यक् परिच्छित्ति[1] का नाम मिति है। वही प्रमा है। उसका जो आश्रय है, वही प्रमाता है। उस मिति के अयोग-व्यवच्छेद[2] को ही गौतम-दर्शन में प्रामाण्य माना गया है। द्वितीय का तात्पर्य यह है कि शिव का जो भूतार्थानुभव[3] है, वह साक्षात्कारी,[4] नित्य योगी और परद्वारानपेक्षस्थित[5] है। अर्थात्, प्रपञ्च के प्रलय-काल में भी पूर्वकल्पसिद्ध त्रैलोक्यगत पदार्थों का यथार्थ प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियों की सहायता के बिना ही अविच्छिन्न रूप से ईश्वर में नित्य वर्त्तमान रहता है। वह परमात्मा

---

१. यथार्थ ज्ञान। २. अयोग अर्थात् सम्बन्धभाव का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति), आवश्यक सम्बन्ध। ३. त्रिकाल और त्रैलोक्यगत पदार्थों का यथार्थ अनुभव। ४. प्रत्यक्ष नित्य रहनेवाला। ५. दूसरे किसी की अपेक्षा से रहित, अर्थात् हमलोगों का ज्ञान जैसा इन्द्रियसापेक्ष है, वैसा ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष नहीं है।

सृष्टि के आरम्भ में, पूर्वकल्प में, सिद्ध पदार्थों को कल्पना-मात्र से देखना आरम्भ करता है, और वे पदार्थ कल्पनामात्र से ही पूर्ववत् उत्पन्न होने लगते हैं। श्रुति भी कहती है—'धाता यथापूर्वमकल्पयत्', अर्थात् परमात्मा ने पूर्वकल्प के सदृश ही सब पदार्थों को कल्पना-मात्र से रचा। इस प्रकार, पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अपने प्रत्यक्ष अनुभवों में सबको निविष्ट कर दिया है। निखिल विद्यमान वस्तुओं का उत्पत्त्यादि-क्रम, जिसने ऐसा पूर्वोक्त शिव (लेशादृष्टि, अर्थात् लेशमात्र भी अदृष्टि—अदर्शननिमित्तक जो त्रुटि अर्थात् दोष है, उसके अभाव से नष्ट हो गया है शङ्का-रूपी तुष जिसका ऐसा शिव ही) नैयायिकों के मत में प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि हमारे सदृश साधारण मनुष्यों को वस्तुतः परोक्ष ज्ञान होने पर भी अनेक प्रकार की शङ्काएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। कारण यह है कि प्रत्यक्ष वस्तुओं का अनुभव होने पर भी सर्वावयव से ज्ञान नहीं होता, इसलिए एक अंश का जो अज्ञान है, उसी के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जिससे अनेक प्रकार की विपरीत भावना होने की सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार का लेशतः अदर्शन भी ईश्वर में सम्भावित नहीं है। शङ्का के उद्गम से कलङ्कित प्रमाणों से क्या सम्पादन हो सकता है, इसलिए नैयायिकों के मत में शङ्का-रूपी कलंक से रहित ईश्वर ही प्रमाण है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सभी नैयायिकों के मत से, प्रमा के आश्रय होने के कारण, ईश्वर ही वस्तुतः प्रमाण है। यह प्रमा के आश्रय-रूप प्रमाण का उदाहरण है।

प्रमिति का कारण-रूप जो प्रमाण है, वह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन्द्रिय और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न जो ज्ञान है, वही 'प्रत्यक्ष' है। जैसे, सामने रखे हुए घटादि में 'यह घट है', 'यह पट है', इत्यादि ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

अनुमति का जो कारण है, उसी को 'अनुमान' या लिङ्ग-परामर्श कहते हैं। व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोध कराता है, उसी को लिङ्ग या हेतु कहते हैं। जैसे, धूम अग्नि का हेतु या लिङ्ग कहा जाता है। क्योंकि, धूम ही व्याप्ति के बल से अग्नि का बोधक होता है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है, इस प्रकार का जो साहचर्य का नियम है, वही व्याप्ति है। उस व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग का जो पर्वत आदि पक्ष में ज्ञान होता है, वही लिङ्ग-परामर्श कहा जाता है। वही अनुमान है, इसी से अग्नि की अनुमिति होती है।

अतिदेश-वाक्य के स्मरण के साथ-साथ जो सदृश वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को 'उपमान' कहते हैं। जैसे—'गो-सदृश गवय होता है', इस अतिदेश-वाक्य के श्रवण करने के बाद कदाचित् मनुष्य जङ्गल में जाकर गो-सदृश जन्तु को देखता है, और गो-सदृश गवय होता है, इस अतिदेश-वाक्य का स्मरण करता है; उसी क्षण गो-सदृश यह गवय है, इस प्रकार का ज्ञान उसे होता है। उसी ज्ञान का नाम उपमिति है।

आप्त वाक्य का नाम है 'शब्द'। जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान की गति नहीं है, उसका भी ज्ञान शब्द-प्रमाण के द्वारा ही होता है। आप्त उसे कहते हैं, जिसने वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, और रागादि के वश से भी अन्यथा बोलनेवाला नहीं है।

प्रमेय—यथार्थ ज्ञान में भासित होनेवाला पदार्थ प्रमेय कहा जाता है। यह बारह प्रकार का होता है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। आत्मा का अर्थ है, ज्ञान का आश्रय। उसके दो भेद हुए—जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ और एक ही है। जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न है, इसलिए अनेक है। दोनों व्यापक और नित्य हैं। सुख, दुःख आदि जो भोग हैं, उनके साधन का नाम है शरीर। जिसके द्वारा सुख-दुःख का भोग होता है, वही शरीर कहा जाता है।

शरीर से संयुक्त और ज्ञान का कारण जो अतीन्द्रिय पदार्थ है, वही इन्द्रिय कहा जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि जो वैशेषिक दर्शन में पदार्थ बताये गये हैं, वे ही प्रकृत में अर्थ कहे जाते हैं। ज्ञान का नाम बुद्धि है। सुख-दुःख का जो ज्ञान है, उसके साधन इन्द्रिय का नाम मन है। वह मन नाना प्रकार का होता है और प्रति शरीर में नियमेन रहनेवाला अणु और नित्य है।

मन, वचन और शरीर की जो क्रिया है, वही प्रवृत्ति है। वे तीनो क्रियाएँ शुभ और अशुभ के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इस प्रकार छह प्रकार की प्रवृत्ति हुई। जिसके द्वारा प्रवृत्ति होती है, वही दोष है। इसी का नाम राग, द्वेष और मोह भी है। इनके कारण ही कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेने का नाम प्रेत्यभाव है। इसी को पुनर्जन्म कहते हैं। सुख-दुःख के साक्षात्कार का नाम फल है। पीड़ा का नाम दुःख है। वह भी तीन प्रकार का होता है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शरीर और मन के रोग को आध्यात्मिक कहते हैं। धातु-वैषम्य के कारण शरीर में जो ज्वरादि सन्ताप होते हैं, वे शारीरिक दुःख कहे जाते हैं। काम, क्रोध आदि से उत्पन्न जो रोग है, उन्हें मानस रोग कहा जाता है। ये दोनों आध्यात्मिक रोग आभ्यन्तर उपाय से शमनीय होते हैं। सर्प, बिच्छू, व्याघ्र आदि से जो दुःख होता है, वह आधिभौतिक कहा जाता है। यक्ष, राक्षस और ग्रह आदि के आवेश से जो दुःख होता है, वह आधिदैविक कहा जाता है। आधिभौतिक और आधिदैविक ये दोनों प्रकार के दुःख बाह्य उपाय से वारणीय होते हैं। कहीं-कहीं इक्कीस प्रकार के दुःख माने गये हैं—जैसे, एक शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय और छह बुद्धि (चाक्षुष, रासन, श्रावण, घ्राणज, त्वाच, तथा मानस) सुख और दुःख। यहाँ सुख को भी दुःख के सम्बन्ध से दुःख ही माना गया है। शरीर आदि दुःख के साधन होने के कारण दुःख माने गये हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य दुःख-साधन भी सोलह प्रकार के माने गये हैं। जैसे—परतन्त्रता, आधि, व्याधि, अपमान, शत्रु, दरिद्रता, मार्यादय, कन्या-बाहुल्य, कुभार्या, कुभृत्य, कुग्रामवास,

कुस्वामी-सेवा, वृद्धत्व, परगृहवास, वर्षाकाल में प्रवास और विना हल की खेती। मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। इस प्रकार, ये बारह प्रकार के प्रमेय हैं।

संशय—अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है। साधारणधर्मनिमित्तक, असाधारणधर्मनिमित्तक और विप्रतिपत्तिनिमित्तक। यह स्थाणु है या पुरुष? दोनों में रहनेवाला जो उन्नतत्व और स्थूलत्वादि साधारण धर्म हैं, उनके ज्ञान के कारण ही यह स्थाणु है या पुरुष, इस आकार का संशय होता है, यह साधारणधर्मनिमित्तक है। पृथ्वी नित्य है अथवा अनित्य? यहाँ पृथ्वी का जो असाधारण धर्म गन्ध है, वह अन्यत्र कहीं भी नित्य अथवा अनित्य में नहीं मिलता, केवल पृथ्वी में ही उपलब्ध होता है, इसलिए यहाँ असाधारण धर्म गन्ध के ज्ञान में ही संशय होता है, इसलिए यह असाधारणधर्मनिमित्तक संशय है। विप्रतिपत्तिनिमित्तक संशय का उदाहरण यह है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य? कोई शब्द को नित्य कहते हैं और कोई अनित्य। यहाँ दोनों की विप्रतिपत्ति[1] से मध्यस्थ को संशय होता है। यह विप्रतिपत्तिनिमित्तक संशय कहा जाता है।

प्रयोजन—जिस उद्देश्य से मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, वही प्रयोजन है। जैसे, ज्ञान के उद्देश्य से मनुष्य अध्ययन में प्रवृत्त होता है, अथवा स्वर्ग के उद्देश्य से यज्ञ का अनुष्ठान करता है और मोक्ष के उद्देश्य से शम, दम आदि का अनुष्ठान किया जाता है। प्रयोजन दो प्रकार का होता है—एक दृष्ट, दूसरा अदृष्ट। दृष्टफल अवघात[2] से तुष-निवृत्ति[3] को कहते हैं। यज्ञ का स्वर्गफल अदृष्ट है। महर्षि गौतम ने लिखा है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्'।

दृष्टान्त—व्याप्ति-ज्ञापन करने का जो स्थल है, वही दृष्टान्त है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, इस आकार की जो व्याप्ति है, उसके ज्ञापन के लिए जो महानस (रसोईघर) का उदाहरण दिया जाता है, वही व्याप्ति-ज्ञापन का स्थल है। अतः, धूम हेतु से अग्नि साधन में महानस दृष्टान्त होता है। इसी बात को प्रकारान्तर से महर्षि गौतम ने कहा है—'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।' तात्पर्य यह है कि लौकिक[4] और परीक्षक[5] इन दोनों का साध्य और साधन (हेतु) की समानाधिकरणविषयक जो बुद्धि है, उसका साम्य जिस पदार्थ में हो, वही दृष्टान्त है।

जैसे, महानस में अग्नि और धूम की समानाधिकरणविषयक बुद्धि लौकिक और परीक्षक दोनों की समान है, इसलिए धूम से अग्नि के साधन में महानस दृष्टान्त होता है। दृष्टान्त दो प्रकार का होता है—एक, साधर्म्य; दूसरा, वैधर्म्य। धूम हेतु से अग्नि के साधन में महानस साधर्म्य दृष्टान्त है और जल, तालाब आदि वैधर्म्य दृष्टान्त। अन्वय-व्याप्ति का दृष्टान्त, साधर्म्य दृष्टान्त है। जैसे, जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है। इस प्रकार की अन्वय-व्याप्ति का उदाहरण महानस होता है।

---

१. विप्रतिपत्ति—विरुद्धमति। २. अवघात—चावल छाँटना। ३. तुष-निवृत्ति—भूसी निकालना। ४. लौकिक—शास्त्रज्ञानरहित। ५. परीक्षक—शास्त्रज्ञानवान्।

जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, इस व्यतिरेक-व्याप्ति का उदाहरण जल और तालाब है।

सिद्धान्त—जो पदार्थ प्रमाण से सिद्ध हो, वही सिद्धान्त है। वह चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम। जो सब शास्त्रों का सिद्धान्त है, वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहा जाता है। जैसे, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, यह सभी शास्त्रों को मान्य है। इसमें किसी भी शास्त्र का विरोध नहीं है। प्रतितन्त्र-सिद्धान्त वह है, जैसे—शब्द अनित्य है, यह न्याय-शास्त्र का ही सिद्धान्त है, इस बात को मीमांसक नहीं मानते। प्रकृति से ही जगत् की उत्पत्ति है, यह सिद्धान्त सांख्य और पातञ्जल दर्शन का ही है। अधिकरण सिद्धान्त वह है, जैसे—क्षिति आदि समष्टि के कर्त्ता यदि प्रमाण से सिद्ध है, तो वह सर्वज्ञ भी अवश्य है। अभ्युपगम-सिद्धान्त उसे कहते हैं, जो अपने सिद्धान्त के विरुद्ध भी हो, फिर भी कुछ देर के लिए मान लिया जाय। जैसे, नैयायिकों के यहाँ शब्द को गुण माना जाता है, द्रव्य नहीं। वे यदि इस प्रकार कहें कि मान लीजिए कि शब्द द्रव्य है, तो भी वह अनित्य अवश्य है। यही अभ्युपगम-सिद्धान्त कहा जाता है।

अवयव—परार्थ-अनुमान-वाक्य के एक देश का नाम अवयव है। प्रतिज्ञा, हेतु,- उदाहरण, उपनय और निगमन ये ही पाँच अवयव हैं। साध्यभूत जो धर्म है, उससे युक्त धर्मी के प्रतिपादक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है या साध्यविशिष्ट पक्ष का निर्देशन प्रतिज्ञा है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा है—'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा', अर्थात् साध्य जो अग्नि आदि धर्म है, उससे विशिष्ट धर्मी का निर्देश करनेवाला जो वाक्य है, वह प्रतिज्ञा है। जैसे—'शब्दः अनित्यः, पर्वतो धूमवान्।'

लिङ्ग के प्रतिपादक वाक्य को हेतु कहते हैं, जैसे 'धूमवत्वात्'। यह अग्नि का साधक हेतु है और 'शब्दः अनित्यः' इस प्रतिज्ञा का साधक हेतु 'कृतकत्वात्' है।

व्याप्ति के साधक दृष्टान्त-वचन को उदाहरण कहते हैं। जैसे, जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। उदाहरण—'महानस'। इसी बात को प्रकारान्तर से सूत्रकार ने कहा है—'*साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्*'। यहाँ 'साध्यः अस्ति अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से साध्य शब्द का अर्थ पक्ष होता है। अर्थात्, पक्ष के साधर्म्य (सादृश्य) से पक्षधर्मविशिष्ट पर्वत आदि में साध्यमान् जो अग्नि आदि है, तद्विशिष्ट दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं। जैसे, महानस आदि।

हेतु का जो उपसंहार-वचन है, उसे उपनय कहते हैं। जैसे, 'उसी प्रकार यह पर्वत भी धूमवान् है।'

पक्ष में साध्य का जो उपसंहार-वचन है, उसे निगमन कहते हैं। जैसे उसी प्रकार पर्वत भी अग्निमान् है।

तर्क—'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः', अर्थात् व्याप्य के आरोप से व्यापक का जो आरोप है, उसे तर्क कहते हैं। जैसे—यदि इस पर्वत पर अग्नि न हो, तो धूम भी नहीं हो सकता है। यहाँ व्याप्य जो अग्नि का अभाव है, उसका आरोप किया जाता है। व्याप्य और व्यापक-भाव के विषय में एक बात और जानने योग्य है कि

जो पदार्थ व्याप्य है और जो उसका व्यापक है, उन दोनों का जो अभाव है, वह परस्परविपरीत हो जाता है। जैसे, धूम अग्नि का व्याप्य है और अग्नि धूम का व्यापक है। इसी प्रकार, धूम और अग्नि के अभाव में दोनों विपरीत हो जाते हैं। अर्थात्, धूमाभाव अग्नि के अभाव का व्यापक हो जाता है और अग्नि का अभाव धूमाभाव का व्याप्य हो जाता है। इसीलिए, प्रकृति में व्याप्य जो अग्नि का अभाव है, उसके आरोप से व्यापक धूम के अभाव का आरोप किया जाता है। पर्वत पर धूम देखने के बाद उक्त तर्क की सहायता से अनुमान-प्रमाण के द्वारा अग्नि का निश्चय किया जाता है। इसलिए, तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक (सहायक) माना जाता है।

इसी अर्थ को सूत्रकार भी प्रकारान्तर से कहते हैं—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।' तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ का तत्त्व अविज्ञात है, उसके तत्त्व-ज्ञान के लिए कारण के उपपादन द्वारा जो ऊहा[1] की जाती है, वही तर्क है।

निर्णय—उक्त तर्क के विषय में पक्ष-प्रतिपक्ष[2] के द्वारा जो यथार्थ अर्थ का निश्चय किया जाता है, उसी का नाम निर्णय है। सूत्रकार ने भी कहा है—'तस्मिन् सति विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।' संशय होने पर तर्क के द्वारा खण्डन-मण्डनपूर्वक जो यथार्थ अनुभव नाम की प्रमिति[3] होती है, वही निर्णय है। वह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्षात्मिका[4], अनुमिति, उपमिति और शाब्द।

वाद—कथा[5] तीन प्रकार की होती है—वाद, जल्प और वितण्डा। प्रमाण और तर्क के द्वारा अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का उपालम्भ[6] जिस शास्त्र-चर्चा में किया जाय और वह सिद्धान्त से अविरुद्ध और पञ्चावयव[7] वाक्य से उत्पन्न हो, उसे वाद कहते हैं। सूत्रकार ने भी लिखा है—'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।' संक्षेप में यह कह सकते हैं कि तत्त्वनिर्णयफलक जो कथाविशेष है, वह वाद है।

तात्पर्य यह है कि केवल तत्त्व-निर्णय के लिए वादी और प्रतिवादी जो शास्त्र विचार करते हैं, और जिसमें छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग नहीं किया जाता, केवल प्रमाण और तर्क के आधार पर ही पञ्चावयववाक्यप्रदर्शनपूर्वक अपने पक्ष का स्थापन और दूसरे पक्ष का खण्डन किया जाता है, और जो सिद्धान्त के अनुकूल है, वही वाद कहा जाता है। वाद में जीतने की इच्छा नहीं रहती, केवल तत्त्व का निर्णय करना ही इसका प्रयोजन है।

जल्प—प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का खण्डन होने पर और सिद्धान्त के अनुकूल होने पर भी यदि छल, जाति और निग्रह-स्थान का प्रयोग किया जाय, तो वह जल्प कहा जाता है। जल्प में विजिगीषा रहती है, इसलिए प्रमाणादि के प्रदर्शन में छल, जाति और निग्रह-स्थान का भी प्रयोग

---

१. सम्यक् भावना। २. खण्डन-मण्डन। ३. यथार्थ ज्ञान। ४. साक्षात्कृति। ५. शास्त्र-चर्चा। ६. खण्डन। ७. प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्याय के पाँच अवयव।

किया जाता है। वाद में छलादि का प्रयोग नहीं होता; क्योंकि उसमे विजय की इच्छा नहीं रहती। वाद से इसमें यही विशेषता है। इसी को सूत्रकार ने भी लिखा है—'यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपालम्भे जल्पः'। इसका अभिप्राय पूर्वोक्त ही है।

वितण्डा—'सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'। अर्थात्, पूर्वोक्त जल्प ही जब अपने पक्ष की स्थापना से रहित होता है, तब वह वितण्डा कहा जाता है। वितण्डावाद में वैतण्डिक अपने मत की स्थापना नहीं करता, केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करना ही उसका मुख्य ध्येय रहता है। वह छल, जाति निग्रह-स्थान के प्रयोग से भी वादी को जीतना चाहता है। जल्प से इसमें यही विशेषता है कि यह अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता।

हेत्वाभास—जो साध्य का साधक न होता हुआ भी हेतु की तरह भासित हो, वह हेत्वाभास कहा जाता है। इसको असद्हेतु भी कहते हैं, वह पाँच प्रकार का होता है—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत। जो हेतु व्यभिचार के साथ रहे, वह सव्यभिचार कहा जाता है। इसी का नाम अनेकान्तिक भी है। जहाँ साध्य का अभाव है, वहाँ साधन (हेतु) का रहना ही उसका व्यभिचार है। इसी को साध्याभाववद्वृत्ति कहते हैं। इसका उदाहरण यह है कि पर्वत अग्निमान् है, प्रमेय होने से। यहाँ प्रमेयत्व जो हेतु है, वह साध्य अग्नि के अभाव-स्थल जलादि में वर्त्तमान रहने से व्यभिचरित हो जाता है। इसलिए, यह सव्यभिचार है। जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो, उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है, कृतक (उत्पन्न) होने के कारण। यहाँ कृतकत्व जो हेतु है, वह नित्यत्व के अभावरूप अनित्यत्व से व्याप्त है; क्योंकि जहाँ-जहाँ कृतकत्व है, वहाँ-वहाँ अनित्यत्व ही रहता है। इसलिए, साध्याभाव से व्याप्त होने से विरुद्ध हेतु हो जाता है।

जिसका प्रतिपक्ष (विपरीत साधक, शत्रु) दूसरा हेतु विद्यमान हो, वह प्रकरणसम कहा जाता है। इसी का नाम सत्प्रतिपक्ष भी है। तात्पर्य यह है कि जहाँ वादी ने साध्य के साधक हेतु का प्रयोग किया, वहाँ प्रतिवादी साध्य-भाव के साधक हेत्वन्तर का प्रयोग करे, तो ऐसे स्थल में सत्प्रतिपक्ष या प्रकरणसम हेतु कहा जाता है। जैसे—वादी ने कहा, 'शब्द नित्य है; क्योंकि शब्द में अनित्य धर्म की उपलब्धि नहीं होती'। इसके उत्तर में प्रतिवादी कहता है—'शब्द अनित्य है; क्योंकि शब्द में नित्यधर्म की उपलब्धि नहीं होती'। इस प्रकार प्रतिवादी के हेत्वन्तर दिखाने से प्रकरण की समाप्ति नहीं होती, किन्तु विचार चलता ही रहता है। सत् हेतु का प्रयोग करने पर विचार समाप्त हो जाता है और सत्प्रतिपक्ष हेतु विचार की समाप्ति में समर्थ नहीं होता। इसीलिए, प्रकरण के समान होने से इसको प्रकरणसम कहते हैं।

जो हेतु साध्य के समान ही स्वयं असिद्ध है, उसको साध्यसम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सिद्ध जो हेतु है वही साध्य का साधक होता है, जो स्वयम् असिद्ध है वह साध्य का साधक नहीं होता। किन्तु, साध्य के समान वह असिद्ध ही रहता है। इसलिए, यह साध्यसम नाम का हेत्वाभास है। इसका उदाहरण है—शब्द गुण है,

चाक्षुष होने के कारण। यहाँ शब्द में चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध है, इसलिए यह साध्य के समान असिद्ध होने से साध्यसम नाम का हेत्वाभास है। साध्यसम हेतु को ही असिद्ध भी कहते हैं। सोपाधिक हेतु को भी असिद्ध कहते हैं। उपाधि से युक्त का नाम सोपाधिक है। जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है, उसको उपाधि कहते हैं। उपाधि का विशेष विवेचन उदयनाचार्य की किरणावली में लिखा है। हमने भी 'चार्वाक-दर्शन' में इसकी विशेष चर्चा की है।

जिसका साध्यभाव प्रमाणान्तर से निश्चित है, वह कालातीत या कालात्ययापदिष्ट कहा जाता है। इसी का नाम बाधित भी है। जैसे—अग्नि शीतल है, प्रमा के आश्रय होने से। यहाँ साध्य जो शीतलत्व है, उसका अभाव (उष्णत्व) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही निश्चित है, इसलिए हेतु-वाक्य के श्रवण के पहले ही साध्याभाव (उष्णत्व) का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होने के कारण प्रयोक्ता को हेतु-वाक्य का उच्चारण नहीं करना चाहिए था; क्योंकि जबतक साध्य की सिद्धि नहीं होती, तभी तक हेतु-वाक्य के प्रयोग का समय रहता है। जब साध्य का अभाव प्रत्यक्ष से गृहीत हो गया, तब हेतु के प्रयोग का काल अतीत हो जाने से कालातीत नाम का हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार, पाँच हेत्वाभासों का संक्षिप्त विवरण दिखाकर हेत्वाभास के बाद क्रमप्राप्त अवशेष छल आदि पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

छल—छल का विवेचन करते हुए महर्षि गौतम ने लिखा है—'वचनविघातोऽर्थ-विकल्पोपपत्त्या छलम्' (न्या० सू० १।२।१०)। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता के अनभिप्रेत अर्थ के उपपादन द्वारा जो वचन का विरोध प्रदर्शन है, वही छल है। जैसे, किसी ने नवीन कम्बल के अभिप्राय से 'इस ब्राह्मण के पास नव कम्बल है' ऐसा प्रयोग किया। प्रतिवादी इस वाक्य में नव शब्द का नव (९) संख्या बताकर कहता है—इस दरिद्र के पास नव (९) कहाँ से आ सकते हैं। यहाँ नव का अर्थ नव संख्या (जो वक्ता का अभिप्राय नहीं है) बताकर उसके वचन को काटना छल कहा जाता है।

यह छल तीन प्रकार का होता है—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। शक्ति-वृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है, वह वाक्छल है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त (नव कम्बलवाला) है। यहाँ शक्ति-वृत्ति के व्यत्यय से अर्थान्तर की कल्पना वाक्छल है।

तात्पर्य-वृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है, वह सामान्य-छल है। जैसे—ब्राह्मण में विद्या सम्भव है, इस अभिप्राय से किसी ने ब्राह्मण में विद्या है, ऐसा प्रयोग किया, इस पर प्रतिवादी कहता है कि यह आप क्यों कहते हैं, मूर्ख भी बहुत-से ब्राह्मण हैं। यहाँ छलवादी नियम में तात्पर्य मानकर वादी के वचन का खण्डन करता है। अतः, तात्पर्य-वृत्ति के व्यत्यय से अर्थान्तर की कल्पना करने के कारण इसको सामान्य-छल कहा जाता है।

लक्षणावृत्ति के व्यत्यय से जो अर्थान्तर की कल्पना है, उसी को उपचार-छल कहते हैं। जैसे, मञ्चस्थ व्यक्ति के बोलने के अभिप्राय से 'मञ्चाः क्रोशन्ति'

इस वाक्य का वादी के उच्चारण करने पर प्रतिवादी कहता है कि अचेतन मञ्च किस प्रकार बोल सकता है? यहाँ मञ्चस्थ व्यक्ति के बोलने के अभिप्राय से जो वादी का प्रयोग था, उसको छलवादी छिपाकर शक्यार्थ के अभिप्राय से खण्डन करता है। इसलिए लक्षणावृत्ति के व्यत्यय होने के कारण यह उपचार-छल माना गया है। लक्षणा का ही नाम उपचार है।

जाति—जाति की परिभाषा महर्षि गौतम ने इस प्रकार की है—'साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'। तात्पर्य यह है कि साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य की जो अनुपपत्ति है, उसका प्रदर्शन करना जाति है। वादी यदि उदाहरण-साधर्म्य से साध्य की उपपत्ति दिखाता है, तो उसी समय प्रतिवादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है। इसी प्रकार, वादी यदि उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि करता है, तो उसी समय प्रतिवादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्य की असिद्धि दिखाता है। इसी को जाति कहते हैं। यह जाति चौबीस प्रकार की होती है—साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुपपत्तिसम, संशयसम, प्रकरणसम, हेतुसम, अर्थापत्तिसम, अविशेषसम, उपपत्तिसम, उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम और कार्यसम।

(१) **साधर्म्यसम**—कार्य होने से घट के सदृश शब्द अनित्य है, यह वादी का अनुमान-प्रकार है। प्रतिवादी का जात्युत्तर यह होता है कि अमूर्त्त होने के कारण आकाश के सदृश शब्द नित्य है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घट में रहनेवाला जो कृतकत्व है, उसका साधर्म्य होने से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। उसी प्रकार, नित्य आकाश में रहनेवाला जो अमूर्त्तत्व है, उसका साधर्म्य शब्द में होने के कारण शब्द नित्य ही क्यों नहीं होता, इस प्रकार का प्रतिवादी का उत्तर साधर्म्यनाम का जात्युत्तर होता है।

(२) **वैधर्म्यसम**—उक्त स्थल में ही अनित्य घट का वैधर्म्य रूप जो अमूर्त्तत्व है, उस अमूर्त्तत्व के शब्द में रहने के कारण शब्द नित्य क्यों नहीं? इस प्रकार का उत्तर वैधर्म्यसम कहा जाता है।

(३) **उत्कर्षसम**—जिस प्रकार उक्त स्थल में कार्य होने के कारण, घट का साधर्म्य होने से, यदि शब्द का अनित्यत्व साधन करते हैं, तो घट के सदृश ही शब्द भी मूर्त्त होना चाहिए। लेकिन, शब्द मूर्त्त नहीं है, इसलिए अनित्य भी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि यदि घट के समान शब्द मूर्त्त नहीं है, तो घट के समान अनित्य भी वह नहीं होगा। यहाँ शब्द में धर्मान्तर (मूर्त्तत्व धर्म) का अपादान करना है।

(४) **अपकर्षसम**—यदि उक्त स्थल में घट के सदृश कार्य होने से शब्द में अनित्यत्व का साधन करते हैं, तो घट जिस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं (अश्रावण) है, उसी प्रकार भी शब्द भी अश्रावण हो जायगा। यहाँ शब्द में श्रावणत्व का अपकर्ष दिखाना है।

(५) वर्ण्यसम—वर्णनीय हेतुरूप जो धर्म है, उसको वर्ण्य कहते हैं। पूर्वोक्त स्थल में, शब्द में जो कार्यत्व है, वह तालु, कण्ठ और ओष्ठ आदि के व्यापार से जन्य है और घट में जो कार्यत्व है, वह कुम्भकार के व्यापार से जन्य है, इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे भिन्नता होने से घट के दृष्टान्त से शब्द में अनित्यत्व का साधन नहीं कर सकते।

(६) अवर्ण्यसम—सिद्ध दृष्टान्त का जो धर्म है, वह अवर्ण्य है। जैसे, जिस प्रकार का कार्यत्व घट में है, उस प्रकार का शब्द में नहीं है।

(७) विकल्पसम—जैसे, पूर्वोक्तस्थल में कार्यत्व हेतु से शब्द का जो अनित्यत्व साधन किया है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य दो प्रकार का देखा जाता है—कोई मृदु और कोई कठोर। इसी प्रकार कोई घट आदि कार्य अनित्य और शब्द नित्य भी हो सकता, इस प्रकार कहना विकल्पसम है।

(८) साध्यसम—जैसे, घट के समान यदि शब्द अनित्य है, तो शब्द के सदृश घट भी श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होने लगेगा।

(९) प्राप्तिसम—प्राप्ति सम्बन्ध को कहते हैं, अर्थात् साध्य से सम्बद्ध जो हेतु है, वही साध्य का साधक होता है, ऐसा यदि माना जाय, तो साध्य और हेतु दोनों के परस्पर सम्बद्ध होने में कोई विशेषता न होने के कारण कौन साध्य है और कौन साधन, इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता।

(१०) अप्राप्तिसम—जैसे, हेतु साध्य से यदि असम्बद्ध है, तो साध्य का साधक किस प्रकार हो सकता।

(११) प्रसंगसम—शब्द के अनित्यत्व में क्या साधन है, और उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है, इस प्रकार की अनवस्था का नाम प्रसंगसम है। जैसे, शब्द के अनित्यत्व में घट-दृष्टान्त साधन होता है, तो उस घट के अनित्यत्व में क्या साधन है और पुनः उस अनित्यत्व में भी क्या साधन है, इस प्रकार की आपत्ति का नाम प्रसंगसम है।

(१२) प्रतिदृष्टान्तसम—विरुद्ध दृष्टान्त के द्वारा विरुद्ध साध्य के साधन का नाम प्रतिदृष्टान्तसम है। जैसे, प्रयत्न से विभाव्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण घट के सदृश शब्द अनित्य है। वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है—'प्रयत्न से विभाव्यमान (उत्पाद्यमान) होने के कारण आकाश के सदृश शब्द नित्य है। कुआँ आदि के खनन-प्रयत्न से आकाश भी विभाव्यमान होता है, इसलिए आकाश दृष्टान्त से शब्द के अनित्यत्व के विरुद्ध उसे नित्य सिद्ध करना प्रतिदृष्टान्तसम नाम का जात्युत्तर है।

(१३) अनुपपत्तिसम—जैसे, शब्द के अनित्यत्व का साधन कार्यत्व हेतु है, वह शब्द की उत्पत्ति के पहले नहीं है। क्योंकि, धर्मी के नहीं रहने पर धर्म का रहना असम्भव है। इसलिए, कार्यत्व धर्म से साध्य जो अनित्यत्व है, वह शब्द में नहीं है, इसलिए शब्द नित्य हो जाता है और नित्य उत्पन्न न होने से शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(१४) संशयसम—जिस प्रकार, कार्यत्व के साधर्म्य से घट के सदृश शब्द को अनित्य मानते हैं, उसी प्रकार ऐन्द्रियकत्व के साधर्म्य से नित्य घटत्व के समान शब्द को नित्य क्यों नहीं मानते ?

(१५) प्रकरणसम—संशयसम में, शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनों की समानता रहती है; किन्तु प्रकरणसम में विपरीत अनुमान का पूर्वानुमान बाधकत्वेन प्रदर्शित किया जाता है।

(१६) हेतुसम—हेतु साध्य से पूर्वकालिक अथवा उत्तरकालिक समकालिक है। हेतु को साध्य से पूर्वकालिक मानने में, हेतुकाल में साध्य के अभाव होने से, हेतु किसका साधक होगा, और साध्य से उत्तरकाल में हेतु के होने में साध्य तो सिद्ध ही है, तो फिर हेतु किसका साधन करेगा ? क्योंकि, जो सिद्ध है, उसका साधन व्यर्थ होता है और समकालिक मानने में सव्येतर विषाण (सींग) की तरह साध्य-साधन-भाव नहीं हो सकता। जिस प्रकार बछड़े के दोनों सींग एक काल में उत्पन्न होने से परस्पर साध्य-साधन नहीं होता, उसी प्रकार हेतु और साध्य के समकालिक होने के कारण दोनों में परस्पर साध्य-साधक भाव नहीं हो सकता।

(१७) अर्थापत्तिसम—यहाँ अर्थापत्ति शब्द से अर्थापत्ति के आभास का ग्रहण किया जाता है। जैसे, शब्द अनित्य है, इस प्रतिज्ञा से सिद्ध हो जाता है कि शब्द से भिन्न शब्द नित्य है, इसलिए घट भी नित्य ही हो जाता है, तो इसके दृष्टान्त से शब्द अनित्य किस प्रकार हो सकता है ?

(१८) अविशेषसम—जैसे, कार्यत्वरूप समानधर्म होने के कारण शब्द और घट इन दोनों में विशेषता न होने से दोनों को अनित्य मानते हैं, उसी प्रकार प्रमेयत्वरूप समानधर्म होने के कारण सकल पदार्थ अविशेष होने से नित्य अथवा अनित्य एकरूप हो जायगा।

(१६) उपपत्तिसम—जैसे, कार्यत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में अनित्यत्व का साधन करते हैं, उसी प्रकार निरवयत्व की उपपत्ति होने पर शब्द में नित्यत्व की सिद्धि क्यों नहीं होती ?

(२०) उपलब्धिसम—जैसे, वादी के धूम हेतु से अग्नि का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि धूम के विना भी आलोक आदि कारणान्तर से अग्नि की सिद्धि होती है, तो धूम से ही अग्नि की सिद्धि क्यों करते ?

(२१) अनुपलब्धिसम—कार्यत्व-हेतु से शब्द के अनित्यत्व का साधन करने पर प्रतिवादी कहता है कि शब्द तो कृतक (कार्य, उत्पन्न होनेवाला) नहीं है; क्योंकि उच्चारण के पहले भी वह विद्यमान है। केवल आवरण के कारण शब्द की उपलब्धि नहीं होती। यदि यह कहें कि आवरण की भी तो उपलब्धि नहीं होती, तो यह कहा जाता है कि आवरण की अनुपलब्धि की भी उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आवरण की उपलब्धि ही सिद्ध होती है। अतः, शब्द अनित्य नहीं हो सकता।

(२२) नित्यसम—शब्द में जो अनित्यत्व-रूप धर्म है, वह नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य मानें, तो धर्मी के विना धर्म की स्थिति नहीं हो सकती, धर्मी

शब्द को भी नित्य मानना आवश्यक हो जाता है। यदि अनित्य मानें, तो अनित्यत्व ही यदि अनित्य है, तो शब्द नित्य हो जाता है।

(२३) अनित्यसम—यदि कृतक (कार्य) होने के कारण घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य मानें, तो प्रमेय होने के कारण घट के साधर्म्य से सकल पदार्थ अनित्य होने लगेगा। यदि ऐसा न मानें, तो शब्द भी अनित्य नहीं हो सकता।

(२४) कार्यसम—शब्द अनित्य है, वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहता है कि कार्य तो जन्य और ज्ञाप्य दोनों होता है। इस स्थिति में कार्य होने से, ज्ञाप्य होने के कारण, शब्द नित्य भी हो सकता है। इसलिए, कार्यत्व-हेतु अनित्यत्व का साधक नहीं हो सकता।

इन पूर्वोक्त जातियों में साधर्म्यसम, प्रकरणसम, कार्यसम, संशयसम आदि जो बहुत-सी जातियाँ हैं, उनके अन्त में दूषण के एक होने पर भी, केवल दूषण के उद्भावन का प्रकार भिन्न होने से वे पृथक्-पृथक् लिखी गई हैं।

निग्रह-स्थान

वादी अथवा प्रतिवादी जिस स्थान में जाने से पराजित समझा जाता है, उसी को निग्रह-स्थान कहा जाता है।

यह बाईस प्रकार का है—प्रतिज्ञा-हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञा-संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानियोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास।

(१) *प्रतिज्ञा-हानि*—प्रतिज्ञा के त्याग का नाम 'प्रतिज्ञा-हानि' है। जैसे, वादी ने कहा—इन्द्रिय के विषय होने से शब्द अनित्य है। जब प्रतिवादी कहता है कि इन्द्रिय के विषय होने पर भी शब्द नित्य है, तब यदि वादी यह कहे कि नित्य ही शब्द रहे, इस प्रकार प्रतिज्ञा के त्याग करने से प्रतिज्ञा-हानि नाम के स्थान में वादी निगृहीत हो जाता है।

(२) *प्रतिज्ञान्तर*—पूर्ववत् शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा कर जब दूसरा दोष दिखाया जाता है, तब दूसरी प्रतिज्ञा कर ली जाती है, यही 'प्रतिज्ञान्तर' है। जैसे, सर्वगत सामान्य नित्य है, तो असर्वगत शब्द अनित्य है।

(३) प्रतिज्ञा-विरोध—प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य में विरोध का नाम 'प्रतिज्ञा-विरोध' है। जैसे, गुण से भिन्न की उपलब्धि न होने के कारण द्रव्य गुण से भिन्न है। यह हेतु-वाक्य प्रतिज्ञा-वाक्य से बिलकुल विरुद्ध है।

(४) प्रतिज्ञा-संन्यास—पूर्व में की गई प्रतिज्ञा के अपलाप का नाम प्रतिज्ञा-संन्यास है। शब्द के अनित्यत्व की प्रतिज्ञा कर दूसरों के द्वारा दोष दिखाये जाने पर कहे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है। इस प्रकार प्रतिज्ञा का अपलाप करना 'प्रतिज्ञा-संन्यास' है।

(५) हेत्वन्तर—बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण शब्द अनित्य है। इस हेतु के सामान्य में व्यभिचार दिखाने पर 'सामान्यवत्त्वे सति' इत्यादि विशेषण लगाकर दूसरा हेतु कहना ही 'हेत्वन्तर' है।

(६) अर्थान्तर—किसी हेतु के प्रयोग करने पर हेतु शब्द का निर्वचन या व्युत्पत्ति 'अर्थान्तर' है।

(७) निरर्थक—निरर्थक शब्द का प्रयोग करना ही 'निरर्थक' नाम का निग्रह-स्थान है। जैसे—ख, फ, छ, ठ, थ होने से ज, ब, ग, ड, द के समान क, च, ट, त, प शब्द नित्य है।

(८) अविज्ञातार्थ—तीन बार कहने पर भी कठिन या अप्रसिद्ध या अन्य भाषास्थ शब्द होने से जो मध्यस्थ की समझ में न आवें, ऐसी उक्ति को 'अविज्ञातार्थ' कहते हैं।

(९) अपार्थक—आकांक्षा, योग्यता आदि से रहित परस्पर असम्बद्ध जो उक्ति है, वह अपार्थक है। जैसे—'दश दाडिमानि, षडपूपाः' इत्यादि या 'अग्निना सिञ्चति'।

(१०) अप्राप्तकाल—अप्राप्तकाल वह है, जहाँ प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्यायावयवों का विपरीत प्रयोग किया जाय। जैसे—महानस के समान धूमवान् होने से अग्निमान् पर्वत है, इत्यादि।

(११) न्यून—प्रतिज्ञादि अवयवों में किसी का प्रयोग नहीं करना 'न्यून' है।

(१२) अधिक—'अधिक' वह है, जहाँ एक ही उदाहरण से साध्य की सिद्धि हो जाने पर दूसरा हेतु या उदाहरण उपन्यस्त किया जाय।

(१३) पुनरुक्त—एक ही बात को उन्हीं शब्दों या पर्यायवाची शब्दों के द्वारा बार-बार कहना 'पुनरुक्त' है।

(१४) अननुभाषण—बोलो, बोलो, बोलो, इस प्रकार तीन बार मध्यस्थ के कहने पर भी नहीं बोलना 'अननुभाषण' है।

(१५) अज्ञान—वादी या प्रतिवादी के उक्त अर्थ को मध्यस्थ के द्वारा समझ लिये जाने पर भी वादी या प्रतिवादी का नहीं समझना 'अज्ञान' है।

(१६) अप्रतिभा—प्रश्न के समझ लेने पर और उसका अनुवाद कर देने पर भी उत्तर का स्फुरित न होना 'अप्रतिभा' है।

(१७) विक्षेप—स्वयं अयोग्य प्रमाणित होकर कार्यान्तर के व्याज से अलग होने की चेष्टा करना 'विक्षेप' है।

(१८) मतानुज्ञा—'मतानुज्ञा' उसे कहते हैं—जब कोई किसी से कहे, 'तू चोर है', तो इसके उत्तर में वह कहे 'तू भी चोर है'। इससे अपने में चोरत्व का परिहार न कर, दूसरे को चोर कहने से अपने में चोर होने का अनुमान हो जाता है।

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण—वस्तुतः निग्रह-स्थान में आने पर भी 'तुम निगृहीत हो', ऐसा नहीं कहना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' है।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग—वस्तुतः निग्रह-स्थान न होने पर भी 'तुम निगृहीत हो', इस प्रकार कहना 'निरनुयोज्यानुयोग' है।

(२१) अपसिद्धान्त—जिस सिद्धान्त के आधार पर जो कहा जा रहा है, उसे छोड़कर बीच में ही दूसरी कथा कहना 'अपसिद्धान्त' है।

(२२) हेत्वाभास—इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

इस प्रकार, सोलह पदार्थों का संक्षेप में विवेचन किया गया। यद्यपि, प्रमाणादि सोलह पदार्थों में प्रमेय से भिन्न जो पन्द्रह पदार्थ हैं, और प्रमेय में भी अर्थ से भिन्न जो ग्यारह प्रमेय हैं, उन सबका अन्तर्भाव अर्थ में ही हो जाता है, और यह सूत्रकार-सम्मत भी है, तो भी मोक्ष का कारणीभूत जो तत्त्व-ज्ञान है, उसके उपयोगी होने के कारण पृथक्-पृथक् सोलहो पदार्थों का विवेचन सूत्रकार ने किया है।

ये सोलहो पदार्थ मोक्ष में उपयोगी होते हैं। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति जन्म, मरण और गर्भवास-रूप प्रेत्यभाव से होती है और सुख-दुःख का उपभोग-रूप जो फल है, उसकी जनक जो प्रवृत्ति है, उसी से प्रेत्यभाव उत्पन्न होता है। प्रेत्यभाव प्रवृत्ति का ही कार्य है। मनोगत राग-द्वेष मोहरूप जो दोष हैं, वे ही प्रवृत्ति के मूल हैं। दोष का भी कारण मिथ्या ज्ञान है। इसलिए, मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति होती है और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति शरीर, इन्द्रिय तथा विषय के अतिरिक्त आत्मतत्त्व के ज्ञान से होती है। प्रमेयभूत तत्त्वों का ज्ञान ही प्रमाणों का मुख्य प्रयोजन है और इन्द्रियातीत सूक्ष्म विषयों का ज्ञान अनुमान के ही अधीन है। अनुमान भी पाँच अवयवों से युक्त है और दृष्टान्त ही उसका जीवन है। तर्क अनुमान का सहायक होता है। इसलिए, दृष्टान्त जिसका जीवन है, ऐसा पञ्चावयव-युक्त अनुमान ही, तर्क की सहायता से, सिद्धान्त के अनुसार, संशय के निराकरण द्वारा, निर्णय कराने में समर्थ हो सकता है। निर्णय भी पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह-रूप कथा (शास्त्र-विचार) में, वाद से, दृढ़ होता है। वादरूप कथा में वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—ये सब हेय होते हैं। अतः, इन सब के त्याग के लिए इनके स्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, सूत्रकार से निर्दिष्ट सकल पदार्थों का ज्ञान मोक्ष में उपयोगी होता है। एक बात और जानने योग्य है कि जल्प आदि का प्रयोग स्वयं नहीं करना चाहिए। दूसरा प्रयोग करे, तो मध्यस्थ को जना देना चाहिए। दूसरा मूर्ख या दुराग्रही हो, तो चुप रह जाना चाहिए। यदि मध्यस्थ अनुमति दे, तो छल आदि से भी उसे परास्त करना चाहिए। अन्यथा मूर्ख को विजयी समझकर अज्ञानी लोग उसके मत का अवलम्बन कर अनेक प्रकार के कुमार्ग में फँस जायँगे। इससे यह सिद्ध होता है कि मूर्खों और दुराग्रहियों को परास्त करने के लिए ही आचार्य ने छलादि का प्रयोग किया है। लिखा भी है—

'गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत् प्रतारितः।
मार्गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥'

अब यह विचार किया जाता है कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों के प्रतिपादन करनेवाले इस शास्त्र को न्याय कैसे कहा जाता है? पञ्चावयव से युक्त पदार्थानुमान

को ही शास्त्रकारों ने न्याय कहा है। यह तो प्रमाणादि सोलह पदार्थों का प्रतिपादन करता है।

इसका उत्तर यह है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से इसको भी न्याय ही कहा गया है। सकल विद्याओं का अनुग्राहक और सकल कर्मानुष्ठानों का साधन होने के कारण न्याय[1] को प्रधान माना गया है। इसलिए उद्योतकराचार्य ने भी न्यायवार्तिक में 'सोऽयं परमो न्यायः विप्रतिपन्नपुरुषं प्रति प्रतिपादकत्वात्' इस वार्तिक से 'परमन्याय' शब्द से इसका व्यवहार किया है। परमन्याय का तात्पर्य मुख्य प्रमाण है और यही इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

नीयते = प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिः अनेन—इस व्युत्पत्ति से न्याय शब्द का अर्थ तर्कानुगृहीत और पञ्चावयवयुक्त अनुमान ही होता है। यह न्याय-शास्त्र सकल शास्त्रों का उपकारक[2] और समस्त लौकिक तथा वैदिक कर्मों का आश्रय है। महर्षि वात्स्यायन (जिसको पक्षिलस्वामी भी कहते हैं) ने भी न्यायभाष्य में लिखा है—

> 'सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिपदार्थैः प्रविभज्य माना—
> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
> आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता॥'
>
> —न्या० भा०, सू० १

तात्पर्य यह है कि प्रमाणादि सोलह पदार्थों में विभक्त यह आन्वीक्षिकी[3] सब विद्याओं का प्रकाशक, सकल कर्मों का उपाय और सकल धर्मों का आधार है।

इसकी परीक्षा विद्या के उद्देश्य में की गई है। लोक-संस्थिति के हेतु चार प्रकार की विद्या मानी गई है—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति।

यहाँ आन्वीक्षिकी का अर्थ न्याय-विद्या है। प्रत्यक्ष और आगम से जो ईक्षित है, उसके पुनः ईक्षण का नाम अन्वीक्षा है और उससे जो प्रवृत्त है, उसको आन्वीक्षिकी कहते हैं। यही तर्कानुगृहीत पञ्चावयवयुक्त न्याय है। यह सब विद्याओं में प्रधान है। इसीलिए, इसका नाम 'न्याय-शास्त्र' है।

अब यह विचारणीय है कि उक्त सोलह पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से जो मुक्ति होती है, वह तत्त्व-ज्ञान के अव्यवहित अनन्तर अथवा क्रमशः अव्यवहित अनन्तर तो कह नहीं सकते, क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है—'कारणनाशात् कार्यनाशः'। यह न्याय सर्वतन्त्र-सिद्ध है। अब यह विचारना है कि मोक्ष क्या है और उसका कारण क्या है? तथा उसमे पहले क्या होता है? मोक्ष के कारण का विचार करने पर सकल दुःख का मूल कारण जन्म ही प्रतीत होता है; क्योंकि जो जन्म नहीं लेता, उसे दुःख नहीं होता। इसलिए, दुःख का कारण जन्म ही सिद्ध होता है। जन्म का कारण है—धर्म-अधर्म। धर्माधर्म को ही सूत्रकार ने प्रवृत्ति शब्द से कहा है—प्रवृत्ति के कारण ही धर्माधर्म होते हैं। प्रवृत्ति का भी कारण दोष है। मिथ्या ज्ञान से दोष की उत्पत्ति होती है। मिथ्या ज्ञान ही दोष का मूल है।

१. जिसके द्वारा विवक्षित अर्थ की प्राप्ति हो। २. प्रकाशक। ३. न्याय-विद्या।

अतिरिक्त उसका आश्रय आत्मा को मानें, तो भी उसमें यह विकल्प होता है कि आत्मा नित्य है, अथवा अनित्य ?

यदि नित्य मानते हैं, तो उसका उच्छेद हो नहीं सकता; क्योंकि नित्य वही कहा जाता है, जिसका कभी विनाश न हो। इस स्थिति में आत्मा के उच्छेद की आशङ्का ही नहीं हो सकती। यदि आत्मा को अनित्य माना जाय, तब तो मोक्ष के लिए किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आत्मनाश के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। संसार में सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। श्रुति भी यही बताती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। और, आत्मा को अनित्य मानने से यह लोक-प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न नहीं होता कि अमुक-अमुक मुक्त हो गये। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षरूप धर्म के अतिरिक्त, उसका आश्रय धर्मी कोई अवश्य है, और वह नित्य है।

विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि धर्मी के निवृत्त होने से जिस निर्मल ज्ञान का उदय होता है, वही मोक्ष है। उनका कहना है कि ज्ञान तो स्वभाव से ही निर्मल और स्वच्छ है, केवल आश्रय—आत्मा—के सम्बन्ध से वह मलिन हो जाता है। आश्रय के निवृत्त हो जाने पर प्रतिक्षण निर्मल ज्ञान का उदय होता रहता है। वही 'महोदय' कहा जाता है और उसी का नाम 'मोक्ष' है। परन्तु, विज्ञानवादी का यह मत भी ठीक नहीं जँचता। कारण, इसमें सामग्री का अभाव और सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति बनी ही रहती है। तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञानोदय में चार प्रकार की भावनाएँ कारण होती हैं। ये ही महोदय की सामग्रियाँ हैं। 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यम्'—यही भावनाचतुष्टय नाम से प्रसिद्ध है। इसका विवेचन पूर्णतया बौद्ध दर्शन में किया गया है।

अब यहाँ विचारना है कि साधारणतया जायमान जो भावना है, वह अभिज्ञान की जनक नहीं होती है; किन्तु अतिशय जायमान जो भावना है, वह अभिज्ञान की जनक होती है। यथा, स्पष्ट लक्षण से रहित मणि को एक बार देखने ही से उसका यथार्थ परिचय नहीं होता, किन्तु बार-बार निरीक्षण-परीक्षण से ही उसका यथार्थ परिचय होता है। परन्तु, विज्ञानवादी बौद्धों के मत में भावना का प्रकर्ष हो ही नहीं सकता। कारण, स्थिर पदार्थ में ही भावना का प्रकर्ष होता है, अस्थिर में नहीं। और उनके मत में भावना का आधार कोई भी स्थिर नहीं है। क्योंकि, उनके मत में सब कुछ क्षणिक ही माना जाता है, स्थिर कुछ भी नहीं। आत्मा के भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होने से 'दुःखं क्षणिकं' इत्यादि भावना का प्रकर्ष इसमें असम्भव ही है। इसलिए, मोक्ष-सामग्री का अभाव उनके मत में सिद्ध होता है।

सामानाधिकरण्य की भी उपपत्ति इनके मत में नहीं होती। सामानाधिकरण्य का

ज्ञान स्वयं निवृत्त होता है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से प्रवृत्ति के कारण जो राग, द्वेष आदि दोष हैं, वे स्वयं निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि कारण के नाश होने से कार्य का नाश अवश्यम्भावी हो जाता है,—'कारणनाशात् कार्यनाशः' यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। दोष के नष्ट होने पर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, और प्रवृत्ति के न होने से जन्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि जन्म का कारण धर्माधर्म-रूप प्रवृत्ति ही है। जन्म का अपाय (नाश) होने से दुःख का भी आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति वही है, जहाँ सजातीय दुःखान्तर की उत्पत्ति होने की सम्भावना भी नहीं रहती। यही सिद्धान्त महर्षि गौतम का है—

'दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।'

—गौ० सू०, १।१।२

अर्थात्, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या-ज्ञान—इनके उत्तरोत्तर के नाश से पूर्व-पूर्व के नाश होने के कारण अपवर्ग होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि दुःख के अत्यन्त उच्छेद का ही नाम अपवर्ग या मोक्ष है।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि दुःख का अत्यन्त उच्छेद-रूप मोक्ष तो अभी तक असिद्ध है, पुनः इसके लिए उपाय की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह होता है कि जितने मोक्षवादी आचार्य हैं, उनके मत में मोक्ष-दशा में दुःख का अत्यन्त उच्छेद होता है। जैसे—बौद्ध के एकदेशी माध्यमिकों के मत में आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना गया है। इस अवस्था में दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद रहता ही है। इसमें कोई विवाद नहीं है। यदि ऐसा कहें कि शरीर के समान ही आत्मा भी दुःख का हेतु है, इसलिए आत्मा भी उच्छेद्य है, तो यह नैयायिकों से विरोध हो जाता है; क्योंकि नैयायिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं, और इस तरह यह विनाशशील हो जाता है। इसलिए, वन्ध्या-पुत्र के समान मोक्ष का अस्तित्व असम्भव ही हो जाता है। यही इस शङ्का का तात्पर्य है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता।

वैभाषिकों ने आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना है। वे ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानते हैं। सन्तान का अर्थ प्रवाह होता है। प्रवाह जिस तरह प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इनके मत में ज्ञान भी प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है। इसमें यह विकल्प होता है कि क्या आत्मा क्षणिक ज्ञान-सन्तान ही है, अथवा उससे भिन्न उसका आश्रय अन्य कोई? यदि ज्ञान-प्रवाह को ही आत्मा मान लें, तब तो कोई विवाद ही नहीं; क्योंकि आत्मोच्छेद का अर्थ ज्ञानोच्छेद ही होगा और मोक्षावस्था में ज्ञान का उच्छेद नैयायिकों का अभीष्ट ही है। मोक्षावस्था में सब प्रकार के ज्ञान का नाश होने से जीवात्मा की स्थिति पाषाण-तुल्य रहती है, यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इस स्थिति में ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानकर उसका उच्छेद मोक्ष में माध्यमिका मानना नैयायिकों के प्रतिकूल नहीं होता, इसलिए उसके खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि ज्ञान-प्रवाह के

आत्मा से भिन्न शरीर आदि में आत्म-बुद्धि का होना ही मिथ्या ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान से ही अनुकूल वस्तु में राग और प्रतिकूल में द्वेष उत्पन्न होता है। राग और द्वेष को ही दोष माना गया है। इसी दोष से प्रवृत्त होकर मनुष्य अपने शरीर के द्वारा हिंसा, चोरी आदि निषिद्ध कर्म का आचरण करता है, वचन से मिथ्या भाषण करता है और मन के द्वारा दूसरे से द्रोह आदि करता है। इसी पाप-प्रवृत्ति को अधर्म कहा जाता है।

मनुष्य शरीर से जो दान, पुण्य या दूसरे की रक्षा आदि पुण्य-कर्म करता है, मन के द्वारा सबकी भलाई करने की चेष्टा करता है, और किसी की बुराई नहीं चाहता, उसी पुण्यमय प्रवृत्ति को धर्म कहा जाता है। धर्म और अधर्म दोनों की संज्ञा 'प्रवृत्ति' है। यद्यपि धर्म और अधर्म प्रवृत्ति के साधन माने गये हैं, तथापि 'आयुर्वै घृतम्', 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इत्यादि व्यवहार के समान धर्म तथा अधर्म का प्रवृत्ति शब्द से सूत्रकार ने व्यवहार किया है। इसी धर्माधर्मरूपी प्रवृत्ति के अनुकूल मनुष्य प्रशस्त या निन्दित शरीर ग्रहण करता है। जबतक धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति-जन्य संस्कार बना रहेगा, तबतक कर्म-फल भोगने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक रहता है। शरीर ग्रहण करने पर प्रतिकूलवेदनीय होने के कारण बाधनात्मक दुःख का होना अनिवार्य रहता है। इसलिए, धर्माधर्मरूप कर्म में प्रवृत्ति के बिना दुःख नहीं होता। मिथ्या ज्ञान से दुःख-पर्यन्त अविच्छेदेन निरन्तर प्रवर्त्तमान होता हुआ यही संसार शब्द का वाच्य होता है। यह घड़ी की तरह निरन्तर अनुवृत्त होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है। प्रवृत्ति के बिना पुनर्जन्म न होने के कारण दुःख की सम्भावना भी नहीं रहती। इसलिए, कोई भी उस अवस्था में दुःख का अनुभव नहीं करता। फिर प्रवृत्ति होने से दुःख से छुटकारा भी नहीं पाता। इससे यह सिद्ध होता है कि घड़ी की तरह पुनः-पुनः प्रवर्त्तमान दुःखमय इस संसार में कोई विरला ही भाग्यशाली मनुष्य है, जिसने पूर्वजन्म में सुकृत किया है, और उस सुकृत के परिपाकवश, सद्गुरु की कृपा और उनके उपदेश से संसार का असली रूप जानकर उसे हेय समझ लिया है तथा इस समस्त संसार को दुःखानुषक्त और दुःख के आयतन के रूप में देखता और समझता है। वह किसी प्रकार इससे छुटकारा पाना चाहता है और इसके मूल कारण अविद्या और राग, द्वेष आदि की निवृत्ति का उपाय खोजता है।

अविद्या की निवृत्ति का उपाय तत्त्व-ज्ञान ही है। यह तत्त्व-ज्ञान प्रमेयों की चार प्रकार की भावनाओं से किसी विरला ही मनुष्य को होता है। उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा और विभाग, प्रमेयों की ये ही चार भावनाएँ हैं, अथवा दुःख, दुःखहेतु, मोक्ष और उसका उपाय, ये ही चार प्रकार हैं। प्रकृत में ये ही चार ग्राह्य हैं। दुःख तो प्रसिद्ध ही है। उसका हेतु मिथ्या ज्ञानादि सकल संसार है।

मोक्ष, अपवर्ग या मुक्ति

दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद का ही नाम मोक्ष है। इसका उपाय तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान होने पर मिथ्या ज्ञान स्वयं निवृत्त हो जाता है; जैसे, रज्जु के ज्ञान से सर्प का

ज्ञान स्वयं निवृत्त होता है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने से प्रवृत्ति के कारण जो राग, द्वेष आदि दोष हैं, वे स्वयं निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि कारण के नाश होने से कार्य का नाश अवश्यम्भावी हो जाता है,—'कारणनाशात् कार्यनाशः' यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। दोष के नष्ट होने पर प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, और प्रवृत्ति के न होने से जन्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि जन्म का कारण धर्माधर्म-रूप प्रवृत्ति ही है। जन्म का अपाय (नाश) होने से दुःख का भी आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मोक्ष है। आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति वही है, जहाँ सजातीय दुःखान्तर की उत्पत्ति होने की सम्भावना भी नहीं रहती। यही सिद्धान्त महर्षि गौतम का है—

'दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।'

—गौ० सू०, १।१।२

अर्थात्, दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या-ज्ञान—इनके उत्तरोत्तर के नाश से पूर्व-पूर्व के नाश होने के कारण अपवर्ग होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि दुःख के अत्यन्त उच्छेद का ही नाम अपवर्ग या मोक्ष है।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि दुःख का अत्यन्त उच्छेद-रूप मोक्ष तो अभी तक असिद्ध है, पुनः इसके लिए उपाय की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह होता है कि जितने मोक्षवादी आचार्य हैं, उनके मत में मोक्ष-दशा में दुःख का अत्यन्त उच्छेद होता है। जैसे—बौद्ध के एकदेशी माध्यमिकों के मत में आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना गया है। इस अवस्था में दुःख का आत्यन्तिक उच्छेद रहता ही है। इसमें कोई विवाद नहीं है। यदि ऐसा कहें कि शरीर के समान ही आत्मा भी दुःख का हेतु है, इसलिए आत्मा भी उच्छेद्य है, तो यह नैयायिकों से विरोध हो जाता है; क्योंकि नैयायिक आत्मा को अविनाशी मानते हैं, और इस तरह वह विनाशशील हो जाता है। इसलिए, वन्ध्या-पुत्र के समान मोक्ष का अस्तित्व असम्भव ही हो जाता है। यही इस शङ्का का तात्पर्य है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता।

वैभाषिकों ने आत्मोच्छेद को ही मोक्ष माना है। वे ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानते हैं। सन्तान का अर्थ प्रवाह होता है। प्रवाह जिस तरह प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इनके मत में ज्ञान भी प्रतिक्षण नये-नये रूपों में उत्पन्न होता है। इसमें यह विकल्प होता है कि क्या आत्मा क्षणिक ज्ञान-सन्तान ही है, अथवा उससे भिन्न उसका आश्रय अन्य कोई? यदि ज्ञान-प्रवाह को ही आत्मा मान लें, तब तो कोई विवाद ही नहीं; क्योंकि आत्मोच्छेद का अर्थ ज्ञानोच्छेद ही होगा और मोक्षावस्था में ज्ञान का उच्छेद नैयायिकों का अभीष्ट ही है। मोक्षावस्था में सब प्रकार के ज्ञान का नाश होने से जीवात्मा की स्थिति पाषाण-तुल्य रहती है, यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। इस स्थिति में ज्ञान-सन्तान को आत्मा मानकर उसका उच्छेद मोक्ष में माध्यमिका मानना नैयायिकों के प्रतिकूल नहीं होता, इसलिए उसके खण्डन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि ज्ञान-प्रवाह के

अतिरिक्त उसका आश्रय आत्मा को मानें, तो भी उसमें यह विकल्प होता है कि आत्मा नित्य है, अथवा अनित्य ?

यदि नित्य मानते हैं, तो उसका उच्छेद हो नहीं सकता; क्योंकि नित्य वही कहा जाता है, जिसका कभी विनाश न हो। इस स्थिति में आत्मा के उच्छेद की आशङ्का ही नहीं हो सकती। यदि आत्मा को अनित्य माना जाय, तब तो मोक्ष के लिए किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् पुरुष आत्मनाश के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। संसार में सबसे प्रिय आत्मा ही होता है। श्रुति भी यही बताती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। और, आत्मा को अनित्य मानने से यह लोक-प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न नहीं होता कि अमुक-अमुक मुक्त हो गये। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षरूप धर्म के अतिरिक्त, उसका आश्रय धर्मी कोई अवश्य है, और वह नित्य है।

विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि धर्मी के निवृत्त होने से जिस निर्मल ज्ञान का उदय होता है, वही मोक्ष है। उनका कहना है कि ज्ञान तो स्वभाव से ही निर्मल और स्वच्छ है, केवल आश्रय—आत्मा—के सम्बन्ध से वह मलिन हो जाता है। आश्रय के निवृत्त हो जाने पर प्रतिक्षण निर्मल ज्ञान का उदय होता रहता है। वही 'महोदय' कहा जाता है और उसी का नाम 'मोक्ष' है। परन्तु, विज्ञानवादी का यह मत भी ठीक नहीं जँचता। कारण, इसमें सामग्री का अभाव और सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति बनी ही रहती है। तात्पर्य यह है कि निर्मल ज्ञानोदय में चार प्रकार की भावनाएँ कारण होती हैं। ये ही महोदय की सामग्रियाँ हैं। 'सर्वं दुःखं, सर्वं क्षणिकं' सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं शून्यम्'—यही भावनाचतुष्टय नाम से प्रसिद्ध है। इसका विवेचन पूर्णतया बौद्ध दर्शन में किया गया है।

अब यहाँ विचारना है कि साधारणतया जायमान जो भावना है, वह अभिज्ञान की जनक नहीं होती है; किन्तु अतिशय जायमान जो भावना है, वह अभिज्ञान की जनक होती है। यथा, स्पष्ट लक्षण से रहित मणि को एक बार देखने ही से उसका यथार्थ परिचय नहीं होता, किन्तु बार-बार निरीक्षण-परीक्षण से ही उसका यथार्थ परिचय होता है। परन्तु, विज्ञानवादी बौद्धों के मत में भावना का प्रकर्ष हो ही नहीं सकता। कारण, स्थिर पदार्थ में ही भावना का प्रकर्ष होता है, अस्थिर में नहीं। और उनके मत में भावना का आधार कोई भी स्थिर नहीं है। क्योंकि, उनके मत में सब कुछ क्षणिक ही माना जाता है, स्थिर कुछ भी नहीं। आत्मा के भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होने से 'दुःखं क्षणिकं' इत्यादि भावना का प्रकर्ष इसमें असम्भव ही है। इसलिए, मोक्ष-सामग्री का अभाव उनके मत में सिद्ध होता है।

सामानाधिकरण्य की भी उपपत्ति इनके मत में नहीं होती। सामानाधिकरण्य का तात्पर्य है—बद्धता और मुक्तता का एक आश्रय में रहना। जो बद्ध होता है, वही मुक्त होता है, इस प्रकार की व्यवस्था, जो सर्वसिद्धान्त-सिद्ध है, वह इनके मत में नहीं बनती। कारण, इनके मत में सोपप्लव ज्ञान-सन्तान-रूप आत्मा को बद्ध और निरुपप्लव ज्ञान-सन्तान-रूप आत्मा को मुक्त माना जाता है। आश्रय से सम्बद्ध

मलसहित ज्ञान-प्रवाह का नाम सोपप्लव है, और वही बद्ध है। इससे भिन्न निरुपप्लव अर्थात् मुक्त है। ये बद्धता सोपप्लव ज्ञान-सन्तान में और मुक्तता निरुपप्लव ज्ञान-सन्तान में मानते हैं। इसलिए, जो बद्ध है, वही मुक्त होता है; इस प्रकार की व्यवस्था इनके मत में नहीं होती। कारण, क्षण-क्षण में उसको ये भिन्न मानते हैं।

इसी प्रकार, जैनों का भी मुक्ति-लक्षण प्रतिबन्ध-रहित नहीं है। इनके मत में आवरण-भंग का ही नाम मुक्ति है। अब उनसे पूछना है कि आवरण कहते किसे हैं? यदि यह कहें कि धर्माधर्म की भ्रान्ति ही आवरण है, तो यह इष्ट ही है, इसलिए खण्डनीय नहीं है। यदि यह कहें कि देह ही आवरण है, और इससे मुक्त होने पर पिंजड़े से मुक्त सुग्गे की तरह आत्मा का निरन्तर ऊर्ध्व-गमन ही मोक्ष है, तो उनसे पूछना है कि वह आत्मा मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त? यदि मूर्त्त कहें तो यह प्रश्न होता है कि निरवयव है अथवा सावयव? यदि निरवयव कहें, तो निरवयव मूर्त्त परमाणु ही होता है, इसलिए परमाणु का लक्षण आत्मा में आ जाने से परमाणु-धर्म के अतीन्द्रिय होने के कारण आत्मा का धर्म भी अतीन्द्रिय होने लगेगा, जो किसी को इष्ट नहीं है। यदि सावयव मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण, सावयव पदार्थ अनित्य होते हैं, इस नियम से आत्मा भी अनित्य हो जायगा। इस स्थिति में अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश दोष हो जाते हैं। जिसने कर्म किया, यदि उसका फल उसको न मिले, तो यह कृतप्रणाश है और जो कर्म न करे और फल पावे, तो यह अकृताभ्यागम है। यह उचित नहीं है। उचित तो यह है कि जो कर्म करे, वही फल पावे। यह आत्मा के नित्य मानने में ही सम्भव है, अनित्य मानने में कदापि नहीं। इसलिए, सावयव या निरवयव—किसी के भी मानने में उनका मत ठीक नहीं होता। यदि आत्मा को अमूर्त्त मानें, तो भी ठीक नहीं होता; क्योंकि वे ऊर्ध्वगमनरूपी क्रिया को मुक्तात्मा में मानते हैं, और क्रिया मूर्त्त में ही हो सकती है, अमूर्त्त में नहीं।

चार्वाकों के मत में स्वतन्त्रता को ही मोक्ष माना गया है। यहाँ भी विचार करना है कि यदि दुःख-निवृत्ति को ही स्वातन्त्र्य माना गया हो, तो कोई विवाद नहीं है, इष्टापत्ति है। यदि स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य को मानें, तो यह विचार का विषय होता है। विचारशीलों की दृष्टि से मोक्ष का स्वरूप वही है, जिसमे उत्तम कोई दूसरा सुख न हो और उसके सदृश भी कोई न हो। इसी को निरतिशय और निरुपम कहते हैं। जीव का ऐश्वर्य निरतिशय कदापि नहीं हो सकता। सब-कुछ होने पर भी जीवन-मरण के विषय में उसका स्वातन्त्र्य कभी नहीं हो सकता। निरतिशय सुख वही है, जिसके प्राप्त हो जाने पर दूसरी वस्तु की अभिलाषा न हो। सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाने पर भी किसी-न-किसी वस्तु की अभिलाषा बनी ही रहती है। अतः, वह निरतिशय नहीं हो सकता। इसीलिए, इनका मत भी ठीक नहीं है।

मुक्ति के विषय में सांख्य-शास्त्र का मत है कि प्रकृति और पुरुष का विवेक-ज्ञान होने पर भी पुरुष का जो अपने स्वरूप में अवस्थान है, वही मुक्ति या मोक्ष है। समस्त जड़-वर्ग का मूल कारण प्रकृति है। वह जड़ और त्रिगुणात्मक भी है। इसीका नाम प्रधान या अव्यक्त भी है। पुरुष जीव को कहते हैं। इन दोनों के भेद-ज्ञान से ही मुक्ति

होती है। इस प्रकार, मुक्ति-स्वरूप मानने पर भी दुःख का उच्छेद होता है। इसलिए, कोई विवाद नहीं। परन्तु, इसमें एक बात विचारणीय है कि उस विवेक-ज्ञान का आश्रय कौन है, प्रकृति अथवा पुरुष ? यदि प्रकृति को ही विवेक-ज्ञान का आश्रय मानें, तो इसी समय संसार का अस्त हो जाना चाहिए। क्योंकि, संसार प्रकृति का परिणाम है और निवर्त्तक मुक्ति-स्वरूप विवेक-ज्ञान प्रकृति में ही वर्त्तमान है। यदि पुरुष को विवेक-ज्ञान का आश्रय मानें, तो सांख्य का सिद्धान्त ही भङ्ग हो जाता है; क्योंकि पुरुष का जो मूल-स्वरूप से एकरूपतया अवस्थान है, उसी का नाश हो जाता है। संसार-दशा में विवेक के नाश होने और मुक्ति-दशा में विवेक होने के कारण समानरूपता भङ्ग हो जाती है। इसलिए, मुक्ति के विषय में सांख्य का सिद्धान्त ठीक नहीं है। यह नैयायिकों का कहना है।

मीमांसकों के मत में भी मोक्ष-काल में दुःख-निवृत्ति मानी ही जाती है। उनके मत में आत्यन्तिक सुख-प्राप्ति को मोक्ष माना जाता है। दुःख का लेश-मात्र रहने पर भी आत्यन्तिक सुख नहीं होता। इसलिए, आत्यन्तिक सुख में दुःख-निवृत्ति अवश्यम्भावी है। परन्तु, उनके मत में भी यह विचारणीय है कि नित्य-निरतिशय सुख में प्रमाण क्या है ? सांसारिक सुख तो प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाण से, दुःख-मिश्रित है, यह सिद्ध हो चुका है। यदि 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से समस्त कामनाओं की प्राप्ति को ही आत्यन्तिक सुख माना जाय, वह भी ठीक नहीं होता। कारण, योग्य अनुपलब्धि से बाधित होने पर उसका अवकाश नहीं रहता। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ श्रुति से प्रतिपादित विषय प्रत्यक्ष या अनुमान से बाधित होने के कारण प्रतीत नहीं होता, वहाँ श्रुति का गौण ही अर्थ माना जाता है, मुख्य अर्थ नहीं। जैसे—'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति से आकाश की उत्पत्ति आत्मा से मानी गई है, परन्तु निरवयव होने के कारण प्रत्यक्ष या अनुमान से उसकी उत्पत्ति असिद्ध है। इसलिए, 'सम्भूतः' का मुख्य अर्थ 'उत्पन्नः' न मानकर 'अभिव्यक्तः' यह गौण अर्थ ही माना जाता है।

इसी प्रकार, मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध न होने के कारण सुख की उपलब्धि न होने से श्रुति का सुख-प्राप्ति-विषय बाधित हो जाता है। इसलिए, यहाँ श्रुति का गौण अर्थ ही माना जायगा। सुख-प्राप्ति का गौण अर्थ सुख की अप्राप्ति का अभाव ही होगा। मोक्षकाल में शरीर और इन्द्रिय के सम्बन्ध न रहने से कोई कामना ही नहीं रहती। इस स्थिति में, काम की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? इसलिए, उसका उक्त गौण अर्थ ही मानना समुचित है। एक बात यह भी है कि श्रुति में 'सह अश्नुते' यह पाठ है, जिसका अर्थ एक काल में साथ-साथ उपभोग करना है। सब इन्द्रियों से सब विषयों का एक काल में उपभोग असम्भव है। इसलिए श्रुति का गौण अर्थ मानना अनिवार्य है। इस विषय में नैयायिकों के ऊपर यह आक्षेप होता है कि मोक्ष के विषय में स्वयं मनुष्यों की अरुचि रहती है। अतिशय सुख के लोभ से ही किसी की प्रवृत्ति होती है। यदि सरस सुमधुर सुख-प्राप्ति को मोक्ष न मानकर नीरस दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष माना जाय, तो अरुचि रोग से ग्रस्त

मनुष्य को सरस मधुर दूध छोड़कर नीरस पदार्थ देने के समान अरुचिकारक ही हो सकता है। इसलिए, सरस मधुर सुख-प्राप्ति को ही मोक्ष मानना समुचित है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि केवल दृष्टान्त-मात्र से ही साध्य की सिद्धि नहीं होती। उसके लिए अनुकूल तर्क की आवश्यकता होती है। और, निरतिशय सुख-प्राप्ति में कोई भी अनुकूल तर्क नहीं है, बल्कि इसके विरोध में ही अनुकूल तर्क देखे जाते हैं। जैसे—इस संसार में जितने सुख पाये जाते हैं, सब सातिशय[1] हैं, निरतिशय[2] कोई भी नहीं। इसलिए निरतिशय सुख की प्राप्ति की आशा में बद्ध मनुष्य को, उसके अभाव में, दुःख ही अवर्जनीय हो जाता है। सुख के अनुभव-काल में भी परिणाम की दृष्टि से दुःख ही प्रत्यक्ष होता है। पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः', और भी जितने सांसारिक सुख हैं, वे सुखविरोधी पदार्थों से आक्रान्त होने के कारण हेय हैं। सुख-साधन की जितनी सामग्रियाँ संसार में प्रसिद्ध हैं, उनकी प्राप्ति में अधिक-से-अधिक क्लेश सहना पड़ता है। इसलिए, सिद्ध होता है कि समस्त सुख-दुःख से आक्रान्त है। मधुमिश्रित-विष की तरह दुःख से मिश्रित सुख भी त्याज्य है। इसलिए, सुख के उद्देश्य से मोक्ष में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः, दुःख-निवृत्ति को ही मोक्ष मानना समुचित है।

ईश्वर और उसकी सत्ता

ईश्वर के विषय में यह प्रश्न होता है कि उसकी सत्ता में प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि रूप आदि गुणों से रहित होने के कारण वह अतीन्द्रिय[3] माना जाता है और अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता नहीं, यह सर्व-सिद्धान्त है। अनुमान भी ईश्वर में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि ईश्वर का साधक कोई व्याप्य लिङ्ग[4] नहीं है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध हो। आगम[5] भी प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता। विकल्प यह होता है कि आगम नित्य है अथवा अनित्य? यदि नित्य कहें, तो अपसिद्धान्त हो जाता है। कारण, आगम वर्णसमूहात्मक ही होता है और वर्ण उच्चरित-प्रध्वंसी होने के कारण स्पष्ट ही अनित्य है। यह नैयायिकों का परम सिद्धान्त है। इसे नित्य मानने से सिद्धान्त के भंग हो जाने के कारण यह अपसिद्धान्त हो जाता है। यदि वेद को अनित्य मानें, तो परस्पराश्रय दोष हो जाता है। जैसे, वेद के अनित्य होने के कारण उसका प्रामाण्य उसके कर्ता के प्रामाण्य के अधीन होगा और उसके कर्ता ईश्वर का प्रामाण्य उसके बनाये हुए वेद के प्रामाण्य के अधीन होगा। इसलिए, परस्पर आश्रित होने से अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। सादृश्य में नियत विषय होने के कारण उपमान भी ईश्वर में प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिए, ईश्वर की सत्ता अप्रामाणिक है। यही पूर्वपक्षियों का तात्पर्य है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर की सत्ता अवश्य है। वह प्रत्यक्ष-प्रमाण न होने पर भी अनुमान-प्रमाण अवश्य है। जितने कार्य हैं, उनका कर्त्ता कोई अवश्य होता है। यह कार्य-कारण-भाव का नियम है, पृथिवी, समुद्र और

---

१. अल्प। २. जिससे बढ़कर कोई न हो। ३. जो इन्द्रियों का विषय नहीं है। ४. हेतु। ५. वेद।

पर्वत आदि जो सृष्टि-प्रपञ्च है, कार्य होने से उनका भी कर्त्ता कोई अवश्य होगा। जैसे, घट का कर्त्ता कुम्भकार होता है। इसलिए, जगत् का जो कर्त्ता होगा, वही ईश्वर माना जायगा। इसके अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—पृथिवी, सागर आदि की समष्टि (जगत्) (पक्ष), सकर्तृक है, कार्य (साध्य) होने से (हेतु); जो-जो कार्य होता है, वह सकर्तृक होता है (व्याप्ति); घट-पट आदि के समान (दृष्टान्त)। यहाँ प्रतिपक्षियों का यह आक्षेप है कि ईश्वर के साधन में जो कार्यत्व-हेतु दिया है, वह असिद्ध है; क्योंकि पृथिवी, समुद्र आदि की उत्पत्ति किसी ने नहीं देखी है। इसलिए, उत्पन्न न होने से ये कार्य नहीं हो सकते हैं। कार्य न होने से ये कारण (ईश्वर) के साधक किस प्रकार हो सकते हैं? इसके समाधान में नैयायिकों का कहना है कि यद्यपि पृथिवी, सागर आदि की उत्पत्ति किसी ने नहीं देखी है, तथापि सावयव होने के कारण इनकी उत्पत्ति सिद्ध है। इसलिए, ये कार्य हैं। और, कार्य होने से अपने कारण (ईश्वर) के साधक हैं। पृथिवी आदि के कार्यत्व-साधक अनुमान का प्रकार यही होगा। पृथिवी आदि समष्टि (जगत्) (पक्ष) उत्पन्न होनेवाला (साध्य) है, सावयव होने के कारण (हेतु), जो-जो सावयव होता है, वह कार्य होता (व्याप्ति)है। घट-पट आदि के समान (दृष्टान्त)। इस प्रकार सावयवत्व हेतु से जगत् का कार्यत्व सिद्ध हो जाने पर उसी कार्यत्व-हेतु से ईश्वर का अनुमान हो जाता है।

इसमें शङ्का होती है कि सावयत्व का तात्पर्य क्या है? अवयवसंयोगित्व अथवा अवयवसमवेतत्व? संयोग-सम्बन्ध से रहनेवाले का नाम संयोगित्व है और समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाले का समवेतत्व। यदि सावयवत्व का तात्पर्य अवयवसंयोगित्व मानें, तो घटादि अवयवों के साथ आकाश का संयोग होने के कारण आकाश भी सावयव होने से कार्य होने लगेगा जो नैयायिकों का अभिप्रेत नहीं है। नैयायिक आकाश को नित्य मानते हैं, कार्य नहीं। यदि अवयवसंयोगित्व का अर्थ स्वावयव संयोगित्व, अर्थात् अपने अवयवों में संयोग-सम्बन्ध से रहनेवाला मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण, अवयव और अवयवी के साथ समवाय-सम्बन्ध होता है, संयोग नहीं। 'अवयवावयविनोः समवायः', यह नैयायिकों का सिद्धान्त है।

यदि स्वावयवसंयोगित्व का अर्थ 'अपने अवयवों के साथ जो परस्पर संयोग है, उसका आश्रय' मानें, तो अवयवों के परस्पर-संयोग के आश्रय अवयव ही होते हैं, अवयवी नहीं; इसलिए दोष बना ही रहता है। इस दोष के वारण के लिए यदि सावयव का अर्थ अवयवसमवेत मानें, तो पटादि के अवयव जो तन्तु आदि हैं, उनमें समवाय सम्बन्ध से तन्तुत्वादि सामान्य भी रहते हैं, इसलिए वहाँ सावयवत्व लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए, सावयवत्व लक्षण किसी प्रकार भी युक्त नहीं होता है, यह पूर्वपक्षी का तात्पर्य है।

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि सावयवत्व का अर्थ समवेतद्रव्यत्व होता है। आकाश का कोई अवयव न होने से वह समवेत नहीं होता। और, सामान्य-समवेत होने पर भी द्रव्य नहीं है, इसलिए सावयवत्व का लक्षण इन दोनों में नहीं घटता। अतएव, सावयवत्व-हेतु निर्दुष्ट होने से कार्यत्व का साधक हो सकता है।

अवान्तर-महत्त्व हेतु से भी जगत् के कार्य होने का अनुमान किया जा सकता है। अवान्तर-महत्त्व उसको कहते हैं, जिसमें परम महत्त्व न रहे और महत्त्व का आश्रय हो। परम महत्त्व उसको कहते हैं, जिससे बड़ा दूसरा कोई न हो, जैसे आकाश आदि व्यापक पदार्थ। पर्वत आदि में परम महत्त्व नहीं रहता। द्व्यणुक से लेकर पर्वत, सागर आदि समस्त अनित्य द्रव्यों में परम महत्त्व का अभाव ही रहता है। इसलिए, कार्यत्व-साधक अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—पर्वतादि सकल जगत् (पक्ष) कार्य है (साध्य), परम महत्त्वाभाववान् होने पर भी महत्त्व के आश्रय होने से (हेतु); घट आदि के सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार जगत् का कार्यत्व सिद्ध कर, उसी कार्यत्व-हेतु से उसको सकर्तृक सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार, कार्यत्व-हेतु में कोई भी हेत्वाभास नहीं है। जैसे—

विरुद्ध नाम का हेत्वाभास इसलिए नहीं है कि साध्याभाव से व्याप्त जो हेतु है, वही विरुद्ध कहा जाता है। प्रकृत में जहाँ-जहाँ कार्यत्व है, वहाँ-वहाँ सकर्तृकत्व रहता ही है, सकर्तृकत्व का अभाव नहीं रहता। इसलिए, साध्याभाव से व्याप्त न होने के कारण हेत्वाभास नहीं है।

अनैकान्तिक, जिसको सव्यभिचार कहते हैं, वह भी कार्यत्व-हेतु में नहीं है। साध्य के अभाव-स्थल में जो हेतु रहता है उसी को सव्यभिचार कहते हैं। प्रकृत में सकर्तृत्व-रूप साध्य के अभाव-स्थल जो नित्य परमाणु आदि है, उसमें कार्यत्व-हेतु नहीं रहता, इसलिए कार्यत्व-हेतु अनैकान्तिक भी नहीं होता है।

कालात्ययापदिष्ट, जिसको बाधित भी कहते हैं, भी यहाँ नहीं है; क्योंकि कार्यत्व-हेतु किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता।

सत्प्रतिपक्ष नाम का हेत्वाभास भी यहाँ नहीं है। कारण, साध्य के अभाव का साधक जो हेत्वन्तर है, उसी को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। प्रकृत में पूर्वपक्षी शरीराजन्यत्व-हेतु से जो सकर्तृकत्व-रूप साध्य का अभाव सिद्ध कर शरीराजन्यत्व को सत्प्रतिपक्ष मानते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि कार्यत्व-हेतु के सामने शरीराजन्यत्व-हेतु अत्यन्त दुर्बल है। कारण, शरीराजन्यत्व जो हेतु है, उसमें अजन्यत्व-हेतु से ही अकर्तृकत्व के सिद्ध हो जाने से शरीर विशेषण लगाना निरर्थक हो जाता है, जिससे प्रयोक्ता का अज्ञान ही सूचित होता से। इसलिए, यह हेतु दुर्बल हो जाता है। जैसे, सिंह का प्रतिपक्ष मृगशावक नहीं होता, उसी प्रकार शरीराजन्यत्व-हेतु कार्यत्व-हेतु का सत्प्रतिपक्ष नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि 'अजन्यत्वात्' हेतु ही कार्यत्व-हेतु का सत्प्रतिपक्ष क्यों नहीं है? तो इसका उत्तर यह होता है कि अजन्यत्व-हेतु को सत्प्रतिपक्ष तभी कह सकते हैं, जब जगत् का अजन्यत्व सिद्ध हो; परन्तु आजतक किसी प्रमाण से भी उसका अजन्यत्व सिद्ध नहीं हुआ है।

कार्यत्व-हेतु में उपाधि, जो हेतु के व्यभिचारी होने का अनुमापक होता है, की आशङ्का भी नहीं हो सकती। कारण, जो साध्य का व्यापक और साधन का व्याप्य है, वही उपाधि होता है। प्रकृत में सकर्तृकत्व-रूप साध्य का व्यापक और कार्यत्व-रूप हेतु का अव्यापक यदि कोई वस्तु हो, तो उपाधि की सम्भावना

हो सकती है, परन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इसकी सम्भावना तभी हो सकती है, जब कार्यत्व-हेतु का कहीं व्यभिचार देखा गया हो। कार्यत्व का व्यभिचार तभी हो सकता है, जब सकर्तृकत्व के अभाव-स्थल में भी कार्यत्व रहता हो, अर्थात् विना कर्त्ता के भी कोई कार्य उत्पन्न होता हो, परन्तु ऐसा कहीं भी नहीं होता। 'यदि सकर्तृकत्वं न स्यात्तदा कार्यत्वमपि न स्यात्', अर्थात् यदि सकर्तृकत्व न हो, तो कार्यत्व भी नहीं हो सकता, इस अनुकूल तर्क से वह बाधित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कर्त्ता से जो उत्पन्न होता है, उसीको कार्य कहते हैं। यदि यह अकर्तृक होगा, तो कार्य भी नहीं होगा; क्योंकि समस्त कार्य का प्रयोक्ता कर्त्ता ही होता है। इतर जितने कारक हैं, वे कर्त्ता के ही अधीन हैं। मृत्तिका, दण्ड, चक्र आदि साधनों के रहने पर भी कुलाल के विना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि सब कारकों का प्रयोग करनेवाला कुलाल ही होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सकर्तृकत्व के अभाव में कार्यत्व रहता ही नहीं। इसलिए, कार्यत्व-हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकता और उसमें उपाधि भी नहीं हो सकती। शास्त्रकारों ने भी लिखा है कि जहाँ अनुकूल तर्क रहता है, वहाँ उपाधि की सम्भावना नहीं होती—

'अनुकूलेन तर्केण सनाथे सति साधने।
साध्यव्यापकताभङ्गात् पक्षे नोपाधिसम्भवः॥'

तात्पर्य यह है कि अनुकूल तर्क से यदि हेतु युक्त हो, तो उपाधि की सम्भावना नहीं रहती।

ईश्वर को कर्त्ता मानने पर पूर्वपक्षी दूसरा आक्षेप यह करते हैं कि यदि ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, तो उसको शरीरी भी मानना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि लोक में शरीरी को ही कर्त्ता देखा जाता है, अशरीरी आकाश आदि को नहीं। इस तर्क की सहायता से पूर्वपक्षी का ऐसा अनुमान होता है कि ईश्वर (पक्ष) जगत् का कर्त्ता नहीं होता (साध्य), अशरीरी होने के कारण (हेतु), आकाश के सदृश (दृष्टान्त)। यह अनुमान ईश्वर-सिद्धि के लिए प्रतिकूल है। परन्तु इस प्रकार का अनुमान ईश्वर की सिद्धि अथवा असिद्धि—दोनों अवस्थाओं में व्याहत होता है; क्योंकि आगम आदि किसी प्रमाण के द्वारा ईश्वर को सिद्ध कर ही, 'ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता, अशरीरी होने से', इत्यादि अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस अवस्था में जिस प्रमाण से ईश्वर को सिद्ध कर इस प्रकार अनुमान करते हैं, उसी प्रमाण से ईश्वर का जगत् का कर्त्ता होना भी सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में जगत् का कर्त्ता ईश्वर नहीं होता, ऐसा कहना बाधित हो जाता है, अतः व्याघात दोष हो जाता है।

यदि यह कहें कि आगम प्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाणाभास है, तो ईश्वर के सिद्ध न होने से 'ईश्वरः जगत्कर्त्ता न भवति', इस प्रकार का अनुमान पक्षासिद्धि नाम के दोष से दूषित हो जाता है। इसलिए, व्याघात हो जाता है। इस अवस्था में ईश्वर की सिद्धि या असिद्धि—दोनों हालत में प्रतिपक्षी का अनुमान बाधित होता है। इसलिए, पूर्वोक्त प्रतिकूल तर्क किसी प्रकार भी उचित नहीं होता।

अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि जगत् की रचना करने में ईश्वर की जो प्रवृत्ति होती है, वह स्वार्थ है, अथवा परार्थ ? स्वार्थ मानने में भी दो विकल्प होते हैं— इष्ट-प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति है अथवा अनिष्ट-परिहार के लिए ? इष्ट-प्राप्ति के लिए तो कह नहीं सकते हैं; क्योंकि वह स्वयं परिपूर्ण और सकल कामनाओं को प्राप्त किया हुआ है। ऐसी कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है, जो ईश्वर को प्राप्त नहीं है। अनिष्ट-परिहार के लिए भी प्रवृत्ति नहीं कर सकते; क्योंकि सकल इष्ट कामनाओं के प्राप्त होने के कारण अनिष्ट की सम्भावना ही नहीं है।

यदि परार्थ प्रवृत्ति मानें, तो भी नहीं बनता; क्योंकि परार्थ प्रवृत्तिवालों को कोई भी बुद्धिमान् नहीं मानता। यदि कहें कि करुणा से ही ऐसी प्रवृत्ति होती है, तो प्राणिमात्र को सुखी होना चाहिए, किसी को भी दुःखी नहीं होना चाहिए। कारण, स्वार्थ की अनपेक्षा से दूसरों के दुःखों के नाश करने की जो इच्छा है, उसी को करुणा कहते हैं। इस प्रकार, जगत् के निर्माण में ईश्वर की प्रवृत्ति उचित नहीं प्रतीत होती।

इसका उत्तर यह है कि भली भाँति विचार करने पर प्रतीत होता है कि करुणा से प्रवृत्ति मानने में कोई बाधक नहीं है। करुणा से प्रवृत्ति मानने पर सुखमय सृष्टि होनी चाहिए, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सृज्यमान प्राणियों के सुकृत और दुष्कृत कर्म का जो परिपाक-विशेष है, उसके वैषम्य होने के कारण सुख और दुःख होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर की जगत्सृष्टि में प्राणिकृत कर्म की अपेक्षा मानने में परावलम्बी होने के कारण ईश्वर का स्वातन्त्र्य भङ्ग हो जायगा—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'स्वाङ्ग स्वस्य व्यवधायकं न भवति' अर्थात्, अपना अङ्ग अपना व्यवधायक नहीं होता, इस न्याय से उसका निर्वाह हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोक में किसी अन्यारम्भण-प्रसंग में, अपने हस्त-पादादि अवयवों से व्यवधान नहीं माना जाता, उसी प्रकार यहाँ कर्म भी जगत् के अन्तर्गत ईश्वरकारित होने से ईश्वराङ्ग ही है। इसलिए, कर्म की अपेक्षा रहने पर भी ईश्वर परावलम्बी नहीं होता। स्वारब्ध जो कार्य है, उसका साधन भी स्वाधीन ही है। यह स्वातन्त्र्य का गौरव (उत्कर्ष) ही है। इसलिए, कर्मापेक्षा होने पर भी ईश्वर का स्वातन्त्र्य-भङ्ग नहीं होता।

आगम-प्रमाण से ईश्वर-सिद्धि

आगम-प्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६), 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण हैं। इन श्रुतियों का तात्पर्य यह है कि एक ईश्वर की ही सत्ता वर्त्तमान है, दूसरा कुछ नहीं, जो भी कुछ दूसरा देखा जाता है, वह उसी ईश्वर का कार्य है। यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि ईश्वर को आगम से सिद्ध करते हैं, तो ईश्वर और आगम में परस्पराश्रय दोष हो जाता है; क्योंकि आगम से ईश्वर की सिद्धि और ईश्वर से ही

आगम की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, दोनों के परस्पर अपेक्षित होने से परस्पराश्रय होना अनिवार्य हो जाता है।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यहाँ परस्पराश्रय का उत्थान नहीं होता। कारण यह है कि आगम ईश्वर के ज्ञान में कारण है, उत्पत्ति में नहीं। ईश्वर तो नित्य द्रव्य है। वह आगम की उत्पत्ति में कारण होता है। इस प्रकार, विषय-भेद होने से वह परस्परापेक्ष नहीं है। तात्पर्य है कि उत्पत्ति में ईश्वर आगम की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह नित्य है और नित्य होने के कारण स्वयं प्रमाण है। इसलिए, ईश्वर का प्रामाण्य भी उत्पत्ति में आगम की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि ईश्वर स्वतः प्रमाण्य है। वह भी आगम की उत्पत्ति में ही कारण होता है, ज्ञान में नहीं। आगम का ज्ञान तो गुरु-परम्परा और अध्ययन से ही होता है। इसमें ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार घट की उत्पत्ति में कुम्भकार की अपेक्षा रहती है, परन्तु घट के ज्ञान में नहीं, इसी प्रकार आगम के ज्ञान में ईश्वर की अपेक्षा नहीं रहती। आगमवृत्ति के अनित्यत्व आदि धर्म के ज्ञान में भी ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। आगम के अनित्यत्व का ज्ञान तो कटु, तीव्र आदि धर्म से युक्त होने से ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अर्थविशेषविशिष्ट शब्द-विशेष को ही आगम कहते हैं और कहीं-कहीं अर्थ में भी तीक्ष्णत्व आदि धर्म उपलब्ध होते हैं। शब्द में भी कर्णकटुत्व आदि धर्म लक्षित होते हैं। ये तीक्ष्णत्व, कटुत्व आदि धर्म अनित्यत्व के व्याप्य भी हैं। अर्थात्, जहाँ-जहाँ तीक्ष्णत्व, कटुत्वादि धर्म हैं, वहाँ-वहाँ अनित्यत्व अवश्य रहता है। इस कारण आगम का अनित्य होना सिद्ध है। तीक्ष्णत्व, कटुत्व आदि जो धर्म हैं, वे ही आगम के अनित्य होने में ज्ञापक होते हैं। इसी कारण, प्रकृत में ईश्वर और आगम के परस्पराश्रित न होने से परस्पराश्रय नहीं होता है, अर्थात् विषय के भेद होने पर परस्पराश्रय दोष नहीं होता। जैसे—स्थल में नौका के कहीं अन्यत्र ले जाने में शकट (गाड़ी) की अपेक्षा रहती है और जल में शकट को कहीं अन्यत्र ले जाने में नौका की अपेक्षा रहती है। दोनों (नौका और शकट) के परस्पर अपेक्षित रहने पर भी आधार-भेद होने के कारण परस्पराश्रय दोष नहीं होता। उसी प्रकार, आगम की उत्पत्ति में ईश्वर की अपेक्षा होने पर भी ज्ञान में उसकी अपेक्षा नहीं है। ईश्वर के ज्ञान में आगम की अपेक्षा होने पर भी उत्पत्ति में आगम की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार, विषय-भेद होने के कारण परस्पराश्रय दोष नहीं होता।

इसी प्रकार, ईश्वर-प्रामाण्य और आगम-प्रामाण्य भी परस्पराश्रय दोष नहीं होते, यह भी जान लेना चाहिए। न्याय-दर्शन में महर्षि गौतम का यही मत संक्षेप में लिखा गया है।

अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। एक दिन में एक 'आह्निक' लिखा जाता था, इसीसे इसका नाम 'आह्निक' रखा गया है।

दशाध्यायी के प्रथम अध्याय में समवेत सकल पदार्थों (द्रव्यादि) का विवेचन किया गया है। समवेत उसको कहते हैं, जो समवाय-सम्बन्ध से कहीं रहता है, या जिसमें समवाय-सम्बन्ध से कोई रहता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष, ये पाँचों पदार्थ समवेत कहे जाते हैं। केवल समवाय ही समवेत नहीं कहा जाता; क्योंकि समवाय एक नित्य-सम्बन्ध है। इसके लिए समवायान्तर की कल्पना करने से अनवस्था दोष हो जाता है। समवाय के अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, वे सब समवाय-सम्बन्ध से अवश्य कहीं रहते हैं। द्रव्य अपने अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। गुण और कर्म भी द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। इसी प्रकार, सामान्य भी द्रव्य, गुण और कर्म—तीनों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। विशेष भी नित्य द्रव्यों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। यद्यपि आकाश तथा परमाणु निरवयव होने के कारण कहीं भी समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहते, तथापि समवेत कहे जाते हैं; क्योंकि आकाश में शब्द और परमाणु में रूपादि समवाय-सम्बन्ध से रहते ही हैं।

समवाय से भिन्न सकल पदार्थ समवेत कहे जाते हैं। इन समवेत पदार्थों का विवेचन प्रथम अध्याय में किया गया है। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में जातिमान् द्रव्य, गुण एवं कर्म का निरूपण किया गया है और द्वितीय आह्निक में जाति तथा विशेष का। द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण किया गया। इसके प्रथम आह्निक में भूत-विशेष का और द्वितीय आह्निक में दिक् तथा काल का। तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा का और द्वितीय आह्निक में अन्तःकरण का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में शरीर और शरीर-विवेचन के उपयोगी परमाणु कारणत्व आदि का निरूपण है। पाँचवें अध्याय में कर्म का प्रतिपादन है। उसके प्रथम आह्निक में शारीरिक कर्म का और द्वितीय आह्निक में मानस-कर्म का विवेचन है। छठे अध्याय में श्रौत-धर्म का विवेचन है। उसके प्रथम आह्निक में दान और प्रतिग्रह का तथा द्वितीय आह्निक में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों के उपयुक्त धर्मों का विवेचन है। इसी प्रकार, सातवें अध्याय में गुण और समवाय का प्रतिपादन है। उसके प्रथम आह्निक में बुद्धि-निरपेक्ष जो रूप, रस आदि गुण हैं, उनका विवेचन है और द्वितीय आह्निक में बुद्धि-सापेक्ष जो द्वित्व, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि गुण हैं, उनका और समवाय का भी विवेचन है। अष्टम अध्याय में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष-प्रमाण का विवेचन है। नवम अध्याय में बुद्धि-विशेष का और दशम अध्याय में अनुमान-भेद पर विचार किया गया है। इस प्रकार, कुल दस अध्यायों में द्रव्य आदि सकल पदार्थ पूर्णरूपेण विवेचित हैं।

कणाद की ग्रन्थ-रचना की प्रक्रिया तीन प्रकार की है—उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा। अर्थात्, पहले उद्देश्य, तत्पश्चात् लक्षण, तदनन्तर परीक्षा। इस प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति-पर्यन्त आचार्य की शैली विवेचन-प्रधान रही है।

उद्देश्य का तात्पर्य यह है, नाम-मात्र से वस्तु का संकीर्त्तन। जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छह पदार्थ हैं। इस प्रकार, वस्तु का नाम-मात्र से निर्देशन कर देना ही उद्देश्य है। पदार्थों का साधारण ज्ञान होना, उद्देश्य का फल है।

असाधारण धर्म का नाम लक्षण है। जैसे—पृथिवी का असाधारण धर्म है गन्ध। यही पृथिवी का लक्षण हुआ। लक्षण का प्रयोजन है इतर-पदार्थ से भेद का ज्ञान कराना। जैसे—पृथिवी का लक्षण गन्धवत्त्व है। इसी से पृथिवी जलादि से भिन्न है। क्योंकि, जलादि में गन्ध नहीं है।

लक्षित[1] का लक्षण युक्त है या नहीं—इस प्रकार के विचार का नाम परीक्षा है। लक्षण में दोष का परिहार परीक्षा का फल है।

अब प्रश्न यह है कि आचार्य ने पदार्थों का विभाग किया है, फिर भी विभाग-सहित चार प्रकार की प्रवृत्तियों को तीन प्रकार की ही क्यों कहा? उत्तर यह है कि उद्देश्य दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। द्रव्य आदि छह पदार्थ हैं—यह सामान्य उद्देश्य है तथा पृथिवी आदि नव द्रव्य हैं; रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं—यह विशेष उद्देश्य है। इस प्रकार, विशेष उद्देश्य में ही विभाग का भी अन्तर्भाव हो जाने से विभाग की पृथक् प्रकार में गणना नहीं की गई।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इस तरह पदार्थों का जो क्रम रखा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य समस्त पदार्थों का आश्रय है। और धर्मी के ज्ञान के बिना धर्म का ज्ञान सुलभ नहीं होता। धर्मी-रूप मनुष्य का ज्ञान होने पर ही उसमें विद्यमान स्थूलता, कृशता-रूप धर्म का ज्ञान होता है। द्रव्यादि छह पदार्थों में द्रव्य से भिन्न गुणादि जो पाँच पदार्थ हैं, उन सबका साक्षात् या परम्परया द्रव्य ही आश्रय होता है। गुण और कर्म का साक्षात् आश्रय द्रव्य ही होता है। क्योंकि, द्रव्य से भिन्न पदार्थ में कहीं भी गुण-कर्म नहीं रहते। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व, पटत्व आदि जो सामान्य[2] हैं, उनका भी साक्षात् आश्रय द्रव्य ही है। गुण-कर्म में विद्यमान जो गुणत्व, कर्मत्व-सामान्य हैं, उनका गुण और कर्म के द्वारा परम्परया द्रव्य ही आश्रय है। विशेष का भी साक्षात् आश्रय द्रव्य ही है। समवाय का कहीं साक्षात्, कहीं गुण, क्रिया आदि के द्वारा परम्परया आश्रय द्रव्य ही होता है। इसीलिए, द्रव्य का पहला स्थान है।

इसके बाद रूप आदि जो गुण हैं, वे द्रव्य के धर्म हैं। इसलिए, इसे दूसरा स्थान प्राप्त हुआ है। गुण और कर्म में भी गुण के सकल द्रव्य-वृत्तिवाला होने के कारण वह पहले आया और चूँकि, कर्म सब द्रव्यों में नहीं रहता, इसलिए उसका स्थान गुण के बाद रखा गया। आकाश, काल, दिक्, आत्मा—इन चार विभु-द्रव्यों में

---

१. जिसका लक्षण किया जाता है, उसको 'लक्षित' और 'लक्ष्य' कहा जाता है।

२. सामान्य को जाति भी कहते हैं।

कर्म नहीं रहता। इनमें भी यदि कर्म की स्थिति मानें, तो इसका व्यापकत्व नहीं हो सकता। यद्यपि सब गुण भी सब द्रव्यों में नहीं रहते, जैसे आकाश आदि में रूप, रस आदि नहीं हैं और पृथिवी में बुद्धि आदि नहीं हैं, तथापि कोई गुण प्रत्येक द्रव्य में अवश्य ही रहता है। जैसे—आकाश में शब्द और पृथिवी में गन्ध। इसलिए, सभी द्रव्य गुणों के आश्रय हैं, ऐसा माना जाता है। अतः, द्रव्य का गुणाश्रयत्व-रूप लक्षण भी सिद्ध होता है।

अब यहाँ प्रश्न है कि कणाद ने छह ही पदार्थ क्यों माने हैं? छह के अतिरिक्त भाव भी तो एक पदार्थ है, उसे क्यों नहीं माना गया? उत्तर यह है कि महर्षि कणाद ने यहाँ भाव-पदार्थ का ही विवेचन किया है। अभाव-पदार्थ का नहीं। अभाव यद्यपि पदार्थान्तर है, तथापि वह निषेध-विषयक बुद्धि का विषय है। जो निषेध-विषयक बुद्धि का विषय न हो, इस प्रकार के जो भाव-पदार्थ हैं, उन्हीं के लिए यह 'षडेव पदार्थाः'—ऐसा नियम है।

अब यहाँ शङ्का होती है कि 'षडेव' में 'एव' शब्द से जिस पदार्थान्तर का निषेध किया जाता है, वह यथार्थ है या अयथार्थ? यदि यथार्थ है, तो उसका निषेध हो नहीं सकता। यदि अयथार्थ है, तोभी निषेध करना व्यर्थ है। क्योंकि, असत् पदार्थ का निषेध करना तो मूषिक-विषाण और वन्ध्या-पुत्र आदि के निषेध के समान व्यर्थ ही है। इस अवस्था में असत्-पदार्थान्तर के निषेध के लिए जो 'षडेव' में 'एव' शब्द का प्रयोग किया, वह भी तो निष्फल ही हो जाता है। परन्तु, इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'षडेव' इस नियम से न तो केवल सप्तम का निषेध किया जाता है और न तो केवल भाव का ही। किन्तु, सप्तम भाव का निषेध किया जाता है। केवल सप्तम से अन्धकार की प्रतीति होती है, और केवल भाव से शक्ति और सादृश्य की प्रतीति होती है। यहाँ भागशः निषेध का प्रतियोगी यथार्थ है। इसी की व्यावृत्ति के लिए 'षडेव' यह नियम उपपन्न होता है। यद्यपि अन्धकार की प्रतीति सप्तमरूप में नहीं होती है, तथापि वह भाव नहीं है, किन्तु तेज का अभाव-रूप अन्धकार है। इसी प्रकार शक्ति और सादृश्य की भी भावरूप में प्रतीति होती है, परन्तु वे भी सप्तम नहीं हैं। क्योंकि, उनका उपर्युक्त छह पदार्थों (द्रव्य, गुण आदि) में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—शक्ति को पदार्थ इसीलिए माना जाता है कि दाह का प्रतिबन्धक जो चन्द्रकान्त मणि है, उससे सम्बन्ध होने पर अग्नि की दाहकत्व-शक्ति नष्ट हो जाती है तथा मणि के संयोग के नष्ट होने पर दाहकत्व-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, शक्ति की उत्पत्ति और विनाश होने से शक्ति को भी कुछ लोगों ने पदार्थ माना है। पर, यह कणाद-सम्मत नहीं है। इनका कहना है कि दाह के प्रति अग्नि की जो कारणता है उसी का नाम शक्ति है। इनके मत में शक्ति कोई विशिष्ट पदार्थ नहीं है। और, कार्य-मात्र के प्रति प्रतिबंधक का अभाव कारण होता है। मणि के संयोग में प्रतिबंधक का अभाव नहीं है। किन्तु, दाह का प्रतिबंधक मणि विद्यमान है, इसलिए मणि-संयुक्त अग्नि दाह का कारण नहीं होती। इसलिए, इनके मत से शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जाता।

इसी प्रकार, सादृश्य भी इनके मत में पदार्थान्तर नहीं है ; क्योंकि, उससे भिन्न और उसमें रहनेवाले धर्म का नाम ही सादृश्य है, कोई दूसरा पदार्थ नहीं। इसलिए, उसका सप्तम पदार्थत्व सिद्ध नहीं होने से 'षडेव पदार्थाः' यह नियम संगत हो जाता है।

द्रव्यादि के लक्षण

जो आकाश और कमल में समवाय-संबंध से रहता हो और नित्य हो और गंध में समवाय-संबंध से न रहता हो, वही द्रव्य का लक्षण है। जैसे—द्रव्यत्व पृथिवी आदि नवों द्रव्यों में समवाय-संबंध से है। आकाश और कमल में भी है। कमल भी पृथिवी के ही अन्तर्गत है, इसलिए उसमें भी द्रव्यत्व का रहना सिद्ध है, और जाति के नित्य होने से द्रव्यत्व जाति नित्य भी है। और, गन्धासमवेत[1] भी है। क्योंकि गन्ध गुण है और द्रव्यत्व केवल द्रव्य में ही रहनेवाला धर्म है। यह गुण में नहीं रहता। इसलिए, द्रव्यत्व के चार लक्षण सिद्ध होते हैं—आकाश-समवेत,[2] कमल-समवेत, गन्धासमवेत, और नित्य। यहाँ लक्षण-कोटि में आकाश-समवेत यदि न लिया जाय तो पृथिवीत्व में द्रव्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि, पृथिवीत्व नित्य और कमल-समवेत और गन्धासमवेत भी है। पृथिवीत्व का गन्ध के साथ समानाधिकरण[3] होने पर भी, गन्ध में पृथिवीत्व समवाय-संबंध से नहीं रहता। और, कमल में समवाय-संबंध से रहता है तथा नित्य भी है, अतः पृथिवीत्व में द्रव्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए आकाश-समवेत का भी लक्षण-कोटि में निवेश करना चाहिए। इस स्थिति में अतिव्याप्ति[4] नहीं होती। क्योंकि, पृथिवीत्व केवल पृथिवी में ही रहता है, आकाश में नहीं रहता। यदि लक्षण में कमल-समवेत न कहें, तो आकाश में रहनेवाली जो एकत्व-संख्या है, उसमें अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि, एकत्व-संख्या आकाश-समवेत है और नित्य भी है; क्योंकि नित्यगत संख्या नित्य ही होती है तथा गन्धासमवेत भी है। क्योंकि, गुण में गुण नहीं रहता, इस सिद्धांत से गन्ध में एकत्व नहीं रह सकता। क्योंकि, दोनों गुण ही हैं। यद्यपि कमल में एकत्व रहता है, परन्तु वह एकत्व आकाशगत एकत्व संख्या से भिन्न है। इसलिए, आकाशगत एकत्व-संख्या में अतिव्याप्ति न हो, इसलिए कमल-समवेत भी लक्षण में रखना चाहिए। यदि लक्षण में नित्यत्व न रखा जाय, तो आकाश और कमल दोनों में रहनेवाली जो द्वित्व-संख्या है, उसमें अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। क्योंकि, आकाश और कमलगत द्वित्व-संख्या आकाश और कमल दोनों में समवेत है और गन्धासमवेत भी है। किन्तु, नित्य नहीं है। अपेक्षाबुद्धि से जन्य होने के कारण द्वित्वादि संख्या अनित्य ही होती है।

यदि लक्षण में गन्धासमवेतत्व विशेषण न दें, तो द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में रहनेवाली जो सत्ता-जाति है, उसमें द्रव्यत्व-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है; क्योंकि

---

१. जो गन्ध में समवाय-संबंध से नहीं रहे।

२. समवाय-संबंध से रहनेवाले का नाम समवेत है।

३. एक ही स्थान में रहनेवाला।

४. जिसका लक्षण न करते हों, उसमें भी लक्षण का चला जाना अतिव्याप्ति-दोष कहलाता है।

सत्ता, आकाश और कमल दोनों में समवेत है और नित्य भी है। किन्तु, गन्धासमवेत नहीं है। क्योंकि, गन्ध में भी सत्ता समवाय-संबंध से रहती ही है। इसलिए, द्रव्य के लक्षण में गन्धासमवेत भी विशेषण देना आवश्यक है।

गुणत्व-निरूपण—समवायिकारणासमवेत और असमवायिकारण से भिन्न में समवेत तथा सत्ता की साक्षात् व्याप्य जो जाति है, वही गुणत्व है। द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों में रहनेवाली जो सत्ता-जाति है, उसके साक्षात् व्याप्य द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व ये तीनों जातियाँ हैं। पृथिवीत्व, जलत्व आदि जाति द्रव्यत्वादि के साक्षात् व्याप्य होने पर भी सत्ता के साक्षात् व्याप्य नहीं हैं। किन्तु, सत्ता के परम्परया (द्रव्यत्वादि के द्वारा) व्याप्य हैं। गुणत्व सत्ता का साक्षात् व्याप्य है और समवायिकारणासमवेत भी है। क्योंकि, समवायिकारण द्रव्य है, उसमें समवाय-संबंध से गुणत्व नहीं रहता। यद्यपि शुक्लादि गुण द्रव्य में समवाय रूप में रहते हैं तथापि गुणत्व केवल गुण में ही रहता है, द्रव्य में नहीं एवं असमवायिकारण से भिन्न में समवेत भी है, जैसे असमवायि-कारण से भिन्न जो आत्म-विशेष गुण, ज्ञान आदि हैं, उनमें समवाय-संबंध से गुणत्व रहता है।

आत्मा के जो विशेष गुण ज्ञानादि हैं, वे किसी के प्रति असमवायिकारण नहीं होते। यदि गुण के लक्षण में असमवायिकारणासमवेत यह विशेषण न दें, तो द्रव्य में भी गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। जैसे—द्रव्यत्व जाति सत्ता के साक्षात् व्याप्य और असमवायिकारण से भिन्न द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहती भी है। उक्त विशेषण रहने पर द्रव्यत्व में गुण-लक्षण की अति-व्याप्ति नहीं होती। क्योंकि, समवायि-कारण जो द्रव्य है, उसमें गुणत्व समवाय-सम्बन्ध से रहता है।

यदि असमवायिकारणभिन्नसमवेत यह विशेषण गुण-लक्षण में न दिया जाय, तो कर्मत्व में गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि, कर्मत्व सत्ता का साक्षात् व्याप्य है और समवायिकारणासमवेत भी है। इसलिए, असमवायिकारण भिन्न समवेत भी गुण-लक्षण में देना आवश्यक है। उक्त विशेषण के देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि संयोग-विभाग के प्रति कर्ममात्र, असमवायिकारण है। असमवायि-कारण से भिन्न कर्म होता ही नहीं।

यदि गुण-लक्षण में सत्ता साक्षात् व्याप्य जाति यह विशेषण न दें, तो ज्ञानत्व में भी गुण-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि, समवायिकारण जो द्रव्य है, उसमें ज्ञानत्व समवाय-संबंध से नहीं रहता। इसलिए, समवायिकारणासमवेत है। और, असमवायिकारण से भिन्न जो ज्ञान है, उसमें समवेत यानी समवाय सम्बन्ध से रहता है। किन्तु, सत्ता का साक्षात् व्याप्य ज्ञानत्व नहीं है, इसलिए उक्त विशेषण देने पर ज्ञानत्व में अतिव्याप्ति नहीं होती।

कहीं-कहीं गुण का लक्षण भिन्न प्रकार से भी किया गया है, जैसे समवायिकारण और असमवायिकारण से भिन्न में समवेत हो, और सत्ता का साक्षात् व्याप्य हो, वही गुण का लक्षण माना गया है। द्रव्यत्व में यह लक्षण नहीं घटेगा। कारण यह है कि द्रव्यत्व

द्रव्य-मात्र में ही समवेत है तथा द्रव्यमात्र समवायिकारण अवश्य होता है। द्रव्य-घटक ईश्वर भी 'जीवेश्वरौ' यहाँ पर जीव और ईश्वरगत द्वित्व-संख्या के प्रति समवायिकारण होता ही है। क्योंकि, द्वित्व के प्रति अपेक्षाबुद्धि कारण है और 'अयमेकः अयमेकः इति इमौ द्वौ' यही अपेक्षाबुद्धि का स्वरूप है।

कर्मत्व—जो नित्य पदार्थ में समवाय-सम्बन्ध से न रहता हो और सत्ता का साक्षात् व्याप्य जाति हो, वही कर्मत्व है। द्रव्यत्व जाति सत्ता का साक्षात् व्याप्य होने पर भी नित्य द्रव्य जो आकाश, परमाणु आदि हैं, उनमें समवाय-सम्बन्ध से रहता है, अतः द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार, जलादि परमाणु में रहनेवाले जो रूपादि हैं और परमात्मगत जो नित्य ज्ञान है, उनमें गुणत्व जाति भी समवाय संबंध से रहती ही है। इसलिए, वहाँ भी अतिव्याप्ति नहीं है। और, कर्म तो कोई भी नित्य नहीं होता, इसलिए कर्मत्व-जाति नित्यासमवेत है; पर सत्ता का साक्षात् व्याप्य भी है। इसलिए, नित्यासमवेत और सत्ता का साक्षात् व्याप्य रूप कर्म-लक्षण का समन्वय हो जाता है।

सामान्य—सामान्य का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि जो नित्य है और अनेक में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला है, वही सामान्य है। जैसे—गोत्व आदि।

विशेष—विशेष उसको कहते हैं, जो अन्योन्याभाव के विरोधी सामान्य से रहित समवेत अर्थात् समवाय-संबंध से नित्य द्रव्यों में रहनेवाला होता है। सामान्य-रहित यह विशेषण कहने से द्रव्य, गुण, कर्म की व्यावृत्ति हो जाती है। क्योंकि, द्रव्यादि जो पदार्थ हैं वे सामान्य से रहित नहीं हैं। किन्तु द्रव्यत्वादि सामान्य से युक्त ही हैं तथा समवेत विशेषण से समवाय की व्यावृत्ति होती है। समवायान्तर (दूसरा समवाय) न होने के कारण समवाय समवेत नहीं होता। अर्थात्, समवाय कहीं समवाय-संबंध से नहीं रहता। अन्योन्याभाव-विरोधी इस विशेषण से सामान्य की व्यावृत्ति होती है। यद्यपि सामान्य स्वतः ही सामान्य-रहित है, तथापि उसका सामान्य से रहित होना अन्योन्याभाव-विरोधी होने के कारण नहीं सिद्ध होता। परन्तु, सामान्यान्तर के स्वीकार करने पर अनवस्था-दोष हो जाता है—अतः वह सामान्य से रहित होता है। यह बात विशेष में नहीं है; क्योंकि विशेष में यदि विशेषत्व-रूप सामान्य स्वीकार करें, तब तो विशेष में ही विशेषत्व का अभाव हो जाता है, जिससे इस दशा में रूप-हानि-दोष हो जायगा। न्यायसिद्धांत-मुक्तावली में भी आता है—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥"

समवाय—गुण, गुणी और जाति, व्यक्ति, तथा क्रिया, क्रियावान् का जो सम्बन्ध है, वही समवाय है तथा यह नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार, छहों पदार्थों का संक्षेप में लक्षण दिया गया। अब क्रम-प्राप्त द्रव्यादि का विभाग और लक्षण किया जाता है।

द्रव्य नव प्रकार के होते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।

पृथिवीत्व—पाकज[1] रूप के समानाधिकरण में रहनेवाला जो द्रव्यत्व के साक्षात् व्याप्य जाति है, वही पृथिवीत्व है। तेज के संयोग से पृथिवी के जो रूप, रस आदि गुण हैं, उनकी परावृत्ति होती रहती है। जैसे—पके हुए आम्रादि फलों में तेज के संयोग से पूर्व हरित रूप का नाश और पीत रूप की उत्पत्ति होती है।

जलादि का रूप पाकज नहीं कहा जाता; क्योंकि तेज के कितना भी संयोग होने से उसका रूप नहीं बदलता। जल में उष्णता की जो प्रतीति होती है, वह उसमें प्रविष्ट सूक्ष्म अग्नि-कणों की ही उष्णता है। जल का वस्तुतः स्पर्श तो शीतल ही है। पृथिवीत्व लक्षण में पाकज-रूप समानाधिकरण जो विशेषण दिया है, उससे जलादि की ही व्यावृत्ति होती है। जलत्वादि जाति द्रव्यत्व के साक्षात् व्याप्य होने पर भी पाकज-रूप समानाधिकरण नहीं है। एक बात और भी विचारने योग्य है कि किसी जाति का लक्षण करना हो, तो उससे भिन्न जितनी जातियाँ हैं, उनकी व्यावृत्ति लक्षण में विद्यमान पदों के द्वारा ही करनी चाहिए। जातियाँ दो प्रकार की हैं—एक लक्ष्यभूत[2] जाति के समानाधिकरण और दूसरा, उसके व्यधिकरण। समानाधिकरण के दो भेद हैं—एक तद्व्याप्या और दूसरा तद्व्यापिका।

पृथिवीत्व के लक्षण में पाकजरूप समानाधिकरण जो विशेषण दिया गया, उसके पृथिवीत्व के व्यधिकरण जो जलत्वादि जातियाँ हैं, उनकी व्यावृत्ति होती है। तथा द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जो विशेषण दिया, उसके द्वारा व्याप्या और व्यापिका ये दो प्रकार की समानाधिकरण जातियों की व्यावृत्ति होती है। जैसे—पृथिवीत्व की व्यापक जाति जो द्रव्यत्व और सत्ता है, वह द्रव्यत्व की व्याप्य जाति नहीं है एवं पृथिवीत्व के व्याप्य जो घटत्वादि जाति है, उसके द्रव्यत्व व्याप्य जाति होने पर भी साक्षात् व्याप्य नहीं है। इसलिए, उक्त विशेषण से अन्य सभी की व्यावृत्ति हो जाती है।

जलत्व—जलत्व की परिभाषा में महर्षि कणाद कहते हैं कि जो अग्नि में नहीं रहता हो और सरित्, सागर आदि में समवाय-संबंध से रहता हो, वह जलत्व जाति है। यहाँ सरित्-समुद्र-समवेत विशेषण देने से जलत्व के व्यधिकरण पृथिवीत्व आदि की व्यावृत्ति हो जाती है; क्योंकि पृथिवीत्व आदि सरित्-सागर में समवेत नहीं हैं। इसी प्रकार, जलत्व के व्याप्य जो सरित्व, सागरत्व आदि हैं, उनकी व्यावृत्ति भी उक्त विशेषण से हो जाती है। क्योंकि, सरित्व सागर-समवेत नहीं है और सागरत्व सरित्-समवेत नहीं है, और जलत्व के व्यापक जो द्रव्यत्व अथवा सत्ता-जाति है, उसका सरित्-समुद्र में समवेत होने पर भी अग्नि में समवेत न होने से उसकी भी व्यावृत्ति हो जाती है।

तेजस्त्व—जो सामान्य (जाति) चन्द्र और सुवर्ण में समवाय-संबंध से रहता हो और जो जल में न रहता हो, उसे 'तेजस्त्व' कहते हैं। पृथिवीत्व की व्यावृत्ति के लिए

---

१. तेज के संयोग से उत्पन्न का नाम 'पाकज' है।

२. लक्ष्य, यानी जिसका लक्षण करते हैं।

चन्द्र-सुवर्ण-समवेत विशेषण दिया गया। पृथिवीत्व चन्द्र और सुवर्ण में नहीं रहता, इसलिए उसकी व्यावृत्ति होती है। जलत्व-जाति सलिलासमवेत नहीं है। इससे उसकी भी व्यावृत्ति होती है।

वायुत्व—जो त्वगिन्द्रिय में समवाय-सम्बन्ध से रहता हो और द्रव्यत्व का साक्षात् व्याप्य हो, वही वायुत्व की परिभाषा है। आकाशत्व, कालत्व, दिक्त्व—ये द्रव्यत्व से भिन्न कोई जाति नहीं हैं; क्योंकि ये सब एकमात्र वृत्ति हैं। अनेक में जो समवेत हो और नित्य हो, उसी को जाति माना गया है। आकाश, काल और दिक्—ये पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं।

आकाशत्व—संयोग से अजन्य जो अनित्य विशेष गुण है, उसका समानाधिकरण जो विशेष है, उसीके आश्रय का नाम आकाश है। विशेष नित्य द्रव्यों में अवश्य रहता है और आकाश भी नित्य द्रव्य है, अतः आकाश में भी कोई विशेष गुण अवश्य रहता है, यह मानना होगा। आकाश में विशेष गुण-शब्द तो रहता ही है। अतः, एकही अधिकरण में रहने से शब्द का समानाधिकरण भी विशेष होता है तथा शब्द अनित्य होने से जन्य भी है। क्योंकि, कणाद के मत में विभागज और शब्दज दो ही प्रकार के शब्द माने गये हैं, ये संयोगज शब्द को नहीं मानते। इसलिए, शब्द संयोगाजन्य भी इनके मत में सिद्ध होता है। यहाँ विशेषाधिकरण लक्षण करने से द्वयणुक और त्र्यणुक जो अनित्य द्रव्य हैं, उनकी और गुण, कर्म आदि की भी व्यावृत्ति सिद्ध होती है। क्योंकि, विशेष नित्य द्रव्य में ही रहनेवाला होने के कारण द्व्यणुक आदि में नहीं रहता। और, पृथिवी परमाणु में रहनेवाले जो रूपादि विशेष गुण हैं, वे यद्यपि जन्य हैं, तथापि संयोगाजन्य नहीं हैं। कारण यह है कि पृथिवी-परमाणुगत रूपादि भी 'पाकज' होते हैं तथा तेज के संयोग का ही नाम 'पाक' है। अतः, पृथिवी-परमाणुगत रूपादि संयोग-जन्य ही हैं, न कि संयोगाजन्य। जल, तेज, वायु के परमाणुगत जो विशेष गुण हैं, वे जन्य नहीं हैं, इसलिए उनकी भी व्यावृत्ति होती है। दिक्, काल और मन में कोई विशेष गुण नहीं हैं, अतः इनका भी निरास होता है तथा परमात्मा में रहनेवाले जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, वे जन्य नहीं हैं। जीवात्मा में रहनेवाले जो बुद्ध्यादि गुण हैं, वे जन्य होने पर भी संयोगाजन्य नहीं हैं। क्योंकि, जीवात्मगत गुण मनःसंयोग से जन्य ही है। अतः आकाश ही ऐसा बचता है, जिसमें पूर्वोक्त लक्षणों का पूर्ण समन्वय होता है। 'शब्दगुणकम्' यही आकाश का पूर्ण लक्षण हो सकता है। अर्थात्, जिसमें शब्द-मात्र ही एक विशेष गुण हो। आकाश का शब्दगुणक लक्षण से ही सबकी व्यावृत्ति हो जाती है। पूर्वोक्त विशद लक्षण केवल बुद्धि-वैशद्य के लिए भी आचार्यों ने किया है।

कालत्व—विभु और दिक् में असमवेत जो परत्व है, उसका जो असमवायि-कारण है, उसका जो अधिकरण है, वही काल है। अर्थात्, दिक् में समवाय-सम्बन्ध से नहीं रहनेवाला परत्व का आधारभूत जो विभु पदार्थ है, उसी को 'काल' कहते हैं।

परत्व दो प्रकार का होता है—एक समीपस्थ वस्तु की अपेक्षा दूरस्थ वस्तु में रहनेवाला, दूसरा कनिष्ठ की अपेक्षा ज्येष्ठ में रहनेवाला। जैसे—पहले का उदाहरण

पाटलिपुत्र से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर है, अर्थात् दूरस्थ है। पर प्रयाग की भी अपेक्षा काशी अपर या समीपस्थ है। इस परत्व और अपरत्व में दिक् और वस्तु (काशी आदि) का संयोग ही असमवायिकारण है। यह संयोग दिक्-समवेत, अर्थात् दिशा में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला है तथा परत्व में भी रहता है। ज्येष्ठ में कालकृत परत्व है। जैसे—लक्ष्मण की अपेक्षा राम पर। यहाँ काल और वस्तु का संयोग असमवायिकारण है। यह दिक् में असमवेत और काल में समवेत है।

संयोग दो पदार्थों में रहनेवाला है; अतः संयोग द्विष्ठ कहलाता है। यद्यपि यह संयोग द्विष्ठ होने से ज्येष्ठ रूपादि में भी रहता है, तथापि 'विभुत्वे सति' यह विशेषण देने से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यहाँ परत्व विशेषण न देने से आकाश और आत्मा में भी अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि, दिक् में असमवेत असमवायिकारण जो शब्द और ज्ञान हैं, उनका अधिकरण आकाश और आत्मा ही है और विभु भी है। अतः, अतिव्याप्ति दोष-वारण के लिए परत्व विशेषण दिया गया।

परत्व का असमवायिकारण काल-वस्तु-संयोग की तरह दिक्-वस्तु-संयोग भी है। दिक्-वस्तु-संयोग में समवाय-सम्बन्ध से रहता ही है, इसीसे दिक् समवेत ही है, असमवेत नहीं। इसीलिए, 'दिक्समवेत' यह विशेषण दिक् में अतिव्याप्ति-वारण के लिए दिया गया है।

दिक्त्व—विशेष गुण से रहित और काल से भिन्न जो महत् पदार्थ है, वही दिक् है। यहाँ कारण-भिन्न कहने से काल में अतिव्याप्ति नहीं होती। विशेष गुण से रहित-विशेषण देने से आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि, ये विशेष गुण से युक्त ही हैं। मन में अतिव्याप्ति-वारणार्थ महत् विशेषण दिया गया है।

आत्मत्व—आत्मा की परिभाषा करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है कि मूर्त्त पदार्थ से भिन्न द्रव्यत्व में जो व्याप्य जाति है, वही आत्मत्व है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—ये ही मूर्त्त पदार्थ हैं। एक व्यक्ति-मात्र में रहने के कारण ही आकाश जाति नहीं होता। अतः, मूर्त्त में असमवेत द्रव्यत्वव्याप्य-जाति ही आत्मत्व-जाति हो सकती है।

मनस्त्व—जो द्रव्य का समवायिकरण न हो, ऐसा जो अणु पदार्थ है, उसमें रहनेवाली जो द्रव्यत्व की व्याप्य-जाति है, वही मनस्त्व है। आत्मा विभु है, अणु नहीं; इसलिए मन की व्यावृत्ति होती है।

गुण के भेद

वैशेषिकों मत में चौबीस प्रकार के गुण माने गये हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट (धर्म, अधर्म) और शब्द।

रूपादि शब्दों के रूपत्व आदि जाति ही लक्षण हैं। यथा, नील जो रूपविशेष है, उसमें समवेत जो गुणत्व के साक्षात् व्याप्य-जाति है; वही रूपत्व है। यहाँ नीलसमवेत

विशेषण देने से रसत्वादि जाति में रूपलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि, रसत्वादि जाति नीलसमवेत नहीं है। सत्ता जाति यद्यपि नीलसमवेत है, परन्तु वह गुणत्व के व्याप्य नहीं है। अतः, उसमें भी अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि, नीलत्व गुणत्व का साक्षात् व्याप्य नहीं है। अतः, रूप का नीलसमवेत गुणत्व के साक्षात् व्याप्य जाति—यही लक्षण निर्दोष होता है। इसी प्रकार रसादि के लक्षण में भी स्वयं-विचार करना चाहिए। यथा, मधुरसमवेत जो गुणत्व की साक्षात् व्याप्य-जाति है, वही रसत्व का लक्षण होती है। विशेषणों की सार्थकता (पदकृत्य) पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

कर्म—कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, और गमन। भ्रमण, रेचन आदि जो भी कर्म देखे जाते हैं, उन सबका अन्तर्भाव गमन में हो जाता है। यथा—

'भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥' (कारिकावली)

ऊपर की ओर वस्तु का जो संयोग होता है, उस संयोग के असमवायिकारण तथा उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली जो द्रव्यत्व-व्याप्य जाति है, उसे ही उत्क्षेपण कहते हैं। इसी प्रकार अधोदेश के संयोग का जो हेतु है, वही अपक्षेपण है। बटोरने (समेटने) का जो हेतु है, उसे आकुञ्चन; और पसारने के हेतुविशेष कर्म को ही प्रसारण कहते हैं। इसके अतिरिक्त सभी कर्म गमन हैं।

सामान्य—सामान्य दो प्रकार के हैं: परसामान्य और अपरसामान्य। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली जो सत्ता है, उसीको परसामान्य कहते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अल्पदेश में रहनेवाली जो व्याप्य-जाति है, उसीको अपरसामान्य कहते हैं।

विशेष सामान्य—विशेष अनंत प्रकार का होता है और समवाय एक ही प्रकार का है। अतः, इनका विभाजन सूत्रकार ने भी नहीं किया।

द्वित्वादि संख्याओं की उत्पत्ति के प्रकार—द्वित्व-संख्या, पाकज-उत्पत्ति, और विभागज-विभाग के विषय में वैशेषिकों का विशेष आग्रह रहता है। आचार्यों ने भी लिखा है—

'द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता प्रज्ञा तं वै वैशेषिकं विदुः ॥'

द्वित्व की उत्पत्ति किस प्रकार और किस क्षण में होती है, इस विषय में पहले मीमांसकों का सिद्धांत दिखाया जाता है—जब दो घट परस्पर एक स्थान पर सन्निहित होते हैं, तब उस समय द्वित्व-संख्या की उत्पत्ति होती है। इसके बाद इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर, 'अयमेकः अयमेकः' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होने पर द्वित्व का ज्ञान होता है। अतः, अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि द्वित्व का ज्ञान ही होता है, यही मीमांसकों का मत है। ये लोग अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व का उत्पादक नहीं, बल्कि व्यंजक-

मात्र मानते हैं। और, जब दोनों घट वियुक्त हो जाते हैं, तब द्वित्व का नाश हो जाता है। इसी प्रकार, त्रित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति और नाश के विषय में भी मीमांसकों का मत समझना चाहिए। वैशेषिकों का मत इससे विपरीत है। इनका कहना है कि अज्ञात द्वित्व की उत्पत्ति मानना निरर्थक है। अतः, अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्व की उत्पादिका है, अभिव्यञ्जिका नहीं। इस अवस्था में इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध होने के बाद संस्कार उत्पन्न होने तक आठ क्षण लगते हैं। प्रथम क्षण में इन्द्रिय का घटद्वय के साथ सम्बन्ध होता है। द्वितीय क्षण में एकत्व सामान्य का ज्ञान होता है। तृतीय क्षण में 'अयमेकः अयमेकः'[1] इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि होती है। चतुर्थ क्षण में द्वित्व संख्या की उत्पत्ति और पंचम क्षण में द्वित्वत्व-सामान्य (जाति) का ज्ञान होता है तथा षष्ठ क्षण में द्वित्व-संख्या का ज्ञान होता है। सप्तम क्षण में ये दो घड़े हैं, इस प्रकार द्वित्व-संख्याविशिष्ट दो घट-व्यक्ति का ज्ञान होता है। अष्टम क्षण में उस ज्ञान से आत्मा में संस्कार उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष[2] के बाद से संस्कार-पर्यन्त की उत्पत्ति में कुल आठ क्षण लगते हैं। और, पूर्व-पूर्व की उत्पत्ति, उत्तरोत्तर की उत्पत्ति में कारण होती है, यह सिद्ध होता है। इसी उत्पत्ति-क्रम को आचार्यों ने लिखा है—

> 'आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी
> रेकत्वोभयगोचरामतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
> द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोऽनुपरतो द्वित्वप्रमानन्तरम्
> द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया॥'

यही द्वित्वादि के उदय में प्रक्रिया है।

मीमांसकों और वैशेषिकों में मतभेद यही है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की अभि-व्यंजिका है या उत्पादिका। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मीमांसक अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व का अभिव्यंजक-मात्र मानते हैं और वैशेषिक उत्पादक-मात्र। नैयायिकों का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका भी हो सकती है। कारण यह है कि जहाँ व्यञ्जकत्वाभाव से सहकृत अपेक्ष्यमाण रहता है, वहाँ उत्पादकत्व भी रहता है। यथा शब्द से अपेक्षित कण्ठ, तालु आदि स्थानों में जो वायु-संयोग है, वह शब्द का उत्पादक भी होता है। इसी प्रकार, द्वित्व की उत्पत्ति में भी अपेक्षाबुद्धि अपेक्षित है और व्यञ्जकत्वा-भाव सहकृत भी है। अतः, अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका हो सकती है। यही नैयायिकों का सिद्धान्त है।

वैशेषिकों का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पादिका भी हो सकती है, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, इससे तो अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की अभिव्यञ्जिका भी सिद्ध हो जाती है, जो अभीष्ट नहीं है।

द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य हो ही नहीं सकते, अपितु जन्य ही होते हैं। इसमें अनुमान का स्वरूप ऐसा है कि द्वित्व, त्रित्व आदि संख्या (पक्ष) अपेक्षाबुद्धि का

---

१. 'एक यह, एक यह', इसीको अपेक्षाबुद्धि भी कहते हैं। २. सम्बन्ध।

व्यंग्य नहीं है (साध्य); द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं के अनेकाश्रित होने के कारण (हेतु) जो-जो अनेकाश्रित गुण हैं, वे अपेक्षा-बुद्धि के व्यंग्य नहीं होते (व्याप्ति)। जैसे, पृथक्त्व आदि गुण (दृष्टान्त)। यही अनुमान के स्वरूप हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्यों में आश्रित होने के कारण अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य नहीं होते, इसी प्रकार द्वित्व आदि भी अनेक में आश्रित होने से अपेक्षाबुद्धि के व्यंग्य नहीं हो सकते। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि की उत्पादिका ही होती है, व्यंजिका नहीं।

द्वित्वादि-निवृत्ति-प्रकार

पूर्व में इन्द्रिय और विषयों के साथ सम्बन्ध होने में संस्कार की उत्पत्ति-पर्यन्त जो आठ क्षण दिखाये गये हैं, उनमें तृतीय क्षण उत्पन्न होनेवाली जो अपेक्षाबुद्धि है, वह अपने से उत्तर चतुर्थ क्षण में द्वित्व का उत्पादन और द्वितीय क्षण में उत्पन्न एकत्व-जाति-ज्ञान का नाश भी करती है, इसी प्रकार पञ्चम क्षण में उत्पन्न होनेवाला जो द्वित्वत्व-ज्ञान है, वह अपने से उत्तर षष्ठ क्षण में द्वित्व-संख्या-ज्ञान को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाली अपेक्षाबुद्धि का नाश भी करता है। सप्तम क्षण, अर्थात् जिस क्षण में 'दो घट' इस आकार का द्रव्य-ज्ञान होता है, चतुर्थ क्षण में उत्पन्न जो द्वित्व-संख्या है, उसका नाश करता है; क्योंकि द्वित्व-संख्या के कारणीभूत जो अपेक्षाबुद्धि है, उसकी निवृत्ति पहले ही हो चुकी है। इसी प्रकार, सप्तम क्षण उत्पन्न होनेवाला जो 'दो घट' इस आकार का द्रव्य-ज्ञान है, वह अपने से उत्तर अष्टम क्षण में ज्ञाता में संस्कार उत्पन्न करता है और षष्ठ क्षण में उत्पन्न द्वित्व-संख्या-ज्ञान को नष्ट भी करता है। इसी प्रकार, अष्टम क्षण में संस्कार की उत्पत्ति-काल में 'दो घट' इस द्रव्य-बुद्धि का भी नाश हो जाता है। इसी नाश-प्रक्रिया को संस्कृत के दर्शन-ग्रन्थों में दिखाया गया है। जैसे—

'आदावपेक्षाबुद्धया हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
द्वित्वोदयसमं पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः॥
द्वित्वाख्यगुणधीकाले ततो द्वित्वं निवर्त्तते।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः॥
गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्धया संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः॥'

विवादास्पद जो ज्ञान है (पक्ष); वह उत्तरोत्तर कार्य से नाश्य होता है (साध्य); विभु-द्रव्य के क्षणिक विशेष गुण होने के कारण (हेतु); विभु (व्यापक)-द्रव्य के जितने क्षणिक विशेष गुण हैं, वे सब उत्तरोत्तर काल में अपने कार्य के नाश्य होते हैं (व्याप्ति); जैसे, आकाश का विशेष क्षणिक गुण शब्द (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि विभु-द्रव्य जो आकाश है, उसका विशेष-गुण जो शब्द है, वह अपने द्वितीय क्षण में अपने सदृश शब्दान्तर को उत्पन्न करता है और उसी क्षण में नष्ट भी हो जाता है, अर्थात् कार्यभूत शब्द के उत्पन्न होने से कारणभूत शब्द का विनाश

हो जाता है। यही कारणभूत और कार्यभूत शब्दों का विनाश्य-विनाशक-भाव सम्बन्ध है। अर्थात्, कारणभूत शब्द विनाश्य और कार्यभूत शब्द विनाशक होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में शब्दान्तर को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में स्वयं नष्ट हो जाता है और द्वितीय जो कार्यभूत शब्द है, वही प्रथम (कारणभूत) शब्द का विनाशक होता है। इसी प्रकार विभु-द्रव्य जो जीवात्मा है, उसका विशेष और क्षणिक गुण ज्ञान है, वह भी द्वितीय क्षण में ज्ञानान्तर को उत्पन्न करता है और तृतीय क्षण में ज्ञानान्तर से स्वयं नष्ट भी हो जाता है। अर्थात्, प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान से उत्पादित जो ज्ञान अथवा संस्कार है, वही प्रथम ज्ञान का विनाशक होता है। इससे उत्तरोत्तर ज्ञान अथवा संस्कार से पूर्व (कारणभूत) ज्ञान का नाश होता है।

अपेक्षाबुद्धि के नाश होने से द्वित्व का नाश होता है। यह पहले दिखाया जा चुका है। यहाँ एक और विशेष बात है—कहीं-कहीं अपेक्षाबुद्धि के नाश के विना भी आश्रय के नाश के विना भी आश्रय के नाश-मात्र से द्वित्व का नाश हो जाता है। जैसे—घटादि द्रव्यों के आरम्भक घटादि के अवयवों का जो संयोग है, उस संयोग के विनाशक जो विभाग है, उस विभाग के विनाशक जो कर्म है, उन कर्मों से चतुर्थ क्षण में घट का नाश होता है, यह सिद्धान्त है। जैसे—घटादि द्रव्यों का नाशक दण्डप्रहारादि रूप कर्म प्रथम क्षण में हुआ। उस कर्म से द्वितीय क्षण में अवयवों का विभाग हुआ। विभाग के बाद तृतीय क्षण में घटादि के आरम्भक संयोग का नाश हुआ। चतुर्थ क्षण में घट का नाश हुआ, यह द्रव्य-नाश का क्रम है।

पहले द्वित्व की उत्पत्ति के विचार में जो आठ क्षण बताये गये हैं, उनमें अपेक्षाबुद्धि का जनक (उत्पादक) एकत्व-जाति का ज्ञान द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, यह कहा गया है। यह एकत्व-जाति का ज्ञान यदि उक्त क्षण-चतुष्टय के प्रथम क्षण में हो, अर्थात् घट के नाश में जो चार क्षण दिखाये गये हैं, उनमें यदि प्रथम क्षण में हो, तो इस अवस्था में द्वितीय क्षण में, अर्थात् संयोगनाशक विभाग-क्षण में अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होगी। तृतीय संयोग-नाश-क्षण मे द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। इस क्षण मे द्वित्व का आश्रय जो घट है, उसके नाश से ही उसके उत्तर क्षण में घटद्वय में रहनेवाला द्वित्व का नाश हो जाता है। क्योंकि, द्वित्व का आश्रय जो घट है, उसी का नाश हो गया, तो द्वित्व रहेगा कहाँ! यहाँ अपेक्षाबुद्धि के नाश के विना ही केवल आश्रय के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है। यहाँ द्वित्व के नाश के पहले अपेक्षाबुद्धि का नाश नहीं होता। कारण यह है कि द्वित्वत्व-जाति के ज्ञान के बाद जब द्वित्व-संख्या का ज्ञान होता है, उसके बाद अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है। यहाँ द्वित्वत्व-जाति के ज्ञान-काल में ही घट-रूप आश्रय का नाश हो जाता है, उस समय अपेक्षा-बुद्धि का नाशक द्वित्व-संख्या का ज्ञान न होने से अपेक्षाबुद्धि का नाश नहीं हो सकता। क्योंकि, अपेक्षाबुद्धि के नाश में द्वित्व-संख्या-ज्ञान ही कारण है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव सर्वसम्मत है। यहाँ आश्रय के नाश के क्षण में अपेक्षाबुद्धि बनी रहती है,

इसलिए यहाँ अपेक्षा-बुद्धि के रहने पर भी केवल आश्रय के नाश से ही द्वित्व का नाश मानना होगा।

यदि विभागजनक कर्म से पहले ही एकत्व-जाति का ज्ञान कदाचित् हो गया, तो उस स्थिति में विभागजनक कर्म की उत्पत्ति के क्षण में (अर्थात् प्रथम क्षण में) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति होगी। द्वितीय विभाग-क्षण में द्वित्व की उत्पत्ति होगी। तृतीय संयोग-नाश-क्षण में द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। चतुर्थ घट-नाश-क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश होगा। इस स्थिति में, अपेक्षाबुद्धि और घटरूप आश्रय के एक ही क्षण में नाश होने से अपेक्षाबुद्धि और आश्रय (घट) इन दोनों के नाश से द्वित्व का नाश माना जाता है। यहाँ द्वित्व के नाश के दोनों कारण, अपेक्षाबुद्धि और आश्रय का नाश, विद्यमान हैं। विनाशक-विनाश की प्रतियोगिनी जो बुद्धि है, वही अपेक्षाबुद्धि है। अर्थात् विनाशक का जो विनाश है, उस विनाश की प्रतियोगिनी जो बुद्धि है, उसी का नाम अपेक्षाबुद्धि है। जैसे—अपेक्षाबुद्धि का जो नाश है, वह द्वित्व-संख्या का विनाशक है। इस विनाशक बुद्धि के नाश की प्रतियोगिनी अपेक्षाबुद्धि है। इस प्रकार, लक्षण का समन्वय होता है। इस लक्षण में यदि विनाशक पद न दें, तो केवल विनाश-प्रतियोगिनी बुद्धि को ही अपेक्षाबुद्धि मानना होगा। इस स्थिति में, सकल जीव-बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि, 'यह घट है, यह पट है', इत्याकारक जो जीव-बुद्धि है, उसका भी तृतीय क्षण में नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए, 'यह घट है', इत्यादि बुद्धि भी विनाश की प्रतियोगिनी हो जाती है, इससे अपेक्षाबुद्धि के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि विनाशक पद देते हैं, तो 'यह घट है', इत्यादि बुद्धि के विनाशक न होने के कारण अतिव्याप्ति दोष नहीं होता; क्योंकि उस घट-ज्ञान के नाश से किसी अन्य विनाश की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए, उस घट-ज्ञान का विनाश किसी का विनाशक नहीं है। और, अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व-संख्या का विनाश होता है, इसलिए अपेक्षाबुद्धि का विनाश विनाशक-विनाश होता ही है। अतः, इस विनाशक-विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि अपेक्षाबुद्धि ही होगी, दूसरी नहीं। इस प्रकार, लक्षण का समन्वय होता है।

उक्त संदर्भ के द्वारा यह दिखाया गया कि द्वित्व-संख्या अपेक्षाबुद्धि का जन्य है और अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का जनक है, अभिव्यञ्जक नहीं, यह वैशेषिकों का मत है। यद्यपि नैयायिक लोग भी इसी का अनुसरण करते हैं, तथापि उनका इतना आग्रह इस विषय में नहीं है, जितना वैशेषिकों का। यदि कोई कहे कि द्वित्व अपेक्षाबुद्धि का व्यङ्ग्य है जन्य नहीं, तो नैयायिक यहाँ मौन रह जाते हैं। अर्थात्, इसमें उनको कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती। परन्तु, वैशेषिक इस बात को नहीं सह सकते। वैशेषिक किसी प्रकार भी द्वित्व को अपेक्षा-बुद्धि का व्यङ्ग्य नहीं मान सकते। इसी प्रकार, विभागज-विभाग के विषय में भी इनका यही सिद्धान्त है।

यहाँ तक वैशेषिकों का मत दिखाने के बाद, क्रम-प्राप्त पाकजोत्पत्ति के विषय में लिखना आवश्यक हो जाता है, इसलिए पाकज-उत्पत्ति का प्रकार दिखाया जा रहा है—द्रव्य के साथ जब तेज का संयोग होता है, तब रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की

परावृत्ति देखी जाती है। जैसे—अपक्व अवस्था में श्यामवर्ण का जो घट है, वह अग्नि के संयोग से रक्त हो जाता है और हरित वर्ण का जो आम और केला का फल है, वह तेज के संयोग से ही पीत वर्ण का हो जाता है। इसी प्रकार तेज के संयोग से उसमें मधुर सुगंध और मृदुता आ जाती है। यहाँ घटादि का अवयव जो कपाल है, उसके वियुक्त (अलग) होने से या नाश होने से घटादि का नाश होता है।

इसी प्रकार, कपालों के भी अवयवों का वियोग अथवा नाश होने से कपाल का नाश होता है। इसी प्रकार, त्र्यणुक-पर्यन्त द्रव्यों का नाश उनके अवयवों के नाश होने से होता है। किन्तु, द्व्यणुक का नाश अवयवों के नाश से नहीं होता, बल्कि द्व्यणुक के अवयवों का वियोग होने से ही द्व्यणुक का नाश होता है; क्योंकि द्व्यणुक के अवयव जो परमाणु हैं, उनके नित्य होने के कारण उनका विनाश होना असम्भव ही है। इसलिए, द्व्यणुक के अवयव-परमाणुओं का परस्पर वियोग होने पर ही द्व्यणुक का नाश माना जाता है। इस प्रकार, परमाणु-पर्यन्त अवयवों के परस्पर-वियुक्त होने पर स्वतंत्र परमाणु में ही रूप, रस आदि की परावृत्ति होती है। अर्थात्, परमाणु में पूर्व रूपादि का नाश और नवीन रूपादि की उत्पत्ति होती है और पुनः उन परमाणुओं के द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से नवीन घटादि उत्पन्न होते हैं। यही वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया है। 'पीलु' परमाणु को ही कहते हैं। वैशेषिक लोग इसी क्रम से परमाणु में ही पाक मानते हैं। अर्थात्, परमाणु के वियुक्त होने पर स्वतन्त्र परमाणु मे ही पाक-जन्य रूपादि की परावृत्ति होती है, ऐसा वैशेषिक मानते हैं। इन विषयों का विवेचन मुक्तावली में विश्वनाथभट्ट ने भली भाँति किया है। वैशेषिकों का कहना है कि अवयवी से युक्त अवयवों में पाक होना असम्भव है, किन्तु अग्नि-संयोग से जब अवयव-वियुक्त हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं, तभी स्वतंत्र परमाणु में पाक होता है।

पीलुपाक

पक्व परमाणुओं के संयोग होने से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से महा अवयवी घटादि-पर्यन्त की उत्पत्ति होती है। यहाँ तेज के अतिशय वेग के कारण झटिति पूर्व-व्यूह का नाश और व्यूहान्तर की उत्पत्ति होती है। इसमें सूक्ष्मतर काल के आकलन (ज्ञान) न होने के कारण पूर्व घट का नाश लक्षित नहीं होता। यह वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया का क्रम है।

पिठरपाक

नैयायिकों की पाक-प्रक्रिया का नाम पिठरपाक-प्रक्रिया है। पिण्डभूत घटादि अवयवी का नाम 'पिठर' है। इनके मत में तेज के संयोग होने पर भी अवयवों का विनाश नहीं होता। अवयवों से सम्बद्ध अवयवी में ही पाक होता है। अर्थात्, वैशेषिकों के समान इनके मत में अग्नि-संयोग से परमाणुओं का विभाग और पूर्व श्याम आदि रूप का नाश तथा रक्त आदि रूप की उत्पत्ति-पर्यन्त नव या दस क्षण लगते हैं। नैयायिकों के मत में इस प्रकार इतने क्षण नहीं लगते। एक काल में ही अग्नि-संयोग से

पूर्वरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ अवयवों का विभाग नहीं होता, *किन्तु अवयवों से युक्त अवयवी (घटादि) में एक काल में ही पूर्व रूप* (श्यामता आदि) का नाश और पर रूप (रक्तता आदि) की उत्पत्ति होती है। यही पिठरपाक है। वैशेषिकी पीलुपाक-प्रक्रिया में अग्नि-संयोग से सर्वप्रथम परमाणुओं में कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म द्रव्य का आरम्भक जो संयोग है, उसके विनाशक-विभाग को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि उस परमाणु के कर्म से परमाणु में विभाग उत्पन्न होता है, उस विभाग से परमाणुओं के संयोग का नाश होता है। यही द्रव्यारम्भक संयोग है। द्वयणुकारम्भक संयोग के नाश होने पर द्वयणुक का नाश हो जाता है। इस अवस्था में स्वतन्त्र परमाणु में अग्नि-संयोग से श्याम रूप का नाश होता है। द्वयणुक के नाश होने के पूर्व परमाणु द्वयणुक से युक्त *रहता है, इसलिए सर्वावयव से सम्पूर्ण श्यामता की निवृत्ति नहीं हो सकती,* इसीलिए द्वयणुक का नाश मानना आवश्यक हो जाता है। श्यामता की निवृत्ति होने के बाद अन्य अग्नि के संयोग से रक्तता की उत्पत्ति होती है। पूर्व रूप का ध्वंस ही रूपान्तर की उत्पत्ति में कारण होता है। इसलिए, श्यामता के नाश के बाद ही रक्तता की उत्पत्ति होती है, उसके पहले नहीं। एक बात और भी है कि जिस अग्नि-संयोग से श्यामता का नाश होता है, उसीसे रक्तता की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह है कि रूप का नाशक जो अग्नि-संयोग है, वह रूपान्तर का उत्पादक नहीं हो सकता। इसलिए, रूपनाशक अग्नि-संयोग से रूपान्तरजनक अग्नि-संयोग विजातीय होता है, यह मानना ही होगा। इसी प्रकार रूपजनक तेज के संयोग से विजातीय रसजनक तेज का संयोग होता है। आम आदि फल में जिस तेज के संयोग से पीत आदि रूप उत्पन्न होते हैं, उस तेज के संयोग से भिन्न तेज के संयोग से मधुर आदि रस उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक रूप, रस, गंध आदि के जनक जो तेज के संयोग हैं, वे परस्पर भिन्न होते हैं। एक बात और है कि घट में अग्नि-संयोग से जब श्यामता की निवृत्ति और रक्तता की उत्पत्ति हो जाती है, तब परमाणु में अदृष्ट का आश्रय जो आत्मा हैं, उसके संयोग से द्रव्यारम्भक क्रिया उत्पन्न होती है। रक्तता आदि की उत्पत्ति के पहले द्रव्य का आरम्भ करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कारण यह है कि निर्गुण द्रव्य में क्रिया का रहना असम्भव है।

परमाणु में द्रव्यारम्भक क्रिया की उत्पत्ति में कोई भी दृष्ट कारण नहीं है और बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति असम्भव ही है। इसलिए, अदृष्ट को कार्य-मात्र के प्रति कारण माना गया है। अदृष्ट शब्द से धर्माधर्म का ग्रहण किया जाता है। उस अदृष्ट का आश्रय जीवात्मा है और वह व्यापक है। व्यापक होने के कारण सकल कार्य देश में सन्निहित रहता हुआ, सकल कार्य-मात्र का साधारण कारण होता है। इसी अदृष्ट कारण से परमाणु में द्रव्यारम्भक क्रिया होती है और उस क्रिया से पूर्व देश से विभाग होता है। विभाग से पूर्व देश के साथ जो संयोग है, उसकी निवृत्ति होती है। उसके निवृत्त होने पर दूसरे परमाणु के साथ संयोग होता है। इसी संयुक्त परमाणु-द्वय से द्वयणुक का आरम्भ होता है। द्वयणुक की उत्पत्ति के बाद कारण-परमाणु में जो-जो

गुण हैं, उनकी कार्य में उत्पत्ति होती है। कारण में जो गुण हैं, वे ही कार्य में उत्पन्न होते हैं। यह सर्वसिद्धान्तसिद्ध है 'कारणगुणाः कार्यगुणानारमन्ते', अर्थात् कारण में रहनेवाले गुण ही कार्य में गुण के आरम्भक होते हैं। जैसे, तन्तु का रूप पट के रूप का आरम्भक होता है। जिस प्रकार, तन्तु पट का समवायी कारण होता है, उसी प्रकार तन्तु का रूप पटगत रूप का असमवायी कारण होता है। इस प्रकार, पाकज रूपादि की उत्पत्ति में पीलुपाक-प्रक्रिया से नव क्षण लगते हैं। विभागज-विभाग के अङ्गीकार करने पर दस क्षण भी माने जाते हैं।

विभागज-विभाग

विभागज-विभाग दो प्रकार का होता है। एक कारण-मात्र विभाग से उत्पन्न, दूसरा कारणाकारण-विभाग से उत्पन्न। कारण-मात्र विभाग से उत्पन्न प्रकार—कार्य से व्याप्त जो कारण है, उसमें जो कर्म उत्पन्न होता है, वह जब अवयवान्तर से विभाग उत्पन्न करता है, तब आकाश आदि प्रदेश से विभाग उत्पन्न नहीं करता और जब आकाश आदि प्रदेश से विभाग उत्पन्न करता है, तब अवयवान्तर से विभाग उत्पन्न नहीं करता।

इसका तात्पर्य यह है कि कार्य से व्याप्त जो कारण है, उसमें उत्पन्न जो कर्म है, वह द्व्यणुक का आरम्भक जो परमाणुद्वय का संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करता है और द्व्यणुक के अनारम्भक आकाश-प्रदेश का जो संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न नहीं करता।

कारण यह है कि एक कर्म में कार्य का आरम्भक जो संयोगविशेष है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति और कार्य के अनारम्भक संयोगविशेष के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह सकती; क्योंकि एक धर्म में दो धर्मों का रहना सर्वशास्त्रविरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि अग्नि-संयोग से जो परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है, उस कर्म से विभाग उत्पन्न होता है। उस विभाग में एक ही शक्ति रह सकती है, चाहे वह कार्य के आरम्भक संयोग का आरम्भक नाशक हो, अथवा अनारम्भक संयोग का। यदि कार्य के आरम्भक और अनारम्भक दोनों प्रकार के संयोग के नाश करनेवाली शक्ति विभाग में मान लें, तो कमल-कुड्मल का विकास-काल में ही भङ्ग हो जायगा।

कमल के विकास-काल में कमल का अनारम्भक आकाश देश के साथ जो संयोग है, उनके विनाशक विभाग का जनक एक प्रकार का कर्म उत्पन्न होता है। अर्थात्, विकास-काल में जो कमल के अवयवों में कर्म उत्पन्न होता है, उस कर्म से अवयवों में विभाग उत्पन्न होता है और उस विभाग से कमल का आकाश-प्रदेश के साथ जो संयोग है, उसका नाश होता है और वह संयोग कमल का आरम्भक नहीं है। अर्थात्, उस आकाश-प्रदेश के साथ जो कमल-कुड्मल का संयोग है, उसका नाशक विभाग को उत्पन्न करनेवाली शक्ति उस कर्म में मानी जाती है।

इस स्थिति में यदि कमल के आरम्भक अवयवों के साथ जो संयोग है, उसके विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति भी उस कर्म में मान लें, तब तो कमल के आरम्भक संयोग के नाश होने से कमल का भी नाश अवश्यम्भावी है। इसलिए, कमल-कुड्मल का भङ्ग होना निश्चित हो जाता है। इस अवस्था में, जिस प्रकार 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है' इस साहचर्य-रूप व्याप्ति का व्यभिचार कहीं नहीं देखा जाता। उसी प्रकार, जिस कर्म में अनारम्भक आकाश-प्रदेश के साथ संयोग के विनाशक-विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति रहेगी, उस कर्म में आरम्भक अवयवान्तरों के साथ संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहेगी, इस नियम का भी व्यभिचार नहीं हो सकता। इसी प्रकार, जहाँ आरम्भक अवयवान्तरों के साथ संयोग के विनाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है, वहाँ अनारम्भक आकाश-देश के साथ संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती, यह नियम भी व्यभिचरित है। इसलिए, परमाणु में होनेवाला जो अनारम्भक संयोग कर्म है, उसके विरोधी आकाश-प्रदेश के विभाग को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु, उस कर्म से अन्य (उत्पन्न) जो विभाग है, वह उस कर्मवान् में भी आकाश-प्रदेश के विभाग को उत्पन्न करता है। वह जो विभाग का जनक विभाग है, वह अपने से अव्यवहित उत्तर-क्षण में आकाश-प्रदेश के विभाग को उत्पन्न नहीं करता; क्योंकि इसमें कोई सहायक नहीं है। यदि सहायक से रहित (असहाय) विभाग को ही आकाश-प्रदेश के विभाग का जनक मान लें, तो कर्म का जो लक्षण आचार्य ने किया है, उसकी विभाग में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि संयोग और विभाग का जो असहाय कारण है, वही कर्म का लक्षण है, ऐसा आचार्य ने स्वयं कर्म का लक्षण किया है और यहाँ विभाग का असहाय कारण-विभाग भी हो जाता है। इसलिए, अतिव्याप्ति दोष कर्म-लक्षण के विभाग में हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सहायवान् जो विभागजनक विभाग है, वही अपने उत्तर-क्षण में आकाश-प्रदेश का विभाग उत्पन्न करता है, असहाय नहीं है। यहाँ असहाय उसीको कहते हैं, जो अपने उत्तर-क्षण में उत्पन्न भावान्तर की अपेक्षा न करे।

अब यहाँ शङ्का होती है कि जो विभाग जिस विभाग का उत्पादक है, उसमें सहायक कौन है? इसका उत्तर यह है कि प्रथम क्षण में अग्नि के संयोग से परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है और द्वितीय क्षण में दूसरे परमाणु के साथ विभाग उत्पन्न होता है और तृतीय क्षण में द्वयणुक का आरम्भक जो संयोग है, उसका नाश होता है। चतुर्थ क्षण में द्वयणुक का नाश होता है। द्वयणुक के नाश-पर्यन्त यही क्रम रहता है। अब यहाँ यह विचारणीय है कि द्वितीय क्षण में उत्पन्न जो विभाग है, वह तृतीय क्षण के आरम्भक संयोग का नाशक क्षण है, उसकी सहायता से आकाश-प्रदेश के विभाग को उत्पन्न करता है, जब यह माना जाय, तब तो यह विभागज-विभाग चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होता है, यह मानना होगा और यदि चतुर्थ द्वयणुक-नाश-क्षण की सहायता से आकाश-प्रदेश का विभाग होता है, यह माना जाय, तो द्वयणुक-नाश के उत्तर क्षण में,

अर्थात् द्व्यणुक के श्याम रूप के नाश के क्षण में आकाश-प्रदेश का विभाग उत्पन्न होता है, यह मानना होगा। इस प्रकार ये दो पक्ष सिद्ध होते हैं।

यहाँ एक सिद्धान्त यह है कि आरम्भक संयोग का नाश-विशिष्ट जो क्षण है, और द्व्यणुक का नाश-विशिष्ट जो क्षण है, वे दोनों क्षण उक्त विशिष्ट रूप से ही विभाग की सहायता करते हैं। दूसरे दार्शनिकों का सिद्धान्त यह है कि विशिष्ट भी उक्त क्षण में अपने एकमात्र स्वतन्त्र रूप से ही सहायता करते हैं। इस प्रकार, विशिष्ट अथवा केवल आरम्भक संयोग का नाशक जो क्षण है, यदि उसको विभाग का सहायक मानें, तो पहले द्व्यणुक के नाश से लेकर रूपान्तर-युक्त द्व्यणुक की उत्पत्ति-पर्यन्त जो नव क्षण दिखाये गये हैं, वहाँ दस क्षण मानना होगा। कारण यह है कि तृतीय और चतुर्थ क्षण के बीच में एक अधिक क्षण का स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार विशिष्ट अथवा केवल द्व्यणुक के नाश के क्षण को विभाग का सहायक मानें, अर्थात् द्वितीय क्षण मानें, तो ग्यारह क्षण मानना होगा; क्योंकि उसी तृतीय और चतुर्थ क्षण के बीच में दो क्षण और भी मानना आवश्यक हो जाता है। जैसे—पूर्व में उक्त जो नव क्षण हैं, उनमें चतुर्थ में पुनः द्रव्य का आरम्भक कर्म उत्पन्न होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि चतुर्थ क्षण में जो पुनः द्रव्यारम्भक कर्म की उत्पत्ति होती है, वह विभागजनक जो कर्म है, उसके नाश के बाद ही हो सकती है। विभागजनक कर्म के विद्यमान रहने पर भी आरम्भक कर्म का होना असम्भव ही है। कारण यह है कि विभाग और आरम्भ दो परस्पर-विरोधी होने के कारण एक काल में असम्भावित हैं।

दो पक्ष, जिनके विषय में पहले कहा जा चुका है, उनमें प्रथम पक्ष में विभागज-विभाग प्रथम, अर्थात् द्व्यणुक नाश-क्षण में उत्पन्न होता है। इसके बाद पूर्व संयोग का, द्वितीय, अर्थात् श्यामरूप के नाश-क्षण में, नाश होता है। उत्तर देश के साथ संयोग की उत्पत्ति तृतीय, अर्थात् रक्तता की उत्पत्ति के क्षण में होती है। यहाँ उत्तर देश के साथ संयोग की उत्पत्ति-पर्यन्त विभागजनक कर्म को अवश्य मानना होगा। क्योंकि, कर्मरहित वस्तु का उत्तर-देश के साथ संयोग होना असम्भव ही है; इसलिए विभागजनक कर्म का नाश चतुर्थ क्षण में और आरम्भक कर्म की उत्पत्ति पञ्चम क्षण में माननी होगी।

द्वितीय पक्ष में, द्वितीय क्षण के विभागज-विभाग की उत्पत्ति होगी और तृतीय, अर्थात् रक्तता की उत्पत्ति के क्षण में पूर्व-संयोग का नाश होगा। चतुर्थ क्षण में उत्तर संयोग की उत्पत्ति होगी। पञ्चम क्षण में विभागजनक कर्म का नाश होगा। इसके बाद षष्ठ क्षण में आरम्भक कर्म की उत्पत्ति माननी होगी।

इस प्रकार विभागज-विभाग के अङ्गीकार करने में कारणभूत विभाग और कार्यभूत विभाग में पौर्वापर्य के भेद होने पर वह लक्षित नहीं होता। कारण यह है कि क्षणात्मक काल अत्यन्त सूक्ष्मतर है, इसलिए उस का ज्ञापन किसी इन्द्रिय का

विषय नहीं होता। अर्थात्, क्षणात्मक काल के अत्यन्त सूक्ष्मतर होने से पौर्वापर्य का भेद लोक में प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार कारणमात्र विभागजन्य विभाग का निर्देश संक्षेप में किया गया। अब कारणाकारण-विभागजन्य विभाग का निर्देश संक्षेप में किया जाता है। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि कारणमात्र-विभागज-विभाग इसलिए कहा जाता है कि केवल कारण-मात्र के ही विभाग से विभाग उत्पन्न होता है। जैसे द्व्यणुक का परमाणुद्वय (दोनों परमाणु) कारण होता है। इनमें कोई परमाणु अकारण नहीं होता है, इसलिए इन परमाणुओं के विभाग से जो विभाग उत्पन्न होगा, वह कारण-मात्र विभागजन्य कहा जायगा।

कारणाकारण-विभाग-जन्य-विभाग इसलिए कहा जाता है कि कारण और अकारण दोनों के विभाग से यह विभाग उत्पन्न होता है। जैसे—हाथ में उत्पन्न जो कर्म है, वह जिस प्रकार अपने अवयवान्तरों से विभाग उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आकाश देश से भी विभाग पैदा करता है। यहाँ हाथ शरीर का अवयव होने का कारण होता है। आकाश शरीर का कारण नहीं होता, इसलिए आकाश अकारण ही है। इस कारण (हाथ) और अकारण (आकाश) के विभाग से जो शरीर और आकाश का विभाग होता है, वह कारणाकारण-विभाग से जन्य विभाग होता है। क्योंकि, हाथ कारण और आकाश अकारण—इन दोनों कारण-अकारण के अनुकूल ही विभाग होता है। जैसे—हाथ दक्षिण से उत्तर की ओर चलता है, उस समय दक्षिण आकाश-प्रदेश से ही हस्ताकाश का विभाग करता है और उस विभाग से उत्पन्न शरीराकाश का विभाग भी उसी प्रकार होता है। अब यहाँ यह विचार होता है कि शरीराकाश का जो विभाग है, वह शरीरगत कर्म-जन्य है अथवा हस्ताकाश के विभाग से जन्य। शरीरगत कर्म-जन्य तो कह नहीं सकते; क्योंकि उस काल में शरीरगत कोई कर्म नहीं है। केवल हस्तगत कर्म होने से कर्म का आश्रय हस्त ही कहा जायगा, इसलिए शरीर निष्क्रिय है। अवयवी की क्रिया से अवयव भी क्रियाश्रय कहा जा सकता है, परन्तु अवयव की क्रिया से अवयवी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता। यहाँ हस्तमात्र अवयव के प्रचलन होने से शरीर का प्रचलन नहीं कहा जा सकता। इसलिए, कारणाकारण के विभाग से ही शरीराकाश का विभाग मानना ही होगा। यदि कहें कि हस्त में रहनेवाली जो क्रिया है, उसीसे शरीराकाश का भी विभाग हो जायगा। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार हस्तगत क्रिया से हस्त और आकाश का विभाग होता है, उसी प्रकार हस्तगत क्रिया से ही शरीराकाश का भी विभाग हो सकता है, तो यह भी ठीक बात नहीं है। कारण यह है कि क्रिया अपने आश्रय में ही अपना कार्य उत्पन्न कर सकती है, अनाश्रय में नहीं। प्रकृत में कर्म हस्त में रहनेवाला है, शरीर में नहीं; इसलिए हस्ताकाश के विभाग के उत्पादक होने पर भी शरीराकाश के विभाग का उत्पादक नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि हस्तगत कर्म व्यधिकरण होने के कारण शरीर और आकाश के विभाग का जनक नहीं हो सकता। इसलिए, हस्ताकाश के विभाग से ही शरीराकाश का विभाग मानना होगा। यही कारणाकारण-विभागज-विभाग कहा जाता है।

अन्धकार-विचार

अब 'अन्धकार' के विषय में विचार किया जाता है—यहाँ वेदान्तियों और मीमांसकों का मत है कि स्वाभाविक नीलरूप से विशिष्ट अन्धकार भी द्रव्य है। इसमें श्रीधराचार्य का कहना है कि अन्धकार यद्यपि द्रव्य है, परन्तु उसमें नीलरूप जो भासित होता है, वह आरोपित है, वास्तविक नहीं। जैसे—आकाश-मण्डल या जल में नील रूप का भान आरोपित होता है, उसी प्रकार, तम (अन्धकार) में भी नील रूप आरोपित है। मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायियों का कहना है कि आलोक-ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है, कोई वस्तु नहीं। नैयायिकों और वैशेषिकों का मत है कि आलोक के अभाव का ही नाम तम है, दूसरा नहीं। यह मीमांसकों और वेदान्तियों का जो द्रव्य-पक्ष है, वह तो ठीक नहीं; क्योंकि अन्धकार को यदि द्रव्य मानते हैं, तो यह शङ्का होती है कि उक्त नव द्रव्य में ही इसका अन्तर्भाव है, अथवा यह दशम द्रव्य है? नव द्रव्यों में तो इसका अन्तर्भाव कह नहीं सकते; क्योंकि जिस द्रव्य में अन्तर्भाव मानेंगे, उस द्रव्य के जितने गुण हैं, उन सबको तम में मानना होगा, जो तम में उपलब्ध नहीं होते। जैसे—यदि पृथिवी में अन्धकार का अन्तर्भाव मानें, तो पृथिवी के जो गन्ध, स्पर्श आदि चौदह गुण हैं, इन सबको अन्धकार मानना होगा। पृथिवी आदि के जो गुण हैं, उनको आगे दिखाया जायगा। इसी प्रकार तेज में अन्तर्भाव मानने से तेज के जो उष्ण-स्पर्शादि गुण हैं, उनको तम में मानना होगा। परन्तु, पृथिवी आदि के गन्ध आदि जो गुण हैं, उनकी उपलब्धि अन्धकार में नहीं होती, इसलिए किसी में भी अन्तर्भाव नहीं कह सकते। यदि द्वितीय पक्ष, अर्थात् दशम द्रव्य मानें, वह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि अन्धकार निर्गुण होने के कारण द्रव्य ही नहीं हो सकता, तो दशम द्रव्य मानना अनुचित ही है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का लक्षण गुणाश्रयत्व है, अर्थात् जो गुण का आश्रय हो, वही द्रव्य है। अन्धकार में रूप, रस आदि गुणों में किसी गुण का भी सद्भाव नहीं है, इसलिए जब द्रव्य का लक्षण ही अन्धकार में नहीं घटता, तो पुनः उसका दशमद्रव्यत्व किस प्रकार सिद्ध हो सकता। यदि यह कहें कि नील रूप गुण के आश्रय होने से तम भी द्रव्य कहा जायगा। इससे तम का दशमद्रव्यत्व उपपन्न हो जाता है, यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि नील रूप रस, गन्ध आदि से व्याप्त रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ नील रूप है, वहाँ-वहाँ गन्ध, रस आदि की उपलब्धि अवश्य रहती है। जैसे—नीलकमल, प्रियङ्गु-कलिका आदि में नील रूप के साथ-साथ गन्धादि गुण अवश्य रहते हैं। इसलिए, नील रूप के व्यापक गन्धादि गुण होते हैं और व्यापक के अभाव में व्याप्य कभी नहीं रह सकता। इसलिए, अन्धकार में व्यापकीभूत गन्धादि गुणों के न रहने से व्याप्य नील रूप का अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है, इसलिए अन्धकार में नील रूप के अभाव का निश्चय होता है। अब यहाँ यह भी आशङ्का होती है कि 'नीलं तमः चलति'; अर्थात् नीला अन्धकार चलता है। यहाँ नील तम में गमन-क्रिया की जो प्रतीति होती है, उसकी क्या गति होगी? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार शून्य नभ में

भ्रममूलक नील रूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अन्धकार में भी नील रूप और चलन क्रिया की प्रतीति भ्रम के कारण ही है, वास्तविक नहीं।

इस प्रकार, अन्धकार जब दशम द्रव्य सिद्ध नहीं हुआ, तो उसमें नील रूप आरोपित है। यह जो श्रीधराचार्य का कहना है, वह भी नहीं बनता। क्योंकि, अधिष्ठान के निश्चय के बिना आरोप होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शङ्ख के देखने पर ही उसमें पाण्डुरोग आदि दोष से ही पीतत्व आदि की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। एक बात और भी है कि सहकारी जो बाह्यालोक है, उससे रहित चक्षु-रूप के आरोप में समर्थ नहीं होता है, अर्थात् सहकारी बाह्यालोक से युक्त जो चक्षु है, वही रूप के आरोप में समर्थ होता है और 'इदं तमः' (यह तम है), इस प्रकार का जो ज्ञान है, वह चक्षुरिन्द्रिय से अजन्य है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु, अन्धकार का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय का जन्य ही है। क्योंकि, अन्धकार के ज्ञान में चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा जो देखी जाती है, वह अन्यथा अनुपपन्न ही है। अर्थात्, वह अपेक्षा नहीं हो सकती। इस प्रकार, अन्धकार यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है, यह सिद्ध हो गया, तो प्रभाकर के एकदेशियों का जो यह कहना है कि 'आलोक ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है', यह भी नहीं बनता। कारण यह है कि अभाव का जो प्रतियोगी है, उसका प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, उसी इन्द्रिय से उस अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। 'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तदभावोऽपि', यह नियम सर्वसम्मत है। जिस पदार्थ का अभाव होता है, वह पदार्थ उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। जैसे, घट के अभाव का प्रतियोगी घट होता है और जिस इन्द्रिय से घट का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय से घट के अभाव का भी ग्रहण होता है। इस स्थिति में अन्धकार को यदि आलोक-ज्ञान का अभाव-स्वरूप मानते हैं, तो यहाँ अभाव का प्रतियोगी जो ज्ञान है, उसके मानस-प्रत्यक्ष होने के कारण अन्धकार भी मानस-प्रत्यक्ष का विषय होने लगेगा, जो सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। इसलिए, आलोक-ज्ञान का अभाव-स्वरूप ही तम है, यह वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

अब यहाँ आशङ्का होती है कि जितने अभाव हैं, उनका बोध 'नञ्' शब्द के द्वारा ही किया जाता है और यहाँ तम, अन्धकार इत्यादि विधि-प्रत्यय के वेद्य हैं, इसलिए अन्धकार अभाव-स्वरूप नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जिसका ज्ञान नञ् के द्वारा होता है, वही अभाव है और जिसका ज्ञान नञ् के द्वारा नहीं होता, वह भाव ही है, अभाव नहीं। इसलिए, तम आदि शब्द से बोधित होने से अन्धकार भाव ही है, यहाँ इस प्रकार का अनुमान किया जाता है। जैसे—विवादास्पद अन्धकार (पक्ष) भावरूप है (साध्य); नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय होने से (हेतु), जो-जो नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय हैं, वे सब भाव-रूप ही होते हैं, (व्याप्ति), जैसे—घट-पट आदि (दृष्टान्त); अर्थात्, जिस प्रकार घट-पट आदि पदार्थों के अभाव की प्रतीति निषेध-मुख से होती है, विधि-मुख से नहीं, जैसे—'घट नहीं है', 'पट नहीं है' इत्यादि। इस प्रकार घट-पट आदि पदार्थों की प्रतीति निषेध-मुख से नहीं होती; किन्तु 'घट है', 'पट है' इत्यादि की विधि-मुख से ही प्रतीति

होती है। इसी प्रकार अन्धकार है, इस प्रकार विधि-मुख से ही अन्धकार की प्रतीति होने के कारण अन्धकार भाव ही है, अभाव नहीं; यह सिद्ध हो जाता है।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि विधि-प्रत्यय वेद्य होने से अथवा 'नञ्' से अनुल्लिखित बुद्धि का विषय होने से यह जो हेतु दिया गया, वह व्यभिचरित है। जैसे—प्रलय, विनाश, अवसान इत्यादि अभावार्थक शब्द भी विधि-प्रत्यय-वेद्य अथवा 'नञ्' से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय होने से भावार्थक हो जाते हैं। यहाँ प्रलय शब्द से सृष्टि का अभाव, विनाश शब्द से ध्वंस और अवसान शब्द से समाप्ति अथवा वर्ण का अभाव ही प्रतीत होता है और ये विधि-प्रत्यय-वेद्य हैं तथा नञ् से अनुल्लिखित बुद्धि के विषय भी हैं। इसलिए यह हेतु व्यभिचरित होने से अन्धकार के भावत्व का साधक नहीं हो सकता। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि अन्धकार अभाव-स्वरूप ही है। यदि यह कहें कि अन्धकार अभाव-रूप है, तो उसमें भावधर्म का आरोप कैसे होगा? अर्थात्, भाव जो नीलपुष्पादि हैं, उनके जो नील आदि धर्म हैं, उनका आरोप अभाव-स्वरूप अन्धकार में नहीं हो सकता। यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि दुःख के अभाव में सुख की प्रतीति और संयोगाभाव में भी विभाग का अभिमान देखा जाता है। जैसे, भार के उतर जाने पर 'मैं सुखी हो गया', इस प्रकार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है।

अब यहाँ एक शङ्का और होती है। जिस प्रकार, रूपवान् घट के अभाव का ज्ञान आलोक-सहकृत चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है, उसी प्रकार रूपवान् आलोक के अभाव का भी ज्ञान आलोक-सहकृत चक्षु से ही होना चाहिए, और ऐसा नहीं होता। किन्तु, अन्धकार के ज्ञान में आलोकनिरपेक्ष चक्षु ही कारण होता है, इसलिए आलोकाभाव-स्वरूप अन्धकार नहीं हो सकता। यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिसके ज्ञान में चक्षु जिसकी अपेक्षा रखता हो, उसी के अभाव के ज्ञान में उसकी अपेक्षा होती है। जैसे—घट के ज्ञान में चक्षु को आलोक की अपेक्षा है, इसलिए घट के अभाव-ज्ञान में भी आलोक की अपेक्षा आवश्यक है। प्रकृत में आलोक के ज्ञान में आलोकान्तर की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए आलोक के अभावरूप अन्धकार के ज्ञान में भी आलोक की अपेक्षा नहीं होती। यदि यह कहें कि अन्धकार के ज्ञान में अधिकरण का ज्ञान होना आवश्यक है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, अभाव के ज्ञान में अधिकरण-ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। अन्यथा, 'कोलाहल बन्द हो गया', यहाँ शब्द-नाश का जो प्रत्यक्ष होता है, वह नहीं हो सकता। क्योंकि, शब्द-नाश का आश्रय (अधिकरण) जो आकाश है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार, अन्धकार के आलोकाभाव को रूपसिद्ध हो जाने से अन्धकार को जो द्रव्यरूप मानते थे, वे परास्त हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से महर्षि कणाद ने यह सूत्र बनाया है—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः'। यहाँ निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है और वैधर्म्य का अर्थ वैलक्षण्य है। अर्थात्, द्रव्य-गुण-कर्म की उत्पत्ति की विलक्षणता से अभाव-रूप ही तम है। तात्पर्य यह है कि तम उत्पत्ति-विनाशशाली होने से अनित्य है, इसलिए नित्य जो सामान्यविशेष

समवाय है, उसमें उसका अन्तर्भाव नहीं होता और न उत्पत्तिमान् द्रव्य-गुण-कर्म में ही; क्योंकि द्रव्य-गुण-कर्म की अपेक्षा इसकी उत्पत्ति विलक्षण है। जितने जन्य (उत्पन्न होनेवाले) द्रव्य हैं, वे अवयव से आरब्ध होते हैं, जैसे—घट आदि।

तम की उत्पत्ति अवयव से आरब्ध नहीं है। आलोक के अपसरण में सहसा तम का अनुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि गुण-कर्म की उत्पत्ति द्रव्य के आश्रय से होती है और तम की उत्पत्ति में यह बात नहीं है। इसी उत्पत्ति की विलक्षणता से तम अभाव-रूप है, यह सिद्ध होता है और यही सूत्रकार का तात्पर्य भी है।

अभाव-विचार

इसके बाद सप्तम अभाव पदार्थ का विवेचन किया जाता है। अभाव की प्रतीति निषेध-मुख प्रमाण से होती है। जैसे—'घट नहीं है, पट नहीं है' इत्यादि। समवाय-सम्बन्ध से रहित और समवाय से भिन्न जो पदार्थ है, वही अभाव का लक्षण है।

समवाय-सम्बन्ध-रहित, यह विशेषण देने से द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष में अभाव का लक्षण नहीं जाता है। क्योंकि, उक्त द्रव्यादि समवाय सम्बन्धवान् ही हैं। जैसे, द्रव्य का द्रव्य में रहनेवाले गुणों और क्रियाओं के साथ समवाय-सम्बन्ध है और अनित्य द्रव्यों का स्वाश्रयभूत अवयवों के साथ समवाय है और गुण-कर्म का स्वाश्रयभूत द्रव्य के साथ और आश्रित सामान्य के साथ समवाय-सम्बन्ध है। सामान्य का स्वाश्रयभूत द्रव्य, गुण और कर्म के साथ समवाय-सम्बन्ध है और विशेष का आश्रयभूत नित्य द्रव्य के साथ समवाय-सम्बन्ध है। इस प्रकार, द्रव्य-गुण-कर्म सामान्य और विशेष इन पाँचों में समवाय-सम्बन्ध से रहित न होने के कारण अभाव-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यद्यपि समवाय समवाय-सम्बन्ध से रहित है; क्योंकि अनवस्था के भय से समवाय में समवाय का अंगीकार नहीं किया जाता, इसलिए समवाय-सम्बन्ध से रहित होने के कारण समवाय में अभाव-लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। तथापि, समवाय-भिन्न इस विशेषण से उसकी व्यावृत्ति हो जाती है।

संक्षेप में अभाव दो प्रकार का होता है। पहला संसर्गाभाव, दूसरा अन्योन्याभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का है। इसलिए, इसका विभाग नहीं हो सकता। संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। इन तीनों में संसर्ग (सम्बन्ध) का ही अभाव होता है, इसलिए उसका नामकरण संसर्गाभाव किया गया। संसर्ग-प्रतियोगी जो निषेध है, वह संसर्गाभाव है। जैसे—घटोत्पत्ति के पहले यहाँ घट नहीं है। इस प्रकार, प्रागभाव का व्यवहार किया जाता है। यहाँ मृत्पिण्ड में घट के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। इसी प्रकार, घट के नाश के बाद यहाँ घट नहीं है, ऐसा प्रध्वंसाभाव का व्यवहार किया जाता है। यहाँ घड़े के टुकड़ों में घट के सम्बन्ध का निषेध प्रतीत होता है। इसी प्रकार, भूतल में घट नहीं है, इस अत्यन्ताभाव-स्थल में भी भूतल में घट के सम्बन्ध का ही

निषेध किया गया है। संसर्गाभाव में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव अनित्य हैं; क्योंकि प्रागभाव अनादि होने पर भी सान्त है और प्रध्वंसाभाव अनन्त होने पर भी उत्पत्तिमान् है। केवल अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं। इससे प्रागभाव का लक्षण यह होता है कि अत्यन्त अनादि होता हुआ भी जो अनित्य हो, वह प्रागभाव है और उत्पत्तिमान् होते हुए भी जो अविनाशी हो, वह प्रध्वंसाभाव है। कोई भी भाव-पदार्थ अनादि होता हुआ अनित्य और उत्पत्तिमान् होता हुआ भी नित्य नहीं है। इसलिए, अतिव्याप्ति न होने के कारण लक्षण में अभाव-पद की आवश्यकता नहीं है।

प्रतियोगी है आश्रय जिसका, ऐसा जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी आश्रय नहीं होता; क्योंकि घटोत्पत्ति के पहले या घट-नाश के बाद प्रतियोगी घट की सत्ता नहीं है और घटाभाव भी है। इसलिए, यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ प्रागभाव प्रध्वंसाभाव का आश्रय-प्रतियोगी नहीं होता। अन्योन्याभाव भी आश्रय-प्रतियोगी नहीं होता; क्योंकि घट में घट का भेद नहीं रहता। लेकिन, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी आश्रय होता है। जैसे भूतल में घट का अभाव है, वैसे घट में भी घट का अभाव है, यह कह सकते हैं; क्योंकि स्व में स्व नहीं रहता। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में एक यह भी विलक्षणता है कि अत्यन्ताभाव की प्रतीति प्रतियोगी के समानाधिकरण में नहीं होती। भूतल में घट रहने पर उस समय उस विद्यमान घटात्यन्ताभाव की प्रतीति नहीं होती और अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रतियोगी के समानाधिकरण में होती है। जैसे, घटवान् भूतल में घट के भेद की प्रतीति देखी जाती है। अत्यन्ताभाव के लक्षण में अभाव पद का जो निवेश किया जाता है, उसका तात्पर्य है कि प्रतियोगी है आश्रय जिसका, वह अत्यन्ताभाव है। यदि इतना ही अत्यन्ताभाव का लक्षण करें, तो आकाश के सदृश आकाश के आश्रित सूर्य का प्रकाश भी व्यापक है। यहाँ सादृश्य का अनुपयोगी जो सूर्य-प्रकाश है, वह प्रतियोगीभूत आकाश के आश्रित ही है, इसलिए यहाँ अतिव्याप्ति हो जाती है। इसके कारण के लिए यहाँ अभाव पद भी दिया गया है, जिससे अतिव्याप्ति न हो।

अन्योन्याभाव का लक्षण यह है कि अत्यन्ताभाव से भिन्न जो नित्य अभाव है, वह अन्योन्याभाव है। अत्यन्ताभाव से भिन्न नित्य परमाणु आदि अतिव्याप्ति के कारण के लिए यहाँ भी अभाव पद दिया गया है। यहाँ यह भी आशङ्का होती है कि यदि अन्योन्याभाव को ही अत्यन्ताभाव मान लें, तो क्या आपत्ति है?

इसका उत्तर यही है कि दोनों में भेद (विलक्षणता) का ज्ञान न रहने से ही यह आशङ्का होती है। अन्योन्याभाव में तादात्म्य, अर्थात् स्वारूप्य का निषेध होता है। जैसे—'घट-पट स्वरूप नहीं है', इस अभिप्राय से 'घट, पट नहीं है'—ऐसा कहा जाता है। यह अन्योन्याभाव का उदाहरण है और अत्यन्ताभाव में सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। जैसे—वायु में रूप नहीं है। यहाँ वायु में रूप के सम्बन्ध का ही निषेध किया जाता है। इसीलिए, अन्योन्याभाव से विलक्षण अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है।

अब यहाँ एक आशङ्का और होती है कि यदि यह अभाव पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं है, तो इसके विवेचन की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि यदि छह पदार्थों के ज्ञान से ही मुक्ति होती है, तो पुनः अभाव का विवेचन क्यों किया?

इसका उत्तर यह है कि पुरुषार्थ के उपयोगी न होने पर भी अभाव पुरुषार्थ-स्वरूप ही है; क्योंकि मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है और मुक्ति का स्वरूप है—दुःख का अत्यन्तोच्छेद और अत्यन्तोच्छेद अभाव-रूप ही है। इसलिए, अभाव को परम पुरुषार्थ मुक्ति-स्वरूप होने के कारण इसका विवेचन युक्त होता है; क्योंकि यह अभाव स्वयं परम पुरुषार्थ-स्वरूप है।

अन्धकार के विवेचन के समय गुण का आश्रय न होने के कारण तम का किसी में अन्तर्भाव नहीं होता, ऐसा कहा गया है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि किन-किन द्रव्यों में कौन-कौन गुण रहते हैं? इसके उत्तर में विश्वनाथभट्ट ने अपनी कारिकावली में लिखा है—

'स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वञ्च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा।
धर्माधर्मौ गुणावेते आत्मनस्तु चतुर्दश॥
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥'

द्रव्यों का गुणबोधक चक्र

पृथिवी	जल	तेज	वायु	आकाश	काल	दिक्	जीवात्मा	ईश्वर	मन
स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	संख्या	संख्या	संख्या	बुद्धि	संख्या	संख्या
संख्या	संख्या	संख्या	संख्या	परिमाण	परिमाण	परिमाण	सुख	परिमाण	परिमाण
परिमाण	परिमाण	परिमाण	परिमाण	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	दुःख	पृथक्त्व	पृथक्त्व
पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	पृथक्त्व	संयोग	संयोग	संयोग	इच्छा	संयोग	संयोग
संयोग	संयोग	संयोग	संयोग	विभाग	विभाग	विभाग	द्वेष	विभाग	विभाग
विभाग	विभाग	विभाग	विभाग	शब्द			यत्न	बुद्धि	परत्व
परत्व	परत्व	परत्व	परत्व				संख्या	इच्छा	अपरत्व
अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व	अपरत्व				परिमाण	यत्न	
वेग	वेग	वेग	वेग				पृथक्त्व		
गुरुत्व	गुरुत्व	रूप					संयोग		
द्रवत्व	द्रवत्व	द्रवत्व					विभाग		
रूप	रूप						भावना		
रस	रस						धर्म		
गन्ध	स्नेह						अधर्म		

अन्त में ऊपर हम जो कुछ लिख गये हैं, उसे संक्षेप में यों समझा जाय कि कणाद ने अपने वैशेषिक-सूत्र को दस अध्यायों में लिखा है। प्रत्येक अध्याय के दो-दो आह्निक हैं। अध्यायों और आह्निकों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

अध्याय १		पदार्थ-कथन
	आह्निक १	सामान्य (= जाति) वान्
	आह्निक २	सामान्य, विशेष
अध्याय २		द्रव्य
	आह्निक १	पृथिवी आदि भूत
	आह्निक २	दिशा, काल
अध्याय ३		आत्मा, मन
	आह्निक १	आत्मा
	आह्निक २	मन
अध्याय ४		शरीर आदि
	आह्निक १	कार्य, कारण, भाव आदि
	आह्निक २	शरीर (पार्थिव, जलीय...नित्य...)
अध्याय ५		कर्म
	आह्निक १	शारीरिक कर्म
	आह्निक २	मानसिक कर्म
अध्याय ६		धर्म
	आह्निक १	दान आदि धर्मों की विवेचना
	आह्निक २	धर्मानुष्ठान
अध्याय ७		गुण, समवाय
	आह्निक १	निरपेक्ष गुण
	आह्निक २	सापेक्ष गुण
अध्याय ८		प्रत्यक्ष-प्रमाण
	आह्निक १	कल्पना-सहित प्रत्यक्ष
	आह्निक २	कल्पना-रहित प्रत्यक्ष
अध्याय ९		अभाव, हेतु
	आह्निक १	अभाव
	आह्निक २	हेतु
अध्याय १०		अनुमान के भेद
	आह्निक १	अनुमान के भेद
	आह्निक २	अनुमान के भेद

यद्यपि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष, अनुमान-जैसी सांसारिक वस्तुओं पर ही एक बुद्धिवादी की दृष्टि से विवेचना की है, तथापि उस विवेचना का मुख्य लक्ष्य है—धर्म के प्रति की गई शङ्काओं को युक्तियों के द्वारा दूर कर फिर से धर्म की धाक को स्थापित करना। इस दार्शनिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए दृष्ट हेतु और अदृष्ट कल्पना का वे आश्रय लेते हैं। अदृष्ट के उदाहरण में चुम्बक और लोहा का उदाहरण सटीक बैठता है। कणाद पूछते हैं—चुम्बक की ओर लोहा क्यों खिंचता है?

वृक्ष के शरीर में ऊपर की ओर पानी कैसे चढ़ता है ? आग की लपट ऊपर की ओर कैसे उठती है ? हवा क्यों अगल-बगल में फैलती है ? परमाणुओं में एक दूसरे के साथ संयोग से प्रवृत्ति क्यों होती है ? इसी तरह जन्मान्तर—गर्भ में जीव का आना—आदि में हमें अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। इन सबका मूल हेतु यह है कि कणाद धर्म की स्थापना चाहते हैं और इसलिए अदृष्ट पर विश्वास रखने की बात सामने आती है। आहार भी धर्म का अंग है। शुद्ध आहार वह है, जो यज्ञ करने के बाद बच रहता है। जो आहार ऐसा नहीं है, वह अशुद्ध है। कणाद ने विश्व के तत्त्वों को छह पदार्थों में विभाजित किया है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। वे नव द्रव्य मानते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इनमें आकाश, काल, दिक् और आत्मा सर्वव्यापी तत्त्व हैं। मन भी अति सूक्ष्म अणु-परिमाणवाला है। गुण सदा किसी द्रव्य में रहता है। जैसे—

	द्रव्य	विशेष गुण	सामान्य गुण		
१.	पृथिवी	गन्ध	रस, रूप, स्पर्श	संयोग विभाग	संख्या
२.	जल	रस	रस रूप, स्पर्श तरलता, स्निग्धता	परत्व, अपरत्व	परिमाण
३.	अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श	परत्व, अपरत्व	पृथक्त्व
४.	वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५.	आकाश	शब्द	शब्द		
६.	काल				
७.	दिक्				
८.	आत्मा				

कणाद ने सिर्फ ११ गुण माने हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व।

आत्मा के सम्बन्ध में कणाद का विचार है कि इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से हमें जो ज्ञान होता है, उसका आधार ज्ञान का अधिकरण आत्मा है; क्योंकि इन्द्रियाँ और विषय दोनों ही जड़ हैं। श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न ये सब-के-सब शरीर के रहते हुए भी जिस एक तत्त्व के अभाव में नहीं होते, वही (तत्त्व) आत्मा है। आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

प्रत्येक आत्मा का अलग-अलग मन है। मन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। एक बार एक ही विषय का ज्ञान होने के कारण हम मन का अनुमान कर सकते हैं। उसके नव द्रव्यों में आत्मा परिगणित हुआ है, किन्तु वह इन्द्रियों और मन की सहायता से ज्ञान प्राप्त करनेवाला अनेक जीव-रूप है। फल देनेवाला जो अदृष्ट—सुकृत-दुष्कृत—है, वह शेष वासना का संस्कार है, उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। सृष्टि के निर्माण के लिए परमाणुओं में गति की आवश्यकता है। कणाद के अनुसार यह परमाणु-गति अदृष्ट के अनुसार होती है। इस प्रकार, कुल मिलाकर कणाद के वैशेषिक-दर्शन को हम अदृष्टवादी दर्शन कहते हैं।

योग-दर्शन

योग-दर्शन महर्षि पतञ्जलि की रचना है। पतञ्जलि ने जीव और ईश्वर दोनों तत्त्वों को माना है। इसीलिए, इसे 'सेश्वर सांख्य-दर्शन' कहते हैं। इसका एक नाम 'सांख्य-प्रवचन' भी है। पतञ्जलि-प्रणीत होने के कारण इसे 'पातञ्जल-दर्शन' भी कहते हैं। पतञ्जलि के पूर्व हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य आदि अनेक आचार्य योग-शास्त्र के प्रवक्ता थे। परन्तु, जनसाधारण के लिए पतञ्जलि ने उसी योग-शास्त्र को सूत्र-रूप में, सरल रीति से समझाया है। इसीलिए, इसे 'पातञ्जल-दर्शन' नाम से अभिहित करते हैं।

योग-शास्त्र में चार पाद हैं—समाधि-पाद, साधन-पाद, विभूति-पाद और कैवल्य-पाद। प्रथम पाद में 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र से पतञ्जलि ने योग-शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की है। इसमें 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक है। 'अथ' शब्द का दूसरा अर्थ है—अधिकार, प्रस्ताव या प्रारम्भ। अतः, योगानुशासन का अर्थ है, साङ्गोपाङ्ग विवेचन। इसके अनन्तर योग की परिभाषा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। चित्त की वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि हैं। इनका निरोध अर्थात् निवर्त्तन 'योग' शब्द का अर्थ है। समाधि का अर्थ है सम्यक् आधान, अर्थात् चित्त का अपने स्वरूप में अवस्थान। योग-वासिष्ठ में भी समाधि का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

> 'इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
> अन्तःशीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते॥'

अर्थात्, इस गुण-समूह को आत्मा से भिन्न देखते हुए जब अन्तःकरण में शीतलता का अनुभव होता है, तब वही समाधि कही जाती है। वह दो प्रकार की है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि में संशय और विपर्यय से शून्य ध्येय का आकार अच्छी तरह ज्ञात होता है। इस अवस्था में वृत्ति तो ध्येयाकार रहती है; किन्तु ध्यान और ध्येय में भेद बना रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसलिए, इसमें ध्यान और ध्येय का भेद नहीं रहता। अर्थात्, ध्येय से पृथक् ध्यान भी भासित नहीं होता है।

द्वितीय पाद में—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इत्यादि सूत्रों के द्वारा चञ्चल चित्तवालों के लिए तप, स्वाध्याय प्रभृति, क्रिया-योग और यम, नियम आदि बहिरङ्ग साधनों का वर्णन है। उक्त सूत्र में 'तप' शब्द से चान्द्रायण आदि क्लेशकारक तप का बोध नहीं होता; क्योंकि शरीर में क्लेश होने से चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। यहाँ 'तप' का अर्थ है—हितकारक, स्वल्प और सात्त्विक भोजन तथा शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि का सहन एवं इन्द्रियों का निरोध। योग में तप प्रसन्नता का कारण होता है, न कि पीड़ा का। स्वाध्याय का अर्थ है—मोक्ष-शास्त्र का

अध्ययन, अथवा नियमपूर्वक प्रणव आदि का जप। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है—परमात्मा का अनुचिन्तन और सब कर्मों का परमात्मा में समर्पण। अस्तु, ईश्वर-प्रणिधान सब क्रिया-योगों में उत्तम क्रिया-योग माना गया है। ईश्वर में प्रणिधान करनेवाला व्यक्ति अपने सभी कर्मों को ईश्वर की सेवा-बुद्धि से करता है। 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्', अर्थात् हे परमात्मन्! मैं जो कुछ कर्म करता हूँ, सब आपकी आराधना है। इस भावना में ममता का लेश भी नहीं रहता। यद्यपि उक्त 'क्रिया-योग' वस्तुतः योग नहीं है, तथापि योग के साधन होने के कारण क्रिया-योग शब्द से इनका व्यवहार शास्त्रकार ने किया है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये बहिरङ्ग साधन हैं। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। अपने आचरण और वाणी से किसी भी जीव को दुःख न देना अहिंसा है। जैसा मन में, वैसा वचन में, यही सत्य है। बिना अनुमति के किसी की वस्तु को न लेना अस्तेय है। इन्द्रियों का नियमन करना ही ब्रह्मचर्य है। भोग-साधनों को अस्वीकार करना ही अपरिग्रह है।

नियम भी पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। शौच दो प्रकार के हैं—शारीरिक और मानसिक। मिट्टी, जल आदि से शरीर आदि को शुद्ध करना बाह्य शौच है, और पञ्चगव्य आदि के द्वारा अन्तःशुद्धि करना आभ्यन्तर शौच है। सन्तोष का अर्थ है—तृष्णा का क्षय, अर्थात् किसी भी वस्तु की चाह न रहना। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ऊपर आ चुका है।

आसन का लक्षण पतञ्जलि ने बताया है—'तत्र स्थिरसुखमासनम्'। अर्थात्, जो स्थिर और सुखावह हो, वही आसन है। जैसे—सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि। जिसका आसन स्थिर हो जाता है, उसको शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व बाधा नहीं पहुँचाते।

प्राणायाम का अर्थ है—श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति का निरोध। नासिका के द्वारा वायु के अन्तर्गमन का नाम है श्वास, और बहिर्गमन का नाम है प्रश्वास। इसी को पतञ्जलि ने सूत्र-रूप में कहा है—'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'।

प्राणायाम स्थिर होने से चित्त स्थिर होता है। चित्त के स्थिर होने से विषयों के साथ चित्त का सम्बन्ध टूट जाता है। उस समय इन्द्रियाँ भी विषयों से वियुक्त होकर निरवलम्ब चित्त का अनुसरण करने लगती हैं। इसी अवस्था का नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार की अवस्था में इन्द्रियाँ भी विषयों से निवृत्त होकर चित्त के साथ स्वरूपानुकारी हो जाती हैं।

योग के आठ अङ्गों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। साक्षात् साधन होने से अन्तरङ्ग और परम्परया साधन होने से बहिरङ्ग कहे जाते हैं। इन सबका बीज यम और नियम ही है।

योग-रूप वृक्ष को तैयार करने के लिए चित्त-रूप क्षेत्र में यम-नियम-रूप बीज का वपन करना चाहिए; क्योंकि उसी बीज से आसन, प्राणायाम आदि अङ्कुर का उद्गम

होता है। फिर, श्रद्धापूर्वक अभ्यास-रूप जल से सेचन करने पर यही अङ्कुर एक दिन प्रत्याहार-रूप कुसुम और ध्यान-धारणा-रूप फल से परिपूर्ण होकर विशाल योग-वृक्ष के रूप में तैयार हो जाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि—ये जो तीन अन्तरङ्ग साधन हैं, और उनके अवान्तर फल जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ हैं, उनका विवेचन तृतीय पाद में सूत्रकार ने किया है।

धारणा और ध्यान में अन्तर—विषयाकार चित्तवृत्ति को प्रत्याहार द्वारा खींचकर मूलाधार या हृत्पुण्डरीक में निहित करना धारणा है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' इस सूत्र का यही तात्पर्य है। जब धारणा अभ्यास से प्रगाढ हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। जब वही ध्यान अभ्यास से ध्येय-मात्राकार हो जाता है, तब प्रत्याहार कहलाने लगता है। धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों की एक संज्ञा संयम है। 'त्रयमेकत्र संयमः।' इन तीनों का मुख्य फल योग है और अवान्तर फल सिद्धियाँ।

जन्मान्तर का ज्ञान, भूत-भविष्यत् अर्थ का ज्ञान, अन्तर्धान इत्यादि अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन सूत्रकार ने तृतीय पाद में किया है।

चतुर्थ पाद में सूत्रकार ने 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' इस सूत्र से पाँच प्रकार की सिद्धियों का वर्णन किया है। देवताओं की सिद्धि जन्म से ही होती है। पक्षियों का आकाश में उड़ना, पशुओं का जल में तैरना जन्म से ही प्रसिद्ध है। औषधियों से भी सिद्धि प्राप्त होती है। यह आयुर्वेद, रसेश्वर-दर्शन आदि में वर्णित है। मन्त्र और तपोबल से भी सिद्धियों की प्राप्ति का वर्णन तन्त्रादि शास्त्रों में पाया जाता है। समाधि से सिद्धि इसी शास्त्र का गौण विषय है। यम, नियम आदि आठ अङ्गों की दृढ उपासना से जब योग-वृक्ष फलित होता है, तब पूर्ण भावना से समाधि-रूप फल के परिपक्व होने पर प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता है। उस समय असङ्ग और निर्लेप पुरुष के स्वरूप में अवस्थान होने से, दुःख का आत्यन्तिक विनाश-रूप मोक्ष की सिद्धि होती है।

पतञ्जलि छब्बीस तत्त्वों को मानते हैं—एक मूलप्रकृति, सात प्रकृति-विकृति, सोलह केवल विकृति और एक पुरुष। इन पचीस तत्त्वों को तो सांख्य ने भी माना है। पतञ्जलि इनके अतिरिक्त एक ईश्वर तत्त्व को भी मानते हैं। इसीलिए, यह सेश्वर या ईश्वरवादी सांख्य कहा जाता है। ईश्वर का लक्षण बताते हुए पतञ्जलि लिखते हैं—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। शुभ या अशुभ अथवा विहित और निषिद्ध—ये दो प्रकार के कर्म हैं। कर्म का जो फल है जाति, आयु और भोग—उन्हें विपाक कहते हैं। चित्त में कर्मजन्य जो संस्कार है, उसीको आशय कहते हैं। इसी का नाम कर्मवासना भी है। इसी प्रकार क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से जो मुक्त है, वही पुरुषविशेष ईश्वर है। जीव और ईश्वर में भेद यही है कि जीव अविद्यावश चित्त में रहनेवाले क्लेश आदि से प्रभावित होता रहता है,

परन्तु ईश्वर इससे मुक्त है। यद्यपि जीव भी नित्य, असङ्ग और निर्लेप माना गया है, तथापि चित्तानुकारी होने से उसमे औपाधिक क्लेश का भान होता है और ईश्वर में औपाधिक क्लेश की सम्भावना नहीं रहती। यही ईश्वर में विशेषता है।

ईश्वर अपनी इच्छामात्र से अनेक शरीर धारण करता है। इसी इच्छा-शरीर को निर्माण-काय कहते हैं। निर्माण-काय में स्थिर होकर ही परमात्मा संसार-रूप अग्नि से सन्तप्त मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करके लौकिक और वैदिक सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन करता रहता है, जिसके आश्रयण से विवेकी पुरुष त्रिविध तापों से विमुक्ति पाते हैं। यहाँ शङ्का होती है कि पुरुष पद्म-पत्र की तरह निर्लेप और विशुद्ध है, उसमें किसी प्रकार दुःख की सम्भावना नहीं है, फिर अनुग्रह किसके लिए?

इसका उत्तर यह है कि पुरुष यद्यपि निर्लेप है, तथापि त्रिगुणात्मक बुद्धि के साथ तादात्म्य होने से उसमें भी बुद्धिगत सुख, दुःख और अविवेक भासित होते हैं, उस समय बुद्धिगत सुख-दुःख को बुद्धितादात्म्यापन्न पुरुष अपना ही समझने लगता है। इसी दुःख के नाश के लिए ईश्वरानुग्रह की आवश्यकता होती है।

यहाँ पुरुष के स्वरूप-ज्ञान के लिए पञ्चशिखाचार्य की उक्ति का उद्धरण दिया जाता है—"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः अप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपायाः बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।" इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुरुष अपरिणामी भोक्तृशक्तिवाला है, विषय से असम्बद्ध होने के कारण निर्लेप है, तथापि सतत परिणामशील बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ तदाकार भासित होने लगता है। उस समय बुद्धि वृत्ति का अनुसरण करनेवाली हो जाती है। चैतन्य-प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाली बुद्धि वृत्ति के अनुसरण से उससे अभिन्न भासित होती है, और ज्ञानवृत्ति कहलाने लगती है। अर्थात्, आत्मा यद्यपि विकार के हेतुभूत संयोग से रहित होने के कारण निर्लेप है, तथापि बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से बुद्धि-गुणों से संक्रान्त भासित होता है। अर्थात्, जिस प्रकार जलतरङ्ग की चञ्चलता से तद्गत सूर्य-प्रतिबिम्ब के चञ्चल होने पर भी वास्तविक सूर्य मे चञ्चलता नहीं आती, कुछ भी विकार नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धि के सुख-दुःखादि आकार में परिणत होने पर उसमें प्रतिबिम्बित चेतन आत्मा भी सुख-दुःखादि से युक्त भासित होता है; परन्तु वस्तुतः उसमें कुछ भी विकार नहीं होता—वह सदा निर्लेप और असङ्ग ही रहता है।

विषय के आकार में जो बुद्धि का परिणाम है, वही ज्ञान है। यद्यपि ज्ञान बुद्धि का ही गुण है, तथापि बुद्धि से संयुक्त आत्मा में भी यह भासित होता है, इसीलिए 'आत्मा ज्ञानी है', इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। बुद्धि-सत्त्व भी आत्मा के सम्बन्ध से चेतन कहा जाता है। इस प्रकार, निर्लेप आत्मा भी बुद्धिगत विषयाकार के ग्रहण-रूप प्रतीति का अनुसरण करता हुआ बुद्धि से अत्यन्त भिन्न होने पर भी बुद्धि-स्वरूप ही भासित होता है। इस अवस्था में बुद्धिगत सुख-दुःखादि को अपना ही समझता है, और अनुतप्त होता है। इसलिए, बुद्धिगत दुःखादि की निवृत्ति के लिए यम-नियमादि का अनुष्ठान और ईश्वर-प्रणिधान की अवश्यकर्त्तव्यता प्रतीत होती है।

अष्टाङ्ग योग के श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर दीर्घकाल-पर्यन्त अनुष्ठान करने से बुद्धि-तत्त्व और पुरुष (आत्मा) में भेद का प्रत्यक्ष होने लगता है। इसी भेद-ज्ञान का नाम अन्यथाख्याति है। इस अन्यथाख्याति से अविद्या आदि क्लेश का समूल नाश हो जाता है। इस अवस्था में निर्लेप पुरुष को कैवल्य, अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार, योगशास्त्र के सामान्य विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराकर कुछ खास सूत्रों के ऊपर पूर्वाचार्यकृत शङ्का-समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी—इन चारों को अनुबन्ध कहते हैं। इस अनुबन्धचतुष्टय के ज्ञान होने के अनन्तर ही शास्त्रावलोकन में प्रवृत्ति होती है। इनमें एक के अभाव में भी ग्रन्थ-अध्ययन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ग्रन्थ का विषय क्या है, उसका क्या प्रयोजन है, ग्रन्थ और प्रयोजन म क्या सम्बन्ध है, और इस ग्रन्थ के पढ़ने का अधिकारी कौन है ? इत्यादि विषयों का ज्ञान अत्यावश्यक है। इसीके विश्लेषण के लिए योग-शास्त्र का पहला सूत्र है—

'अथ योगानुशासनम् ।'

इस सूत्र से आचार्य ने योग-शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा की है। योग और योग के अङ्ग जो अभ्यास, वैराग्य, यम, नियमादि हैं, उनके लक्षण, भेद, साधन और फल का प्रतिपादन करनेवाला जो शास्त्र है, उसका मैं आरम्भ करता हूँ, यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ अथ शब्द का प्रारम्भ अर्थ ही आचार्यों ने माना है।

'अथ' शब्द का विवेचन

यहाँ आशङ्का यह होती है कि कोश में अथ शब्द के अनेक अर्थ आचार्यों ने लिखे हैं—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ ।' अर्थात् मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य अर्थ में 'अथो' और 'अथ' शब्द का प्रयोग होता है। तो, क्या कारण है कि प्रकृत में अथ का प्रारम्भ अर्थ ही लिया जाता है ? इसका उत्तर यह होता है कि शब्द का वही अर्थ गृहीत होता है, जिसका अन्वय वाक्यार्थ में होता हो। प्रकृत में अथ शब्द के मङ्गल अर्थ का वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता। कारण, अनिन्दित अर्थ की प्राप्ति ही मङ्गल शब्द का अर्थ है। और, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का ही नाम अभीष्ट है। योगानुशासन न सुख है और न दुःख का परिहार ही, इस स्थिति में 'योगानुशासन मङ्गल है', ऐसा सूत्र का अर्थ करना सर्वथा असङ्गत हो जाता है। वस्तुतः, बात यह है कि अथ शब्द का वाच्य अर्थ मङ्गल होता ही नहीं, अपदार्थ होने से वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता; क्योंकि मङ्गल तो अथ शब्द के उच्चारण और श्रवण का कार्य है, न कि उसका वाच्य अर्थ। जिस प्रकार, पाकादि कार्य के लिए नीयमान सजल घट को देखने से ही यात्रिक का मङ्गल होता है, उसी प्रकार प्रारम्भ अर्थ में प्रयुज्यमान अथ शब्द के श्रवण से ही मङ्गल सम्भावित है, उसका वाच्य अर्थ होने से नहीं। अथ शब्द का लक्ष्य अर्थ भी मङ्गल नहीं है। कारण, वाच्य अर्थ से सम्बद्ध ही लक्ष्य अर्थ होता है, प्रकृत में किसी प्रकार भी अथ के वाच्य अर्थ से मङ्गल का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए पदार्थ न होने से वाक्यार्थ में उसका

अन्वय होना दुर्घट है। 'पदार्थः पदार्थेे नान्वेति' यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। दूसरी बात यह है कि वाक्यार्थ में मङ्गल के अन्वय होने की योग्यता भी नहीं है। क्योंकि, अथ शब्द के श्रवणमात्र से मङ्गल अर्थ भावतः सिद्ध हो जाता है, वह वस्तुतः पद का अर्थ नहीं है। और, किसी पद का जो अर्थ होता है, उसीकी वाक्यार्थ में अन्वययोग्यता रहती है : जैसे, 'पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ दिन में भोजन के निषेध से और स्थूलत्व की अनुपपत्ति से जो रात्रि-भोजन का अनुमान या आक्षेप किया जाता है, उस (रात्रि-भोजन अर्थ) का कहीं भी वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता; क्योंकि वह पदार्थ नहीं है। इसीलिए, वाक्यार्थ में अन्वय होने की उसमें योग्यता भी नहीं है। इसी प्रकार मङ्गल अर्थ भी रात्रि-भोजन की तरह, भावतः सिद्ध होने से वाक्यार्थ में अन्वय के योग्य नहीं है। यदि आर्थिक (भावतः सिद्ध) अर्थ का भी वाक्यार्थ में अन्वय मान लें, तब तो 'शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव प्रपूर्यते', यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा। इसलिए, यहाँ अथ शब्द का मङ्गल अर्थ मानना उचित नहीं।

यहाँ दो शङ्काएँ और भी उपस्थित होती हैं,—एक यह कि मङ्गल अर्थ अथ शब्द का वाच्य नहीं है, यह स्मृति से विरुद्ध हो जाता है। स्मृति कहती है—'ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।' अर्थात्, ओम् और अथ—ये दोनों, शब्द सृष्टि के आदि में ही ब्रह्मा के कण्ठ से उत्पन्न हुए, इसलिए माङ्गलिक अर्थात् मङ्गल के वाचक हैं। यदि यहाँ स्मृति से मङ्गल का वाचक अथ शब्द सिद्ध होता है, तो क्या कारण है कि प्रकृत में इस अर्थ को न माना जाय?

दूसरी बात यह है कि—प्रारिप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मङ्गल करना हमारे शिष्टाचार से सिद्ध है। पतञ्जलि ने कहा है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ताः यथा स्युरिति मङ्गलमाचरणीयम्', अर्थात् जिस शास्त्र के आदिमध्यान्त में मङ्गल रहता है, वह विख्यात होता है, उसके पढ़ानेवाले और पढ़नेवाले भी मङ्गलयुक्त होते हैं। इसलिए, मङ्गल का आचरण करना चाहिए।

इस स्थिति में जब अथ शब्द का वाच्य मङ्गल अर्थ सिद्ध हो जाता है, और पतञ्जलि की आज्ञा से भी मङ्गल करना सिद्ध होता है, तब फिर क्या कारण है कि प्रकृत में मङ्गल अथ शब्द का अर्थ न हो ? पतञ्जलि एक ओर मङ्गल की आवश्यकता बताते हैं और दूसरी ओर उपस्थित प्रकृत ग्रन्थ में मङ्गल अर्थ न माना जाय—यह किस प्रकार उचित हो सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि जल-कार्य के लिए कोई व्यक्ति घड़ा ले पानी भर कर ले जा रहा है। उसको मार्ग पर देखकर दर्शक का मङ्गल भी होता है; इस प्रकार प्रारम्भ कार्य के लिए प्रयुक्त अथ शब्द के श्रवणमात्र से मङ्गल होना भावतः सिद्ध है। वह उस का वाच्य अर्थ नहीं है। 'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च' यहाँ 'माङ्गलिकौ' का अर्थ 'मङ्गलवाचकौ' नहीं है; किन्तु—'माङ्गलिकौ' से 'मङ्गल उत्पन्न करनेवाले' इस

व्युत्पत्ति में 'प्रयोजनम्' इस सूत्र से प्रयोजन अर्थ में ठञ् प्रत्यय करने से 'मङ्गल-प्रयोजनवाला' ऐसा अर्थ होता है।

इसी प्रकार यहाँ आनन्तर्य्य अर्थ भी अथ शब्द का नहीं होता; क्योंकि— आनन्तर्य अर्थ मानने में यह आकांक्षा होती है कि किसके अनन्तर ? यदि कर्म के अनन्तर अर्थ मानें, तो यहाँ अथ शब्द का ग्रहण ही व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि, किसी काम के करने के अनन्तर ही किसी काम में कोई प्रवृत्त होता है, इस स्थिति में अनन्तर अर्थ के भावतः सिद्ध हो जाने से सूत्र में अथ शब्द का ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता है, इसलिए अनन्तर अर्थ भी युक्त नहीं हो सकता। यदि शम-दमादि साधन-सम्पत्ति के अनन्तर अर्थ मानें, तो वह भी ठीक नहीं होता, कारण यह है कि सूत्रजन्य बोध में जो प्रधान अर्थ होता है, उसी में सूत्रघटक अथ शब्दार्थ का अन्वय करना सर्वसिद्धान्त और समुचित है। 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्रजन्य बोध में अनुशासन ही प्रधान है, योग नहीं। योग तो अनुशासन के विशेषण होने से गौण हो जाता है, इसलिए अप्रधान है। अतः, अप्रधान योग में अथ शब्दार्थ अनन्तर का अन्वय करना सिद्धान्त के विरुद्ध और अनुचित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अनुशासन का अर्थ शास्त्र होता है। शास्त्र बनाने में ही सूत्रकार का तात्पर्य है, योग बनाने में नहीं। योग तो स्वयंसिद्ध है। इस शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए अनुबन्धचतुष्टय के अन्तर्गत विषय को अवश्य दिखाने के लिए ही योग शब्द का सूत्र में प्रयोग किया गया है, इससे यह अप्रधान है। और, इस योग की शिक्षा देनेवाला शास्त्र ही प्रधान है। इसलिए, उसी में अथ शब्दार्थ का अन्वय होना युक्त प्रतीत होता है।

दूसरे शब्दों में अनुशासन की अपेक्षा नियमेन जो पूर्ववृत्ति हो, उसीकी अपेक्षा आनन्तर्य मान लेना शास्त्रकारों का समुचित सिद्धान्त है। यहाँ प्रकृत में अनुशासन के कर्त्ता सूत्रकार हैं। सूत्रकार के सूत्र बनाने में, प्रवृत्ति की अपेक्षा नियमेन पूर्वभावी तत्त्व-ज्ञान की प्रकाशनेच्छा ही है, न कि शम-दमादि साधन-सम्पत्ति। क्योंकि, इसके बिना भी तत्त्व-प्रकाशन की इच्छा-मात्र से ग्रन्थ बनाने में विद्वानों की प्रवृत्ति देखी और सुनी जाती है। अस्तु;

यदि यहाँ यह कहें कि शम-दमादि साधन-सम्पत्ति के बाद ही ग्रन्थ बनाने में प्रवृत्ति होती है, तो इसी के आनन्तर्य अर्थ अथ शब्द के मान लेने में क्या आपत्ति है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि शास्त्रकार जिसके बाद शास्त्र-रचना में प्रवृत्त हुए हैं, उसका ज्ञान श्रोताओं के शास्त्र से जायमान योगविषयक ज्ञान में अथवा योगविषयक प्रवृत्ति में कारण नहीं है, इसलिए उसकी अपेक्षा भी अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ नहीं ले सकते। वस्तुतः, अनुशासन की अपेक्षा से तत्त्व-प्रकाशन की इच्छा नियमेन पूर्वभावी है भी नहीं, कारण यह है कि तत्त्व-ज्ञान के प्रकाशन की इच्छा के बिना भी शिष्य प्रश्न के बाद या गुरु की आज्ञा से शास्त्र रचने में प्रवृत्त देखा जाता है। एक बात और है कि अथ शब्द के आनन्तर्य अर्थ माननेवाले के सामने भी यह प्रश्न होता है कि योगानुशासन निःश्रेयस् का हेतु निश्चित है,

अथवा नहीं ? यदि आद्य पक्ष मानें, तो तत्त्व-ज्ञान-प्रकाशनेच्छा के अभाव में भी अनुशासन की कर्तव्यतापत्ति हो जायगी।

यदि योगानुशासन को निश्रेयस् का निश्चित हेतु न माना जाय, तो तत्त्व-प्रकाशन की इच्छा रहने पर भी अनुशासन की अकर्त्तव्यता हो जायगी; क्योंकि योगानुशासन की, निःश्रेयस् के निश्चित हेतु न होने के कारण, आवश्यकता ही न रहेगी। और, योगानुशासन निःश्रेयस् का हेतु है, यह बात श्रुति स्मृति से सिद्ध है। श्रुति कहती है—'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति', अर्थात् ज्ञानी पुरुष आत्मा में चित् के निदिध्यासन-स्वरूप अध्यात्म-योग के लाभ होने से आत्मसाक्षात्कार कर हर्ष और शोक को त्याग देते हैं। इसी बात को गीता स्मृति में भगवान् ने अर्जुन से कहा है—'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि', अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि समाधि में स्थिर हो जायगी, तब तुम योग का फल—आत्मसाक्षात्कार—पाओगे। श्रुति स्मृति के इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि योग मोक्ष का साधन अवश्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तत्त्व-ज्ञान के प्रकाशन की इच्छा नहीं रहने पर भी उपर्युक्त कारणों से अनुशासन करने में प्रवृत्ति अवश्य होती है। इसलिए, तत्त्व-प्रकाशनेच्छा अनुशासन की अपेक्षा नियमेन पूर्वभावी नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ ही माना है, अधिकार नहीं। अतः, 'अथ योगानुशासनम्' में भी 'अथ' शब्द का अधिकार अर्थ क्यों नहीं माना जाता ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा में 'अथ' का अधिकार अर्थ नहीं हो सकता। कारण, जिज्ञासा का तात्पर्य है—ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा और अधिकार का प्रारम्भ। इस स्थिति में सूत्र का अर्थ होगा—ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा का प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं होता; क्योंकि इच्छा का कहीं आरम्भ नहीं किया जाता। प्रत्येक अधिकरण में इच्छा का कहीं आरम्भ नहीं, किन्तु विचार किया गया है। यदि यहाँ यह कहें कि 'स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१), 'तद्विजिज्ञासस्व' (तै० ३।१।१) इत्यादि वाक्यों में प्रायः सब लोगों ने सन् प्रत्ययान्त ज्ञा धातु का विचार अर्थ माना है, ज्ञान और इच्छा अर्थ नहीं; क्योंकि ज्ञान और इच्छा विधेय नहीं हैं, किन्तु विचार का ही विधान किया जाता है। इसलिए, यहाँ भी जिज्ञासा का विचार अर्थ मानकर, अथ शब्द का अधिकार अर्थ मानने में क्या आपत्ति है ? क्योंकि, विचार तो प्रत्यधिकरण में किया ही जाता है।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तथापि अधिकारीविशेष के लाभ के लिए ही भाष्यकार ने अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ माना है। कारण यह है कि ब्रह्म-विचार आरम्भ किया जाता है, ऐसा अर्थ मानने पर जो ब्रह्म-विचार का जिज्ञासु होगा, वही अधिकारी समझा जायगा; शम-दमादि साधनचतुष्टय सम्पन्न नहीं। यदि आनन्तर्य अर्थ मानते हैं, तो किसके अनन्तर ? इस आकांक्षा में जिस साधन के अनुष्ठान से ब्रह्म-विचार में सहायता मिले, उसीकी अपेक्षा अनन्तर मानना युक्त और समुचित है।

शम-दमादि साधनचतुष्टय-सम्पत्ति के बाद ही ब्रह्म-विचार हो सकता है। इसलिए, उक्त साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के अनन्तर, यही अर्थ अथ शब्द का होता है। साधनचतुष्टय-सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म-विचार करना चाहिए, यह 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का अर्थ है। उक्त साधनचतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी के लाभ के लिए ही अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ जिज्ञासा सूत्र में भाष्यकार ने माना है। 'तस्माच्छान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्य' (बृ० आ० ४।४।२), यह श्रुति भी इसी अर्थ को पुष्ट करती है। इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि योग मोक्ष का साधन अवश्य है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट सिद्ध हो गया कि प्रकृत 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र में 'अथ' शब्द का अधिकार ही अर्थ है, आनन्तर्य आदि नहीं। अन्यार्थ नीयमान सजल घट के समान श्रवणमात्र से मङ्गल भी भावतः सिद्ध हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि विषय-प्रयोजन आदि अनुबन्धचतुष्टय को दिखाने के लिए आचार्य पतञ्जलि ने 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र लिखा है। अब प्रकृत ग्रन्थ में विषय, प्रयोजन, विषय के साथ ग्रन्थ का सम्बन्ध इत्यादि बातों के ऊपर विचार किया जाता है।

प्रकृत शास्त्र का विषय अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग साधनों के साथ सफल योग ही है; क्योंकि जिसका प्रतिपादन किया जाता है, वही विषय है, और इसीका प्रतिपादन प्रकृत ग्रन्थ में है। शास्त्र से प्रतिपादित जो योग है, उसका मुख्य प्रयोजन कैवल्य है। शास्त्र और योग के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। योग प्रतिपाद्य और ग्रन्थ प्रतिपादक है। योग और कैवल्य के साथ साध्य-साधन सम्बन्ध है। कैवल्य साध्य और योग साधन है। जब पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका कि योग का फल मोक्ष ही है, तब यह भी भावतः सिद्ध हो जाता है कि मोक्ष चाहनेवाला ही इस ग्रन्थ का अधिकारी है।

उपर्युक्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि विषय प्रयोजनादि से युक्त होने के कारण ब्रह्म-विचार के सदृश योगानुशासन-शास्त्र का भी आरम्भ करना चाहिए। यद्यपि यहाँ प्रस्तुत योग ही है, शास्त्र नहीं; इसलिए पतञ्जलि को योग का ही आरम्भ करना चाहिए था, शास्त्र का नहीं; तथापि मुख्यतया प्रतिपाद्य जो योग है, उसका प्रतिपादन योगविषयक शास्त्र से ही हो सकता है, इसलिए उस योग के प्रतिपादन में करण शास्त्र ही हो सकता है, और कर्त्ता का व्यापार करण में ही होता है, कर्म में नहीं। जैसे वृक्ष के काटनेवाले का व्यापार कुठार आदि करण में ही होता है, वृक्ष आदि कर्म में नहीं, वैसे पतञ्जलि का प्रवचन-रूप जो व्यापार है, वह करणभूत शास्त्र में ही होगा, कर्मभूत योग में नहीं। निष्कर्ष यह है कि अथ शब्द का जो अधिकार अर्थ सिद्ध हुआ, वह किसका अधिकार ? इस प्रकार की आकांक्षा होती है। इसमें प्रवचन-व्यापार की अपेक्षा शास्त्र का अधिकार और अभिधान-व्यापार की अपेक्षा योग का अधिकार समझना चाहिए; दूसरे शब्दों में, शास्त्र के प्रवचन द्वारा योग का अभिधान ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन सिद्ध होता है।

योग-विवेचन

अब प्रकृत शास्त्र में अनुशासनीय योग का क्या लक्षण है, इस आकांक्षा में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

अर्थात्, चित्त की जो अनेक प्रकार की बहिर्मुखी वृत्तियाँ हैं, उनका निरोध ही योग शब्द का वाच्यार्थ है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'युजिर्योगे' इस संयोगार्थक युज् धातु से निष्पन्न जो योग शब्द है, उसका निरोध अर्थ मानना उचित नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—जीवात्मा और परमात्मा का जो संयोग है, उसी को योग कहा जाता है—'संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः।' इस स्थिति में, प्रकृत योग शब्द का निरोध अर्थ किस प्रकार होगा ? इसका उत्तर यह है कि प्रकृत योग शब्द का संयोग अर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग में कोई भी कारण नहीं है। संयोग के तीन कारण हैं, अन्यतरकर्म, उभयकर्म और संयोग। इन्हीं तीन प्रकार के कारणों से उत्पन्न संयोग भी तीन प्रकार का होता है—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज। जहाँ दो में एक का कर्म से संयोग होता है, उसे अन्यतरकर्मज कहते हैं। जैसे—वृक्ष और पक्षी का संयोग। यहाँ केवल एक पक्षी का ही कर्म से संयोग होता है। दो पहलवानों का जो संयोग है, वह उभयकर्मज है, क्योंकि वहाँ दोनों के कर्म से संयोग होता है। संयोग से जो संयोग उत्पन्न होता है उसे संयोगज कहते हैं, जैसे—हस्त और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का जो संयोग है, वह संयोगज है। प्रकृत में जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों व्यापक हैं। व्यापक में चलनादि क्रिया नहीं रहती, और बिना क्रिया के संयोग नहीं होता। इसलिए, इन दोनों का कोई संयोग हो ही नहीं सकता। यदि यह कहें कि जीवात्मा और परमात्मा का नित्य संयोग ही मान लें, इसमें कारणान्तर की अपेक्षा नहीं है, तो इसपर यही कहा जाता है कि व्यापक द्रव्यों के साथ संयोग किसी प्रकार का होता ही नहीं। नैयायिक और वैशेषिक भी दो व्यापक पदार्थों के संयोग का खण्डन करते हैं। ये संयोग को नित्य मानते ही नहीं। घट का पट या आकाश के साथ जो संयोग है, उसको नित्य मानना सब शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। यदि संयोगी नित्य भी हो, परन्तु परिच्छिन्न हो, तो भी उसका संयोग अनित्य देखा जाता है। जैसे—दो परमाणुओं का जो संयोग है, वह अनित्य ही है। यदि दोनों संयोगी में एक विभु भी है, तो संयोग अनित्य ही होता है। क्योंकि, तत्तत् प्रदेश में नवीन-नवीन संयोग उत्पन्न होने से वह कार्य, अर्थात् अनित्य हो रहता है। जैसे—आत्मा और मन का संयोग। यह तत्तत् आत्म-प्रदेश में नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। यदि दोनों संयोगी को नित्य और व्यापक मानें, तो उन दोनों विभु-पदार्थों का संयोग भी नित्य हो सकता है, परन्तु वह संयोग भी सदातन नित्य ही होगा, इस स्थिति में यह विचार करना होगा कि प्रकृत अर्थ जो जीवात्मा और परमात्मा है, वह सदातन नित्य हैं; इसलिए, इनका संयोग भी सदातन नित्य ही होगा। इस स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के उद्देश्य से जो योग-शास्त्र का अनुशासन किया जाता है, वह व्यर्थ हो हो जायगा;

क्योंकि संयोग तो दोनों का नित्य सिद्ध है और संयोग का फल जो मोक्ष है, वह भी सदातन होने से सिद्ध ही है।

यदि यह कहें कि संयोग के नित्य होने पर भी फल के उत्पादन में शास्त्रादि सहकारी कारण की अपेक्षा रखते ही हैं, इसलिए शास्त्रादि व्यर्थ नहीं हो सकते। इसका उत्तर यह है कि यदि सहकारी को अवश्य मानना है, तो सहकारी से ही फल उत्पन्न हो जायगा, फिर नित्य संयोग की कल्पना ही व्यर्थ है। इसी कारण, संयोग को प्रायः सब लोगों ने अनित्य माना है। काल और आकाश का संयोग नहीं माना जाता; क्योंकि युत (सिद्ध) के साथ जो सम्बन्ध है, वही संयोग कहा जाता है। इसको नैयायिक और वैशेषिक तो अपना परम सिद्धान्त मानते हैं। इससे प्रकृत में यह सिद्ध हुआ कि योग शब्द का संयोग अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु पूर्वोक्त चित्त-वृत्ति का निरोध ही योग शब्द का वास्तविक अर्थ है, अथवा धातु के अनेकार्थ होने के कारण 'युजिर्' धातु का भी समाधि अर्थ होने में कोई आपत्ति नहीं है। धातुओं का अनेकार्थ होना प्रायः सब ने स्वीकार किया है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने लिखा है—

'निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥'

अर्थात्—निपात, उपसर्ग और धातु—ये तीनों अनेकार्थ होते हैं, इनका पाठ उदाहरणमात्र है। इसलिए, वैयाकरणों ने युज् धातु का समाधि अर्थ भी माना है—'युज् समाधौ'। याज्ञवल्क्य का जो पूर्वोक्त 'संयोगो योग इत्युक्तः' वाक्य है, उसके साथ भी कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि यहाँ भी योग शब्द का समाधि अर्थ मानना समुचित प्रतीत होता है। इसीलिए, याज्ञवल्क्य ने स्वयं कहा है—

'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिरभिधीयते॥'

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की जो साम्यावस्था है, उसीको समाधि कहते हैं। जीवात्मा की ब्रह्म में जो स्थिति है, वही समाधि है। बुद्धि आदि उपाधि के सम्बन्ध से जीव में जो कल्पित धर्म प्रतीत होते हैं, उनका परित्याग के साथ स्वाभाविक असङ्ग रूप से परमात्मा के समान जो स्थिति है, उसीको साम्यावस्था कहते हैं। अपने स्वरूप से स्थिति का ही नाम समाधि है, और यही मोक्ष है। इसी अवस्थाविशेष की प्राप्ति के लिए भगवान् पतञ्जलि ने योग-शास्त्र का उपदेश किया है।

योग और समाधि

अब यहाँ शङ्का उठती है कि पूर्व सूत्र में चित्त-वृत्ति के निरोध को योग बताया गया है और इस समय समाधि को योग बताते हैं। यदि समाधि को चित्त-वृत्ति-निरोध से भिन्न माना जाय, तो स्पष्ट ही पूर्वापरविरोध हो जाता है।

यदि चित्त-वृत्ति-निरोध को ही समाधि मानें, तो 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इस पतञ्जलि-सूत्र से विरोध हो जाता है। कारण, इस सूत्र में समाधि को योग का अङ्ग कहा गया है। समाधि, योग का अङ्ग होने से,

योग की उपकारक होगी, और योग उपकार्य। उपकार्य और उपकारक—इन दोनों का आश्रय भिन्न होता है। इसलिए, यहाँ समाधि को योग क्यों कहा?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि योग का अङ्ग होने से समाधि योग से वस्तुतः भिन्न है, तथापि अङ्ग और अङ्गी में अभेद का आरोप कर योग और समाधि को भाष्यकार ने एक माना है। वस्तुतः, समाधि आठ योगाङ्गों में अन्तिम अवयव है। पतञ्जलि ने इसीका निरूपण 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इस सूत्र से किया है। सूत्रगत तत् पद से, 'प्रत्यैकतानता ध्यानम्' इस सूत्र से, उक्त ध्यान का ही ग्रहण किया है। मात्र पद का अर्थ स्वयं सूत्रकार ने ही 'स्वरूपशून्यमिव' शब्द से कर दिया है। भावार्थ यह है कि जब ध्यान ही ध्येय के आवेश में हो जाता है, उस समय ध्यातृ-ध्यानभाव अत्यन्त शून्य हो जाता है और वह केवल ध्येयमात्र का ही ग्राही होता है। उस समय ध्यान वर्तमान रहता हुआ भी, ध्यातृ-ध्यान-ध्येय विभाग के ग्रहण न करने से, स्वरूप-शून्य के सदृश हो जाता है। इसी का नाम समाधि है। यही सूत्र-लक्षित अन्तिम योगाङ्ग है।

वस्तुतः, विचार करने पर 'योगः समाधिः' इसमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता; क्योंकि समाधि शब्द का अनेक अर्थ भाष्यकारों ने माना है। 'समाधानं समाधिः' इस भावसाधन व्युत्पत्ति से अङ्गीभूत योग-रूप समाधि का ग्रहण होता है। और 'समाधीयते अनेन' इस करण-साधन-व्युत्पत्ति से योगाङ्ग-रूप समाधि का ग्रहण है। इन दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने स्वयं किया है। कारण, साधन-समाधि शब्द का प्रयोग 'यमनियमासन' इत्यादि सूत्रों में किया है। और 'ता एव सबीजः समाधिः' (यो० सू० १।४६), 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इन दोनों सूत्रों में, अङ्गीभूत योग अर्थ में ही समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यास-भाष्य में भी दोनों अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। इसलिए, 'योगः समाधिः' यह भाष्य भी सङ्गत हो जाता है। समाधि शब्द के, भाव-साधन और करण-साधन-व्युत्पत्ति से, दोनों अर्थ मानने से स्कन्दपुराण का वचन भी सङ्गत होता है। जैसे—

'यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समनष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥'

इसका भावार्थ यह है कि जिस अवस्था में चित्त के विकारभूत समस्त संकल्प के नष्ट हो जाने से जीवात्मा और परमात्मा में समता आ जाती है, उसे समाधि कहते हैं। यहाँ करण-साधन अङ्गवाचक समाधि शब्द का प्रयोग है। द्वितीय श्लोक में योग शब्द के वाच्य अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग है। परमात्मा और जीवात्मा का जो अविभाग, अर्थात् एकता है, वही योग है। इससे दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है।

आत्मा की अपरिणामिता

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चित्त-वृत्ति के निरोध को योग शब्द का अर्थ मानते हैं, तो आत्मा का कूटस्थ होना, जो शास्त्रों से सिद्ध है, व्याहत हो जाता है; क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। उनमें अज्ञात अर्थ का निश्चय करानेवाली जो वृत्ति है, वह प्रमाण है। मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्यय है। बाह्यार्थ-रहित केवल कल्पनामय आहार्य ज्ञान-रूप जो प्रतीति है, वही विकल्प है। निद्रा और स्मृति प्रसिद्ध हैं। इन्हीं वृत्तियों का निरोध योग कहा गया है। निरोध शब्द का अर्थ नाश ही होता है। और यह भी निश्चित है कि जो वृत्ति का आश्रय है, वही नाश का भी आश्रय होता है। और, वृत्ति के ज्ञान-स्वरूप होने से उसका तथा वृत्ति के निरोधरूप विनाश का भी आश्रय आत्मा ही होगा। इस प्रकार, आत्मा में जायमान जो वृत्ति-निरोधरूप विनाश है, वह अपने आश्रयभूत आत्मा में भी किसी प्रकार विकार को उत्पन्न अवश्य ही करेगा; क्योंकि धर्म में विकार होने से धर्मी में भी अवश्य विकार होता है, यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। इसी तात्पर्य से आचार्यों ने लिखा है—'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' (न्या० रत्ना० सि० वि०)। अर्थात्, धर्म का विकार धर्मी में भी अवश्य विकार पैदा करता है।

इस स्थिति में, वृत्ति के निरोध-रूप विनाश-काल में आत्मा में भी विनाशत्व होने के कारण सर्वसिद्धान्त-सिद्ध आत्मा का कूटस्थ होना भङ्ग हो जायगा। कूटस्थ शब्द का सीधा-सादा अर्थ है,—'कूटेन मूलस्वरूपेण सदा तिष्ठति इति कूटस्थः', अर्थात् सदा मूलस्वरूप से जो निर्विकार रहता है, वही कूटस्थ कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि यह आशङ्का तभी हो सकती है, जब प्रमाण आदि वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हों; परन्तु वास्तव में यह नहीं है; क्योंकि प्रमाणादि वृत्तियाँ चित्त के ही धर्म हैं, जिन्हें अन्तःकरण और बुद्धि का पर्याय कहते हैं। ज्ञान तो अन्तःकरण का ही परिणामविशेष है। बुद्धि-वृत्ति में विषयाकार का जो समर्पण है, वही विषय-ज्ञान है। और विषयों के आकार से उपरक्त जो बुद्धि-वृत्ति है, वही चिच्छक्ति, अर्थात् आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्बन सामर्थ्य-वृत्ति-विशिष्ट चित्त का ही है। जिस प्रकार, जल या दर्पणादि में प्रतिबिम्बन रूपवान् स्थूल द्रव्य का ही सामर्थ्य होता है। उस समय बुद्धि-वृत्ति और चित्-शक्ति (आत्मा) में भेद की प्रतीति नहीं होने के कारण बुद्धि-वृत्ति से अभिन्न आत्मा अर्थ का अनुभव करता है, ऐसा लोक में व्यवहार होता है।

इससे प्रकृत में यह सिद्ध होता है कि ज्ञान वस्तुतः आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धि का ही धर्म है। इस स्थिति में, ज्ञानविशेष रूप जो प्रमाणादि वृत्तियाँ हैं, वे भी बुद्धि के ही परिणामविशेष धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसलिए, आत्मा के कूटस्थत्व का व्याघात नहीं होता।

यहाँ पुनः आशङ्का होती है कि नैयायिक ज्ञान को आत्मा का ही गुण मानते हैं। इस अवस्था में, कूटस्थत्व-भंग की बात पूर्ववत् बनी ही रहती है।

योग की उपकारक होगी, और योग उपकार्य। उपकार्य और उपकारक—इन दोनों का आश्रय भिन्न होता है। इसलिए, यहाँ समाधि को योग क्यों कहा?

इसका समाधान यह है कि यद्यपि योग का अङ्ग होने से समाधि योग से वस्तुतः भिन्न है, तथापि अङ्ग और अङ्गी में अभेद का आरोप कर योग और समाधि को भाष्यकार ने एक माना है। वस्तुतः, समाधि आठ योगाङ्गों में अन्तिम अवयव है। पतञ्जलि ने इसीका निरूपण 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इस सूत्र से किया है। सूत्रगत तत् पद से, 'प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस सूत्र से, उक्त ध्यान का ही ग्रहण किया है। मात्र पद का अर्थ स्वयं सूत्रकार ने ही 'स्वरूपशून्यमिव' शब्द से कर दिया है। भावार्थ यह है कि जब ध्यान ही ध्येय के आवेश में हो जाता है, उस समय *ध्यातृ-ध्यानभाव अत्यन्त शून्य हो जाता है और वह केवल ध्येयमात्र का ही ग्राही* होता है। उस समय ध्यान वर्त्तमान रहता हुआ भी, ध्यातृ-ध्यान-ध्येय विभाग के ग्रहण न करने से, स्वरूप-शून्य के सदृश हो जाता है। इसी का नाम समाधि है। यही सूत्र-लक्षित अन्तिम योगाङ्ग है।

वस्तुतः, विचार करने पर *'योगः समाधिः' इसमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता;* क्योंकि समाधि शब्द का अनेक अर्थ भाष्यकारों ने माना है। 'समाधानं समाधिः' इस भावसाधन व्युत्पत्ति से अङ्गीभूत योग-रूप समाधि का ग्रहण होता है। और 'समाधीयते अनेन' *इस करण-साधन-व्युत्पत्ति से योगाङ्ग-रूप समाधि का ग्रहण है।* इन दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सूत्रकार ने स्वयं किया है। करण, साधन-समाधि शब्द का प्रयोग 'यमनियमासन' इत्यादि सूत्रों में किया है। और 'ता एव सबीजः समाधिः' (यो० सू० १।४६), *'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'* इन दोनों सूत्रों में, अङ्गीभूत योग अर्थ में ही समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यास-भाष्य में भी दोनों अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। इसलिए, 'योगः समाधिः' यह भाष्य भी सङ्गत हो जाता है। समाधि शब्द के, भाव-साधन और करण-साधन-व्युत्पत्ति से, दोनों अर्थ मानने से स्कन्दपुराण का वचन भी सङ्गत होता है। जैसे—

'समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समष्टसर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परन्तप।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥'

इसका भावार्थ यह है कि जिस अवस्था में चित्त के विकारभूत समस्त संकल्प के नष्ट हो जाने से जीवात्मा और परमात्मा में समता आ जाती है, उसे समाधि कहते हैं। यहाँ करण-साधन अङ्गवाचक समाधि शब्द का प्रयोग है। *द्वितीय श्लोक में* योग शब्द के वाच्य अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग है। परमात्मा और जीवात्मा का जो अविभाग, अर्थात् एकता है, वही योग है। इससे दोनों अर्थों में समाधि शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है।

आत्मा की अपरिणामिता

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि यदि चित्त-वृत्ति के निरोध को योग शब्द का अर्थ मानते हैं, तो आत्मा का कूटस्थ होना, जो शास्त्रों से सिद्ध है, व्याहत हो जाता है; क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बताई गई हैं। उनमें अज्ञात अर्थ का निश्चय करानेवाली जो वृत्ति है, वह प्रमाण है। मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्यय है। बाह्यार्थ-रहित केवल कल्पनामय आहार्य ज्ञान-रूप जो प्रतीति है, वही विकल्प है। निद्रा और स्मृति प्रसिद्ध हैं। इन्हीं वृत्तियों का निरोध योग कहा गया है। निरोध शब्द का अर्थ नाश ही होता है। और यह भी निश्चित है कि जो वृत्ति का आश्रय है, वही नाश का भी आश्रय होता है। और, वृत्ति के ज्ञान-स्वरूप होने से उसका तथा वृत्ति के निरोधरूप विनाश का भी आश्रय आत्मा ही होगा। इस प्रकार, आत्मा में जायमान जो वृत्ति-निरोधरूप विनाश है, वह अपने आश्रयभूत आत्मा में भी किसी प्रकार विकार को उत्पन्न अवश्य ही करेगा; क्योंकि धर्म में विकार होने से धर्मी में भी अवश्य विकार होता है, यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है। इसी तात्पर्य से आचार्यों ने लिखा है—'उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' (न्या० रत्ना० सि० वि०)। अर्थात्, धर्म का विकार धर्मी में भी अवश्य विकार पैदा करता है।

इस स्थिति में, वृत्ति के निरोध-रूप विनाश-काल में आत्मा में भी विनाशत्व होने के कारण सर्वसिद्धान्त-सिद्ध आत्मा का कूटस्थ होना भङ्ग हो जायगा। कूटस्थ शब्द का सीधा-सादा अर्थ है,—'कूटेन मूलस्वरूपेण सदा तिष्ठति इति कूटस्थः', अर्थात् सदा मूलस्वरूप से जो निर्विकार रहता है, वही कूटस्थ कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि यह आशङ्का तभी हो सकती है, जब प्रमाण आदि वृत्तियाँ आत्मा के धर्म हों; परन्तु वास्तव में यह नहीं है; क्योंकि प्रमाणादि वृत्तियाँ चित्त के ही धर्म हैं, जिन्हें अन्तःकरण और बुद्धि का पर्याय कहते हैं। ज्ञान तो अन्तःकरण का ही परिणामविशेष है। बुद्धि-वृत्ति में विषयाकार का जो सम्बन्ध है, वही विषय-ज्ञान है। और विषयों के आकार से उपरक्त जो बुद्धि-वृत्ति है, वही चिच्छक्ति, अर्थात् आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह प्रतिबिम्बन सामर्थ्य-वृत्ति-विशिष्ट चित्त का ही है। जिस प्रकार, जल या दर्पणादि में प्रतिबिम्बन रूपवान् स्थूल द्रव्य का ही सामर्थ्य होता है। उस समय बुद्धि-वृत्ति और चित्-शक्ति (आत्मा) में भेद की प्रतीति नहीं होने के कारण बुद्धि-वृत्ति से अभिन्न आत्मा अर्थ का अनुभव करता है, ऐसा लोक में व्यवहार होता है।

इससे प्रकृत में यह सिद्ध होता है कि ज्ञान वस्तुतः आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु बुद्धि का ही धर्म है। इस स्थिति में, ज्ञानविशेष रूप जो प्रमाणादि वृत्तियाँ हैं, वे भी बुद्धि के ही परिणामविशेष धर्म हैं, आत्मा के नहीं। इसलिए, आत्मा के कूटस्थत्व का व्याघात नहीं होता।

यहाँ पुनः आशङ्का होती है कि नैयायिक ज्ञान को आत्मा का ही धर्म मानते हैं। इस अवस्था में, कूटस्थत्व-भंग की बात पूर्ववत् बनी ही रहती है।

इसके उत्तर में योगाचार्यों का कहना है कि यदि आत्मा को अपरिणामी—निर्विकार—कूटस्थ मानना है, तो किसी प्रकार भी ज्ञान आत्मा का गुण नहीं हो सकता; क्योंकि विषयों का जो आकार है, उस आकार के सदृश आकार से परिणाम का नाम ही ज्ञान है और इस प्रकार का, आत्मा का परिणाम नैयायिक भी नहीं मानते, चूँकि आत्मा को परिणामी मानने से आत्मा अनित्य हो जाता है, जो आस्तिक-दर्शनों का सम्मत नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा का अपरिणामी होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तो इसका उत्तर यह होता है कि आत्मा का विषय वृत्तिविशिष्ट बुद्धि ही है, जिसको चित्त भी कहते हैं। और, चित्त का विषय घटादि सकल पदार्थ होते हैं। घटादि पदार्थ आत्मा के साक्षात् विषय नहीं होते; क्योंकि विषयों के प्रत्यक्ष होने में इन्द्रिय-संयोग और प्रकाशादि भी कारण होते हैं। इन्द्रिय-संयोग और प्रकाश के न रहने पर विद्यमान भी घट-पटादि पदार्थ अज्ञात ही रहते हैं। परन्तु, चित्तवृत्ति में यह बात नहीं है, चित्तवृत्ति विद्यमान रहती हुई कदापि अज्ञात नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों में, अज्ञात सत्ता का वृत्ति में सदा अभाव ही रहता है। यदि अज्ञात चित्तवृत्ति की भी सत्ता मानी जाय, तो विद्यमान चित्तवृत्ति का भी कदाचित् ज्ञान न होने से, 'मैं सुखी हूँ अथवा नहीं, मैं दुःखी हूँ अथवा नहीं, मैं इच्छा करता हूँ या नहीं', इत्यादि अनेक प्रकार के संशय होते रहेंगे, जो स्वभावतः किसी को नहीं होते। इससे सिद्ध होता है कि चित्तवृत्ति का ज्ञान सदैव बना रहता है। इसीलिए, पूर्वोक्त संशय नहीं होते; क्योंकि वस्तु में ही संशय होता है, यह सर्वशास्त्र-सिद्ध और लोकानुभूत है।

अब यहाँ यह विचारना है कि जब चित्तवृत्ति सदा ज्ञात है, यह मान लिया, तब तो उसके सदा ज्ञातत्व की उपपत्ति के लिए वृत्ति के साक्षित्व-काल में आत्मा को अपरिणामी मानना अत्यावश्यक हो जाता है। क्योंकि, चित्त के सदृश आत्मा को भी यदि परिणामी मान लें, तो उस अवस्था में चित्तवृत्ति का सदा ज्ञातत्व सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि परिणामी होने से आत्मा कादाचित्क हो जायगा, सनातन नहीं रहेगा। अर्थात्, इस अवस्था में वह कभी रहेगा और कभी नहीं भी।

यहाँ ज्ञातता का तात्पर्य है ज्ञानविषयता। जिसका ज्ञान होता है, वही ज्ञान का विषय या ज्ञात कहा जाता है। विषय में रहनेवाला धर्मविशेष का नाम विषयता या ज्ञातता है। जहाँ घट का ज्ञान होता है, वहाँ घट ही ज्ञान का विषय और वही ज्ञात कहा जाता है। जिस समय घट का ज्ञान होता है, उसी समय घट में ज्ञातता आती है। अज्ञात घट में ज्ञातता नहीं रहती। ज्ञातता का तात्पर्य है—अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण। तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय विषय अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण करता है, उस समय उसमें ज्ञातता आती है। वही विषय की ज्ञातता है, और बुद्धिवृत्ति की ज्ञातता आत्मा में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन-मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि विषयों का ज्ञान अपने आकार के सदृश आकार का बुद्धिवृत्ति में समर्पण के बिना नहीं हो सकता, और बुद्धिवृत्ति में ऐसी बात नहीं है। केवल बुद्धिवृत्ति की सत्ता से ही उसका ज्ञान सदा वर्त्तमान रहता है। अज्ञात

बुद्धिवृत्ति की सत्ता ही नहीं होती है। कारण यह है कि चिच्छक्ति-रूप जो आत्मा है वह साक्षी अर्थात् अधिष्ठाता के रूप में सदा वर्त्तमान रहता है, और उस आत्मा का अपना अन्तरङ्ग जो स्वाभाविक निर्मल सत्त्व, अर्थात् प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने की शक्ति है, वह भी सदा वर्त्तमान ही रहता है। इसलिए, बुद्धिवृत्ति के सत्ताकाल में उसका चिच्छक्ति में सदा प्रतिबिम्बित होना भी स्वाभाविक ही हो जाता है। इस अवस्था में, बुद्धिवृत्ति का सदा ज्ञातत्व और चिच्छक्ति का सदा ज्ञातृत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। चिच्छक्ति के सदा ज्ञातृत्व होने के कारण ही उसका अपरिणामी होना भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि परिणामी का सदा ज्ञाता होना असम्भव है।

यहाँ एक शङ्का और होती है कि पुरुष यदि ज्ञाता है, तो विषय के साथ उसका सम्बन्ध होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में आत्मा असंग कैसे रह सकता है? इसका उत्तर यही होता है कि आत्मा का अन्तरङ्ग जो निर्मल स्वभाविक सत्त्व अर्थात् प्रतिबिम्ब-ग्राहकत्व-शक्ति है, वह भी सदा वर्त्तमान रहता है। इस कारण, उस निर्मल सत्त्व में जिस विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी विषय का भान होता है। इसलिए, छायामात्र से विषय के भान होने पर भी आत्मा निःसंग ही रहता है। जिस प्रकार, दर्पण में बिम्ब की छाया पड़ने पर भी दर्पण निर्मल और असंग ही रहता है, उसमें बिम्ब का विकार कुछ भी नहीं आता, उसी प्रकार आत्मा भी निर्लेप और असंग ही रहता है।

जिस प्रकार, चित्तवृत्ति परिणामशील है, उसी प्रकार चित्त भी परिणामी होता है; क्योंकि जिस वस्तु का चित्त में उपराग (छाया) होता है, वही ज्ञात कहा जाता है। जिसका चित्त में उपराग नहीं होता, वह अज्ञात रहता है। जिस प्रकार चुम्बक अक्रिय होने पर भी लोहे का आकर्षक है, उसी प्रकार विषय अक्रिय होने पर भी क्रियाशील चित्त का आकर्षक है। अर्थात्, यद्यपि विषय अक्रिय है, तथापि अपने में वर्त्तमान आकर्षकत्व-शक्ति से इन्द्रियों के द्वारा चुम्बक के समान चित्त को खींचकर उसमें अपनी छाया को समर्पित कर देता है। इसीका नाम उपरञ्जन या उपराग है।

उपराग होने पर ही विषय ज्ञात कहा जाता है और चित्त के परिणामी होने पर ही उपराग सिद्ध होता है। इसलिए, चित्त को परिणामी मानना आवश्यक है।

योगाचार्यों के मत में चित्त व्यापक माना जाता है। इनका कहना है कि यदि चित्त को अणु मान लिया जाय, तो एक काल में अनेक विषयों के साथ सम्बन्ध न होने के कारण चित्त की एकाग्रता सिद्ध हो जाती है, पुनः उसके लिए योग-शास्त्र की रचना का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? और, चन्दनादि सुगन्धि द्रव्यों से वासित शर्बत आदि के पीने में जो एक काल में अनेक इन्द्रियों के विषय का ज्ञान होता है, वह भी नहीं बनता। और, योगियों को एक काल में अनेक वस्तुओं का जो ज्ञान होता है, वह भी अणु मानने से नहीं बनता।

यदि यह कहें कि योगियों का जो प्रत्यक्ष होता है, वह तो लौकिक सन्निकर्ष से नहीं, बल्कि अलौकिक योग-सन्निकर्ष से ही होता है, इसके लिए व्यापक

मानना युक्त नहीं है। इसका उत्तर यह होता है कि मन के व्यापक मान लेने पर लौकिक सन्निकर्ष से ही सब सिद्ध हो जाता है, तो इसके लिए दूसरे सन्निकर्ष की कल्पना व्यर्थ ही है। और, दूसरे सन्निकर्ष की कल्पना करने में गौरव भी है, इसलिए, योगजन्य साक्षात्कार में भी लौकिक सन्निकर्ष को ही कारण मानना समुचित है। तात्पर्य यह है कि सब पदार्थों के ग्रहण करने में केवल एक चित्त ही समर्थ है, और तम नाम का जो एक आवरण है, उसके निवारण करने में ही योग कारण होता है। विषय का साक्षात्कार सर्वार्थग्रहण-समर्थ चित्त का ही कार्य है। इसी प्रकार, उपलब्धि के प्रतिबन्धक जो अतिदूर, सामीप्य, इन्द्रियघात, मनोऽनवस्थान आदि बताये गये हैं, उनका निराकरण करना भी योग का कार्य होता है। अर्थात् चित् में सब पदार्थों के ग्रहण करने का सामर्थ्य स्वाभाविक है, परन्तु तमोगुण से चित्त के आवृत्त होने के कारण या दूरादि प्रतिबन्ध होने से सबको सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जब योग-बल से तमोगुण नष्ट हो जाता है, और प्रतिबन्धक भी दूर हो जाते हैं, तब योगियों को एक काल में सकल पदार्थों का ज्ञान सुलभ हो जाता है। चित्त को सर्वार्थ ग्रहण करने का जो सामर्थ्य प्राप्त है, वह उसके व्यापक होने के ही कारण। इसलिए, चित्त व्यापक माना जाता है। इनके मत में इन्द्रियाँ भी व्यापक मानी जाती हैं। योगियों को देशान्तरस्थ और कालान्तरस्थ वस्तुओं का जो प्रत्यक्ष होता है, वह इन्द्रियों के व्यापक मानने में ही युक्त होता है, अणु मानने में नहीं। इन्द्रियों का ज्ञान तत्तत् स्थान में ही होता है, इसका कारण शरीरादि का सम्बन्ध ही है। इन्द्रियों का अणुत्व-व्यवहार भी, शरीरादि-स्थानकृत होने से, औपाधिक ही माना जाता है।

यदि यह कहें कि इन्द्रियों का व्यापक होना यद्यपि आवश्यक है, तथापि उनके भौतिक होने के कारण व्यापक होना युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। इसका उत्तर यही होता है कि इन्द्रियों को यदि भौतिक मानें, तो यह शङ्का युक्त हो सकती थी, परन्तु इनके मत में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से मानी गई है। अहङ्कार के व्यापक होने से इन्द्रियों का व्यापक होना भी युक्तिसङ्गत है। यदि यह कहें कि मन की गमन क्रिया श्रुति-स्मृति से अनुमोदित और लोकप्रसिद्ध है, तो इस स्थिति में, उसका व्यापक होना नहीं बनता। कारण यह है कि क्रिया व्यापक पदार्थ में नहीं रहती और मन में रहती है, इसलिए मन को व्यापक नहीं मान सकते। इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि मन व्यापक है, तथापि उपाधि के वश से प्राण का गमनागमन भी अयुक्त नहीं होता। व्यापक आत्मा का भी गमनागमन-क्रिया 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है, और वह औपाधिक माना भी गया है।

मन को मध्यम-परिमाण भी नहीं मान सकते। कारण यह है कि मन के मध्यम-परिमाण होने से प्रलय-काल में उसका विनाश अवश्यम्भावी है, फलतः शुभाशुभ कर्म-जन्य जो अदृष्ट संस्कार है, उसका आधार ही नष्ट हो जायगा। इस स्थिति में, पूर्वार्जित कर्मफल का भोग जन्मान्तर में नहीं हो सकता। इसलिए, मन को व्यापक मानना आवश्यक है।

मन को व्यापक मानने में एक दूसरा दोष यह दिया जाता है कि मन और इन्द्रियों को यदि व्यापक मानते हैं, तब तो सब विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सदा रहने से योगी या अयोगी सब को सब काल में सब विषयों का ज्ञान होना चाहिए।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि चित्त (मन) व्यापक है, तथापि जिस शरीर में चित्त विषयाकार से परिणत होता है, उसी शरीर के साथ जिस विषय का सम्बन्ध है, उसी शरीर में उसी विषय का ज्ञान होता है, दूसरे शरीर में नहीं। इसलिए, यह दोष भी यहाँ नहीं हो सकता। पहले भी कह चुके हैं कि विषय चुम्बक के समान है और चित्त लोहा के समान। इन्द्रियों के द्वारा चित्त को आकृष्ट कर विषय उसे अपने आकार का समर्पण करता है। दूसरे शब्दों में, विषय इन्द्रिय के द्वारा चित्त से सम्बद्ध होकर उसे उपरक्त करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि परिणाम चित्त का ही धर्म है, आत्मा का नहीं। 'कामसङ्कल्पविचिकित्साश्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३), यह श्रुति भी काम आदि को मन का ही धर्म बताती है। विषय की अभिलाषा का नाम काम है। 'यह नीला है, यह पीला है', इस आकार की कल्पना का नाम संकल्प है। विचिकित्सा संशय को कहते हैं। आस्तिक्य-बुद्धि को श्रद्धा और इससे विपरीत को अश्रद्धा कहते हैं। धृति को धैर्य और इससे इतर को अधृति कहते हैं। 'ह्री' लज्जा, 'धी' ज्ञान और 'भी' भय को कहते हैं। ये सब मन के ही परिणामविशेष हैं। श्रुति में 'मन एव' इस प्रकार एव शब्द का जो प्रयोग किया है, इससे सूचित होता है कि मन से भिन्न आत्मा के ये परिणाम या धर्म नहीं हैं। इसलिए, आत्मा परिणामी नहीं होता, यह बात सिद्ध हो जाती है। पुरुष का परिणामी न होना पञ्चशिखाचार्य ने भी लिखा है— 'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिः', इसका विवेचन पुरुषस्वरूप-निर्णय में आ चुका है।

भगवान् पतञ्जलि ने भी 'सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' सूत्र से आत्मा को अनुमान द्वारा अपरिणामी सिद्ध किया है। सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा की विषयभूत जो चित्तवृत्तियाँ हैं, वे सदा विद्यमानावस्था में ज्ञात ही रहती हैं, चित्त के विषय घटादि के समान ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार की नहीं होती हैं। इसका कारण यह है कि उन वृत्तियों का भोक्ता जो पुरुष है, वह विषयाकारादि-ग्रहणरूप अशेष परिणामों से शून्य है, इसीलिए अपरिणामी भी है।

परिणाम-विवेचन

अब परिणाम कितने प्रकार के होते हैं, इसके बारे में कुछ लिखा जाता है। परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था परिणाम। धर्मी में पूर्वधर्म के तिरोभाव से धर्मान्तर का प्रादुर्भाव होना धर्म-परिणाम है। चित् के तत्तत् विषयों के आकारवाली जो अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं, उनको धर्म कहते हैं। उनमें एक नील के आलोचन-रूप जो नीलाकार चित्तवृत्ति है, उसके तिरोभाव में विषयान्तर के आलोचनरूप वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। सुवर्ण के कटक-धर्म के तिरोभाव से मुकुट-धर्म का प्रादुर्भाव होता है।

मृत्तिका के पिण्ड-धर्म के तिरोभाव से घट-धर्म का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ द्रव्य का भी धर्म शब्द से व्यवहार किया गया है।

एक बात और भी जानना चाहिए कि नाश और उत्पत्ति शब्द के स्थान में तिरोभाव और आविर्भाव शब्द का ही प्रयोग किया गया है। योगकारों के मत में सत्कार्यवाद सिद्धान्त होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति या नाश नहीं माना जाता। इसलिए, आविर्भाव-तिरोभाव ही इनके मत में अभीष्ट है। असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश इनके यहाँ नहीं होता। इस स्थिति में जिस प्रकार धर्मी स्वरूप में विद्यमान रहता हुआ ही सब धर्मों का, जो अपने में होते रहते हैं, ग्रहण करता रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म भी सदा विद्यमान रहता हुआ ही भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानरूप भिन्न-भिन्न लक्षणों से युक्त होता रहता है। यही धर्म का लक्षण-परिणाम कहा जाता है।

विद्यमान धर्मों के एक लक्षण को छोड़कर लक्षणान्तर से होनेवाले परिणाम को ही लक्षण-परिणाम कहते हैं। यहाँ लक्षण शब्द से भविष्यत्त्व, वर्त्तमानत्व और भूतत्व—इन्हीं तीन का ग्रहण किया जाता है। यहाँ धर्मों के समान विद्यमान लक्षणों का ही आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इसलिए, सत्कार्यवाद सिद्धान्त उत्पन्न होता है। तीनों लक्षणों का प्रतिक्षण तारतम्य होता रहता है। लक्षणों का तारतम्य लक्षणों से युक्त धर्म में ही देखना चाहिए; क्योंकि लक्षणों का तारतम्य वहीं होता है। जैसे—नीलाकार-रूप चित्त-धर्म के विद्यमान रहने पर भी कभी अस्फुट, कभी अस्फुटतर, कभी स्फुट और स्फुटतर आदि अनेक अवस्थाओं से तारतम्य का अनुभव होता रहता है। इसी प्रकार, सुवर्ण का धर्म कटकादि और मृत्तिका का धर्म जो घटादि है, उनके नवीनत्व, पुराणत्व आदि अनेक अवस्थाओं का भेद प्रतिक्षण अनुभूत होता रहता है। सत्वादि गुणों के अतिचञ्चल स्वभाव होने के कारण उनका प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है, यह अनुमान से सिद्ध होता है। यही लक्षण का अवस्था-परिणाम है।

वर्त्तमान जो लक्षण है, उसे एक अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में परिणत होते रहने का नाम अवस्था-परिणाम है। यह अवस्था-परिणाम वर्त्तमान काल में ही स्फुटतर प्रतीत होता है। इसी दृष्टान्त से भविष्य और भूतकाल का भी अनुमान किया जाता है। यह सब विचार धर्मी और धर्म के लक्षण की अवस्था में जो काल्पनिक भेद है, उसी के आधार पर किया गया है। वास्तव में तो सब परिणाम धर्मी में ही होते हैं।

धर्म, लक्षण और अवस्था—ये सब धर्मिमात्र-स्वरूप हैं। दूसरे शब्दों में, धर्मी से अतिरिक्त धर्म की सत्ता ही नहीं है। धर्म के लक्षण या अवस्था के परिणाम से धर्मी के ही लक्षण या परिणाम का विस्तार होता है।

धर्मी के तीनों प्रकार के केवल संस्थान का ही अन्यथाभाव होता है, द्रव्य का नहीं। सुवर्ण के संस्थान अर्थात् आकार के भिन्न-भिन्न होते रहने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। आकृति के नाश होने पर भी द्रव्य ही शेष रहता है, इसी बात को पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है—'आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनः तदेव', 'आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते' इति। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म और धर्मी में न अत्यन्त भेद ही है, न अत्यन्त अभेद।

उक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाण, विपर्यय आदि जितनी वृत्तियाँ हैं, वे सब चित्त की ही हैं। और, इनका निरोध भी चित्त में ही होता है, आत्मा में नहीं। क्योंकि, वृत्ति और निरोध इन दोनों का आश्रय एक ही होता है, आत्मा वृत्ति या निरोध किसी का भी आश्रय नहीं होता।

सुषुप्ति और योग

वृत्ति का आश्रय न होने से आत्मा में परिणामित्व होने की भी शङ्का नहीं रहती। वृत्ति-निरोध को जो योग माना गया है, उसमें एक और शङ्का होती है कि सुषुप्ति-काल में भी वृत्तियों का निरोध होता है, इसलिए सुषुप्ति को भी योग क्यों नहीं कहा जाता ? यदि यह कहें कि सुषुप्ति में सकल वृत्तियों का निरोध नहीं होता; इसलिए वह योग नहीं है। यह भी उत्तर युक्त नहीं होता; क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में सकल वृत्तियों के निरोध न होने पर भी उसको योग माना गया है। सम्प्रज्ञात में विशुद्ध सात्त्विक आत्मविषयक वृत्ति को सभी दार्शनिकों ने माना है, इस वृत्ति का वहाँ निरोध नहीं होता, तो भी उसको योग माना गया है; इसी प्रकार सुषुप्ति को भी योग मानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। विवृद्ध रजोगुण के बहिर्मुख होने के कारण विषय की ओर प्रेरित जो चित्त है, वही क्षिप्त कहा जाता है। इस प्रकार का चित्त प्रायः दैत्य-दानवों में होता है। तमोगुण के बढ़ने से कृत्याकृत्य-विवेक-शून्य, क्रोधादि से अभिभूत अथवा निद्रादि से युक्त जो चित्त है, उसको मूढ कहते हैं। इस प्रकार का चित्त प्रायः राक्षस-पिशाचों का होता है। क्षिप्त से विक्षिप्त में कुछ विशेषता है। सत्त्वगुण के बढ़ने से दुःख से भागकर केवल सुख-साधनों में ही रत रहना विक्षिप्त है। विक्षिप्त चित्त प्रायः देवताओं में ही रहता है। यह चित्त विषय-विशेष के अनुसार कभी-कभी कुछ काल-पर्यन्त स्थायी भी रहता है। क्षिप्त की अपेक्षा इसमें यही विशेषता है। सुषुप्ति-काल में क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्ति का अभाव रहता है, और जाग्रत् में मूढ-वृत्ति का। एकाग्र और निरोध-वृत्ति का अभाव तो प्रायः सब बद्ध मनुष्यों में होता है। इस प्रकार, कुछ वृत्तियों के निरोध सुषुप्ति में होने से योग-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, यही शङ्का का तात्पर्य है।

इसका समाधान इस प्रकार होता है कि क्षिप्त, मूढ आदि जो चित्त की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं, उनमें क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त—इन तीन अवस्थाओं को, योग में त्याज्य होने के कारण, योग शब्द का वाच्य नहीं माना गया है, तथापि योग में उपादेय जो एकाग्र और निरुद्धावस्था है, उसमें वृत्ति-निरोध को योग कहने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि, जो चित्त, रजोगुण-तमोगुण-रूप मल के सम्पर्क से रहित होने से, विशुद्ध सत्त्वप्रधान होकर किसी सूक्ष्म तत्त्व के आलम्बन करने से, निर्वात देश में रहनेवाली स्थिर दीप-शिखा की तरह निश्चल रहता है, वही एकाग्र कहा जाता है। विक्षिप्त से एकाग्र में यही विशेषता है कि विक्षिप्त चित्त में रजोगुण के लेश से युक्त सत्त्वगुण प्रधान रहता है, और एकाग्र चित्त में रजोगुण का लेश भी नहीं रहता, केवल विशुद्ध सत्त्व ही प्रधान रहता है। इसी एकाग्र को एकतान भी कहते हैं। एकाग्र चित्त उन्हीं का होता है, जो यम-नियमादि के अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि में

आरूढ हो चुके हैं। और, जिस चित्त में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, केवल संस्कारमात्र शेष रहता है, वही निरुद्ध कहा जाता है। ये दोनों अवस्थाएँ स्वरूपावस्थिति का हेतु और क्लेशकर्मादि का परिपन्थी होने के कारण समाधि की साधिका होती हैं। इसलिए, एकाग्र और निरोध दोनों योग शब्द के वाच्य होते हैं। इस प्रकार 'चित्तवृत्तिनिरोधः' यह योग का जो लक्षण आचार्य ने किया है, वह सम्यक् उपपन्न हो जाता है। सुषुप्ति आदि में जो योग-लक्षण का अतिव्याप्तिदोष दिया गया है, वह भी ठीक नहीं है, कारण यह है कि किसी प्रकार के निरोध में ही आचार्य का अभिप्राय नहीं है, किन्तु जिस वृत्ति-निरोध मे द्रष्टा के स्वरूप में आत्यन्तिक अवस्थिति हो, और जो क्लेशकर्मादि का परिपन्थी हो, उसीको योग कहते हैं। क्षिप्तादि अवस्था में जो वृत्ति का निरोध है, वह द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति का हेतु और क्लेशकर्मादि का परिपन्थी होते हुए भी उसके विपरीत है। और, सुषुप्ति या प्रलय आदि में जो निरोध है, वह स्वरूपावस्थिति का हेतु होने पर भी आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं होता, इसलिए सुषुप्ति, प्रलय आदि शब्द से योग का ग्रहण नहीं होता। सुषुप्ति में जो निरोध है, वह आत्यन्तिक नहीं है। सुषुप्ति से उठने पर सब वृत्ति पूर्ववत् जागरित हो जाती है। अतः, सुषुप्ति को योग नहीं कह सकते हैं। यद्यपि असम्प्रज्ञात भी द्रष्टा के स्वरूपावस्थान में साक्षात् हेतु नहीं होता, तथापि असम्प्रज्ञात के द्वारा वह होता ही है, इसलिए योग शब्द का वाच्य होता है।

एकाग्र चित्त में बाह्यविषयक चित्तवृत्तियों का निरोध जिस अवस्था-विशेष में हो, वही सम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात समाधि में केवल बाह्यविषयक चित्तवृत्तियों का ही निरोध होता है, आत्मविषयक सात्त्विकी चित्तवृत्ति बनी ही रहती है। 'सम्यक् ज्ञायते प्रकृतेः भेदेन ध्येयस्वरूपं यस्मिन्', इस व्युत्पत्ति से यही सिद्ध होता है कि जिस अवस्था में ध्येय (आत्मा) का ज्ञान सम्यक् प्रकार से होता हो, वही सम्प्रज्ञात है, इसी व्युत्पत्ति के आधार पर सम्प्रज्ञात से आत्मविषयक सात्त्विक वृत्ति होना सिद्ध होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित। यहाँ समाधि शब्द का अर्थ भावना है। जिस वस्तु की भावना की जाती है, वह भाव्य, भावनीय या ध्येय कहा जाता है। उसी ध्येय को विषयान्तर के परिहारपूर्वक बारम्बार चित्त में निविष्ट करने का नाम भावना है। दूसरे शब्दों में, विषयान्तर में आसक्त चित्त को उस विषय से हटाकर ध्येय में बारम्बार लगाने का नाम है भावना।

भाव्य भी दो प्रकार का होता है—एक ईश्वर दूसरा तत्त्व। तत्त्व भी दो प्रकार का है—जड़ और अजड़। अजड़ से जीवात्मा को समझना चाहिए।

ईश्वर की तत्त्व से पृथक् गणना की गई है। प्रकृति आदि चौबीस जड़ तत्त्व होते हैं—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चभूत और मन। पुरुष को सम्मिलित कर लेने पर योगकारों के मत में पचीस तत्त्व होते हैं। ईश्वर तो तत्त्वातीत, अर्थात् तत्त्वों से परे है।

ईश्वर-सहित ये ही सब तत्त्व भाव्य कहे जाते हैं, इन्हीं की भावना से परम लक्ष्य समाधि की सिद्धि होती है। इनकी भावना के प्रकार-भेद होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि के भी सवितर्कादि भेद से चार प्रकार बताये गये हैं।

स्थूलविषयक साक्षात्कार का नाम वितर्क है। 'विशेषेण तर्कणम्, शब्दार्थज्ञानविकल्परूपं यत्र', अर्थात् जिस अवस्था में शब्द-अर्थ-ज्ञान के विकल्प-रूप तर्क (भावनाविशेष) हो, उसे वितर्क कहते हैं। इस व्युत्पत्तिगम्य अर्थ से स्थूलविषयक भावना ही वितर्क है, यह सिद्ध होता है; क्योंकि स्थूल विषय में ही शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदेन भान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भावना का विषयभूत जो भाव्य है, वह ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों में ग्राह्य, स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। पहले स्थूल ध्येयविषयक भावना को ही छोड़कर पीछे सूक्ष्म विषय की भावना की जाती है। जिस प्रकार, धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त करने के लिए पहले स्थूल लक्ष्य के वेधन करने का ही अभ्यास किया जाता है, इसके बाद सूक्ष्म लक्ष्य के। उसी प्रकार, योग की इच्छा करनेवाला पहले स्थूल ध्येय की भावना को छोड़कर बाद में सूक्ष्म ध्येय की भावना का शनैः-शनैः अभ्यास करता है। इसके बाद सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और फिर परमलक्ष्य-पर्यन्त पहुँचने की चेष्टा करता है। इस स्थिति में, स्थूल पञ्चभूत या पाञ्चभौतिक चतर्भुजादि स्थूल रूप की भावना, इसी प्रकार स्थूल भूतों के कारण सूक्ष्मभूत, जिनको तन्मात्र भी कहते हैं, की भावना एवं उसीमें पूर्वापर-अनुसन्धानपूर्वक पहले सामान्य बादविशेष, तब धर्मी, तब धर्म की जो भावना है, उसी को सवितर्क या वितर्कानुगत कहते हैं।

इस प्रकार, जब स्थूल विषयों का यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब उनमें अनित्यत्व आदि दोष देखनेवाली स्थूलाकार दृष्टि को छोड़कर, उन स्थूल पदार्थों क कारण, जो अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृतिरूप सूक्ष्म तत्त्व उन स्थूल भूतेन्द्रियों में अनुगत रहते हैं, की भावना करने से और उनमें रहनेवाले अश्रुतपूर्व विशेष धर्म की देश-काल-धर्मानुसार भावना करने से जो साक्षात्कार होता है, उसीको विचार कहते हैं। 'विशेषेण चारः सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तः सञ्चारो यत्र', इस व्युत्पत्ति से जिस समाधि में सूक्ष्मवस्तु-पर्यन्त चित्त का सञ्चार हो, उसीको विचार कहा गया है। विचार के सहित सविचार है।

सविचार में, स्थूल विषयों में भी यथार्थ सूक्ष्म दृष्टि उत्पन्न होती है; क्योंकि सूक्ष्म तत्त्व कारणरूप से वहाँ भी वर्त्तमान रहता है, और कार्य कारण में अभेद भी है। इसके बाद उस सूक्ष्मविषयक दृष्टि को भी, उसमें अनित्यत्वादि दोष देखने के कारण, छोड़कर, चौबीस तत्त्वों में अनुगत सत्त्व-गुण का कार्य जो सुख है, उसके रजोगुण-तमोगुण के लेश से अभिभूत होने के कारण चिति-शक्ति के तिरोभाव होने और उसमें प्रवर्त्तमान भावना से मनोराज्य के सदृश काल्पनिक वैषयिक सुख के साक्षात्कार होने का नाम ही आनन्द है। आनन्द के सहित को सानन्द समाधि कहते हैं। यद्यपि सुख के सदृश ही दुःख और मोह भी सर्वत्र अनुगत रहता है, तथापि उनके स्वभावतः हेय होने के कारण उनकी भावना की आवश्यकता नहीं रहती। इसके अनन्तर, इस सुख में भी क्षणित्व-/

अनित्यत्वादि दोष देखकर, उससे भी विराग होने के कारण, जीव और ईश्वर-स्वरूप का जड़ से भिन्न आत्माकार-रूप जो साक्षात्कार होता है, वही अस्मिता है।

इस अवस्था में, रजोगुण-तमोगुण के लेश से अनभिभूत जो शुद्ध सत्त्व है, उसका भी तिरोभाव और चिति-शक्ति का आविर्भाव होता है। 'अस्मि', यही इसका आकार होता है, इसीलिए इसको अस्मिता कहते हैं। इसमें भी पहले जीवात्म-विषयक अस्मिता होती है, इसके अनन्तर उससे भी सूक्ष्मतमविषयक अस्मिता होती है। अर्थात्, पहले अस्मिता का विषय जीवात्मा ही रहता है, इसके बाद कुछ विशेष भावना के दृढ़ होने पर केवल परमात्मा ही अस्मिता का विषय रह जाता है, यही चित्त की अन्तिम अवस्था है। इसके बाद कुछ भी शासव्य अवशेष नहीं रह जाता। इसीसे अनुगत समाधि का नाम सास्मित समाधि है। इस समाधि में संस्कारमात्र शेष रहता है।

सम्प्रज्ञात में जो चार प्रकार के भेद बताये गये हैं, उनमें चार प्रकार की चित्तभूमि होती है—मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा। इन सवितर्कादि अवस्थाओं का वर्णन सूत्ररूप में पतञ्जलि ने किया है—

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।'

असम्प्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था में सकल वृत्तियों का निरोध होता है, उसको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में किसी वृत्ति का भी अवशेष नहीं रहता है। सम्प्रज्ञात से इसमें यही विशेषता है कि सम्प्रज्ञात में प्रकृति-पुरुष की भिन्नताख्याति लक्षणात्मिका जो वृत्ति (जिसमें विशुद्ध सत्त्व ही प्रधान रहता है) है, उसका निरोध नहीं होता, और असम्प्रज्ञात में उस वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इस अवस्था में जो संस्कार शेष रहता है, उसका भी निरोध हो जाता है। पूर्व में सुषुप्ति और प्रलय में योग-लक्षण की अतिव्याप्ति और सम्प्रज्ञात में अव्याप्ति के वारण के लिए क्लेशादि परिपन्थी, यह निरोध का विशेषण दिया गया है।

अब क्लेशादि के स्वरूप का विचार किया जाता है। क्लेश पाँच प्रकार का होता है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इसीको पतञ्जलि ने सूत्ररूप में कहा है—'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः'।

अविद्या-विचार

अविद्या में पहला प्रश्न होता है कि अविद्या शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? इसमें कौन समास है? इसका तात्पर्य क्या है? यदि 'विद्यायाः अभावः' इस व्युत्पत्ति में 'निर्मक्षिकम्' के समान अव्ययीभाव समास, जिसका पूर्व पद प्रधान होता है, करें, तो अविद्या पद का अर्थ विद्या का अभाव होगा, जैसे 'निर्मक्षिकम्' का अर्थ मक्षिकाओं का अभाव होता है। इसमें पूर्व पदार्थ प्रधान है। यदि 'न विद्या अविद्या' इस विग्रह में नञ् तत्पुरुष करें, तो इसका अर्थ होगा विद्या से भिन्न या विद्याविरोधी कोई अन्य पदार्थ। जैसे अब्राह्मणः, अराजपुरुषः; यहाँ ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि, राजपुरुष से भिन्न साधारण पुरुष, अर्थ होता है। इसमें उत्तर पदार्थ प्रधान है।

अथवा 'अविद्यमाना विद्या यस्याः यस्यां वा' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करें, जो अन्य पदार्थ प्रधान होता है, तो इस अविद्या का अर्थ होगा—अविद्यमान है विद्या जिसमें, ऐसी बुद्धि। अर्थात्, जिसमें विद्या का अभाव रहे, ऐसी बुद्धि ही अविद्या शब्द का वाच्य अर्थ होगा। इन तीन प्रकार के समासों में अविद्या शब्द में कौन समास होगा, यही प्रश्न का तात्पर्य है।

अव्ययीभाव तो ठीक नहीं होता; क्योंकि पूर्वपदार्थ प्रधान होने से अविद्या में नञ् का प्रसज्य-प्रतिषेध अर्थ होगा, प्राप्तिपूर्वक निषेध का नाम प्रसज्य-प्रतिषेध है। अविद्या शब्द से विद्या का प्राप्तिपूर्वक अभावमात्र ही अर्थ होगा, भाव-रूप कोई अन्य अर्थ नहीं होगा, इस अवस्था में विद्या के अभाव-रूप अविद्या क्लेशादि के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अभाव से किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह पहले भी बता चुके हैं। विद्याविपरीत जो ज्ञान है, वही क्लेशादि को उत्पन्न कर सकता है, और जो क्लेशादि को उत्पन्न कर सके, वही अविद्या है; और अव्ययीभाव करने से यह अर्थ नहीं होता, इसलिए अव्ययीभाव नहीं कर सकते। अव्ययीभाव समास करने में एक दोष और हो जाता है कि स्त्रीलिङ्ग अविद्याशब्द की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि अव्ययीभाव करने पर 'अव्ययीभावश्च' इस पाणिनि सूत्र से नपुंसक हो जायगा, जैसे 'निर्मक्षिकम्' में होता है।

इसी प्रकार, तत्पुरुष समास करने पर भी अविद्या क्लेश का कारण सिद्ध नहीं होती। क्योंकि, तत्पुरुष में उत्तर पदार्थ विद्या शब्द ही प्रधान होगा और नञ् का अर्थ अभाव है। इस स्थिति में, अभावयुक्त विद्या, यही अविद्या का अर्थ होगा। इस प्रकार, राग, द्वेष आदि किसी के अभाव से युक्त विद्या क्लेशादि की नाशिका ही होगी, उत्पादिका नहीं; क्योंकि रागादि अन्यतम के अभाव से युक्त विद्या क्लेश की नाशिका होती है, यह सर्वसिद्धान्त-सिद्ध है।

अविद्या शब्द में बहुव्रीहि करने पर भी, नहीं है विद्या जिसमें, ऐसी विद्यारहित बुद्धि ही समास का अर्थ होगा। यह बुद्धि भी विद्या के अभावमात्र से क्लेशादि की उत्पादिका नहीं हो सकती; क्योंकि विद्या के अभाव में भी जबतक विपरीत बुद्धि नहीं होगी, तबतक किसी प्रकार भी क्लेशादि की सम्भावना नहीं हो सकती। महर्षि पतञ्जलि ने भी अस्मितादि क्लेशों का मूल कारण अविद्या को ही माना है—

'अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।' (यो० सू० २।४)।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र में उक्त जो अविद्या आदि पाँच क्लेश हैं, उनमें अविद्या से उत्तर जो अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये चार क्लेश (जो प्रत्येकशः प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार के भेद से चार-चार प्रकार के हैं) हैं, उनका क्षेत्र, अर्थात् मूल कारण अविद्या ही है।

चित्तभूमि पर संस्कार अर्थात् बीज रूप से जो विद्यमान है, और उद्बोधक के अभाव से अपने कार्य का आरम्भ नहीं करता, वही प्रसुप्त है। जैसे, बालक और प्रकृतिलयसंज्ञक योगी के चित्त में बीज-रूप से क्लेश विद्यमान रहते हुए भी उद्बोधक के अभाव में वे अपना कार्य करने से असमर्थ रहते हैं। तनु उस क्लेश को कहते हैं,

जो प्रतिपक्ष-भावना से शिथिल हो गया है। जैसे, योगियों के हृदय में वासना-रूप से विद्यमान क्लेश। बलवान् क्लेश से जो अभिभूत हो गया है, वह विच्छिन्न क्लेश है। जैसे, रागावस्था में द्वेष और द्वेषावस्था में राग। उदार उसको कहते हैं, जो सहकारी के विद्यमान रहने से कार्यकारी, अर्थात् कार्य करने में समर्थ है। जैसे, सकल बद्ध जीवों का क्लेश। विद्वत्-शिरोमणि वाचस्पतिमिश्र ने भी योगभाष्य की टीका में लिखा है—

'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशाः विषयसङ्गिनाम्॥'

इस प्रकार, उक्त तीनों समासों में किसी समास से भी अविद्या शब्द का क्लेशोत्पादिका अर्थ सिद्ध नहीं होता, जो महर्षि पतञ्जलि का अभीष्ट है, यही शङ्कक का तात्पर्य है।

इसका उत्तर यह होता है कि यहाँ अविद्या पद में नञ् का पर्युदास अर्थ है, उसके साथ विद्या का नञ् समास करने पर विद्याविरोधी, विपरीत ज्ञान अर्थ होता है। इसीको विपर्यय ज्ञान भी कहते हैं, जैसे अधर्म शब्द का धर्मविरोधी पाप अर्थ होता है। आचार्यों ने भी कहा—

'नमधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मौ वन्यमात्रविरोधिनौ॥
वृद्धप्रयोगगम्यो हि शब्दार्थः सर्व एव नः।
तेन यत्र प्रयुक्तो यो न तस्मादपनीयते॥'

अर्थात्, विधि अर्थ में जो लिङ् आदि प्रत्यय होते हैं, तदर्थ के योग में ही नञ् का प्रतिषेध अर्थ युक्त होता है, जैसे 'न ब्राह्मणं हन्यात्, न सुरां पिबेत्', इत्यादि स्थलों में ब्राह्मण-हनन और सुरा-पान का प्रतिषेध-मात्र अर्थ होता है, परन्तु नामार्थ और धात्वर्थ के योग में नञ् का निषेध अर्थ नहीं होता, किन्तु पर्युदास ही होता है। जैसे, अब्राह्मण शब्द में जो नञ् है, वह ब्राह्मण से भिन्न सकल अर्थ को इंगित करता है, और अधर्म शब्द में नञ् धर्मविरोधी पाप का ही संकेत करता है। इसलिए, हमारे आचार्यों के मत में शब्द का अर्थ वृद्धप्रयोगगम्य ही होता है, इसलिए जिस अर्थ में जो शब्द प्रयुक्त है, उससे उसको विलग नहीं करना चाहिए।

वाचस्पतिमिश्र ने भी 'अनित्याशुचि' इत्यादि सूत्र के भाष्य के व्याख्यान में लिखा है—'लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः लोके चोत्तरपदार्थप्रधानस्यापि नञः उत्तरपदाभिधापमर्दकस्य तद्विरुद्धतया तत्रतत्रोपलब्धेरिहापि तद्विरुद्धे प्रवृत्तिः इति।' अर्थात्, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निश्चय लोक के अधीन है। लोक में उत्तर पदार्थप्रधान भी जो नञ् है, और जो उत्तरपद के अभिधेय का नाशक है, उसका उत्तरपदार्थ के विरुद्ध अर्थ में प्रयोग जहाँ-तहाँ देखा जाता है, इसलिए अविद्या शब्द में भी नञ् का प्रयोग समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' (यो० सू० २।५)

अर्थात्, अनित्य में नित्यत्व, अशुचि में शुचित्व, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा की प्रतीति अविद्या का लक्षण है। यह लक्षण उदाहरणमात्र है, इससे नित्य शुचि आदि में अनित्य अशुचि आदि की प्रतीति भी अविद्या है, यह सिद्ध होता है। अविद्या का जो सामान्य लक्षण आगे किया जायगा, उसीका अवान्तर भेद चार प्रकार का सूत्रकार ने बताया है। उदाहरणार्थ—अनित्य घटादि सकल प्रपञ्च में नित्यत्व का अभिमान अविद्या है, अपवित्र शरीर में पवित्रता का ज्ञान भी अविद्या है। शरीर के अशुचि होने का कारण आचार्यों ने बताया है—

'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥'

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर का उत्पत्ति-स्थान जो माता का उदर है, वह मल-मूत्र से व्याप्त अन्य नाम अपवित्र है। इसका मूल कारण शुक्र-शोणित भी अपवित्र ही है, और इसके पोषक भुक्त-पीत अन्नादि पदार्थों का रस भी अपवित्र ही है, स्वेद-मूत्रादि का स्राव भी अपवित्र ही है, मरण तो सबसे बढ़कर अपवित्र है, जो श्रोत्रियों के शरीर को भी अपवित्र बना देता है, इसलिए इस शरीर को पण्डित लोग अशुचि कहते हैं। इसी प्रकार चन्दन, माला, स्त्री आदि में जो सुख का आरोप होता है, वह भी अविद्या ही है। विवेकियों को समस्त विषय-सुख में दुःख ही प्रतीत होता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः', इसका तात्पर्य यह है कि माला, चन्दन, वनिता आदि जितने सुख-साधन लोक में देखे जाते हैं, उनसे उत्पन्न होनेवाले जो सुख हैं, वे सब विवेकियों की दृष्टि में दुःख ही हैं। जिस प्रकार, विष मिला हुआ स्वादु अन्न परिणाम में दुःखद होता है। विषय-जन्य सुख ही परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख का मूल कारण होता है। लौकिक सुख-साधनों की प्राप्ति अथवा सुख के उपयोग-काल में अनेक प्रकार के ज्ञात या अज्ञात हिंसा आदि पापों का होना स्वाभाविक होता है, उन पापों का अवश्यम्भावी जो दुःख है, वही परिणाम-दुःख कहा जाता है। सुख के उपभोग-काल या सुखसाधनों के प्राप्ति-काल में दूसरों के सुख-साधन या उपभोग को अधिक देखकर मन में जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, उसके नहीं सहने के कारण जो संताप होता है, वह ताप-दुःख है! इसी प्रकार, सुखोपभोग-काल में सुख के अनुभव-जन्य संस्कार के स्मरण के द्वारा जो अधिक-से-अधिक सुख-साधनों की अभिलाषा उत्पन्न होती है, और उसकी पूर्त्ति नहीं होने से संस्कार-दुःख उत्पन्न होता है।

एक बात और है कि सत्त्व आदि गुणत्रय की जो प्रवृत्ति है, उसमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुणसंयुक्त रहते हैं, इस अवस्था में जिस वस्तु को हम सुख समझते हैं, उसमें भी दुःख का कारण रजोगुण वर्त्तमान ही रहता है, इसलिए रजोगुण का कार्य दुःख होना अनिवार्य है और परिणाम में दुःख होना अवर्जनीय हो जाता है। अतः, जिसको सूक्ष्म क्लेशों का ज्ञान हो गया है और सकल सुख-साधन-सामग्रियों के दुःखजनक रजोगुण से युक्त होने का निश्चय हो चुका है, ऐसे विवेकियों के लिए

सभी सुख-साधन दुःख ही प्रतीत होते हैं। प्रकृत में, इस प्रकार के दुःख-साधनों में सुख-साधन का या दुःख में सुख का ज्ञान होना अविद्या ही है।

इसी प्रकार, आत्मा से भिन्न जो शरीरादि है, उसमें आत्मा का ज्ञान होना भी अविद्या है। इसी कारण, यह संसार बन्ध है। और, मूल कारण अविद्या से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। आचार्यों ने भी लिखा है—

'अनात्मनि हि देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्।
अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते॥'

इस अविद्या के चार पाद हैं—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अस्मिता की परिभाषा स्वयं पतञ्जलि ने की है—'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता', अर्थात् दृक्-शक्ति (आत्मा) और दर्शन-शक्ति (बुद्धि) इन दोनों आत्म और अनात्म पदार्थों में एकात्मता के सदृश जो एकाकारता की आपत्ति है, वही अस्मिता है। जब अनात्मभूत बुद्धि में आत्म-बुद्धि-रूप अविद्या होती है, तभी अस्मिता की उत्पत्ति होती है। वहाँ अविद्यावस्था में भी यद्यपि बुद्धि में सामान्यतः अहंबुद्धि रहती ही है, तथापि उस बुद्धि का विषय, भेद और अभेद दोनों, रहता है; क्योंकि उस काल में अत्यन्त अभेद का ज्ञान नहीं होता। इसके बाद बुद्धि में रहनेवाले गुणों का पुरुष में आधान करने से 'मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ', इस प्रकार का जो अत्यन्त एकता का भ्रम है, वही अस्मिता नाम का क्लेश है। जबतक एकता का भ्रम नहीं होता, तबतक परस्पर अध्यास-मात्र से भोग की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि बुद्धि परिणामशील है, और आत्मा अपरिणामी है, इसलिए दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। इस स्थिति में, दोनों में एकता की प्रतीति के बिना भोग असम्भव है। इसलिए, दोनों में भोगसिद्धि के हेतु अभेद का भ्रम होना अनिवार्य है।

अस्मितामूलक तीसरा क्लेश ही राग है और चौथा द्वेष। जो पुरुष सुख का अनुभव कर चुका है, उसके चित्त में सुखानुभव-जन्य एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार से सुख की अनुस्मृति होती है, जिससे सुख के साधनों के विषय में तृष्णा होती है, उसीका नाम राग है। इसी प्रकार, दुःख के साधनों में जो जिहासा[1] उत्पन्न होती है, उसीका नाम द्वेष है। इसीको पतञ्जलि ने सूत्ररूप में कहा है—'सुखानुशयी रागः' 'दुःखानुशयी द्वेषः।'

अब क्रमप्राप्त पञ्चम क्लेश जो अभिनिवेश है, उसका निरूपण किया जाता है। पूर्वजन्म में अनुभूत मरणजन्य जो दुःख है, तदनुभवजन्य जो वासना है, उससे (कृमि-कीट से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् महर्षियों तक) बिना कारण स्वभावतः ही उत्पन्न होनेवाला जो मरण का भय है, उसीको अभिनिवेश कहते हैं। सूत्रकार ने भी लिखा है—'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः'। ये ही अविद्या आदि पाँच अनेक प्रकार के सांसारिक दुःखों के कारण होकर मनुष्यों को क्लेशित करते रहते हैं, इसीलिए इनका नाम क्लेश है।

---

१. त्यागने की इच्छा।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय के परिपन्थी चित्त-वृत्ति का निरोध ही योग है। क्लेश और उसके भेद और अवान्तर भेद की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अब संक्षेप में कर्म, विपाक और आशय के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

कर्म दो प्रकार का होता है—शास्त्रविहित और शास्त्रप्रतिषिद्ध। यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्म हैं और ब्रह्महत्या, अगम्यागमन, मद्यसेवन आदि निषिद्ध कर्म। जाति, आयु और भोग को विपाक कहते हैं। 'विपच्यन्ते कर्मभिः निष्पाद्यन्ते ये ते', इस व्युत्पत्ति से यही सिद्ध होता है कि जो कर्म से उत्पन्न किया जाय, वही विपाक है। कर्म का फल, जाति, आयु और भोग ये ही तीन हैं, इसीलिए इनको विपाक कहा गया है। जाति का अर्थ है—जन्म। जीवन-काल का नाम है—आयु। शब्दस्पर्शादि विषयों में रहनेवाला जो सुख, दुःख और मोहात्मकत्व है, वही भोग है। उनमें भोग ही कर्म का मुख्य फल है। आशय का अर्थ है—संस्कार। 'आ—फलविपाकपर्यन्तं चित्तभूमौ शेरते इत्याशयाः', अर्थात् फलनिष्पत्ति-पर्यन्त जो चित्तभूमि में सुप्त रहता है, वही आशय है। धर्म-अधर्म-सम्बन्धी जो कर्म हैं, उनका एक प्रकार का संस्कार सोये हुए की तरह चित्तभूमि में रहता है। वही काल पाकर सहकारी कारण की सहायता से फल के रूप में परिणत होता है, जो आशय कहलाता है। इसीका नाम वासना भी है। फल और फलभोग का बीज यही है। इसी आशय-रूप बीज से प्रमाणादि चित्त की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दों में, कर्मवासना ही प्रमाणादि वृत्ति के रूप में परिणत होती है। इन्हीं क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-रूप मलों के परिपन्थीभूत चित्तवृत्ति-निरोध को योग कहते हैं।

निरोध-लक्षण

अब निरोध का लक्षण बताया जाता है। निरोध शब्द यहाँ अभाव का सूचक नहीं है। निरोध का फल है—आत्मसाक्षात्कार। वृत्ति-निरोध का अर्थ वृत्ति का अभाव नहीं है। कारण यह है कि अभाव किसीका कारण नहीं होता है, और निरोध को आत्मसाक्षात्कार का कारण माना गया है, इसलिए यह अभाव-रूप नहीं हो सकता।

निरोध का वस्तुतः अर्थ चित्त का अवस्थाविशेष ही है, जिसको मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और ज्योतिष्मती नाम से अभिहित किया गया है। सवितर्क समाधि में उत्पन्न होनेवाली जो चित्त की अवस्था है, उसीको मधुमती कहते हैं। सविचार समाधि में जायमान चित्त की अवस्था को मधुप्रतीका कहते हैं। सानन्द समाधि में होनेवाली अवस्था को विशोका और सास्मित समाधि में होनेवाली अवस्था को ज्योतिष्मती कहते हैं। इन्हीं अवस्थाओं का नाम निरोध है।

इन अवस्थाओं के भावस्वरूप होने से ध्येय का साक्षात्कार होना संगत होता है। 'निरुध्यन्ते प्रमाणाद्याः चित्तवृत्तयः यस्मिन् अवस्थाविशेषे', इस व्युत्पत्तिपूर्वक नि उपसर्ग रुध् धातु से अधिकरण में घञ् प्रत्यय करने पर उक्त अवस्था ही निरोध शब्द का वाच्य अर्थ होता है।

निरोध का उपाय

अब निरोध का उपाय बताते हैं। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है। पतञ्जलि ने कहा है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। चित्त-नदी का प्रवाह निम्नगा होने के कारण विषयों का ही अनुगमन करता है। वह प्रवाह विषयों की ओर जाने से तबतक नहीं रुकता, जबतक विषयों में गुप्त दोषों का अनुसन्धान नहीं करता। विषयों के दोष देखने पर ही उससे वैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे शनैः-शनैः प्रवाह रुकने लगता है, और यह रुकता हुआ प्रवाह विवेक-दर्शन के अभ्यास से विवेक-मार्ग का अनुगामी होता है। विवेक-दर्शन के दृढ़ अभ्यास से ही ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह बलवान् और दृढ़ होता है।

अभ्यास की व्याख्या स्वयं पतञ्जलि ने की है—'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'। राजस-तामस-वृत्ति से रहित चित्त का प्रशान्तवाहिता-रूप जो परिणामविशेष है, वही स्थिति है, उसीके लिए बारम्बार यत्न करने का नाम अभ्यास है। जबतक चित्त में राजस और तामस वृत्ति रहती है, तभीतक चित्त का प्रवाह बहिर्मुख विषय की ओर जारी रहता है। यम-नियमादि बहिरङ्ग साधनों के अनुष्ठान से राजस-तामस-वृत्ति का विलय और शुद्ध सात्त्विक वृत्ति का उद्रेक (उदय) होता है, उस समय बहिर्मुख वृत्ति का प्रवाह स्वयं रुक जाता है। उस समय स्वरूपनिष्ठ चित्त की स्थिति प्रशान्त धारा की तरह हो जाती है। इसीके लिए (निमित्त) निरन्तर यत्न करने का नाम है अभ्यास। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि 'तत्र स्थितौ' यहाँ 'स्थितौ' पद में जो सप्तमी विभक्ति है, वह अधिकरण में नहीं है, जिसका में या पर अर्थ होता है। किन्तु, 'चर्मणि द्विपिनं हन्ति' की तरह 'निमित्तात् कर्मयोगे' से निमित्त अर्थ में सप्तमी है, इसलिए स्थिति के निमित्त, यह अर्थ होता है। अब वैराग्य का भी लक्षण लिखा जाता है।

वैराग्य-लक्षण

महर्षि पतञ्जलि ने वैराग्य का लक्षण करते हुए लिखा है—'दृष्टाऽनुश्रविकविषय-वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।' इस संसार में तमाम भोग के लिए जो पदार्थ हैं, वे ही दृष्टि के विषय होने से दृष्ट कहे जाते हैं। गुरु-मुख से सुना हुआ वेद ही अनुश्रव है, इससे प्रतिपादित जो स्वर्गादि पारलौकिक सुख हैं, उनके साधन का नाम आनुश्रविक कहलाता है। दृष्ट और आनुश्रविक इन दोनों की जो वशीकार-संज्ञा है, उसीका नाम है वैराग्य। 'ये सब विषय मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ', इस प्रकार के विचार का नाम है वशीकार।

जब दोनों प्रकार के विषयों में यह ज्ञात होता है कि ये सब विषय परिणाम में दुःख देनेवाले सुस्वादु मोदक की तरह मनोमोहक हैं, इनसे कभी परिणाम (परमार्थ) में लाभ नहीं हो सकता, तब विषयों से धीरे-धीरे चित्त हटने लगता है, और उसीके साथ वैराग्य का उदय होने लगता है।

क्रियायोग-विचार

अब क्रिया-योग के विषय में विचार किया जायगा। विना क्रिया-योग के क्लेश का तनूकरण और समाधि का लाभ नहीं होता है। क्रिया-योग से ही अभ्यास और वैराग्य सम्भव है। अर्जुन के प्रति स्वयं भगवान् ने कहा है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

तात्पर्य यह है कि योग-सोपान-पर आरोहण करने की इच्छा करनेवाले मुनि के लिए योगारोहण का साधन-कर्म अर्थात् क्रिया-योग ही है। जब निष्काम कर्म से चित्त की शुद्धि हो जाती है, तभी वैराग्य का उदय होता है। वैराग्य के उदय होने पर वृत्ति का निरोध होता है। जिस अवस्था में मानव योग-प्रासाद पर आरूढ हो जाता है, उस अवस्था में उसीके लिए 'शम', अर्थात् सब कर्मों का संन्यास, ज्ञान-परिपाक का साधन बताया गया है। उपर्युक्त गीता के श्लोक में मुनिपद भावी अवस्था के अभिप्राय से दिया गया है। कारण यह है कि योगारूढ होने के बाद ही 'मुनि' संज्ञा होती है योगारूढ का लक्षण गीता में ही बताया गया है—

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥'—गीता, ६।४

अर्थात्, जब योगी इन्द्रियों के विषय और कर्म में आसक्त नहीं होता, तब सब कर्मों के संन्यास के कारण वह योगारूढ कहा जाता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये ही तीन क्रिया-योग हैं। भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' तप का स्वरूप याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

'विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुः तपसां तप उत्तमम्॥'

अर्थात्, शास्त्रों में बताये गये मार्ग से विधिपूर्वक कृच्छ्र और चान्द्रायण के द्वारा शरीर का जो शोषण है, वही उत्तम तप है। कृच्छ्रादि व्रतों का निर्णय धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बताया गया है।

प्रणव, गायत्री अथवा शक्ति, रुद्रादि देव-मन्त्रों का अध्ययन, मनन और उपासना का नाम स्वाध्याय है। प्रणव ॐकार को कहते हैं। मन्त्र का अर्थ ही है, 'मननात्त्रायते यस्तु तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः', अर्थात् मनन करने से जो रक्षा करता है, वह मन्त्र है। 'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता' यह कल्पसूत्र है। अर्थात्, मन्त्रों की शक्ति अचिन्त्य है। मन्त्र दो प्रकार के हैं, एक वैदिक दूसरा तान्त्रिक। वैदिक भी दो प्रकार का है—प्रगीत और अप्रगीत। प्रगीत साम को कहते हैं। अप्रगीत भी दो प्रकार का है—एक छन्दोबद्ध, दूसरा उससे विलक्षण। छन्दोबद्ध ऋक् है; दूसरा यजुः। महर्षि जैमिनि ने कहा है—'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था', 'गीतिषु सामाख्या', 'शेषे यजुः शब्दः' (जै० सू० २-१।३३, ३५)। तात्पर्य यह है कि जिस वाक्य में अर्थवश

अथवा छन्दोविशेष-वश पाद की व्यवस्था हो, वह ऋक् है। गान-प्रक्रिया में उक्त प्रकार से जो मन्त्र पढ़े गये हैं, वे साम हैं, और शेष मन्त्रों में यजुः का व्यवहार होता है।

तान्त्रिक मन्त्र उसको कहते हैं, जिसका वर्णन कामिक, कारण-प्रपञ्च आदि आगमों में किया गया है।

आगम में तीन अक्षर हैं—आ, ग, म। इन तीनों की सार्थकता आचार्यों ने बताई है—'आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतञ्च गिरिजानने, मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते'। अर्थात्, जो भगवान् कृष्ण का अभिमत है, और शङ्कर ने पार्वती से कहा है, वही आगम है। इसीका नाम तन्त्रशास्त्र भी है। यह कामिक आदि अनेक भागों में विभक्त है। अन्य शास्त्रों में आगम का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम्।
साधनञ्चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट् कर्म साधनञ्चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुः बुधाः॥'

इसका भावार्थ यह है—सृष्टि, प्रलय, देवताओं का अर्चन, सबका साधन, पुरश्चरण, षट्कर्मों का साधन और चार प्रकार का ध्यान-योग इन सात लक्षणों से युक्त जो ग्रन्थविशेष है, वही आगम कहलाता है। शान्तीकरण, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण यही षट्कर्म हैं। शारदातिलक में लिखा है—

'शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः।
मरणान्तानि शंसन्ति षट् कर्माणि मनीषिणः॥'

मन्त्रों के दस संस्कार भी कहे गये हैं—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति (गोपन)। इनका पूर्ण विवेचन और प्रयोगविधि तन्त्र-शास्त्रों में देखना चाहिए। क्रिया-योग के सम्बन्ध में इतनी बातें कहकर ईश्वर-प्रणिधान के सम्बन्ध में विचार किया जाता है—

निखिल कर्मों का परम गुरु परमात्मा में समर्पण का नाम ईश्वर-प्रणिधान है। महर्षियों ने कहा है—

'कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥'

अर्थात्, हे भगवन्! फल की कामना या निष्काम भाव से जो भी मैं शुभ या अशुभ कार्य करता हूँ, वह सब-का-सब तुम्हें ही अर्पित करता हूँ। क्योंकि, सर्वान्तर्यामी रूप से जिस कर्म में आप नियुक्त करते हैं, वही मैं करता हूँ। इसी सम्बन्ध में दूसरा श्लोक है—

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतिस्वभावात्।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायैव समर्पये तत्॥'

अथवा कर्तृत्वाभिमान का परिहार ही वस्तुतः ईश्वर-प्रणिधान का तात्पर्य है—

'नाहं कर्त्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थात्, यह सब काम ब्रह्म ही करता है, मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को ही तत्त्वदर्शी महात्माओं ने ब्रह्मार्पण कहा है।

अथवा कर्म-फल का परित्याग ही ईश्वर-प्रणिधान का मुख्य तात्पर्य है। इसीलिए, भगवान् ने कर्म-फल के त्यागपूर्वक कर्मयोग में ही अर्जुन को प्रेरित किया है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥'

अर्थात्, हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में ही है, फल-भोग में नहीं। कर्म-फल में अधिकार का तात्पर्य है, 'मया इदं कर्मफलं भोक्तव्यम् इत्याकारकोऽभिलाषः', अर्थात्, मैं इस कर्म-फल को भोगूँगा, इस प्रकार की अभिलाषा से काम करना। फल की कामना से कर्म करनेवाला फलहेतु कहा जाता है, इसलिए ऐसा तुम न हो, और कर्म के नहीं करने में भी तुम्हारी प्रीति न हो। तात्पर्य यह हुआ कि कर्म-फल की अभिलाषा का त्यागकर कर्म करते रहना चाहिए। यही तीन प्रकार का ईश्वर-प्रणिधान शास्त्रों में बताया गया है। फल की अभिलाषा से कर्म करना अनिष्ट का कारण है, ऐसा आचार्यों ने बताया है—

'अपि प्रयत्नसम्पन्नं कामेनोपहतं तपः।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम्॥'

अर्थात्, बहुत प्रयत्नों से किया गया भी तप यदि कामना से युक्त हो, तो वह कुत्ते से जूठा किया गया पायस की तरह भगवान् की प्रीति के लिए नहीं होता है।

इस प्रकार, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान-रूप जो क्रिया है, वही क्रिया-योग कहा जाता है, यह बात सिद्ध होती है। क्रिया-योग से तात्पर्य है—क्रियात्मक योग। अर्थात्, यह करने की चीज है, केवल इसके ज्ञान से कुछ नहीं होता।

एक शङ्का यहाँ होती है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों में चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता, तो इसका योग शब्द से व्यवहार क्यों किया जाता है?

इसका उत्तर यह है कि ये तीनों योग शब्द का वस्तुतः अभिधेय नहीं हैं, तो भी योग के साधन होने के कारण शुद्ध सारोप लक्षणावृत्ति से इनमें भी योग शब्द का व्यवहार किया गया है। जिस प्रकार, 'आयुर्वै घृतम्' में आयु के साधन होने के कारण ही घृत को आयु कहा जाता है। यहाँ शुद्ध सारोप लक्षणावृत्ति से ही ऐसा बोध होता है। लक्षणा का विवेचन काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थों में किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ ही देखना चाहिए।

अष्टाङ्ग-योग-विवेचन

उपर्युक्त योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम पतञ्जलि के मत में पाँच ही हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी इनके मत में पाँच ही हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। इन दोनों का स्वरूप-निर्देश पहले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त विष्णुपुराण में भी पाँच ही यम और नियम बताये गये हैं—

'ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च सत्यास्तेयाऽपरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन् ॥
स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः ॥'

—वि० पु० ६।७।३६-३८

इसका तात्पर्य यह है कि अपने मन को आत्म-विचार के योग्य बनाता हुआ योगी, अर्थात् योगाभिलाषी, निष्काम भाव से ब्रह्मचर्य आदि यमों का अनुष्ठान करे। यमों के अनुष्ठान करने से ही मन आत्म-विचार के योग्य बनता है। मन को निगृहीत कर स्वाध्याय, तप आदि नियमों का अनुष्ठान करता हुआ परब्रह्म में अपने मन को लगावे, इससे ईश्वर-प्रणिधान-रूप पञ्चम नियम सिद्ध होता है।

विभिन्न पुराणों में दस प्रकार के यम और नियम बताये गये हैं—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमाः दश ॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥' —ह० यो० प्र०

अर्थात्, योगशास्त्र के विद्वानों ने दस प्रकार के यम बताये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, आर्जव, मिताहार और शौच। तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-वाक्यों का श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, तपस्या और हवन ये दस नियम हैं। ये जो दस यम और दस नियम बताये गये हैं, उन सबका अन्तर्भाव पतञ्जलि के बताये हुए पाँच में ही हो जाता है, अर्थात् इन पाँच ही यम नियम के अनुष्ठान से वे सब गुण स्वयं सिद्ध हो जाते हैं, जो दस में विशेष बताये गये हैं। इन यम-नियमों के सकाम अनुष्ठान करने से विशिष्ट फल की सिद्धि होती है, और उनकी निष्काम उपासना से मुक्ति की प्राप्ति होती है—

'एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्त्तिताः ।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः ॥' —वि० पु० ६।७।३८

यम-नियम के बाद क्रम-प्राप्त आसनों का भी निर्देश किया जाता है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के आसन बताये गये हैं, उनमें ८४ मुख्य हैं। उनमें भी दस मुख्य माने जाते हैं। उनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन को मुख्य माना गया है। इनमें सिद्धासन सबसे श्रेष्ठ माना गया है। मिताहारपूर्वक आत्मध्यायी होकर लगातार बारह वर्ष यदि केवल सिद्धासन का अभ्यास किया जाय, तो सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। और, इसके अभ्यास से बहत्तर हजार नाड़ियों का मल शुद्ध हो जाता है—

'सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रञ्चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखं तिष्ठेत् सिद्धासने सदा ॥'

इन चार आसनों के स्वरूप का भी परिचय कराया जाता है—

'योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशः पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥'

—ह० यो० प्र०, ३५

अर्थात्, मेढ्र (लिङ्ग) और गुदा के मध्यभाग को योनिस्थान कहते हैं, उसमें बायें पैर की एड़ी को लगाकर और दायें पैर की एड़ी को मेढ्र के ऊपर भली भाँति सटाकर रखे, हृदय के समीप चिबुक (दाढ़ी) को सटाकर रखे, निश्चल होकर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोककर अचल दृष्टि से दोनों भौहों के मध्यभाग को देखता रहे, यही मोक्ष के कपाट को भेदन करनेवाला सिद्धासन है। मत्स्येन्द्रनाथ के मतानुसार यह लक्षण है। अन्य योगियों के मत से निम्नोद्धृत लक्षण द्रष्टव्य है—

'मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फान्तरञ्च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं विदुः॥'

अर्थात्, मेढ्र के मूल भाग के ऊपर बायें पैर की एड़ी को रखकर, उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को रखे और सीधा होकर बैठे, यही सिद्धासन है। इसीको वज्रासन, मुक्तासन, गुप्तासन आदि भी कहा जाता है। इससे उत्तम कोई आसन नहीं है, इस सम्बन्ध में आचार्यों का कहना है—

'नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥'

पद्मासन-स्वरूप—

'वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकंनासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥'

वाम जङ्घा के ऊपर दक्षिण पैर को रखकर और दक्षिण जङ्घा के ऊपर वाम पैर को रखे, बाद में पश्चिम विधि से अर्थात् पृष्ठ की ओर दक्षिण हाथ फैलाकर वाम पैर पर रखे हुए दक्षिण पैर के अँगूठे को भली-भाँति पकड़कर पुनः पृष्ठ भाग से वाम हाथ फैलाकर दक्षिण पैर पर रखे हुए वाम पाद के अँगूठे को अच्छी तरह पकड़कर चिबुक (दाढ़ी) को हृदय में सटाकर नासिका के अग्र भाग को देखे। यह नियमी के सकल रोगों का नाश करनेवाला पद्मासन है। इसका नियम से अभ्यास करने पर सकल रोगों का नाश होता है। इसीको बद्धपद्मासन भी कहते हैं। जिसमें पीछे अँगूठे को न पकड़ा जाय, वह मुक्त पद्मासन है।

सिंहासन-स्वरूप—

'गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिपुङ्गवैः ।
बन्धत्रितयसन्धानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥'

वृषण के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में वाम गुल्फ को दक्षिण में और दक्षिण गुल्फ को वाम में लगावे, बाद में जांघों के ऊपर हाथ रखके अँगुलियों को पसारकर मुँह खोलकर सावधानी से नासिका के अग्रभाग को देखे। यह योगियों से पूजित सिंहासन है। इसके अभ्यास से मूल, उड्डीयान और जालन्धर इन तीन बन्धों का सन्धान होता है।

भद्रासन-स्वरूप—

'गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
सव्यं गुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥
पार्श्वं पादौ तु पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चितम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ॥

वृषण के नीचे सीवनी के पार्श्वभागों में बाईं ओर वामगुल्फ और दाईं ओर दक्षिण गुल्फ को सटाकर सीवनी के पार्श्ववर्ती पैरों को दृढ़ बाँधकर निश्चल रूप से स्थित रहे, यह सब व्याधियों का नाश करनेवाला भद्रासन कहलाता है।

यहाँ तक चार प्रसिद्ध आसनों के स्वरूप दिखाकर क्रम-प्राप्त प्राणायाम के विषय में विचार किया जायगा।

प्राणायाम का वास्तविक फल चित्त की एकाग्रता ही है। प्राणवायु के चञ्चल होने के कारण ही चित्त में चञ्चलता आती है। चञ्चल चित्त धारणा, ध्यान और समाधि का उपयोगी नहीं होता। प्राणायाम के अभ्यास से ही शनैः-शनैः चित्त में एकाग्रता आने लगती है। यद्यपि चित्त के एकाग्र होने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने बहुत-से साधन बताये हैं, तथापि सबसे उत्तम, सफल और सुलभ होने के कारण ही धारणा-ध्यान के पहले प्राणायाम को ही अभ्यसनीय बताया है।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥

—इत्यादि अनेक प्रमाणों से प्राणायाम को ही सबसे उत्तम स्थैर्य का साधन बताया गया है। एक बात और भी है कि व्याधि-स्त्यान-संशय आदि जो योग के अन्तराय बताये गये हैं, उनमें मुख्य व्याधि ही है। व्याधि होने पर कोई भी योग नहीं बन सकता। और आसन-स्थैर्य के अनन्तर विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास करने पर व्याधि की उत्पत्ति ही नहीं होती, इसलिए प्राणायाम से योग का मार्ग निर्विघ्न रहता है। अतः, प्राणायाम आवश्यक है। एक बात और है कि सुषुम्णा नाडी में प्राणवायु का सञ्चार तबतक नहीं होता, जबतक नाडियों में व्याप्त मल की विशुद्धि नहीं होती। इसलिए, नौल, नेती, धौती आदि षट्कर्मों का विधान हठयोग में किया गया है। पतञ्जलि ने इन षट्कर्मों के बारे में कुछ नहीं कहा। उन्होंने यम-नियम के अनन्तर आसन और प्राणायाम को ही महत्त्व दिया है।

इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि जो कार्य षट्कर्म से होता है, वह केवल आसन और प्राणायाम के अभ्यास से ही हो जाता है। हठयोगियों को भी यह मान्य है, इसीलिए हठ-योग में भी नाडी-शोधक प्राणायाम का ही पहले उपदेश किया गया है। प्राणायाम की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।' अर्थात्, श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक निरन्तर प्रवहणशील जो गति है, उसका विच्छेद हो जाना या रुक जाना ही प्राणायाम कहा गया है। बाह्य वायु का अन्तःप्रवेश श्वास है। भीतरी वायु का बाहर निकलना प्रश्वास कहा जाता है। इन दोनों की जो निरन्तर वहनशील स्वाभाविक गति है, उसका विच्छेद प्राणायाम शब्द का मुख्य अर्थ है। रेचक और पूरक में यद्यपि गति रहती है, तथापि स्वाभाविक गति का विच्छेद वहाँ भी होता ही है, यह अनुभव-सिद्ध है। इसीलिए, रेचक-पूरक को भी प्राणायाम कहा जाता है।

वस्तुतः, यह बात है कि श्वासपूर्वक गति का जो अभाव होता है, वह पूरक प्राणायाम है और प्रश्वासपूर्वक गति का जो अभाव होता है, वह रेचक प्राणायाम कहा जाता है। कुम्भक में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों वायुओं का सङ्कोच हो जाता है। जैसे, तप्त लोहे के ऊपर जल देने से चारों तरफ से जल संकुचित हो जाता है। यही इसमें विशेषता है। अब प्राणवायु के बहने का स्थान दिखाया जाता है—मनुष्यों की वाम नाडी का नाम इडा है, और दक्षिण नाडी का नाम पिङ्गला। दोनों के बीच मध्यस्थ रूप से सुषुम्ना का निवास है। इन दोनों नाडियों से सूर्योदय से आगामी सूर्योदय-पर्यन्त निरन्तर वायु का सञ्चार होता रहता है। शुक्ल पक्ष में चन्द्र-नाडी से सूर्योदय-काल में वायु का सञ्चार शुरू होता है, और कृष्णपक्ष में सूर्य-नाडी से। इस प्रकार, रात-दिन में २१६०० श्वास-प्रश्वास चलते हैं।

इन संख्याओं का स्पष्टीकरण अजपा-मन्त्र के रहस्यों को जाननेवाले योगियों ने मन्त्र-समर्पण के विषय में किया है—

'षट्शतानि गणेशाय षट्सहस्रं स्वयम्भुवे।
विष्णवे षट्सहस्रञ्च षट्सहस्रं पिनाकिने॥
सहस्रमेकं गुरवे सहस्रं परमात्मने।
सहस्रमात्मने चैवमर्पयामि कृतं जपम्॥'

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अजपा-मन्त्र का ६० घटी में २१६०० बार जो जप करता है, उसीका समर्पण उक्त श्लोकों में बताया गया है। पहले विघ्नहर्त्ता गणेश को ६००, ब्रह्मा को ६०००, विष्णु को ६०००, महेश को ६०००, गुरु को १०००, परमात्मा को १००० और आत्मा को १०००।

इस प्रकार, दिन-रात के २४ घण्टे में जो २१६०० बार श्वास और प्रश्वास चलता है, उसीमें 'हंसः' की भावना की जाती है। भीतर से बाहर वायु जाने के समय 'हं' की भावना और बाहर से भीतर आने में 'सः' की भावना की जाती है। यही अजपा-जप कहलाता है। इसके स्वाभाविक होने के कारण और मन्त्रों के समान जप नहीं किया जाता, इसीलिए इसको अजपा कहते हैं। एक बात और भी

ज्ञातव्य है कि दोनों नाड़ियों से वायु के सञ्चरण-काल में पृथिवी, जल आदि तत्त्वों का भी सूक्ष्मरूप से सञ्चार होता है। उनका ज्ञान उनके पीत, नील आदि वर्ण-विशेष के द्वारा होता है। उन तत्त्वों के वर्ण का ज्ञान सूक्ष्म आभ्यन्तर दृष्टि से किया जाता है। तत्त्वों के बहने का स्थान इस प्रकार है—अग्नि-तत्त्व ऊपर की ओर बहता है और जल-तत्त्व नीचे की ओर। वायु तिर्यग् बहता है और पृथिवी अर्द्ध-पुट में तथा आकाश-तत्त्व सर्वत्र बहता है। इसका क्रम इस प्रकार है कि जब नाड़ी बहने को प्रवृत्त होती है, उस समय पहले वायु-तत्त्व २० पल तक चलता है। उसके बाद ३० पल तक अग्नि-तत्त्व, ४० पल तक जल-तत्त्व, ५० पल तक पृथिवी तत्त्व, उसके बाद १० पल तक आकाश-तत्त्व बहता है। इस प्रकार, एक नाड़ी में सब तत्त्वों के बहने में १५० पल लगते हैं, जिसका समय-मान ढाई घटी अर्थात् प्रचलित एक घण्टा होता है।

तत्त्वों के बहने में जो न्यूनाधिक समय लगता है, उसका कारण यह है कि पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण रहते हैं। प्रत्येक गुण पर १० पल के हिसाब से ५० पल होते हैं। जल आदि में एक एक गुण घट जाने से १०-१० पल कम होते जाते हैं, आकाश में केवल एक शब्द ही गुण रहता है, जिससे उसमें १० ही पल लगते हैं। सब तत्त्वों का पृथक्-पृथक् फल भी कहा गया है। पृथिवी-तत्त्व के बहने में चित्त की स्थिरता रहती है। जल-तत्त्व में कार्य आरम्भ करने पर फल अधिक मिलता है। अग्नि-तत्त्व में चित्त-वृत्ति दीप्त रहती है। वायु-तत्त्व में चित्तवृत्ति चञ्चल और आकाश-तत्त्व में गम्भीर रहती है। इसी प्रकार, प्रत्येक में क्रमशः स्थैर्य, काम-वासना, ताप-कोप, चञ्चलता और गम्भीरता का भी अनुभव होता है। तत्त्वों के जानने का उपाय भी योग-शास्त्र में बताया गया है—पद्मासन या सिद्धासन पर बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान बन्द करे, दोनों मध्यमा से दोनों नासिका, और दोनों तर्जनी से दोनों आँख, अनामिका और कनिष्ठिका से दोनों ओठ दबाकर मुँह बन्द करे। बाद में ध्यान देने पर छोटे-छोटे बिन्दु मालूम पड़ेंगे, उन बिन्दुओं के वर्ण से तत्त्वों का ज्ञान करना होता है। पीतवर्ण होने से पृथिवी और श्वेतवर्ण से जल, रक्तवर्ण से तेज, हरा होने से वायु और वर्णरहित होने से आकाश-तत्त्व समझना चाहिए।

'पीता पृथ्वी जलं श्वेतं रक्तं तेज उदाहृतम्।
श्यामो वायुरथाकाशः निरुपाधिरुदाहृतः॥'

इस प्रकार, उक्त रीति से तत्त्वों को समझकर प्राणायाम के द्वारा वायु का निरोध करने पर विवेक-ज्ञान को आवृत करनेवाला जो पाप-कर्म और उसका मूलभूत अविद्यादि क्लेश है, उनका नाश हो जाता है। पाप और उसका मूल कारण अविद्यादि क्लेश ही महामोहक शब्द-स्पर्शादि विषयों की सहायता से विवेकज्ञानशील बुद्धि-सत्त्व को आवृत किये रहते हैं। ये अविद्यादि क्लेश बुद्धि-सत्त्व का आच्छादन ही नहीं करते, किन्तु अकर्त्तव्य कराने में भी नियोजित करते रहते हैं। प्राणायामों के नियमपूर्वक अभ्यास करने पर क्लेश दुर्बल होते-होते अपना कार्य करने से असमर्थ हो जाते हैं, और प्रतिक्षण क्षीण होने लगते हैं। कर्म का नाशक होने के कारण ही

प्राणायाम को तप भी कहा जाता है। तप्त कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि जो तप हैं, वे केवल पाप-कर्म का ही नाश करते हैं, और प्राणायाम-रूप जो तप है, उससे कर्म के मूलभूत अविद्या आदि क्लेशों का भी नाश होता है। इसीलिए, शास्त्रों में कहा है—'न तपः प्राणायामात्परम्', अर्थात् प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। महात्माओं ने कहा है—

'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
प्राणायामैस्तु दह्यन्ते तद्वदिन्द्रियजाः मलाः॥'

अर्थात्, जिस प्रकार सुवर्ण आदि धातुओं को अग्नि में तपाने से उसके मल जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं और प्रकाश के आवरण भी क्षीण हो जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'। यह प्राणायाम का अवान्तर फल है। मुख्य फल तो धारणा के लिए योग्यता प्राप्त करना है। जब यम, नियम, आसन और प्राणायाम के नियमपूर्वक अनुष्ठान से योगी का मन संस्कृत हो जाता है, तभी वह धारणा का अधिकारी होता है। प्राणायाम के विना मन संस्कृत नहीं होता और मन के संस्कार के विना धारणा दृढ़ नहीं होती। प्राणायाम के विना धारणा करने की योग्यता ही नहीं आती। धारणा के लिए योग्यता की प्राप्ति ही प्राणायाम का मुख्य प्रयोजन है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योग के इन आठ अङ्गों में धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों योग के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। इन्हीं की संज्ञा संयम है। संयम से ही योग की सिद्धि होती है। प्रत्याहार के विना संयम हो नहीं सकता। इसलिए, प्रत्याहार की साधना अत्यन्त आवश्यक है। शब्द, स्पर्श, रूप और रसादि जो विषय हैं, उनमें कुछ तो रञ्जनीय होने के कारण राग के प्रयोजक हैं। कुछ कोपनीय होने से द्वेष के प्रयोजक हैं और कुछ मोहनीय होने से वैचित्र्य अथवा मोह के प्रयोजक। तत्तत् विषयों में इन्द्रियों की जो प्रवणता (अनुगामिता) है, वही विषयासक्ति है। इन्द्रियों का प्रवाह विषयों की ओर ही नियमेन होता रहता है, यही इन्द्रियों की विषय-प्रवणता है।

विषयों की ओर से, इन्द्रियों को निर्विकार आत्मा में आसक्त चित्त के अनुकारी कर देना ही प्रत्याहार है। प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि इन्द्रियों का प्रवाह बाह्य शब्दादि विषयों में होना यदि स्वाभाविक है, तो वे आन्तर चित्त की अनुकारिणी कैसे हो सकती हैं? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का वस्तुतः चित्त-स्वरूपानुकार नहीं होता, किन्तु चित्तानुकार के सदृश होने में ही तात्पर्य है। जब चित्त निरोध के अभिमुख हो जाता है, तब इन्द्रियों का भी, प्रयत्न के विना ही, निरोध हो जाता है। यही इन्द्रियों का चित्तानुकार है। इसीलिए, प्रत्याहार के लक्षण में सादृश्यार्थक इव शब्द का प्रयोग पतञ्जलि ने किया है—

'स्वविषयासम्प्रयोगे सति चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।'

—पा० सू० २।५४

यहाँ सादृश्य यह है कि जब चित्त का निरोध हो जाता है, तब इन्द्रियों का भी विषय से सम्बन्ध छूट जाता है। विषयों से सम्बन्ध छूटना ही इन्द्रियों का

चित्तानुकार है और यही प्रत्याहार है। अर्थात्, चित्त के निरोध में इन्द्रियों को विषय से विमुख करने के लिए प्रयत्नान्तर की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार, मधुमक्खियों की रानी के उड़ जाने पर सब मधुमक्खियाँ स्वयं उड़ने लगती हैं, उसी प्रकार चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियों का भी निरोध स्वयं हो जाता है। विष्णु-पुराण में भी लिखा है—

'शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायणः॥
वश्यता परमा तेन जायतेति चलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥'

अब बहिरङ्ग साधनों के बाद अन्तरङ्ग साधनों में क्रम-प्राप्त धारणा का विवेचन किया जायगा। आभ्यन्तर या बाह्य किसी एक देश में चित्त का स्थिरीकरण धारणा का अर्थ है। मूलाधार, नाभिचक्र, हृदय, पुण्डरीक, नासिका का अग्रभाग और ललाट आदि आभ्यन्तर विषय कहे जाते हैं और हिरण्यगर्भ, इन्द्र आदि देवगण या उनकी प्रतिमा बाह्य विषय कहे जाते हैं। जिस देशविशेष में धारणा की जाती है, वही ध्यान का आधार होता है। पतञ्जलि ने कहा है—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', अर्थात् देशविशेष में चित्त का दृढ सम्बन्ध ही धारणा है। अन्यत्र भी कहा है—

'हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥'

पुराणों में लिखा है—

'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥'

—वि० पु० ६।७।४५

तात्पर्य यह है कि प्राणायाम से वायु को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश में करके शुभ आश्रय में चित्त को स्थिर करे।

धारणा के बाद ध्यान की स्थिति आती है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' अर्थात्, ध्येयाकार चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही ध्यान है। चित्तवृत्ति का निरन्तर प्रवाह एक ही दिशा में हो, और किसी अन्य विषय की ओर न हो, उस अवस्था को ध्यान कहते हैं। ध्येयाकार वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान की संज्ञा दी जाती है। विष्णुपुराण में आया है—

'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्या सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥'

तात्पर्य यह है कि विषयान्तर की ओर से ध्यान-शून्य जो अखण्ड वृत्ति-प्रवाह है, उसीका नाम ध्यान है। दीर्घकाल-पर्यन्त निरन्तर श्रद्धापूर्वक योगाङ्गों के अनुष्ठान करने से समाधि के प्रतिपक्षी अविद्या आदि क्लेशों का नाश हो जाता है। अभ्यास-वैराग्य के दृढ होने से मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और ज्योतिष्मती इन चार सिद्धियों की क्रमशः प्राप्ति होती है।

सिद्धिचतुष्टय और प्रकृति-कैवल्य

ऋतम्भरा नाम की जो समाधि सिद्धि है, उसीको मधुमती भी कहते हैं। जहाँ रजोगुण और तमोगुण का लेश भी नहीं है, जहाँ बुद्धिसत्त्व केवल सुखप्रकाशमय है और जहाँ सत्त्व का स्वच्छ प्रकाश है और प्रवाह है, वहाँ ऋतम्भरा नाम की प्रज्ञा-समाधि से उत्पन्न सिद्धि 'मधुमती' कही जाती है। भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (यो० सू० १।४८)। अर्थात्, अध्यात्म-प्रसाद होने पर समाहितचित्त योगी की जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसीका नाम ऋतम्भरा है। 'ऋतं सत्यं बिभर्त्ति=धारयत्ति इति ऋतम्भरा', अर्थात् सत्य का धारण करनेवाली जो प्रज्ञा है, उसीको ऋतम्भरा कहते हैं। ऋतम्भरा को ही मधुमती कहते हैं। द्वितीय कक्षा के योगियों को यह प्रज्ञा होती है। योगी चार प्रकार के होते हैं—(१) प्राथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्तभावनीय। जिसका ज्ञान पूर्णतः परिपक्व नहीं है, वह प्राथमकल्पिक है। जिसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हो गई, वह द्वितीय अर्थात्, मधुभूमिक है। तीसरा प्रज्ञाज्योति, जो पर-वैराग्य से सम्पन्न है। चौथा है अतिक्रान्तभावनीय, जिसका कोई भी सङ्कल्प शेष नहीं रहता। जिसमें मनोजवित्वादि की प्राप्ति हो, वह मधुप्रतीका है। पतञ्जलि ने कहा है—'मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-जयश्च।' मन के सदृश शरीर का भी उत्तम गति प्राप्त होना मनोजवित्व कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त योगी जहाँ चाहे, मन की तरह, जा सकता है।

शरीर की अपेक्षा के बिना ही इन्द्रियों का अभिमत देशों में जाना विकरण-भाव है। इस अवस्था में बैठा हुआ योगी दूर या व्यवहित वस्तुओं को भी देख-सुन लेता है। कार्य-कारण, अर्थात् प्रकृति-महत्तत्वादि के ऊपर वशित्व प्राप्त करना प्रधान जय कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त योगी सकल भूत और भौतिक पदार्थों को अपनी इच्छाशक्ति से ही उत्पन्न करता है। ऐसे योगी को प्रज्ञाज्योति कहते हैं। इन्द्रियों के स्वरूप के जय से ही इन्द्रियों के कारण का जय होता है। कारणपञ्चक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व—ये ही पाँच ग्रहणादि पञ्चस्वरूप कहे जाते हैं। निश्चय, अभिमान, सङ्कल्प, दर्शन और श्रवण—ये पाँच वृत्तियाँ हैं, इन्हीं का नाम ग्रहण है।

एकादश इन्द्रियों को स्वरूप कहते हैं। अस्मिता बुद्धि और अहङ्कार को कहते हैं। कारण के अनुसन्धान का नाम अन्वय है। जैसे, घट में मृत्तिका। मनोजवित्वादि जो सिद्धियाँ हैं, उनकी मधुप्रतीका संज्ञा क्यों है, इसके ऊपर विचार करते हुए महर्षि ने कहा है कि जिस प्रकार मधु के प्रत्येक कण में माधुर्य होता है उसी प्रकार, प्रत्येक मनोजवित्वादि में मधुर स्वाद प्रतीत होता है।

विशोका सिद्धि उसको कहते हैं, जिसमें साधक प्रकृति और पुरुष का भेद समझ लेता है, और सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है। प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। प्रकाशात्मक इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के विषय जो शब्द-स्पर्शादि और उनके आश्रय जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं, उनको अप्रकाशात्मक कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि महत्तत्त्व से सूक्ष्मभूत-पर्यन्त जो कुछ भी लिङ्गशरीर आदि गुण हैं, वे पुरुष के भोगोपकरण हैं। वे जब कृतकार्य हो जाते हैं, तब पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं। उसी समय वे अपने कारण में लीन होकर प्रतिप्रसव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। बुद्धि-तत्त्व के साथ आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के कारण आत्मा अपने मूल, असङ्ग, निर्लेप-स्वरूप में जब अवस्थित हो जाता है, तब उसीको पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।

इस प्रकार के कैवल्य के बाद पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का होना असम्भव है। 'कारणाभावात् कार्याभावः।'

योग-शास्त्र के चार व्यूह

जिस प्रकार, चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भेषज (औषध) ये चार व्यूह हैं, उसी प्रकार योग-शास्त्र के भी चार व्यूह माने जाते हैं—संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय। दुःखमय संसार हेय है। प्रधान पुरुष का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रधान पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। और उसका उपाय है—सम्यग् दर्शन। प्रकृति और पुरुष के स्वाभाविक भेद का साक्षात्कार ही सम्यग्दर्शन है।

प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक इन दोनों पदार्थों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य होना और सभी पदार्थों में अपनी इच्छा के अनुकूल व्यवहार करने का सामर्थ्य प्राप्त होना विशोका सिद्धि है।

विशोका में निखिल पदार्थों का साक्षात्कार एक ही काल में हो जाता है। यही सर्वज्ञातृत्व है। पतञ्जलि ने भी कहा है—'विशोका वा ज्योतिष्मती।' अर्थात्, योग से उत्पन्न जो साक्षात्कार है, उसके तद्रूप अन्तःकरण की वृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं। शोक की नाशिका होने के कारण इसे ही विशोका कहते हैं।

जिस वृत्ति में संस्कार-मात्र ही शेष है, वह संस्कारशेषा सिद्धि है। विशोका और संस्कारशेषा ये दोनों सिद्धियाँ चतुर्थ कक्षा के योगियों को प्राप्त होती हैं। सभी वृत्तियों के प्रत्यस्तमय निरोध में पर-वैराग्य के आश्रयण से जब जाति, आयु और भोग के बीज समाप्त हो जाते हैं, अविद्या आदि क्लेश निश्शेष हो जाते हैं, असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि हो जाती है और जिसमें संस्कार-मात्र ही शेष रह जाता है, तब इस प्रकार की जो चित्त की विशेषावस्था है, उसीको संस्कारशेषा सिद्धि कहते हैं। भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'विराम प्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (यो० सू० १।१८)। अर्थात्, तत्त्वज्ञानरूपा जो सात्त्विकी चित्तवृत्ति है, उसका भी विराम हो, तथा ऐसी वृत्ति-निरोधावस्था, जिसमें संस्कारमात्र शेष रहता हो और जो सम्प्रज्ञात से भिन्न हो; वह असम्प्रज्ञात है। 'संस्कारशेषः' कहने से मोक्षावस्था से इसमें भेद सूचित होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में पुनरुत्थान के लिए वृत्ति के न रहने पर भी वृत्ति का संस्कार रहता है, और मोक्ष में चित्त के अत्यन्त विलय होने के कारण संस्कार भी नहीं रहता। यही असम्प्रज्ञात से मोक्ष में विशेषता है। इस प्रकार सर्वतः विराग उत्पन्न करनेवाले साधकों के जो क्लेश-बीज हैं, वे भूने गये धान के बीज की तरह कार्योत्पादन में असमर्थ होकर मन के साथ ही विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार, क्लेश-बीज-रूप कर्माशयों के अपने कारण में विलीन हो जानेपर प्रकृति और पुरुष का भेद-साक्षात्कार-रूप जो विवेक-ख्याति है, उसका आविर्भाव होता है। बाद में, जैसे-जैसे विवेक-ख्याति का परिपाक होता है, वैसे-वैसे शरीर और इन्द्रियों का, अपने कारणप्रधान में, लय हो जाता है। यही प्रकृति का कैवल्य है।

पुरुष-कैवल्य

एकाकित्व का ही नाम कैवल्य है। प्रकृति के कार्यभूत महत्तत्त्वादि के विलय होने से और पुरुष के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक वियोग होने से ही प्रकृति का एकाकित्व सिद्ध होता है। पुरुष का कैवल्य यह है कि आत्मा अपने समस्त औपाधिक स्वरूप को छोड़कर अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाय। इस कैवल्य के अनन्तर आत्मा का बुद्धि-सत्त्व से कभी सम्बन्ध नहीं होता। पतञ्जलि ने दो प्रकार की मुक्ति बताई है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः।

—यो० सू० ४।३४

अभिप्राय यह है कि महत्तत्त्व से सूक्ष्मभूत-पर्यन्त जो कुछ भी लिङ्गशरीर आदि गुण हैं, वे पुरुष के भोगोपकरण हैं। वे जब कृतकार्य हो जाते हैं, तब पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं। उसी समय वे अपने कारण में लीन होकर प्रतिप्रसव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। बुद्धि-तत्त्व के साथ आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के कारण आत्मा अपने मूल, असङ्ग, निर्लेप-स्वरूप में जब अवस्थित हो जाता है, तब उसीको पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।

इस प्रकार के कैवल्य के बाद पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का होना असम्भव है। 'कारणाभावात् कार्याभावः।'

योग-शास्त्र के चार व्यूह

जिस प्रकार, चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भेषज (औषध) ये चार व्यूह हैं, उसी प्रकार योग-शास्त्र के भी चार व्यूह माने जाते हैं—संसार, संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय। दुःखमय संसार हेय है। प्रधान पुरुष का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रधान पुरुष के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। और उसका उपाय है—सम्यग् दर्शन। प्रकृति और पुरुष के स्वाभाविक भेद का साक्षात्कार ही सम्यग्दर्शन है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-शास्त्र के जन्मदाता भगवान् कपिल हैं। सांख्य-शास्त्र में संक्षेपतः तत्त्वों के चार प्रकार माने गये हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति उभयात्मक, (३) केवल विकृति और (४) अनुभयात्मक[१]। केवल प्रकृति को ही मूल प्रकृति या प्रधान कहते हैं; क्योंकि यही सकल प्रपञ्च का मूल कारण है। प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति है—'प्रकर्षेण करोति=कार्यमुत्पादयति इति प्रकृतिः', जो अपने से भिन्न तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करे, वही प्रकृति है। यहाँ प्र शब्द से जो प्रकर्ष प्रतीत होता है, वह तत्त्वान्तरारम्भक[२] ही है। यहाँ शङ्का होती है कि मृत्तिका घट की प्रकृति है, इस प्रकार का व्यवहार लोक में देखा जाता है, परन्तु मृत्तिका से भिन्न घट कोई तत्त्वान्तर नहीं है, फिर भी मृत्तिका को घट की प्रकृति क्यों कहते हैं? इसका समाधान यह होता है कि यद्यपि मृत्तिका घट की प्रकृति वस्तुतः नहीं है, तथापि प्रकृति शब्द में प्रकर्ष की अविवक्षा से केवल उपादान-कारण को ही प्रकृति मानकर उक्त व्यवहार किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने से भिन्न तत्त्वान्तर को जो उत्पन्न करे, वही प्रकृति का सामान्य लक्षण है।

उक्त प्रकृति का लक्षण आठ तत्त्वों में ही घटता है। प्रधान, महत्तत्त्व, अहङ्कार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये ही आठ तत्त्व हैं। इनमें शब्द, स्पर्श आदि पञ्चतन्मात्र कहे जाते हैं। प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व प्रधान से भिन्न तत्त्व माना जाता है, इसलिए तत्त्वान्तर का उत्पादक होने के कारण प्रधान महत्तत्त्व की प्रकृति है और महत्तत्त्व प्रधान की विकृति[३]। प्रधान किसीसे उत्पन्न नहीं होता, और प्रधान से ही सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, इसीलिए प्रधान को मूल प्रकृति कहते हैं। महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इसलिए, महत्तत्त्व अहङ्कार की प्रकृति और प्रधान की विकृति सिद्ध होता है। अहङ्कार महत्तत्त्व की विकृति और पञ्चतन्मात्र की प्रकृति है। पञ्चतन्मात्र से पञ्चभूतों की उत्पत्ति है। पञ्चभूत पञ्चतन्मात्र से भिन्न तत्त्वान्तर हैं, इसलिए पञ्चतन्मात्र पञ्चभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति सिद्ध होते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति उभयात्मक कहे जाते हैं। पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन ये सोलह तत्त्व केवल विकृति-मात्र हैं; क्योंकि इनसे किसी तत्त्वान्तर की उत्पत्ति नहीं होती।

प्रकृति के स्वरूप का विवेचन

मूल प्रकृति का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों की जो साम्य-वस्था है, उसीका नाम प्रधान, मूलप्रकृति और अव्यक्त है। साम्यावस्था

---

१. प्रकृति और विकृति दोनों से भिन्न। २. जो अपने से भिन्न दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करे।
३. उत्पन्न होनेवाले कार्य को विकृति कहते हैं।

होने के कारण ही यह सत्त्व है, यह रज है, यह तम है, इस प्रकार का व्यवहार इसमें नहीं होता और इसमें क्रिया भी नहीं होती। इसलिए, ये तीन तत्त्व नहीं माने जाते। यह त्रिगुणात्मक एक ही तत्त्व माना जाता है।

सत्त्व, रज और तम ये तीनों वस्तुतः द्रव्यरूप ही हैं, गुणरूप नहीं। यहाँ शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्व, रज और तम ये द्रव्यरूप हैं, तो लोक और शास्त्र में इनका गुण-शब्द से व्यवहार क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि ये तीनों पुरुष के भोग-साधन-मात्र हैं। इसलिए, गुणीभूत होने के कारण गुण-शब्द से इनका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः, गुण नहीं हैं। क्योंकि ये गुण से भिन्न ही गुणी का स्वरूप होता है। गन्ध से भिन्न पृथिवी का गुण गन्ध होता है। परन्तु, यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो सत्त्व, रज, तम इनसे भिन्न प्रकृति का कोई स्वरूप है ही नहीं। ये तीनों प्रकृति के स्वरूप ही हैं, धर्म नहीं। इसीलिए, सूत्रकार ने सांख्य-प्रवचन में लिखा है—'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्', अर्थात् सत्त्वादि तद्रूप होने के कारण प्रकृति के धर्म नहीं हैं।

अब यहाँ दूसरी शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्वादि प्रकृति के गुण नहीं हैं, तो 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः', इस प्रकार गीता आदि स्थलों में सत्त्व, रज, तम का 'प्रकृति के गुण' शब्द से जो व्यवहार किया गया है, उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि जिस प्रकार वृक्षों के समुदाय से भिन्न कोई वन नहीं है, किन्तु वृक्ष-समुदाय को ही वन कहा जाता है, उसी प्रकार वन के ये वृक्ष हैं, इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार, सत्त्वादि के अतिरिक्त प्रकृति के न होने पर भी प्रकृति के सत्त्वादि गुण हैं, इस प्रकार का व्यवहार भी शास्त्रकारों ने किया है।

अब यहाँ तीसरी शङ्का यह होती है कि यदि सत्त्वादि प्रकृति के स्वरूप हैं, तो 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः', इस गीता-वाक्य में प्रकृतिसम्भवाः[1] यह जो सत्त्वादि का विशेषण दिया गया, वह किस प्रकार सङ्गत होगा? क्योंकि, सत्त्वादि के अतिरिक्त तो प्रकृति कोई है नहीं, जिससे इनकी उत्पत्ति सिद्ध हो।

इसका समाधान यह होता है कि प्रकृति के स्वरूपभूत जो सत्त्व, रज, तम हैं, उनका यहाँ ग्रहण नहीं है, किन्तु सत्त्वादि की साम्यावस्था को प्राप्त जो मूल प्रकृति है, उससे उत्पन्न जो वैषम्यावस्था को प्राप्त सत्त्व आदि गुण हैं, उन्हीं का यहाँ ग्रहण है। ये ही वैषम्यावस्थापन्न[2] सत्त्व, रज, तम महत्तत्त्व के कारण होते हैं। इन्हीं की उत्पत्ति उपर्युक्त गीता-वाक्य में बताई गई है। मूलप्रकृति के स्वरूपभूत साम्यावस्थापन्न जो सत्त्व, रज तम हैं, वे तो नित्य हैं, उनकी उत्पत्ति मानने से प्रकृति के नित्यत्वरूप की असिद्धि

१. प्रकृति से उत्पन्न। २. सत्त्व, रज और तम इन तीनों में प्रत्येक के साथ अनेक व्यक्ति का परस्पर सम्मिश्रण होने से जो परिणामविशेष उत्पन्न होता है, जिसमें लघुत्व आदि गुण आ जाते हैं और जिसमें यह रज है, यह तम है इत्यादि व्यवहार की योग्यता हो जाती है, उसीको वैषम्यावस्थापन्न कहते हैं।

हो जायगी। ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में होकर जब मूल प्रकृति में क्षोम का सञ्चार करते हैं, तब इसी से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। बहुत-से लोग इसको तत्त्वान्तर भी मानते हैं, जिसको मिलाकर २८ तत्त्व होते हैं।

गुणों के स्वभावों का विचार

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

—सांख्यकारिका

सत्त्व का स्वभाव लघु और प्रकाशक होता है। रज का स्वभाव चञ्चल होता है। तम गुरु और आवरण करनेवाला होता है। सत्त्वगुण और तमोगुण में स्वाभाविक क्रियाशीलता नहीं होती। जब रजोगुण का अंश उसमें मिलता है, तभी वह सक्रिय होता है। अर्थात्, सत्त्व लघु होने से ही प्रकाशक होता है, रज सक्रिय होने के कारण ही अपने-अपने कार्य में प्रवर्त्तक होता है, और तम गुरु होने से ही आच्छादक होता है।

प्रकृति के स्वरूपभूत जो सत्त्व, रज और तम हैं, वे प्रत्येकशः अनेक प्रकार के होते हैं। कोई अणु परिमाणवाले और कोई विभु परिमाणवाले होते हैं। केवल मध्यम परिमाणवाले नहीं होते; क्योंकि मध्यम परिमाण मानने से घटादि के समान सावयव होने से अनित्य होने लगेंगे, जो इनके सिद्धान्त के प्रतिकूल है। मूल प्रकृति से उत्पन्न जो वैषम्यावस्थापन्न सत्त्वादि हैं, वे मध्यम परिमाणवाले भी माने जाते हैं। अतः, सत्त्वादि अनेक प्रकार के सिद्ध होते हैं।

यहाँ एक शङ्का होती है कि यदि सत्त्वादि अनेक प्रकार के हैं, तो तीन ही क्यों कहे जाते? इसका समाधान यह होता है कि जिस प्रकार वैशेषिकों के मत में पृथिवी, जल आदि द्रव्यों में प्रत्येक के—नित्य, अनित्य, शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से—अनेक प्रकार के होने पर भी, पृथिवीत्व आदि द्रव्य-विभाजक उपाधि के नव होने से, नव ही द्रव्य माने जाते हैं, उसी प्रकार गुणत्व-विभाजक सत्त्वत्व, रजस्त्वादि उपाधि के तीन ही होने से गुण तीन ही हैं, इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है।

सांख्यतत्त्वविवेक में 'अष्टौ प्रकृतयः' सूत्र के ऊपर सत्त्व, रज और तम के अनेक प्रकार के धर्म बताये गये हैं। जैसे—सत्त्व का सुख प्रसन्नता और प्रकाश; रज का दुःख कालुष्य-प्रवृत्ति और तम का मोह, आवरण तथा स्तम्भ। इस प्रकार, सत्त्व सुखात्मक, रज दुःखात्मक और तम मोहात्मक कहा जाता है।

मूल प्रकृति का स्वरूप यद्यपि प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं है, तथापि अनुमान-प्रमाण से इसकी सिद्धि की जाती है। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होता है—महत्तत्त्व से लेकर भौतिक प्रपञ्च-पर्यन्त जितने दृश्यमान कार्य हैं, वे सब सुख-दुःख-मोहात्मक और उत्पन्न होनेवाले कार्य हैं। इसलिए, इनका कारण कोई अवश्य होगा और वह सुख, दुःख और मोहात्मक ही होगा, यह सिद्ध होता है। क्योंकि, विना कारण के कार्य होता नहीं, और कारण में जो गुण रहते हैं, वे ही कार्य में उत्पन्न होते हैं;

सर्वमान्य सिद्धान्त भी है कि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।' महदादि सकल प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक देखे जाते हैं, इसलिए इनका कारण भी सुख-दुःख-मोहात्मक द्रव्य ही सिद्ध होता है। जो-जो सुख-दुःख-मोहात्मक कार्य हैं, वे सब सुख-दुःख-मोहात्मक कार्य के परिणाम हैं। जैसे—वस्त्रादि कारण के परिणामभूत शय्या और आसनादि।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि शय्या और आसन का जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह युक्त नहीं होता। कारण यह है कि शय्या, आसनादि सुखादि के साधनमात्र हैं, सुखादिस्वरूप नहीं हैं। क्योंकि, सुख, दुःख और मोह ये सब अन्तःकरणविशेष-रूप मन के धर्म होते हैं, विषय के धर्म नहीं हो सकते।

इसका उत्तर यह होता है कि मन में जो सुख, दुःख और मोहादि धर्म हैं, वे कारणगुणपूर्वक ही होते हैं। इसलिए, मन की परम्परया कारणीभूत जो मूलप्रकृति है, उसमें सुख, दुःख, मोहादि धर्म को अवश्य मानना होगा। क्योंकि, जो गुण कारण में नहीं रहते, वे कार्य में आते ही नहीं। इसी सिद्धान्त से मूलप्रकृति में रहनेवाले सुख, दुःख और मोहादि जो धर्म हैं, वे ही उक्त न्याय[१] से अपने कार्यभूत मन में जिस प्रकार सुख, दुःख मोहादि के आरम्भक[२] होते हैं, उसी प्रकार अपने कार्यभूत पञ्चमहाभूतों में भी सुख, दुःख और मोह के आरम्भक होते हैं। इस प्रकार, भौतिक विषयों में भी सुख-दुःख-मोहादि सिद्ध होते हैं। इसीलिए, धर्म और धर्मी में अभेद-विवक्षा से शय्या और आसनादि का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह अयुक्त नहीं होता।

एक बात और है कि जिस प्रकार घट-रूप, पट-रूप, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसी प्रकार चन्दन-सुख, स्त्री-सुख, इस प्रकार की भी प्रतीति होती ही है, इससे भी विषयों में सुख-दुःखादि की सिद्धि अवश्य हो जाती है। जिस प्रकार, 'आयुर्वै घृतम्' में आयु के साधन होने से घृत को आयु माना गया है, उसी प्रकार सुखादि के साधन होने से विषयों को सुख, दुःख और मोहात्मक मानना समुचित ही है।

महत्तत्त्व-विवेचन

जिन आठ तत्त्वों को प्रकृति शब्द का वाच्य मानते हैं, उनमें द्वितीय का नाम बुद्धि-तत्त्व है; इसीको महत्तत्त्व भी कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि उत्कृष्ट गुण इसीमें पाये जाते हैं। इसलिए, यह महत्तत्त्व है। यद्यपि इसमें सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण रहते हैं, तथापि सत्त्व की प्रधानता रहती है, रज और तम तिरोहित रहते हैं। महत्तत्त्व के परिणामविशेष ही बुद्धि, मन और अहङ्कार हैं। इन तीनों को ही अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण जिस समय निश्चयात्मक वृत्ति के रूप में परिणत होता है, उस समय उसे बुद्धि कहते हैं। अभिमानात्मक वृत्ति के रूप में परिणत अन्तःकरण को अहङ्कार कहते हैं और सङ्कल्प, विकल्प तथा संशयात्मक वृत्ति में परिणत अन्तःकरण को मन कहा जाता है। मन, बुद्धि और अहङ्कारात्मक जो अन्तःकरण-रूप वृक्ष है, उसीकी अङ्कुरावस्था महत्तत्त्व है।

---

१. 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।' २. उत्पादक।

जिस प्रकार प्रधान में सत्त्वादि गुणों के न्यूनाधिक्य से अनेक प्रकार के भेद बताये गये हैं, उसी प्रकार महत्तत्त्व में भी अनेक प्रकार के भेद सिद्ध होते हैं। ब्रह्मा से स्थावर-पर्यन्त जितने जीव माने गये हैं, उनमें प्रत्येक का एक-एक उपाधिभूत महत्तत्त्व माना गया है। यद्यपि सब बुद्धि-तत्त्वों में सत्त्व-अंश प्रधान रहता है, तथापि कहीं रजोगुण अधिक उद्भूत रहता है, और सत्त्व तथा तम तिरोहित रहते हैं। कहीं सत्त्व और तम ही उद्भूत रहते हैं, और रज तिरोहित।

ब्रह्मा की उपाधिभूत बुद्धि में रजोगुण ही अधिक प्रकट रहता है, और सत्त्व-तम तिरोहित रहते हैं। विष्णु और महेश में क्रमशः सत्त्व और तम अधिक रहते हैं, और अन्य तिरोहित रहते हैं। किसी-किसी बुद्धितत्त्व में तो तमोगुण और रजोगुण इतने अधिक होते हैं कि वहाँ सत्त्व अंशतः रहता हुआ भी नहीं के बराबर प्रतीत होता है। इसलिए, वह महत् शब्द का वाच्य होता हुआ भी अधम, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य आदि अनेक दुर्गुणों से युक्त होता है। इस प्रकार की बुद्धिवाले मनुष्य धर्माचरण से बिलकुल विमुख रहते हैं।

अहङ्कार-विचार

अब अहङ्कार के विषय में विचार करते हैं। महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। बुद्धि-विशेष का ही नाम अहङ्कार है। अहन्ता (अहमाकार), इदन्ता (इदमाकार) बुद्धि को ही बुद्धि-विशेष कहते हैं। अहन्ता के बिना इदन्ता का उदय नहीं होता। इसलिए, अहन्ता बुद्धि-विशेषभूत अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। यह तृतीय तत्त्व है। महत्तत्त्व के समान अहङ्कार के भी, सत्त्वादि गुणों के उत्कर्षापकर्ष से, तीन प्रकार के भेद होते हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस और तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहाँ रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण ही उत्कृष्ट रहता है, वहीं सात्त्विक अहङ्कार की स्थिति है। सात्त्विक अहङ्कार राजस की सहायता से प्रवृत्तिधर्मी एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और मन ये ही एकादश इन्द्रियाँ हैं। पञ्चतन्मात्र में—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच आते हैं। इनके दो भेद होते हैं—सविशेष और निर्विशेष। शब्द में उदात्त, अनुदात्त, निषाद और गन्धर्व आदि विशेष गुण रहते हैं। स्पर्श में उष्णत्व, शीतत्व, मृदुत्व आदि; रूप में शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि; रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व, असुरभित्व आदि विशेष गुण रहते हैं। ये पञ्च तन्मात्राएँ क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्च महाभूतों की प्रकृति हैं। मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा मन ये सब मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। यही जीवात्मा है। इससे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर सांख्य-मत में नहीं माना जाता। जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न है। यदि जीवात्मा को भिन्न-भिन्न न माना जाय, तो एक के बद्ध होने पर सबको बद्ध, एक के मुक्त होने पर सबको मुक्त, एक को सुखी होने पर सबको सुखी, एक को दुःखी होने पर सबको दुःखी मानना होगा। इसलिए, सांख्य-प्रवचन में लिखा है—'जन्मादि-व्यवस्थातः

पुरुषबहुत्वम्'। यही जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् भी कहा जाता है।

वैशेषिकों के मत में द्रव्यगुणादि जो सात पदार्थ माने गये हैं, उन सबका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है। यथा—पृथिवी आदि नव पदार्थों में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन इन छह पदार्थों का तत्तत् नाम से ही निर्देश किया गया है। आत्मा का पुरुष पद से निर्देश किया गया है। इनके मत में दिक् और काल का आकाश में ही अन्तर्भाव माना गया है। सूत्रकार ने भी लिखा है—'दिक्कालावाकाशादिभ्यः'। अर्थात्, दिक् और काल आकाश से ही सिद्ध हो जाते हैं।

गुण, कर्म और सामान्य को द्रव्य से अतिरिक्त कोई पदार्थ सांख्यकार नहीं मानते। इसलिए, विशेष और समवाय भी इनके मत में अनुपयुक्त ही हैं। अभाव भी इनके मत में भावान्तर-स्वरूप ही है। जैसे, घट का प्रागभाव मृत्तिका-स्वरूप ही है। उसका प्रध्वंसाभाव घट का खण्ड-स्वरूप है। घट का अत्यन्ताभाव अधिकरण (भूतल)-स्वरूप है। घट का अन्योन्याभाव पटादि-रूप है। इसलिए, अभाव भी इनके मत में नहीं माना जाता।

सांख्यीय सृष्टि-क्रम

सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में सांख्य का स्वतन्त्र विचार है। सृष्टि के आदिकाल में स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाली केवल मूल प्रकृति ही थी। वह प्रवृत्तिस्वभाव होने के कारण स्वयं क्षुब्ध होकर पुरुष-विशेष-संज्ञक जीव-विशेष, जो नारायण पदवाच्य है, के साथ संयुक्त होती है। इसके बाद अन्य सजातीय प्रकृति के अंशों के साथ, न्यूनाधिकभाव से, मिलकर महत्तत्त्व का आरम्भ करती है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', अर्थात् पुरुष असङ्ग है, तब वह प्रकृति के साथ संयोग कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि विकार का हेतु जो संयोग है, पुरुष में उसीका अभाव श्रुति बताती है। प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग होने पर भी पुरुष में विकार नहीं होता। वह 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' बना रहता है।

महत्तत्त्व चेतन और अचेतन उभयात्मक माना जाता है। प्रकृति से अचेतन अंश की ही मुख्य उत्पत्ति मानी जाती है। चेतन-अंश की अभिव्यक्ति-मात्र होती है। चेतन (पुरुष) का प्रतिबिम्ब ही महत्तत्त्व में भासित होता है। इसलिए, इसकी उत्पत्ति गौण मानी गई है। इसी प्रकार, सृष्टि के आरम्भ में महत्तत्त्व के कारणीभूत विषम अवस्थावाले गुणत्रय के सम्बन्ध से जीवविशेषभूत आदिशक्ति भी अभिव्यक्त होती है। यही प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी है। इसका नाम महालक्ष्मी, दुर्गा, भवानी, भगवती आदि पुराणों में प्रसिद्ध है। जीव में रहनेवाली जितनी विशेषताएँ हैं, वे प्रधानादि उपाधि के सम्बन्ध से ही भासित होती हैं। इसलिए, ये सब औपाधिक कहे जाते हैं। इसके पहले औपाधिक विशेषताओं से रहित निर्विशेष जीवसमष्टिरूप है, उसीको ब्रह्म कहते हैं और उपाधिविशिष्ट सविशेष जीवसमष्टि को स्वयम्भू कहते हैं।

विशेषता केवल उपाधि-प्रयुक्त ही है, जीव का धर्म नहीं। जीव की उपाधि लिङ्ग-शरीर ही है। बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चमहाभूतों के समुदाय को लिङ्ग-शरीर कहते हैं।

कहीं-कहीं सत्रह तत्त्वों के समुदाय को ही लिङ्ग-शरीर कहा गया है। उनके मत में अहङ्कार का बुद्धि में ही अन्तर्भाव माना जाता है। बुद्धि का जो वृत्तिभेद है, उसीका नाम प्राण है। यह कोई भिन्न तत्त्व नहीं माना जाता। आत्मचैतन्य की अभिव्यक्ति उपाधि में ही होती है, अतः आत्मचैतन्याभिव्यक्ति का आधार उपाधि ही होती है। जिस प्रकार, अग्नि की अभिव्यक्ति का आधार ईन्धन ही होता है। सबसे पहले यह लिङ्ग-शरीर स्वयम्भू का उपाधिभूत एक ही होता है। बाद में उसके अंशभूत व्यष्टिलिङ्ग-शरीर व्यष्टि जीवों की उपाधि होकर अनेक प्रकार से विभक्त होते हैं। जैसे—पिता के लिङ्ग-शरीर से अनेक पुत्र के लिङ्ग-शरीर उत्पन्न होते हैं। यही स्वयम्भू अपने सूक्ष्म लिङ्ग-शरीरावयवों को अपने सूक्ष्म चैतन्यांशों से संयुक्तकर सब प्राणियों की सृष्टि करता है। जीव वस्तुतः परस्पर भिन्न ही हैं।

यहाँ शङ्का यह होती है कि यदि व्यष्टिलिङ्ग-शरीर-रूप उपाधि के संयुक्त होने से ही जीवसंज्ञा होती है, तो जीवों में भेद भी उपाधिकृत ही होना चाहिए, स्वाभाविक भेद मानना युक्त नहीं होता। इसका उत्तर यह होता है कि उपाधि से जीवों में अविद्यमान भेद उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जैसे विद्यमान घटादि पदार्थ दीप के प्रकाश से अभिव्यक्त होता है, वैसे विद्यमान जीवगत स्वाभाविक भेद भी शरीर आदि उपाधि से ही अभिव्यक्त होता है; क्योंकि जीवगत परस्पर भेद स्वाभाविक ही होता है। पूर्वोक्त स्वयम्भू को स्थूलशरीरोपाधि से विशिष्ट होने के कारण नारायण कहते हैं। स्थूल शरीर क्या है? और इसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? इस सम्बन्ध में सांख्य का अपना स्वतन्त्र विचार है, जिसको आगे दिखाया जा रहा है।

महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है, अहङ्कार से तन्मात्राएँ। अहङ्कार महत्तत्त्व का दशमांश होता है। अहङ्कार से उत्पन्न तन्मात्राओं में शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न जो आकाश है, वह अहङ्कार का दशमांश होता है। आकाश का दशमांश वायु, वायु का दशमांश तेज, तेज का दशमांश जल और जल का दशमांश पृथिवी, यही स्थूल-शरीर का बीज है। यही बीज अण्ड-रूप में परिणत होता है। उसी अण्ड में चतुर्दशभुवनात्मक स्वयम्भू का शरीर रहता है। यही स्थूलशरीरोपाधिविशिष्ट होने से नारायण-पद का वाच्य होता है।

इन्द्रियों के पहले तन्मात्राएँ होती हैं, या तन्मात्राओं के पहले इन्द्रियाँ, अथवा कौन सी इन्द्रिय किसके पहले उत्पन्न हुई, इसमें कोई क्रम-नियम नहीं होता। केवल तन्मात्राओं की उत्पत्ति में क्रम-नियम रहता है। सबसे पहले तामस अहङ्कार से शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। उस अहङ्कारसहित शब्दतन्मात्रा से शब्द और स्पर्श दोनों गुणोंवाली स्पर्शतन्मात्रा उत्पन्न होती है, और अहङ्कारसहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंवाली रूपतन्मात्रा उत्पन्न होती है। अहङ्कारसहित रूपतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श और रस गुणोंवाली रसतन्मात्रा उत्पन्न होती है। अहङ्कारसहित रसतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श,

रूप, रस और गन्ध गुणोंवाली गन्धतन्मात्रा उत्पन्न होती है। इन पञ्चतन्मात्राओं से ही क्रमशः उत्तरोत्तर एक अधिक गुणवाले आकाशादि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय मन तथा पञ्चमहाभूत ये मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। पुरुष प्रकृति-विकृति के अतिरिक्त असङ्ग और निर्लेप होता है। इसको मिलाकर सांख्य-मत में कुल पचीस तत्त्व होते हैं।

इस प्रकार मूलतः दो ही तत्त्व हैं—एक चित्, दूसरा अचित्; अर्थात् पुरुष और प्रकृति। इन दोनों के अभेद-ज्ञान से ही पुरुष बद्ध होता है। और, इन दोनों के भेदज्ञान के विवेक से ही पुरुष मुक्त होता है। सारांश यह कि पुरुष और प्रकृति के अविवेक-ज्ञान से ही बन्धन और विवेक-ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इसी भेद-ज्ञान के लिए ही मूलप्रकृति के परिणामस्वरूप महदादि तत्त्वों की सङ्कलना की गई है। अन्यथा, आत्मा के उपाधिभूत जो बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि हैं, उनसे आत्मा का विवेक-ज्ञान नहीं होता। इन सब तत्त्वों का परिगणन सांख्यकारिका के एक ही श्लोक में किया गया है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारः न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥'

भाव यह है कि मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं होती। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों होते हैं। महत्तत्त्व अहङ्कार की प्रकृति और मूलप्रकृति की विकृति है। एवं अहङ्कार भी महत्तत्त्व की विकृति और तमोगुण के अधिक प्रकट होने से शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति भी होता है। और, यही अहङ्कार-तत्त्व सत्त्व-गुण के अधिक होने से श्रोत्र, त्वक्, अक्षि, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों और मन की प्रकृति होता है। रजोगुण ही सत्त्व और तम में क्रिया का उत्पादन करता है। इसलिए, इसका भी कारणत्व माना जाता है। उक्त सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं। इनके अतिरिक्त सोलह तत्त्व केवल विकृति होते हैं; क्योंकि इनसे किसी तत्त्वान्तर की उत्पत्ति नहीं होती। पुरुष प्रकृति और विकृति कुछ भी नहीं है। वह असङ्ग, निर्गुण और निर्लेप है। मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं होती, कारण यह है कि उसको विकृति मानने से उसका कोई अन्य कारण मानना होगा। पुनः उसके कारणान्तर मानने में अनवस्था दोष हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने भी लिखा है—'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'। अर्थात्, मूलप्रकृति अमूल है। इसमें कोई कारण नहीं है। ऊपर लिख चुके हैं कि रजोगुण ही सत्त्व और तम में क्रिया का सञ्चालन करता है। ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यकारिका में इस विषय में लिखा है—

'अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादश कारणगणस्तन्मात्रा पञ्चकश्चैव॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥'

इन कारिकाओं का वाचस्पति मिश्र ने भावार्थ लिखा है कि अभिमान को ही अहङ्कार कहते हैं। अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक प्रकाशक दूसरा जड़। प्रकाशक इन्द्रियाँ हैं, और शब्दादि पञ्चतन्मात्र जड़। यहाँ शंका होती है कि एक ही अहङ्कार से प्रकाशक और जड़ इन दो प्रकार की विलक्षण सृष्टि किस प्रकार होती है ? इसके उत्तर में उपर्युक्त कारिकाकार कहते हैं कि 'सात्त्विक एकादशकः" तात्पर्य यह है कि एक ही अहङ्कार सत्त्व, रज और तम इन तीन के उत्कर्ष और अपकर्ष से तीन प्रकार का होता है। उनमें सत्त्व के आधिक्य से सत्त्वप्रधान वैकृत कहा जाता है। तमोगुण के आधिक्य से तमःप्रधान भूतादि कहा जाता है। और रजोगुण के आधिक्य से रजःप्रधान तैजस कहा जाता है। प्रकृत में वैकृतसंज्ञक सत्त्वप्रधान अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए, इनको भी सात्त्विक कहा जाता है। भूतादि नाम का जो तामस अहङ्कार है, उससे पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। रजःप्रधान जो तैजस अहङ्कार है, उसका दूसरा कोई कार्य नहीं है। अर्थात्, तैजस अहङ्कार किसी तत्त्वान्तर का स्वतन्त्र कारण नहीं होता। किन्तु, वैकृत और भूतादिक सहायकमात्र होते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण और तमोगुण समर्थ होने पर भी तबतक कुछ भी नहीं कर सकता, जबतक कि रजोगुण उसका सञ्चालन न करे। इसलिए, उक्त कारिका में 'तैजसादुभयम्' कहा गया है।

'बुद्धीन्द्रियाणि' में इन्द्र शब्द आत्मा का वाचक होता है। इन्द्रस्य (आत्मनः) लिङ्गम् (ज्ञापकम्), इस व्युत्पत्ति से इन्द्रिय शब्द का अर्थ आत्मा का ज्ञापक होता है; क्योंकि इन्द्रिय-प्रवृत्ति के द्वारा ही आत्मा का अनुमान किया जाता है। इन्द्रिय शब्द सात्त्विक अहङ्कार के कार्य में ही योगरूढ माना गया है, इसलिए अहङ्कार में उसकी अतिव्याप्ति नहीं होती। मन के तीन विशेषण दिये गये हैं—उभयात्मक, संकल्प और इन्द्रिय।

मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के प्रवर्त्तक होने से, उभयात्मक है। सङ्कल्प का तात्पर्य है—सम्यक् कल्पना करनेवाला, अर्थात् जहाँ विशेष्य-विशेषण भाव से अच्छी प्रकार कल्पना की जाय। मनःसंयुक्त इन्द्रिय के द्वारा पहले सामान्य रूप से ही वस्तु का ज्ञान होता है। बाद में यह इस प्रकार का है, इस प्रकार का नहीं है, इसमें यह विशेषता है, इस प्रकार सम्यग् विवेचन करना मन का कार्य है। जैसे, अन्य इन्द्रियाँ सात्त्विक अहङ्कार के कार्य हैं, वैसे मन भी सात्त्विक अहङ्कार का कार्य है, इसीलिए यह मन भी इन्द्रिय कहा जाता है। आकाश आदि पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ—ये सोलह तत्त्व केवल विकृति कहे जाते हैं। ये किसी की प्रकृति नहीं होते।

भौतिक पदार्थ और तत्त्व

अब भौतिक पदार्थों का तत्त्व में परिगणन क्यों नहीं किया गया, इस बात को दिखाया जाता है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार विवेक-ज्ञान से ही मोक्ष-सिद्धि मानी गई है। विवेक का अर्थ है चित् और अचित् में भेद का ज्ञान। भेद का ज्ञान प्रतियोगी और अनुयोगी

ज्ञान का सापेक्ष ही होता है। जिसका भेद होता है, वह प्रतियोगी कहा जाता है। और जिसमें भेद होता है, वह अनुयोगी कहा जाता है। जैसे—गो का भेद अश्व में है, यहाँ गो प्रतियोगी और अश्व अनुयोगी होता है। गो और अश्व के ज्ञान के विना गो और अश्व में भेद का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृत में, प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व माने जाते हैं। क्योंकि, इन्हीं के विवेक-ज्ञान से मोक्ष होता है। अतः, 'तत्त्वज्ञानान्मोक्षः' यह प्रवाद सङ्गत होता है। इसीलिए, विवेक-ज्ञान में प्रतियोगितया अथवा अनुयोगितया जिसका सम्बन्ध रहे, वही तत्त्व का सामान्य लक्षण सिद्ध होता है। अतएव, प्रकृति-पुरुष का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक होता है।

मूलप्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका ज्ञान होना असम्भव है। इतना ही नहीं, प्रकृति का साक्षात् कार्य महत्तत्त्व, महत्तत्त्व का कार्य अहङ्कार और उसका कार्य पञ्चतन्मात्र ये सात तत्त्व भी सूक्ष्म ही हैं। इसलिए, इनका भी विशद रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं। प्रकृति की परम्परा में इन्द्रियों या भूतों के समूह में इन सोलह विकारों को विशद रूप से जाना जा सकता है। सोलह विकारों का विशद रूप से ज्ञान होने पर उनसे भिन्न पुरुष में भेद-ज्ञान होना सुकर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि षोडश विकारों से पुरुष में भेद सिद्ध होने पर, उनका मूल कारण जो मूलप्रकृति है, उससे भी पुरुष में भेद-ज्ञान अवश्य सिद्ध हो जाता है।

अश्व, घट आदि जो भौतिक पदार्थ हैं, उनके अनन्त होने के कारण उनका विशद रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है। और भी, मोक्ष के साधनभूत भेद-ज्ञान में भौतिक गो-घटादि का ज्ञान आवश्यक भी नहीं है। कारण यह है कि पृथिवी आदि भूतों के साथ आत्मा के भेद-ज्ञान होने पर भौतिक घटादि के साथ भेद-ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं रहती। क्योंकि, पुरुष निर्विशेष है, उसका विधि-मुख से ज्ञान नहीं हो सकता। अर्थात् यह स्थूल है, नील है, पीत है, इस प्रकार विधि-मुख से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु, यह (आत्मा) नील नहीं है, पीत नहीं है, इत्यादि निषेध-मुख से ही इसका ज्ञान होना सम्भव है।

अब यहाँ यह विचारना है कि जब यह (आत्मा) स्थूल नहीं है, नील नहीं है, पीत नहीं है, इत्यादि निषेध-ज्ञान से आत्मा में इन्द्रियग्राह्य समस्त गुणों का निषेध हो जाता है, तो फिर कौन-सा विशेष गुण पुरुष में रह जाता है, जिसके निषेध के लिए भौतिक गोघटादि के ज्ञान की आवश्यकता हो?

सिद्ध है कि मोक्षसाधनीभूत विवेक-ज्ञान में भौतिक पदार्थों का प्रतियोगितया या अनुयोगितया किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। और, जिसका मोक्षसाधन-विवेक में प्रतियोगितया या अनुयोगितया सम्बन्ध रहता है, वही वास्तविक तत्त्व कहा जाता है, यह पहले भी लिख चुके हैं। इसीलिए, भौतिक पदार्थों की गणना तत्त्वान्तर में नहीं की गई।

अब यहाँ यह समझना चाहिए कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी इन पञ्च महाभूतों की

उत्पत्ति होती है। इसमें यह विशेषता है कि उत्तरोत्तर भूतों में एक-एक अधिक गुण हो जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्व-पूर्व सूक्ष्मभूतसहित तन्मात्राओं से ही उत्तरोत्तर भूत उत्पन्न होते हैं। अतः, पूर्व सूक्ष्मभूत गुण भी उत्तरभूतों में आ जाते हैं। जैसे, केवल शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति हुई, इसलिए आकाश में एक शब्द ही गुण हुआ। सूक्ष्म आकाशसहित स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न हुआ, इसलिए वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हुए। इसी प्रकार, सूक्ष्म आकाश और वायुसहित रूप-तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति हुई। इसीलिए, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण हुए। इसी प्रकार, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध ये चार गुण, और पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण। पूर्व-पूर्व सूक्ष्मभूतों के कारण ही उत्तरोत्तर भूतों में एक-एक अधिक गुण हो जाता है। वैकृत सात्त्विक अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले ही बता चुके हैं।

इन तत्त्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्यकारिका कहती है—

'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥'

भावार्थ यह है कि प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से सोलह गण उत्पन्न होते हैं। पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन ये सब मिलकर सोलह होते हैं। ये ही प्रकृति से भूत-पर्यन्त चौबीस तत्त्व हुए। इनसे भिन्न पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। इन पचीस तत्त्वों के साधक तीन प्रमाण होते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। सांख्यकारिका में भी लिखा है—

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥'

भावार्थ यह है कि दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (शब्द) ये ही तीन प्रमाण सर्वप्रमाण से सिद्ध हैं। और, प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के ही अधीन है। इन तीन प्रमाणों में ही उपमानादि अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण यह है कि विषय-सन्निकृष्ट जो इन्द्रिय है, उसके साथ मन के विषय-देश में जायमान जो विषयाकार वृत्ति है, वही प्रत्यक्ष-प्रमाण है। जब मन विषय-देश में जाता है, तभी वह विषयाकार में परिणत हो जाता है, उसी परिणामविशेष का नाम वृत्ति है और इन्द्रियसन्निकृष्ट विषयाकार में परिणत मन की वही वृत्ति है प्रत्यक्ष-प्रमाण। आत्मा के व्यापक होने के कारण उसी विषय-देश में मन की वृत्ति का प्रतिबिम्ब उस (आत्मा) में पड़ता है। उसी वृत्ति-प्रतिबिम्ब से युक्त चैतन्य का नाम प्रत्यक्ष-प्रमाण है। इसी प्रकार व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न साध्यविशिष्ट पक्ष के आकार में परिणत जो मन की वृत्ति है, वही अनुमान-प्रमाण है। और, उसी वृत्ति-प्रतिबिम्ब से युक्त आत्मचैतन्य का नाम अनुमिति है। इसी प्रकार, आप्तवाक्य से जन्य पदार्थ-संसर्गाकार में परिणत जो मन की वृत्ति है, वही शब्द-प्रमाण है और उसी वृत्ति-प्रतिबिम्ब से युक्त आत्मचैतन्य का नाम शाब्दप्रमा या शाब्दबोध है।

परोक्षत्व, अपरोक्षत्व, स्मृतित्व, संशयत्व और विपर्ययत्व आदि जो धर्म हैं, वे सब मनोवृत्ति के ही धर्म हैं और वे केवल वृत्ति के प्रतिबिम्ब-रूप उपाधि के वश से आत्मचैतन्य में भासित होते हैं। आत्मचैतन्य तो असङ्ग और निर्लेप है। उपर्युक्त जो तीन प्रमाण हैं, उन्हींके द्वारा पच्चीस तत्त्वों को सिद्ध करना है। उनमें प्रथम जो प्रधान तत्त्व है, उसका साधक अनुमान-प्रमाण ही है। वह भी 'सतः सज्जायते' इस कार्यकारण-भाव के आधार पर ही होता है।

सत् और असत् की उत्पत्ति का विवेचन

'सतः सज्जायते' इस कार्यकारण-भाव के व्यवस्थापनार्थ चार प्रकार की विप्रतिपत्ति आचार्यों ने दिखलाई है। अर्थात्, कार्यरूप समस्त जगत् और इसके मूल कारण के, इन दोनों के सत्त्व और असत्त्व के भेद से, चार पक्ष होते हैं—(१) असतः असज्जायते। (२) असतः सज्जायते। (३) सतः असज्जायते। (४) सतः सज्जायते। इन चार पक्षों में प्रथम पक्ष तो अत्यन्त असङ्गत है; क्योंकि असत्पदार्थों के साथ कार्यकारण-भाव शश-विषाण के समान असम्भव है। असत् से सत् उत्पन्न होता है, यह द्वितीय पक्ष बौद्धों का है। वे लोग समस्त भाव-पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। और क्षणिक भाव-पदार्थों में कार्यकारण-भाव हो नहीं सकता। कारण यह है कि कार्य-क्षण में कारण नहीं रहता, और कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। इसलिए, पूर्व क्षणिक भाव का जो विनाश (अभाव) है, उसीको उत्तर क्षणिक भाव का कारण अगत्या स्वीकार करना ही होगा। बौद्धों के मत में कार्यों की सत्ता क्षणिक अवस्थिति-रूप ही है। इनके मत में ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जिसका कभी बाध न हो।

सत्-कारण से असत्-कार्य की उत्पत्ति मायावादी वेदान्ती मानते हैं। परन्तु, सांख्यकारों के मत में सकल मिथ्याप्रपञ्च का कारण एक सद्ब्रह्म ही है। उसके कार्यभूत सकल प्रपञ्च उसीका विवर्त्त है। इनके मत में प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। इसलिए, प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता होने पर भी पारमार्थिक सत्ता के न होने से प्रपञ्च-रूप कार्य असत् ही है। अतः, 'सतः असज्जायते' यह सिद्धान्त इनके मत से सिद्ध हो जाता है। इनके मत में पारमार्थिक सत्यत्व न न होने से ही प्रपञ्च असत् माना जाता है, शश-विषाण के समान अत्यन्त तुच्छ होने से नहीं। इसलिए, कार्य की उत्पत्ति इनके मत से असङ्गत नहीं होता; क्योंकि प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता तो ये मानते ही हैं।

'सतः सज्जायते' यह चतुर्थ पक्ष सांख्य का ही है। सत्-कारण से सत्-कार्य की उत्पत्ति ये मानते हैं। नैयायिकों का भी प्रायः यही मत है। भेद केवल इतना ही है कि नैयायिक, कार्य के विनाशी होने पर भी उसके कुछ काल-पर्यन्त अवस्थित रहने से ही, उसे पारमार्थिक सत्य मानते हैं। और, सांख्य लोग, जिसका तीनों काल में कभी बाध न हो, इस प्रकार का कालत्रयाबाध्यत्वरूप सत्यत्व मानते हैं। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि नैयायिक लोग भी कार्योत्पत्ति के पहले कार्य की सत्ता नहीं मानते।

इनका कहना है कि अविद्यमान (असत्) जो घटादि कार्य हैं, वे मृदादि कारण-कलाप से उत्पन्न होते हैं। वैशेषिकों का भी यही मत है। इसलिए, सत्-कारण से असत्-कार्य की उत्पत्ति नैयायिक और वैशेषिक दोनों का अभिमत है।

अब यहाँ यह विचारना है कि असत् तो शश-विषाण के समान तुच्छ है। इसलिए, वह किसी का उपादान नहीं हो सकता। और, पूर्व क्षणिक घट का अभाव ही उत्तर क्षणिक घट का कारण बौद्ध मानते हैं। अभाव के स्वरूपरहित (तुच्छ) होने के कारण भावरूप घटादि के साथ तादात्म्य भी नहीं बनता। और तादात्म्य न होने से उपादानोपादेय भाव भी नहीं सिद्ध होता। एक बात और भी है कि अभाव को कारण मानने से हर जगह कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि, किसीका अभाव तो हर जगह रहता ही है। इसलिए, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं माननी चाहिए। इसी प्रकार, सत् से भी असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। असत् घटादि कार्य सत् मृदादि कारण से उत्पन्न होता है, यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। परन्तु, यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि सत्ता के साथ सम्बन्ध का ही नाम उत्पत्ति है। और, सम्बन्ध दो विद्यमान पदार्थों के ही साथ होता है। सत् और असत् के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। असत् शश-विषाण के साथ अमुक व्यक्ति का सम्बन्ध हो गया, इस प्रकार कहना उन्मत्त-प्रलाप ही कहा जायगा। इसी प्रकार असत् घटादि पदार्थ कुलालादि कारण-व्यापार से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। इसका कारण अभी बता चुके हैं कि दो सत् पदार्थों के साथ ही सम्बन्ध होता है, और सत्ता के साथ सम्बन्ध का ही नाम उत्पत्ति है।

यदि यह कहें कि सत्त्व और असत्त्व ये दोनों घटादि के धर्म हैं, जिस प्रकार कटकत्व धर्मवाला सुवर्ण सुवर्णकार के व्यापार से कुण्डलत्व धर्मवाला हो जाता है, उसी प्रकार असत्त्व धर्मवाला घटादि (घटाभाव) भी कुलाल-व्यापार से सत्त्वधर्मविशिष्ट सत् घट हो जाता है। यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि यदि असत्त्व का कार्य घटादि का धर्म मानते हैं, तो धर्म धर्मी (आश्रय) के विना रह नहीं सकता, इसलिए असत्त्व धर्म का आश्रय उत्पत्ति से पहले मानना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि धर्म निराश्रय कहीं नहीं रहता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उत्पत्ति से पहले भी कार्य कारण-रूप में विद्यमान ही रहता है।

यहाँ एक दूसरी शङ्का होती है कि घटादि कार्य उत्पत्ति से पहले यदि सिद्ध ही है, तो उसकी उत्पत्ति के लिए कुलालादि व्यापार की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह होता है कि कुलालादि व्यापार से केवल घट की अभिव्यक्ति होती है। कारक-व्यापार के पहले कारणरूप में अनभिव्यक्त घट बाद में कारक-व्यापार से अभिव्यक्त (प्रकट) हो जाता है। जिस प्रकार, तिल-समूह में अनभिव्यक्त जो तैल है, वही निपीडन-व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है। और, गो-स्तन में वर्त्तमान दुग्ध ही दोहन-व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है। जिस प्रकार निपीडन और दोहन केवल अभिव्यञ्जक होने से ही तैल और दुग्ध का कारण कहा जाता है, उसी प्रकार दण्डादि भी घटादि के अभिव्यञ्जक होने से घटादि के कारण कहे जाते हैं।

असत् की उत्पत्ति में कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। इसलिए, कार्य कभी असत् नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि असत् घटादि ही कारण-व्यापार से उत्पन्न होता है, यही दृष्टान्त विद्यमान है, तो इसका उत्तर यह होता है कि यदि उभय पक्ष सम्मत दृष्टान्त हो, तो वह मान्य होता है। उक्त दृष्टान्त सांख्यों का अभिमत नहीं है। ये किसी प्रकार भी असत् कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते। केवल सत् घट की अभिव्यक्ति ही इनके मत में मान्य है।

दूसरी युक्ति यह है कि मृत्तिका आदि कारण घटादि कार्य से सम्बद्ध होकर घटादि कार्य का उत्पादक होता है, अथवा असम्बद्ध होकर ही? यदि कार्य से सम्बद्ध कारण को कार्य का उत्पादक मानें, तो तत्सम्बन्धी घट कारण-व्यापार से पहले सत् सिद्ध हो जाता है; क्योंकि 'सतोरेव सम्बन्धः' यह नियम सर्वमान्य है। यदि कार्य से असम्बद्ध कारण को उत्पादक मानें, तब तो मृदादि कारण से पटादि कार्य की भी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि घट के समान पट भी असम्बद्ध ही है।

इसी बात को प्रकारान्तर से सांख्याचार्यों ने लिखा है—

> 'असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
> असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

इसका तात्पर्य यह है कि नैयायिक उत्पत्ति से पहले कार्य की सत्ता नहीं मानते हैं। इससे सत्त्वसङ्गी अर्थात् सत्त्वविशिष्ट मृदादि कारणों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि कार्य से असम्बद्ध कारण को ही कार्योत्पादक मान लें, तो मृदादि कारण से घटादि कार्य की ही उत्पत्ति होगी, पटादि की नहीं; इस प्रकार की जो व्यवस्था है, वह नहीं हो सकती।

इस पर नैयायिकों का यह कहना है कि कार्य के साथ असम्बद्ध वही कारण कार्य का उत्पादक हो सकता है, जिस कार्य के उत्पादन करने में वह समर्थ हो। दूसरे शब्दों में जिस कारण में जिस कार्य के उत्पादन करने की शक्ति रहती है, वही कारण उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है, दूसरा नहीं। जैसे, मृदादि कारण में घटादि के ही उत्पादन करने की शक्ति रहती है, पटादि की उत्पादन-शक्ति नहीं रहती, इसलिए मृदादि घटादि को ही उत्पन्न करता है, पटादि को नहीं। कारणगत उत्पादकत्व-शक्ति का ज्ञान कार्य देखकर ही होता है। मृदादि कारण से पटादि कार्य की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती, इसलिए मृदादि से पटादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु, सांख्यकारों का यह कहना है कि तैलोत्पत्ति के पहले तिल में विद्यमान जो तैलोत्पादकत्व-शक्ति है, उसका ज्ञान तैल की उत्पत्ति देखकर, पीछे अनुमान से, होता है, इसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु, उत्पत्ति से पहले तिल में रहनेवाली जो तैलोत्पादकत्व-शक्ति है, वह उत्पत्ति के पहले तैल से सम्बद्ध है, अथवा नहीं, यह विकल्पदोष पूर्ववत् रह जाता है। क्योंकि, यदि सम्बद्ध कहें, तो उत्पत्ति से पहले कार्य की सिद्धि हो जाती है, और यदि असम्बद्ध कहें, तो यह तैलोत्पादकत्व-

शक्ति है, ऐसा निरूपण नहीं कर सकते। कारण यह है कि असम्बद्ध हेतु साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता।

एक बात और है कि सांख्य के मत में कार्य-कारण में भेद नहीं माना जाता। अर्थात्, कारणगत जो सत्ता है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई कार्य की सत्ता है, यह नहीं माना जाता। इस अवस्था में तैलादि की उत्पत्ति के पहले कारण की सत्ता रहने से उससे अभिन्न कार्य की भी सत्ता मानना इनके मत में आवश्यक हो जाता है। इसलिए, इनका सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है।

कार्यकारण-भाव के अभेद होने में अनुमान ही प्रमाण दिया जाता है। जैसे, पट-रूप कार्य (पक्ष) तन्तु से भिन्न नहीं है (साध्य), पट के तन्तु-धर्म होने से (हेतु) जो, जिससे अभिन्न नहीं होता वह उसका धर्म भी नहीं है (व्याप्ति), जैसे अश्व गो का धर्म नहीं होता (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि इनके मत में तन्तु आदि कारण के ही धर्म पट आदि कार्य माने जाते हैं। उससे भिन्न कोई कार्य नहीं होता। यदि यह कहें कि तन्तु-स्वरूप ही यदि पट है, तो प्रावरण का कार्य तन्तु से ही क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह होता है कि अवयव-सन्निवेश-विशेष के भेद से जब तन्तु में पटभाव का आविर्भाव हो जाता है, तभी उसमें शीतापनोदन आदि प्रावरण का कार्य होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, प्रावरण का कार्य तन्तु से नहीं होता। जिस प्रकार, कूर्म का अङ्ग उसके शरीर में प्रविष्ट रहता हुआ तिरोहित रहता है, और बाहर आने पर आविर्भूत होता है, उसी प्रकार विद्यमान भी तन्तु-रूप कारण तिरोहित रहने से कूर्माङ्ग के समान प्रतीत नहीं होता। इनके मत में वस्तु का आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है, नाश नहीं।

इसी बात को प्रकारान्तर से गीता में भी लिखा है—

'नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।'

इसका तात्पर्य यह है कि असत् वस्तु की उत्पत्ति और सत् वस्तु का विनाश कभी नहीं होता। दूसरे शब्दों में, जो सत्य है, वह सदा सत्य ही रहता है, और जो असत् है, वह सदा असत्य ही रहता है। इस प्रकार, नैयायिकों के मत का खण्डन कर अद्वैत वेदान्तियों के मत का खण्डन करने के लिए उनके मत का दिग्दर्शन कराया जाता है।

वेदान्तियों का मत है कि सत्-ब्रह्म में असत् प्रपञ्च का विवर्त होता है। विवर्त उसे कहते हैं कि जो अपने स्वरूप को न छोड़कर भी स्वरूपान्तर से भासित हो। जैसे, शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प। जिस प्रकार शुक्ति और रज्जु अपने स्वरूप को विना बदले रजत और सर्प के रूप में भासित होता है, उसी प्रकार सद्ब्रह्म भी असत्, प्रपञ्च रूप से भासित होता है। यहाँ सांख्यों का कहना है कि यह ठीक नहीं है। कारण यह है कि शुक्ति और रजत का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि, 'नेदं रजतम्', 'नायं सर्पः' इस ज्ञान से रजत और सर्प का बोध हो जाता है, इसलिए रजत और सर्प को विवर्त्त मानना युक्त हो सकता है। परन्तु, 'नायं प्रपञ्चः', इस ज्ञान से प्रपञ्च का बाध नहीं होता। अतः, प्रपञ्च विवर्त (भ्रम) नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि विवर्त्त का हेतु सारूप्य ही होता है, वैरूप्य नहीं। जैसे, शुक्ति और रजत में सारूप्य होने से ही विवर्त्त होता है। कहीं भी वृक्षादि विरूप में रजत का विवर्त्त नहीं होता। प्रकृत में ब्रह्म चित् और प्रपञ्च जड़ है, इसलिए दोनों में सारूप्य न होने से प्रपञ्च भ्रम का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। इसलिए 'सतः सञ्जायते', यह सांख्य का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। सांख्यकारिका में भी यही लिखा है—

'असदकरणदुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥'

इस कारिका में सत्कार्य की सिद्धि के लिए जो-जो हेतु दिये हुए हैं, प्रायः उनका निदर्शन संक्षेप में पहले ही कर दिया गया है। इसलिए, इसका व्याख्यान यहाँ नहीं किया जाता। अबतक सत्कार्य के विरोधी बौद्ध, नैयायिक और वेदान्ती के मत में दोष दिखाकर सत्कार्यवाद को पुष्ट किया गया। आगे प्रधान (मूलप्रकृति) में प्रमाण दिखाया जाता है। प्रधान की सिद्धि में केवल अनुमान को ही प्रमाण सांख्यों ने माना है। यहाँ अनुमान का प्रकार इस प्रकार होता है—

सकल पदार्थसमूह (पक्ष) सुख-दुःख-मोहात्मक कारण से जन्य है (साध्य), सुख-दुःख-मोह से युक्त होने के कारण (हेतु), जो जिससे युक्त होता है, वह चमत्कारक ही होता है (व्याप्ति), जैसे—सुवर्ण से युक्त कुण्डल का सुवर्ण ही कारण होता है (दृष्टान्त)। तद्वत्, सकल पदार्थ-समूह भी सुख-दुःख-मोहात्मक ही है (उपनय), इसलिए वह सुख-दुःख-मोहात्मक कारण से जन्य है (निगमन)। इस प्रकार, पञ्चावयव अनुमान से सकल पदार्थ-जात का मूलकारण सुख-दुःख-मोहात्मक ही सिद्ध होता है। यदि यहाँ कोई आशङ्का करे कि मूलकारण का, पूर्वोक्त अनुमान से, सुख-दुःख-मोहात्मकत्व सिद्ध हो जानेपर भी वह सत्त्वरजस्तमोगुणात्मक है, यह सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यह होता है कि मूलकारण में जो सुखात्मकता है, वही सत्त्व है, दुःखात्मकता रजोगुण है और मोहात्मकता ही तमोगुण है। इसलिए, मूलप्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मक, सत्त्वरजस्तमोमय तथा त्रिगुणात्मक (प्रधान) सिद्ध हो जाती है।

मूल प्रकृति की त्रिगुणात्मकता

अब पदार्थमात्र की सुख-दुःख-मोहात्मकता सिद्ध की जाती है। जैसे, कोई स्त्री अपने गुणों से अपने पति को सुख पहुँचाती है; क्योंकि उस पति के प्रति उस स्त्री का सत्त्व-गुण प्रादुर्भूत हो जाता है और वही स्त्री अपनी सपत्नियों के प्रति दुःख का कारण होती है; क्योंकि उनके प्रति उक्त स्त्रीगत रजोगुण प्रकट हो जाता है और वही स्त्री उदासीन के प्रति मोह का कारण बन जाती है। उस समय उसका तमोगुण प्रकट रहता है। उपेक्षाविषयत्व का ही नाम मोह है; क्योंकि 'मुह् वैचित्त्ये' धातु से मोह बनता है। वैचित्त्य-नाम चित्तवृत्ति-राहित्य का है। उपेक्ष्य विषय में चित्त की वृत्ति नहीं उदित होती। इसलिए, मोह का उपेक्षाविषयत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार, प्रत्येक पदार्थ में सुख-दुःख और मोह का होना सिद्ध होता है और सुख-दुःख-मोह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का ही धर्म है। इस कारण, पदार्थमात्र त्रिगुणात्मक

सिद्ध होता है और इसके मूलकारण का त्रिगुणात्मकप्रकृतित्व भी सिद्ध हो जाता है। उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाली एक श्रुति भी श्वेताश्वतरोपनिषद् में पाई जाती है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥'

इसका तात्पर्य यह है कि 'न जायते इति अजा' इस व्युत्पत्ति से, जिसकी उत्पत्ति नहीं हो, उसको अजा कहते हैं। मूल प्रकृति नित्य होने से उत्पन्न नहीं होती, इसलिए अजा शब्द से उसीका बोध होता है। वह एक ही है,इसलिए 'एकाम्'विशेषण दिया है। 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस विशेषण से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का बोध होता है। जैसे, लोहित (रक्त) कुसुम्भादि पट का रञ्जक होता है, वैसे पदार्थ-गत रजोगुण भी प्रेक्षकों को रञ्जित करता है। इसलिए, रञ्जकत्व-साधर्म्य से लोहित शब्द से रजोगुण का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार, शुक्ल (तेजोद्रव्य सूर्य आदि) प्रकाशक होता है, इसलिए प्रकाशकत्व-साधर्म्य से शुक्ल शब्द का अर्थ सत्त्व-गुण होता है। इसी प्रकार, कृष्ण मेघादि सूर्य का आवरक होता है, इसलिए आवरकत्व-साधर्म्य से कृष्ण शब्द से तमोगुण का ही बोध होता है। इस प्रकार, 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस विशेषण से सत्त्वरजस्तमोमयी मूलप्रकृति का ही बोध होता है। वह त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति, 'सरूपाः', स्वसमानजातीय त्रिगुणात्मक, 'बह्वीः प्रजाः', सकल पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली होती है। अर्थात्, वही त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति त्रिगुणात्मक सकल चराचर प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। 'अजो ह्येको', एक बद्ध पुरुष, 'जुषमाणः', उस प्रकृति की सेवा करता हुआ, 'अनुशेते', अनुसरण करता है। अर्थात्, उन्हीं प्राकृत पदार्थों में रत रहता है। 'अन्यः अजः', अन्य मुक्त पुरुष, 'भुक्तभोगामेनाम्', जिस प्रकृति का भोग कर लिया है, उस प्रकृति का 'जहाति', त्याग कर देता है। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध से मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक सिद्ध होती है और उत्तरार्द्ध से आत्म (पुरुष)-गत भेद सिद्ध किया है। इसी मन्त्र के आधार पर सांख्य-शास्त्र का निर्माण हुआ है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि अचेतन प्रकृति विना चेतन की सहायता से महदादि कार्योत्पादन में प्रवृत्त नहीं हो सकती; क्योंकि लोक में कहीं भी चेतन की प्रेरणा के विना अचेतन का किसी कार्य के लिए स्वयं प्रवृत्त होना नहीं देखा जाता; जैसे रथ, जहाज आदि अचेतन पदार्थ चेतन की प्रेरणा के विना स्वयं नहीं चलते। इसलिए, उसके प्रेरक अधिष्ठाता, सर्वार्थदर्शी परमेश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है।

सांख्य-शास्त्र का कहना है कि यह शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि विना चेतन की सहायता के भी लोक में अचेतन की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे, वत्स की वृद्धि के निमित्त अचेतन दूध की प्रवृत्ति लोक में देखी जाती है। अचेतन मेघ भी लोकोपकार के लिए किसी चेतन की सहायता के विना ही जल-वर्षण में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार, अचेतन प्रकृति भी पुरुष की मुक्ति के लिए स्वयं प्रवृत्त हो जाती है। सांख्यकारिका में भी लिखा है—

'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमुक्तिनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥'

भाव यह है कि जैसे अज्ञ अचेतन दुग्ध की, वत्स की पुष्टि के लिए, स्तन में प्रवृत्ति होती है, वैसे अचेतन प्रकृति की भी, पुरुष के मोक्ष के निमित्त, प्रवृत्ति होती है।

प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति को कहते हैं और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान से होती है। विवेक-ज्ञान प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। सांख्यवादी यह नहीं मानते कि ईश्वर अपनी करुणा से सृष्टि का प्रवर्त्तक होता है।

सांख्यवादी इसमें यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि ईश्वर सृष्टि से पहले अपनी करुणा के कारण प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद? यदि सृष्टि के पहले कहें, तो सिद्ध नहीं होता; क्योंकि परदुःखप्रहाणेच्छा ही करुणा है। और दुःख शरीर-सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता। शरीर-सम्बन्ध सृष्टि से पहले नहीं होता। इसलिए, सृष्टि से पहले करुणा का होना असम्भव है। यदि सृष्टि के बाद कहा जाय, तो भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि करुणा के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद करुणा यह परस्पराश्रय दोष हो जाता है। इसलिए, करुणा से सृष्टि नहीं मान सकते। जैसा पहले कह चुके हैं कि विवेक-ज्ञान प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना नहीं हो सकता और प्रकृति का स्वरूप भी अत्यन्त सूक्ष्म है, उसका सुलभतया ज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृति के स्वरूप-ज्ञान के बिना केवल पुरुष से भेद का ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए, प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। प्रकृति की प्रवृत्ति के बाद भौतिक स्थूल कार्यों का ज्ञान विशद रूप से होना सुलभ हो जाता है। उसके बाद भौतिक कार्यों से पुरुष का भेद-ज्ञान अवश्य हो सकता है। भूत से पुरुष का भेद-ज्ञान होता है। भूत के कारण तन्मात्रा और उसके कारण अहङ्कार से पुरुष का भेद-ज्ञान होता है। कारण-परम्परया 'स्थूलारुन्धती' न्याय से प्रकृति से भी पुरुष का विवेक-ज्ञान सुलभ हो जाता है, जिससे पुरुष का मोक्ष होना भी सुलभ हो जाता है।

प्रकृति-पुरुष की परस्परापेक्षिता

एक बात और भी ज्ञातव्य है कि पुरुष के संयोग से ही प्रकृति में व्यापार होता है, जैसे चुम्बक के संयोग से लोहा में क्रिया-शक्ति आ जाती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग 'पङ्ग्वन्ध' न्याय से परस्परापेक्षाप्रयुक्त ही होता है। जैसे—प्रकृति भोग्य है, वह भोक्ता पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष भोग्य प्रकृति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, परस्परापेक्षा से दोनों का संयोग होता है, जिससे सृष्टि का विस्तार होता है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि पुरुष तो निर्गुण, निर्लेप और असङ्ग है, वह प्रकृति की अपेक्षा क्यों करेगा ? इसका समाधान यह है कि पुरुष में यद्यपि प्रकृति और प्रकृति की कार्य-बुद्धि से भेद विद्यमान है, तथापि उस भेद के अज्ञान से पुरुष अपने को बुद्धिस्वरूप ही मानता है। और, बुद्धि में रहनेवाले सुख-दुःखादि गुणों को अपना ही गुण समझता है। अतः, इसके निवारण करने के लिए कैवल्य की अपेक्षा करता है। कैवल्य केवल प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान के अधीन है। इसलिए, भेद-ज्ञान की प्रतियोगिनी जो प्रकृति है, उसका ज्ञान पुरुष को अवश्य अपेक्षित है। अर्थात्, प्रकृति के ज्ञान के बिना प्रकृति से अपने में भेद-ज्ञान असम्भव है। इसलिए, पुरुष को भी प्रकृति की अपेक्षा अवश्य करनी पड़ती है। इससे प्रकृति-पुरुष में संयोग का हेतु परस्परापेक्षा ही होती है, यह सिद्ध हो जाता है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्धे और लँगड़े का संयोग है। दोनों मिलकर ही रास्ता तय करते हैं। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता है। दोनों का संयोग 'पङ्ग्वन्ध' न्याय से बताया गया है। एक बार बहुत-से लोग जंगल की राह से जा रहे थे। एक लँगड़ा और एक अन्धा भी उसी मार्ग से जा रहा था। दैव-संयोग से एकाएक बड़े जोर का तूफान आया। सब लोग भाग चले। बेचारा अन्धा और लँगड़ा दोनों विवश थे। परन्तु, संयोग से ये दोनों परस्पर आकर मिल गये। अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर बैठा लिया। लँगड़ा रास्ता दिखाने लगा और अन्धा चलने लगा। दोनों अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गये। इसी प्रकार, परस्परापेक्षा रखनेवाले इस प्रकृति और पुरुष के द्वारा यह सृष्टि का क्रम चलता रहता है। सांख्यकारिका में लिखा है—

> पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
> पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सम्बन्धस्तत्कृतः सर्गः॥

इसका तात्पर्य यह है कि गमन-शक्ति-रहित पङ्गु को अपने अभीष्ट देश की प्राप्ति के लिए गमनशक्तिमान् पुरुष की अपेक्षा रहती है। और, दर्शन-शक्ति-रहित अन्धे को दर्शनशक्तिमान् की अपेक्षा रहती है। इसलिए, पङ्गु और अन्धे का संयोग होता है। इसी प्रकार, प्रकृति को अपने प्रदर्शन के लिए पुरुष की अपेक्षा रहती है, और पुरुष को कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा रहती है। इसी अपेक्षा के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है। इसी संयोग से सृष्टि होती है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि पुरुष क्रिया-शक्ति से रहित होने के कारण पङ्गु के समान है, और प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्ध के समान। जिस प्रकार, पङ्गु के सम्बन्ध से अन्धा मार्ग में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुष के संसर्ग से कार्य करने में प्रवृत्त हो जाती है। अन्ध के सम्बन्ध से जैसे पङ्गु अपने अभीष्ट देश को जाता है, प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष भी विवेक-ज्ञान द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है। यही इसका रहस्य है।

यहाँ एक आशङ्का और भी बनी रहती है कि पुरुष के लिए प्रकृति की सृष्टि करने में प्रवृत्ति युक्ति-युक्त हो सकती है, परन्तु निवृत्ति में किसी प्रकार की युक्ति नहीं दीख पड़ती। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार, नर्त्तकी नृत्य देखनेवालों (प्रेक्षकजनों) को अपनी नृत्य-कला दिखलाकर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने स्वरूप को, महत्तत्वादि परिणाम द्वारा शब्दस्पर्शादि विषयरूप से, पुरुष के लिए प्रकाशितकर, निवृत्त हो जाती है। और, जिस प्रकार, व्यभिचारिणी स्त्री यह जान ले कि मेरे पति ने मेरा दोष देख लिया अथवा जान लिया, तो फिर उसके सामने नहीं जाती अथवा उस पति के सामने अपना मुख भी दिखाना नहीं चाहती, उसी प्रकार जब पुरुष प्रकृति के दोषों को देख लेता है, तब प्रकृति उस पुरुष के पास जाने का साहस नहीं करती। इससे प्रकृति की निवृत्ति सिद्ध होती है। सांख्यकारिका में लिखा है—

'रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा रङ्गात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते तथा प्रकृतिः॥'

मीमांसा-दर्शन

धर्म के अनुष्ठान से ही अभिमत फल की सिद्धि होती है, यह श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक धर्म-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि धर्म का लक्षण क्या है? धर्म में प्रमाण क्या है? पूर्वमीमांसा में इसी जिज्ञासा का समाधान किया गया है। मीमांसा-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि हैं। यह बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में अनेक पाद हैं।

प्रथम अध्याय में, विधि, अर्थवाद, मन्त्र और स्मृति आदि के प्रामाण्य का विचार किया गया है। इसके प्रथम पाद में केवल विधि के ही प्रामाण्य का विचार है। द्वितीय पाद में अर्थवाद, मन्त्र के तृतीय पाद में मनु आदि स्मृतियों के और आचार के भी प्रामाण्य का विवेचन किया गया है। चतुर्थ में उद्भिद् चित्रादि नामधेयों के प्रामाण्य का विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में, उपोद्घात, कर्मभेद, प्रमाणापवाद, प्रयोग-भेद स्वरूप अर्थ का विचार किया गया है। उसके प्रथम पाद में कर्मभेद-चिन्ता के उपयुक्त उपोद्घात का और द्वितीय में धातुभेद और पुनरुक्ति आदि से कर्मभेद का वर्णन है। तृतीय पाद में कर्मभेद-प्रामाण्य के अपवाद का और चतुर्थ में नित्य और काम्य प्रयोग में भेद का विचार किया गया है।

तृतीयाध्याय में, श्रुति, लिङ्ग आदि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्राबल्य का विचार किया गया है। यहाँ जैमिनि का सूत्र है—'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।' इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र, देवता, हवि आदि द्रव्यों का अथवा अन्य किसी का विनियोग कहाँ करना चाहिए? इस आकांक्षा में श्रुति, लिङ्ग आदि छह प्रमाणों को निर्णायक माना गया है। और, जहाँ दो प्रमाणों का सन्निपात हो, वहाँ पूर्व की अपेक्षा पर को दुर्बल माना जाता है। क्योंकि, पूर्व की अपेक्षा पर-प्रमाण विलम्ब से अर्थ-प्रतीति का जनक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र सबका निर्णायक श्रुतिरूप एक ही प्रमाण है, और इसकी अपेक्षा सब प्रमाण दुर्बल हैं।

श्रुति दो प्रकार की है, एक साक्षात् पठित, द्वितीय अनुमित। प्रथम का उदाहरण—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' यहाँ इन्द्र देवता-सम्बन्धी जो ऋक् है, उसका गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग साक्षात् श्रुति बताती है। द्वितीय का उदाहरण—'स्योनं त इति पुरोडाशस्य सदनं करोति'। यह वाक्य श्रुति में कहीं भी नहीं मिलती; परन्तु, 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण के ३।६ में मिलता है। इसी मन्त्र का अर्थ देखकर इसी लिङ्ग, अर्थात् ज्ञापक, से मन्त्रार्थ के अनुसार ही मन्त्र का विनियोग करनेवाली इस श्रुति का अनुमान किया जाता है, और उसीसे विनियोग भी।

अर्थ-प्रकाशन में जो समर्थ है, वही लिङ्ग है। वही श्रुति का अनुमापक भी होता है। वह भी दो प्रकार का है— एक साक्षात् दृश्यमान, दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण दिखा चुके हैं। दूसरा यह कि 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां जुष्टं निर्वपामि' (तै० सं० १।१।४)। यह एक वाक्य है। आकांक्षा-योग्यता आदि के वश से परस्पर अन्वितार्थक पदों का जो समूह है, उसीको वाक्य कहते हैं। 'देवस्य त्वा' इस वाक्य में 'अग्नये जुष्टम्' इस भाग का निर्वाप-रूप अर्थ-प्रकाशन का सामर्थ्य प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसीकी एकवाक्यता होने से अवशिष्ट 'देवस्य त्वा' इत्यादि जो भाग हैं, उनके वाक्य-प्रमाण के बल से उसी प्रकार निर्वाप-रूप अर्थ-प्रकाशन-सामर्थ्य का अनुमान किया जाता है। उसी समुदित लिङ्ग से 'देवस्य त्वेति निर्वपति' इस श्रुति का अनुमान किया जाता है, और उसी अनुमित श्रुति से 'देवस्य त्वा' इस मन्त्र का निर्वाप-कर्म में विनियोग भी किया जाता है।

लिङ्ग का अनुमापक वाक्य भी दो प्रकार का होता है—एक साक्षात्, दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है। दूसरे का, 'समिधो यजति', इस श्रुति में इष्टविशेष का निर्देश न होने के कारण, समिद्-याग से किसकी भावना करनी चाहिए, इस प्रकार उपकार्य की आकांक्षा बनी रहती है, और दर्शपूर्णमास-सम्बन्धी 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इस वाक्य में भी 'कथं भावयेत्' इस प्रकार उपकारक की आकांक्षा बनी रहती है। और, दोनों की आकांक्षा करनेवाला जो प्रकरण है, वही प्रमाण कहा जाता है। दोनों की आकांक्षा रहने से ही उन दोनों की एकवाक्यता का अनुमान किया जाता है। उसी अनुमित एकवाक्यता के बल से दर्शपूर्णमास-याग के फलीभूत जो स्वर्ग है, उसके साधनीभूत जो अर्थ-प्रकाशन-सामर्थ्य है, वह 'समिधो यजति' इस वाक्य का है, ऐसा अनुमान होता है। उससे श्रुति का, और उस श्रुति से समिद्-याग का दर्शपूर्णमास-कर्म में विनियोग होता है।

प्रकरण-शब्द-वाच्य जो उभयाकांक्षा है, वह भी दो प्रकार की है—एक साक्षात् श्रुत, दूसरा अनुमित। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है; दूसरे का 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।११); 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।५); इत्यादि क्रम से इष्टि का विधान किया गया है। यहाँ 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' (तै० सं० ४।२।११) इत्यादि मन्त्रों का यथासंख्य पाठ के अनुरोध से प्रथम का प्रथम और द्वितीय का द्वितीय, इस प्रकार यथासंख्य विनियोग किया गया है। पाठ-स्थान के विशेष होने से ही उभयाकांक्षा का अनुमान, उभयाकांक्षा से एकवाक्यता का, एक-वाक्यता से लिङ्ग का, तथा लिङ्ग से श्रुति का अनुमान और उससे विनियोग होता है।

उभयाकांक्षा का अनुमापक स्थान-प्रमाण भी दो प्रकार का है—एक साक्षात् दृष्ट, दूसरा समाख्या से अनुमित। समाख्या योग-बल, अर्थात् अन्वर्थता, को कहते हैं। पहले का उदाहरण पूर्वोक्त है। दूसरे का उदाहरण 'हौत्रम्', 'औद्गात्रम्' इत्यादि हैं। यहाँ होतुरिदं हौत्रम्, इस योग-बल से हौत्रादि समाख्या से लब्ध जो कर्म है, वह होता आदि के ही अनुष्ठान करने योग्य है, यह अनुमान होता है। समाख्या सम्बन्ध-प्रयुक्त ही होती है। असन्निहित के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए सन्निधि-

पाठरूप क्रम की कल्पना होती है। अनुमान से पाठक्रम के सिद्ध हो जाने पर उससे उभयाकांक्षा का अनुमान होता है। उससे एकवाक्यता और उससे लिङ्ग, लिङ्ग से श्रुति का अनुमान और श्रुति से विनियोग होता है।

तृतीयाध्याय के आठ पाद हैं—प्रथम पाद में अङ्गत्वबोधक छह प्रमाणों में श्रुति का विचार किया गया है। द्वितीय में लिङ्ग का, तृतीय में वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या का विचार है। चतुर्थ पाद में निवीत, उपवीत आदि में अर्थवादत्व-विधित्व आदि के निर्णय-हेतु श्रुति आदि के विरोध और परिहार का विचार किया गया है। पञ्चम में प्रतिपत्ति-कर्म का विचार है। प्रतिपत्ति का अर्थ उपयुक्त द्रव्य का विनियोग है। षष्ठ में अनारभ्याधीत और सप्तम में बहुप्रधानोपकारक प्रयाजादि कर्मों का विचार है। अष्टम पाद में यजमान के कर्मों का विचार है।

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में, प्रधानभूत आमिक्षा दध्यानयन की प्रयोजिका है, इत्यादि प्रधान के प्रयोक्तृत्व का विचार किया गया है। द्वितीय में, अप्रधानीभूत जो वत्स का अपाकरण है, वह शाखाच्छेद में प्रयोजक है, इत्यादि अप्रधान का ही प्रयोक्तृत्व दिखाया गया है। तृतीय में 'जुहू पर्णमयी' इत्यादि का अपापश्लोक श्रवणादि के फल के भावाभाव का विचार है। चतुर्थ में राजसूयगत अक्षद्यूत आदि गौण अङ्गों का विचार किया गया है।

पञ्चमाध्याय में, श्रुति के क्रम, तद्विशेष-वृद्धिअवृद्धि, और प्राबल्य-दौर्बल्य का विचार किया गया है। यहाँ श्रुति आदि का क्रम-विचार भी करना आवश्यक है, इसलिए संक्षेप में दिखाया जाता है। श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति ये छह प्रमाण क्रम के बोधन द्वारा प्रयोग-विधि के अङ्ग होते हैं। श्रुति का उदाहरण है: 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति।' यहाँ वेद दर्भमुष्टि को कहा जाता है। यहाँ वेद, अर्थात् दर्भमुष्टि, बनाने के बाद वेदी बनाने का विधान है। क्योंकि, वेदं कृत्वा में क्त्वा प्रत्यय से वेदी के पूर्वकाल में ही वेद-विधान प्रतीत होता है। जैसे, 'भुक्त्वा व्रजति' में भोजन के बाद ही गमन-क्रिया होती है। यही श्रुति-क्रम है।

प्रयोजन के वश से क्रम का जो निर्णय किया जाता है, वह अर्थक्रम है। जैसे, 'अग्निहोत्रं जुहोति, 'यवागूं पचति'। यद्यपि यहाँ यवागू-पाक अग्निहोत्र-हवन के बाद पढ़ा गया है, तथापि यवागू होम के लिए ही बनाया जाता है, इसलिए प्रयोजनवश हवन के पहले ही यवागूकरण का विधान समझा जाता है। पाठक्रम के अनुसार यदि हवन के बाद यवागू-पाक का विधान हो, तो यवागू-पाक का अदृष्ट ही फल मानना होगा। इससे यह निश्चित होता है कि जहाँ श्रौतक्रम या अर्थक्रम न हो, वहाँ ही पाठक्रम लिया जाता है।

उपस्थिति को स्थान कहते हैं, अर्थात् देश और काल से जहाँ जो उपस्थित हो, वहाँ उसी का विधान करना चाहिए, बाद में दूसरे का। प्रधानों के क्रम से जो अङ्गों का क्रम है, वह मुख्य क्रम कहा जाता है। जैसे, जिस क्रम से आदित्यादि प्रधान देवताओं की पूजा होती है, उसी क्रम से उनकी अधिदेवताओं की भी पूजा की जाती है।

प्रवृत्ति-क्रम वह है कि एक स्थान में जिस क्रम से उपचार प्रवर्त्तित हुआ, उसी क्रम से अन्यत्र भी हो। इस प्रकार, पञ्चमाध्याय के प्रथम पाद में श्रुति, अर्थ आदि के क्रम का विचार किया गया है। द्वितीय पाद में क्रमविशेष का और अनेक पशुओं में एक-एक धर्मों के समापन आदि का विचार है। तृतीय पाद में वृद्धि-अवृद्धि का विचार है। जैसे, अग्निषोमीय पशु में 'एकादश प्रयाजान् यजति' यह पाठ है, यहाँ पञ्च प्रयाजों की दो बार और अन्तिम की एक बार आवृत्ति करने पर एकादश संख्या की पूर्त्ति होती है। यही वृद्धि है। जिसकी वृद्धि नहीं होती, वही अवृद्धि है।

पञ्चमाध्याय के चतुर्थ पाद में, श्रुति आदि छह प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्राबल्य और उत्तरोत्तर के दौर्बल्य का विचार किया गया है।

षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में, कर्म के अधिकार का विचार किया गया है। अर्थात्, अन्धा आदि का कर्म में अधिकार नहीं है, किन्तु चक्षुष्मान् का ही, इसीका निर्णय किया गया है। द्वितीय में अधिकारी के धर्म का और तृतीय में मुख्य के प्रतिनिधि का ग्रहण कहाँ किया जाता है, कहाँ नहीं, इसका विचार है। चतुर्थ में कहाँ किसका लोप है इसका और पञ्चम में कालादि के वैगुण्य में प्रायश्चित्त का विचार है। सप्तम में अदेय का तथा अष्टम में लौकिक अग्नि में कहाँ हवन करना चाहिए, इसका विचार है।

सप्तमाध्याय के प्रथम पाद में, 'समानम्' इत्यादि प्रत्यक्ष वचनों से अतिदेश का और द्वितीय में उस प्रकार के अतिदेशों के शेष का विवेचन किया गया है। तृतीय में अग्निहोत्र नाम से अतिदेश का निर्णय है। चतुर्थ मे लिङ्ग का अतिदेश है।

अष्टमाध्याय के प्रथम पाद में, प्रत्यक्ष वचन के अभाव में भी स्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश का तथा द्वितीय में अस्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश का विचार किया गया है। तृतीय में प्रबल लिङ्गों से अतिदेश का विचार तथा चतुर्थ में अतिदेशों के अपवाद का वर्णन किया गया है।

नवमाध्याय के प्रथम पाद में, ऊह का प्रारम्भ किया गया है। मन्त्रों में स्थित देवता, लिङ्ग, संख्या आदि के वाचक जो शब्द हैं, उनका उन-उन देवताओं के लिङ्ग-संख्यादि के अनुसार परिवर्त्तन करने को ऊह कहते हैं। द्वितीय में साम का ऊह, तृतीय में मन्त्रों का ऊह और चतुर्थ में मन्त्रों के ऊह-प्रसङ्ग में जो आया है, उसका विचार किया गया है।

दशमाध्याय के प्रथम पाद में, बाध के हेतुभूत द्वार-लोप का विधान है। जैसे, जहाँ वेदी के निष्पादन-रूप द्वार नहीं है, वहाँ वेदी के निष्पादन करनेवाले जो उद्धनन आदि कर्म हैं, उनका बाध होता है। और, जहाँ धान्य का वितुषीकरण नहीं है, वहाँ अवघात का बाध होता है। द्वितीय पाद में उसी द्वार-लोप का अनेक उदाहरणों से विस्तार किया गया है। तृतीय में बाध का कारणकार्यैकत्व दिखाया गया है। जैसे, प्रकृतिभूत याग में गो, अश्व आदि दक्षिणा का कार्य ऋत्विक् का परिग्रह बताया गया है। विकृतिभूत याग में उसी याग के लिए धेनु दक्षिणा बताई गई है। उस दक्षिणा में 'प्रकृतिवत्' अतिदेश से

प्राप्त जो अश्व आदि दक्षिणा है, उसका बाध बताया गया है। चतुर्थ में जहाँ बाध का कारण नहीं है, वहाँ समुच्चय बताया गया है। पञ्चम में बाध के प्रसङ्ग में ग्रह आदि का और षष्ठ में बाध-प्रसङ्ग में साम का विचार किया गया है। सप्तम में, बाध-प्रसङ्ग में इतर सामान्य का विचार और अष्टम में बाध के उपयुक्त नञर्थ का विचार किया गया है।

एकादश अध्याय में, तन्त्र के विषय में विचार है। एक बार अनुष्ठान से जो सिद्धि होती है, वह तन्त्र कहा जाता है, अथवा जिसमें बहुतों के उपकार का विस्तार किया जाय, वह तन्त्र है और अनेक के उद्देश्य से एक बार अनुष्ठान का नाम भी तन्त्र ही है। जैसे, अनेक के बीच रखा हुआ दीप। जो आवृत्ति से अर्थात् बार-बार करने से बहुतों का उपकारक हो, वह आवाप कहा जाता है—जैसे, बहुतों का भोजन। अन्य के उद्देश्य से अन्यदीय का भी साथ ही अनुष्ठान करना प्रसङ्ग कहा जाता है। एकादश के प्रथम पाद में तन्त्र का उपोद्घात, द्वितीय में तन्त्र और आवाप का विचार, तृतीय में तन्त्र का और चतुर्थ में आवाप का विस्तार है।

द्वादश अध्याय में, प्रसङ्ग, तन्त्री, निर्णय, समुच्चय और विकल्प का विचार किया गया है। एक के उद्देश्य से किसी एक अङ्ग का, अनुष्ठान देश, काल और कर्त्ता के ऐक्य होने पर यदि अनुष्ठित अङ्ग अनुद्देश्य का भी, उपकार करे, तो वह प्रसङ्ग कहा जाता है। इसका विचार द्वादश अध्याय के प्रथम पाद में है। द्वितीय में तन्त्री का निर्णय किया गया है। साधारण धर्म का नाम तन्त्र है, वह जिसमें रहे, वह तन्त्री है। तृतीय में समुच्चय तथा चतुर्थ मे विकल्प का विचार है। इस प्रकार, बारहों अध्यायों के विषयों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। अब आचार्य कुमारिल भट्ट के मत से अधिकरण का विवेचन संक्षेप में किया जायगा।

कुमारिल भट्ट के मतानुसार अधिकरण का विवेचन

'अथातो धर्मजिज्ञासा।' (जै० सू०, १।१।१)

यह प्रथम अधिकरण पूर्वमीमांसा के आरम्भ का उपपादनपरक है। अवान्तर प्रकरण का नाम अधिकरण है। अधिकरण के पाँच अवयव होते हैं—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति। जिस उद्देश्य से विचार किया जाय वही विषय है। जिस ज्ञान का विषय दो कोटी में आन्दोलित रहे, उसको संशय कहते हैं। वह कोटीद्वय कहीं भावरूप और कहीं अभावरूप रहता है। जैसे, यह स्थाणु है अथवा पुरुष? यहाँ स्थाणु या पुरुष दोनों भावरूप ही हैं। मनुष्य है या नहीं? यहाँ है से भावरूप और न से अभावरूप कोटी का विषय समझना चाहिए। यहाँ कोटीद्वय अनेक कोटी का भी उपलक्षण है। वादी जिस मत का उपपादन करता है, वह पूर्वपक्ष है। निर्णय का नाम सिद्धान्त है। सङ्गति तीन प्रकार की है—अधिकरण-सङ्गति, पाद-सङ्गति और अध्याय-सङ्गति। इसका स्वरूप यह है कि यह विचार इसी अधिकरण, इसी पाद और इसी अध्याय मे करना समुचित है, इस प्रकार के विचार को सङ्गति कहते हैं। भट्ट लोग सङ्गति को अधिकरण का अङ्ग नहीं मानते, वे सङ्गति के स्थान पर उत्तर को अङ्ग

मानते हैं। उत्तर और निर्णय में यही भेद है कि उत्तर वादी के मत का खण्डन-मात्र करता है, परन्तु वह सिद्धान्त नहीं होता, जैसे—जात्युत्तर। और, निर्णय सिद्धान्त है, यही दोनों में भेद है। इसीलिए, उत्तर की अपेक्षा निर्णय की गणना पृथक् की गई है—

'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥'

तात्पर्य यह कि विषय, विशय अर्थात् संशय, पूर्वपक्ष, उत्तर और निर्णय ये ही पाँच अधिकरण के अवयव हैं। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् वेद पढ़ना चाहिए, यही वाक्य इस प्रथम अधिकरण का विषय है।

विचार (मीमांसा)-शास्त्र की प्रयोजनीयता का व्यालोचन

संशय यह है कि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र से 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इस सूत्र-पर्यन्त जो जैमिनि का धर्मशास्त्र है, वह अनारम्भणीय है अथवा आरम्भणीय? इस संशय का मूल है—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', यह अध्ययन-विधि दृष्टार्थ है या अदृष्टार्थ? यदि अध्ययन-विधि का अदृष्ट अर्थ मानते हैं, तब तो विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। कारण यह है कि आचार्य-कृत उच्चारण के अनुसार समानानुपूर्विक उच्चारण को ही अध्ययन कहा जाता है, और उच्चारण-मात्र से किसी दृष्ट अर्थ की सिद्धि होती नहीं, और विधिशास्त्र निरर्थक भी नहीं हो सकता; इसलिए विधिशास्त्र का स्वर्गादि अदृष्ट फल होता है, यह अनुमानादि प्रमाण से कल्पना करते हैं और यह स्वर्ग-रूप अदृष्ट फल केवल पाठमात्र से सिद्ध हो जाता है, इसके लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का तात्पर्य तदर्थज्ञान-रूप दृष्टफल-पर्यन्त मानें, तब तो अर्थज्ञान के लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता हो जाती है; क्योंकि विचार के बिना अर्थज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए, जैमिनि-प्रोक्त विचार-शास्त्र आरम्भणीय सिद्ध होता है।

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह होता है कि यदि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि का *अर्थावबोध-पर्यन्त दृष्टफल मानते हैं, तब तो विधि की अनुकूलता होने के* कारण विचार-शास्त्र आवश्यक हो जाता है, इसलिए वह आरम्भणीय है, यह सिद्ध होता है। यदि अध्ययन-विधि का अर्थावबोध-रूप दृष्टफल न मानकर स्वर्ग-रूप अदृष्ट ही फल मानें, तब तो पाठरूप अध्ययन-विधि से स्वर्ग की सिद्धि हो जायगी, इसके लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है, अतः विचार-शास्त्र अनारम्भरणीय है, यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

अर्थावबोधपर्यन्त अध्ययन-विधि का तात्पर्य मानकर जो विचार-शास्त्र की *आवश्यकता बताते हैं, उनके प्रति पूर्वपक्षी का यह प्रश्न होता है कि* 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि से क्या अत्यन्त अप्राप्त अध्ययन का विधान है, अथवा पाक्षिक अवघात के सदृश नियम किया जाता है? दूसरे शब्दों में, क्या

अध्ययन-विधि अपूर्वविधि है या नियम-विधि? जिसका जो अर्थ प्रमाणान्तर से अप्राप्त है, उसका उसी अर्थ में विधान का नाम अपूर्वविधि है।

उदाहरण के लिए—'स्वर्गकामो यजेत', यहाँ याग का फल स्वर्ग है, यह दूसरे किसी भी अनुमानादि प्रमाण से प्राप्त नहीं है, किन्तु उक्त श्रुति से ही याग का फल स्वर्ग है, यह सिद्ध होता है; इसलिए अप्राप्त का विधान करने से यह अपूर्वविधि कहलाता है। पक्ष में अप्राप्त जो विधि है, वह नियम-विधि है। जैसे, 'व्रीहीन् अवहन्ति' को नियम-विधि कहते हैं। इस श्रुति से धान के अवघात (छाँटना) का प्रयोजन धान को तुषरहित करना ही घोषित होता है। और, अवघात से धान का तुषरहित होना लोक से भी सिद्ध (प्राप्त) है, इसलिए यह नियम-विधि है। अप्राप्त अंश का पूरण करना ही नियम का फल है। धान को तुषरहित करना नख-विदलन आदि अनेक उपायों से साध्य है। इसलिए, अवघात को छोड़कर यदि दूसरा उपाय का आश्रयण करें, तो अवघात अप्राप्त हो जाता है। अतः, अवघात-श्रुति से अवघात के विधान का प्रयोजन अप्राप्त अंश का पूरण करना ही सिद्ध होता है। इस अवस्था में अध्ययन-विधि क्या अपूर्वविधि है या नियम-विधि, यह पूर्वोक्त प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

इस अवस्था में अध्ययन-विधि को अपूर्वविधि तो मान नहीं सकते; क्योंकि अनुमान-प्रमाण से भी अर्थावबोध के लिए अध्ययन प्राप्त है, और प्रमाणान्तर से अप्राप्त का ही विधान अपूर्वविधि माना गया है। यहाँ अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होता है—विवादास्पद वेदाध्ययन (पक्ष), अर्थावबोध के लिए ही होता है (साध्य), अध्ययन होने के कारण (हेतु), जो अध्ययन है, वह अर्थावबोध के लिए ही होता है (व्याप्ति), भारताध्ययन के सदृश (दृष्टान्त)। इस अनुमान से विधि के विना भी अर्थावबोध के लिए अध्ययन प्राप्त ही है, इसलिए अप्राप्त विधि नहीं होने से अपूर्वविधि नहीं हो सकती। अतएव, द्वितीय, अर्थात् नियमविधि, पक्ष को मानना चाहिए। जिस प्रकार, नखविदलन और अवघात आदि से तण्डुल-निष्पत्ति सिद्ध है, इसलिए पाक्षिक अवघात का विधान अवश्य करना चाहिए, यह विधिशास्त्र से नियम किया जाता है, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के विना भी केवल लिखित पाठ से अर्थज्ञान के लिए यदि कोई प्रवृत्त हो, तब तो अध्ययन अप्राप्त है; इसलिए अप्राप्त अध्ययन की यह नियम-विधि है, यह सिद्ध हो जाता है।

परन्तु, पूर्व-पक्षी का कहना है कि यह भी युक्त नहीं है, कारण यह है कि अवघात-श्रुति, जो अध्ययन-विधि का दृष्टान्त है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में साधर्म्य न होने से युक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि अवघात से निष्पन्न जो तण्डुल है, उसीके पुरोडाश बनाने पर अवान्तर अपूर्व उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा दर्शपूर्णमास परमापूर्व को उत्पन्न करता है, जो स्वर्ग का साक्षात् साधन होता है। अवघात के विना अवान्तरापूर्व नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि स्वर्ग का साक्षात् साधन जो परमापूर्व है, वह याग से उत्पन्न होता है, और परमापूर्व की उत्पत्ति में सहायक अवान्तरापूर्व ही है, जो अवघात से उत्पन्न होता है। अपूर्व, परमापूर्व आदि

जो अदृष्ट वस्तुएँ हैं, उनकी उत्पत्ति में कार्यकारणभाव केवल शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध होता है।

यदि अवघात-नियम से अपूर्व की कल्पना न की जाय, या कल्पित अवान्तरापूर्व को परमापूर्व की उत्पत्ति में सहायक न माना जाय, तब तो अवघात का विधान करनेवाली श्रुति ही व्यर्थ हो जायगी। धान के तुषरहित करने के लिए तो विधान की आवश्यकता कह नहीं सकते; क्योंकि वह तो लोक से ही सिद्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रुति से जो अवघात का नियम किया है, उसमें दर्शपूर्णमास से उत्पन्न परमापूर्व ही हेतु है। और, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' से जो अध्ययन-विधि का नियम संकेतित है, वह अर्थज्ञान के लिए है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि विना अध्ययन के भी लिखित पाठ से अर्थज्ञान होना लोक में देखा जाता है। अर्थज्ञान होने पर यज्ञादि का अनुष्ठान भी सुकर हो जाता है। इस स्थिति में, वितुषीकरण के लिए अवघात-विधि का जो नियम है, उसमें उत्पन्न अवान्तरापूर्व के स्वीकार न करने पर परमापूर्व की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, इसलिए मुख्यापूर्व ही अवान्तरापूर्व के स्वीकार करने में हेतु होता है।

इसी प्रकार, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' से अर्थज्ञान के लिए जो अध्ययन-विधि का नियम है, उससे उत्पन्न अवान्तरापूर्व के स्वीकार करने में कोई भी हेतु नहीं है। यदि कहें कि अवान्तरापूर्व के स्वीकार न करने पर अध्ययन-विधान ही व्यर्थ हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'विश्वजित्' न्याय से पाठमात्र का स्वर्ग-फल कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार, स्वर्ग-फल स्वीकार करने पर अध्ययन-विधि का अपूर्वविधि होना भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि, अध्ययन स्वर्गार्थ है, यह बात इस श्रुति के विना सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए, अप्राप्त के विधान करने से यह अपूर्वविधि सिद्ध हो जाती है। अध्ययन-विधि का फल स्वर्ग ही है, अर्थज्ञान नहीं, यह भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए, अध्ययन-विधान करने का उद्देश्य अर्थज्ञान न होने से अर्थज्ञान वैध नहीं होता; इसके वैध न होने से अर्थज्ञान के उपयोगी मीमांसा-शास्त्र भी अवैध हो जाता है, इसलिए अवैध होने के कारण मीमांसा-शास्त्र अनारम्भणीय है, यह पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है।

पूर्व में 'विश्वजित्' न्याय का जो दृष्टान्त दिया है, उसका क्या तात्पर्य है? इस आकांक्षा में उसका स्वरूप दिखाया जाता है—विश्वजित्-याग का फल स्वयं सूत्रकार जैमिनि ने स्वर्ग बताया है—'स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशेषात्' (जै०सू०, ४।३।१३)। इसका तात्पर्य यह है कि दुःख से अमिश्रित निरतिशय सुख का आस्पद जो स्वर्ग है, वही विश्वजित् याग का फल है। इसमें हेतु है—'सर्वान् प्रत्यविशेषात्', अर्थात् कामनायुक्त सकल मनुष्यों के प्रति अविशेष होने से। तात्पर्य यह है कि 'विश्वजिता यजेत' इस श्रुति से याग का विधान किया गया है, उसमें अमुक कामनावाले याग करें, इस प्रकार अधिकारी का नियम सूत्रकार ने नहीं बताया। इसलिए, विश्वजित् याग का कौन अधिकारी है, इस प्रकार की आकांक्षा में किसी फल की कल्पना कर उसे चाहनेवाला अधिकारी होगा। जिसकी कल्पना की गई है, वही कल्प्यमान विश्वजित्

याग का फल होगा, और उस फल को ऐसा होना चाहिए, जो सबका अभीष्ट हो। दुःख से रहित निरतिशय सुख ही, जिसे स्वर्ग कहते हैं, सबका अभीष्ट है। इसलिए, स्वर्ग ही विश्वजित् याग का फल है, यह सिद्ध होता है। यही 'विश्वजित्' न्याय है।

इसी तात्पर्य से कुमारिल भट्ट ने कहा है—

'विनापि विधिना दृष्टलाभान्नहि तदर्थता।
कल्पस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत्॥'

स्वर्ग-रूप फल की कल्पना करने पर अध्ययन-विधि का तात्पर्य अर्थज्ञान-पर्यन्त न होने के कारण ही 'वेदमधीत्य स्नायात्' श्रुति भी अनुगृहीत होती है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन करने के बाद (अव्यवहित उत्तरकाल में) स्नायात्—समावर्त्तन-संस्कार करे। अध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करने के लिए जो संस्कारविशेष है, उसको समावर्त्तन कहते हैं, उसीका बोधक श्रुति में 'स्नायात्' पद है। इस समावर्त्तन-विधि में 'अधीत्य' में त्वा विधि से अध्ययन और समावर्त्तन में अव्यवधान प्रतीत होता है। यदि अध्ययन के बाद धर्म-विचार के लिए पुनः गुरुकुल में रहना हो, तब तो अध्ययन और समावर्त्तन में अव्यवधान का बोध हो जाता है। इसलिए, विचार-शास्त्र के वैध न होने, केवल पाठमात्र से ही स्वर्ग-फल की सिद्धि हो जाने तथा समावर्त्तन-शास्त्र के विरोध होने पर भी विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं होने से धर्मविचार-शास्त्र अनारम्भणीय है, यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

यहाँ सिद्धान्ती का यह कहना है कि यह सब पूर्वपक्षी का कहना युक्त नहीं है। कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि को जो पूर्वपक्षी कहते हैं कि न यह अपूर्वविधि है और न नियम-विधि ही, यह बिलकुल अयुक्त है। यद्यपि अप्राप्त विधि न होने से अपूर्वविधि नहीं हो सकती, तथापि नियम-विधि का अपलाप नहीं कर सकते। कारण यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' के 'अध्येतव्यः' में जो तव्य है, वह अभिधा-भावना का बोध कराता है। अभिधा-भावना को ही शाब्दी भावना कहते हैं। इसीका नाम प्रेरणा भी है। जिसका उद्देश्य पुरुषप्रवृत्ति-रूप आर्थी भावना है। तात्पर्य यह है कि तव्य का विधान विधि-अर्थ में होता है। विधि का अर्थ है भावना। वह दो प्रकार की होती है—अभिधा-भावना और आर्थी भावना। अभिधा शब्द को ही कहते हैं। अभिधीयते अर्थः अनेन—जिससे अर्थ का अभिधान किया जाय, इस व्युत्पत्ति से शब्द को ही अभिधा कहते हैं; क्योंकि शब्द में ही अर्थ का अभिधान किया जाता है। शब्द में रहनेवाली जो भावना है, वही शाब्दी भावना है। व्यापारविशेष का ही नाम भावना है। यह भावना तव्य प्रत्यय का वाच्य है; क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वाक्य में जो तव्य है, उसके श्रवण-मात्र से 'यह तव्य अध्ययन के लिए मुझको प्रेरित करता है' इस प्रकार की प्रतीति स्वयं होती है। और, जिसके सुनने से जो अर्थ नियमेन प्रतीत हो, वह उसका वाच्य होता है। तव्य सुनने से प्रेरणा की प्रतीति होती है, इसलिए तव्य का ही वाच्य भावना है, यह सिद्ध होता है। लोक में प्रेरणा पुरुष में ही रहती है, इसलिए प्रकृत में भी भावना का आश्रय पुरुष ही है, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। कारण यह है कि वेद अनादि है, इसका बनानेवाला

कोई नहीं है। इसलिए, अभिधा-भावना का आश्रय 'तव्य' शब्द ही हो सकता है, और वही तव्य भावना का वाचक भी है, यह सिद्ध होता है।

इसी शाब्दी भावना से अध्ययन, याग इत्यादि में पुरुष की प्रवृत्ति कराई जाती है। इसी प्रवृत्ति का नाम आर्थी भावना है; क्योंकि यह पुरुष-रूप अर्थ में ही रहनेवाली है। इस आर्थी भावना का भी वाचक तव्य प्रत्यय ही है; क्योंकि धातु अध्ययन-मात्र का ही वाचक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शाब्दी भावना और आर्थी भावना—इन दोनों का वाचक तव्य प्रत्यय है। और शाब्दी भावना का आश्रय तव्य प्रत्यय है, और आर्थी भावना का पुरुष। अब एक आकांक्षा और होती है कि पुरुषप्रवृत्ति-रूप जो आर्थी भावना है, उसका उद्देश्य क्या है? इसके दो ही उद्देश्य हो सकते हैं—समान पद का वाच्य, या समान वाक्य का वाच्य। समान पद से प्राप्त अध्ययन है, और समान वाक्य से प्राप्त स्वाध्याय (वेदराशि)। अध्ययन तो पुरुष-प्रवृत्ति का उद्देश्य हो नहीं सकता, कारण यह है कि अध्ययन क्लेशावह होता है, और उद्देश्य ऐसा होना चाहिए, जो सुखकारक हो; क्योंकि सुख ही सबका उद्देश्य रहता है। यदि स्वाध्याय (वेद) को आर्थी भावना का उद्देश्य मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि प्रकृत में उद्देश्य का अर्थ है साध्य, अर्थात् जिसमें क्रिया का फल रहता है। वेद अनादि, नित्य और सिद्ध है। इसलिए, यह साध्य अर्थात् उद्देश्य नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जिसमें क्रिया का फल रहता है, वही उद्देश्य होता है। क्रिया का फल चार प्रकार का होता है—उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार। जैसे, कुलाल की क्रिया से घट की उत्पत्ति होती है। गमन-क्रिया से देशान्तर-प्राप्ति होती है, पाक-क्रिया से तण्डुल का विकार होता है और लाक्षा-रस के सेक से कपास के बीज में गुणाधान द्वारा संस्कार होता है, अथवा मणि या दर्पण में निघर्षण के द्वारा दोष निकल जाने से संस्कार होता है। इन चार क्रिया-फलों में कोई भी वेद में नहीं आता। अध्ययन में प्रवृत्ति होने से वेद की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि वह नित्य है। विभु होने से उसकी प्राप्ति भी नहीं होती। अध्ययन करने से किसी प्रकार का वेद में विकार भी नहीं आता और अध्ययन से वेद का संस्कार भी नहीं होता। कारण यह है कि कार्यान्तर की योग्यता का आधान करने का नाम संस्कार है, और निर्विकार स्फोट-स्वरूप शब्द-ब्रह्मरूप वेद में कोई भी ऐसा विशेष गुण नहीं है, जिसका आधान किया जाय। कोई दोष भी नहीं है, जिसका अपकरण-रूप संस्कार किया जाय। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि अध्ययन या वेद दोनों में कोई भी आर्थी भावना का उद्देश्य नहीं हो सकता। उद्देश्य के बिना भावना व्यर्थ हो जाती है, इसलिए अर्थावबोध को उद्देश्य मानना आवश्यक है। ऐसा न मानने से अध्ययन-विधि व्यर्थ हो जायगी।

अतः, अध्ययन-विधि के सामर्थ्य से उसका फल अर्थज्ञान ही है, यह कल्पना की जाती है। अध्ययन के द्वारा ही अर्थज्ञान का सम्पादन करे, यही 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन-विधि का तात्पर्य है। यद्यपि अध्ययन-विधि का फल स्वर्ग भी हो सकता है, और यह 'विश्वजित्' न्याय से अनुगृहीत भी है, तथापि

स्वर्ग इसका अर्थ नहीं होता; क्योंकि स्वर्ग अदृष्ट फल है, और दृष्ट फल के रहते अदृष्ट फल की कल्पना अन्याय्य होती है—'सम्मतिदृष्टफलकत्वे अदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वम्।'

यदि यह कहें कि दृष्टफल तो लिखित पाठ से भी सिद्ध हो जाता है, इसके लिए विधि करने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके हैं कि अपूर्वविधि के न होने पर भी नियम-विधि के होने में कोई बाधक नहीं है। अध्ययन-विधि के नियम होने से यह भाव सिद्ध होता है कि अर्थज्ञान-रूप दृष्टफल भी गुरुमुख से अध्ययनपूर्वक ही होना चाहिए, लिखित पाठ आदि से नहीं। इसी नियम के बल से अध्ययन-नियम के दृष्टफल न होने के कारण अगत्या अवान्तरापूर्व-रूप अदृष्ट फल की कल्पना की जाती है। इस प्रकार की कल्पना में समस्त क्रतुजन्य अपूर्व ही हेतु होता है। क्योंकि, अर्थज्ञान के बिना कोई भी यज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिए, महर्षि जैमिनि ने षष्ठ अध्याय में कहा है कि जिसको अर्थज्ञान नहीं है, उसका भी यज्ञ में अधिकार नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि स्वाध्याय भी अध्ययन से संस्कृत होना चाहिए। यही अध्ययन-विधि का तात्पर्य है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होनेवाला जो परमापूर्व है, वही अवघातादि से उत्पन्न अवान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है, उसी प्रकार समस्त क्रतुजन्य जो परमापूर्व है, वही अध्ययन-विधि से उत्पन्न अवान्तरापूर्व का ज्ञापक होता है। यदि अध्ययन-नियम से उत्पन्न अवान्तरापूर्व को न मानें, तो अध्ययनविधायक श्रुति ही निरर्थक हो जायगी। यदि 'विश्वजित्' न्याय से अदृष्ट फल स्वर्गादि की कल्पना करें, तो भी ठीक नहीं होता, इसका कारण पहले ही बता चुके हैं। दृष्टफल की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना अयुक्त है। इसीको दूसरे शब्दों में लिखा है—

'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति॥'

अर्थात्, दृष्टफल के लाभ होने की सम्भावना में अदृष्ट फल की कल्पना नहीं होती, और विधि भी व्यर्थ नहीं होता; क्योंकि नियम के लिए वह चरितार्थ है।

पूर्व में जो स्वाध्याय को अध्ययन से संस्कृत होना बताया गया है, उसका तात्पर्य स्वाध्याय को फल के अभिमुख करना ही है, गुणाधान या दोषापनयन नहीं। क्योंकि, ऐसा मानने में वेद अनित्य हो जायगा। इसलिए, फल के अभिमुख करना ही स्वाध्याय का संस्कार समझना चाहिए। इससे वेद में उक्त दोष भी नहीं आते।

एक शङ्का और होती है कि केवल वेदमात्र के अध्ययन से अर्थ का ज्ञान न हो, परन्तु जो व्याकरण आदि अङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करता है, उसके लिए अर्थज्ञान होना सुकर है, पुनः इसके लिए विचार-शास्त्र की क्या आवश्यकता है?

उत्तर यह है कि यद्यपि साङ्गवेद पढ़नेवालों के लिए अर्थज्ञान होना सुलभ है, तथापि केवल अर्थज्ञान-मात्र से किसी विषय का निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि निर्णय विचार-शास्त्र के ही अधीन होता है। जैसे—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' (तै० ब्रा० ३।१२।५) इस मन्त्र में अक्त शर्करा का उपधान बताया है। अक्त का

अर्थ है घृत या तेल मिलाया हुआ। अब यहाँ सन्देह होता है कि किससे अक्त (मिश्रित) शर्करा का उपधान किया जाय ? घृत या तेल से ? केवल अर्थज्ञान से यह निर्णय नहीं हो सकता कि घृत से ही मिश्रित शर्करा होनी चाहिए, तेल से नहीं। विचार-शास्त्र से यह निर्णय सुलभ हो जाता है। जैसे—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' मन्त्र के वाक्यशेष में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य से घृत की प्रशंसा की गई है; इससे इस निर्णय पर आते हैं कि घृत से ही शर्करा को अक्त (मिश्रित) करना मन्त्र का अभिप्राय है। इस प्रकार, निर्णय के लिए विचार-शास्त्र की आवश्यकता होती है।

अब यहाँ एक और भी सन्देह होता है कि वेदाध्ययन के बाद भी धर्म-विचार के लिए गुरुकुल में यदि रहना हो, तब तो 'वेदमधीत्य स्नायात्', इस श्रुति का बाध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन के अव्यवहित उत्तरकाल में समावर्त्तन, अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना श्रुति बताती है। यदि अध्ययन के बाद गुरुकुल में रहना हो, तब तो श्रुति का अवश्य बाध हो जाता है। 'अधीत्य' पद में जो (त्वाल्यप्) है, उसका अव्यवहित उत्तरकाल ही अर्थ होता है।

इसका उत्तर यह होता है कि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले', इस सूत्र में 'अधीत्य' में जो त्वा (ल्यप्) प्रत्यय का विधान है, वह एक कर्तावाले दो धात्वर्थों के बीच पूर्वकाल में विद्यमान धातु से ही होता है। यहाँ त्वा प्रत्यय का, निमित्त-क्रिया का, अव्यवधान होना पाणिनि ने कहीं नहीं बताया। इसलिए, 'स्नात्वा भुङ्क्ते'—स्नान कर भोजन करता है, यहाँ स्नान के बाद भोजन करने में सन्ध्या-पूजा आदि के व्यवधान होने पर भी त्वा प्रत्यय होता है। यदि त्वा प्रत्यय का निमित्त-क्रिया में व्यवधान भी माना जाय, तब तो स्नान के बाद वस्त्र पहनने में भी भोजन का व्यवधान हो जाता है। सन्ध्या-पूजा आदि करने में तो और अधिक व्यवधान है।

इस स्थिति में, 'वेदमधीत्य स्नायात्', यहाँ त्वा प्रत्यय से अध्ययन और समावर्त्तन में अव्यवधान की प्रतीति किसी प्रकार भी नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार, एक हजार अधिकरणवाला मीमांसा-शास्त्र अवश्य आरम्भणीय है, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है।

यह आचार्य कुमारिलभट्ट के मतानुसार अधिकरण का स्वरूप दिखाया गया। इसीको भट्ट-मत या आचार्य-मत कहते हैं। मीमांसा-शास्त्र के दो प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं—एक कुमारिलभट्ट, दूसरा प्रभाकर। परन्तु, आचार्य-मत कहने से कुमारिलभट्ट का ही मीमांसा-शास्त्र में बोध होता है और गुरु-मत कहने से प्रभाकर का ही मत समझा जाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि किसी समय प्रभाकर को उनके गुरुजी पढ़ा रहे थे। पढ़ाते समय गुरुजी को एक फक्किका के विषय में कुछ सन्देह हुआ। वह विषय यही था कि—'तत्र तु नोक्तम्, अत्रापि नोक्तमतः पौनरुक्तम्'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ तो नहीं कहा, और यहाँ भी नहीं कहा, इसलिए पुनरुक्त हुआ। गुरुजी के मन में शङ्का हुई कि पुनरुक्त वह कहा जाता है, जिसको पहले कह चुके हों, उसीको पुनः कहा जाय। यहाँ तो वहाँ भी नहीं कहा यहाँ भी नहीं कहा, फिर पुनरुक्त कैसा ? इस प्रकार संशय होने से गुरुजी का चित्त आन्दोलित होने लगा।

वे शीघ्र बाहर जाकर सोचने लगे। प्रभाकर को यह बात मालूम हो गई, उन्होंने झट कलम उठाकर पुस्तक में इस प्रकार पदच्छेद कर दिया—'तत्र तुना (तुशब्देन) उक्तम्, अत्र अपिना (अपिशब्देन) उक्तम्, अतः पौनरुक्तम्'—वहाँ तु शब्द से कहा और यहाँ अपिशब्द से इसलिए पुनरुक्त है। इस प्रकार, पदच्छेद को देखते ही गुरुजी का सन्देह निवृत्त हो गया, और वे छात्रों से पूछने लगे कि किसने पदच्छेद किया है? विद्यार्थियों ने कहा, प्रभाकर ने। इस पर प्रसन्न होकर गुरुजी ने प्रभाकर से कहा—'त्वमेव गुरुः'। उसी समय से प्रभाकर को आज तक गुरु कहा जाता है और उनका मत गुरु-मत माना जाता है। अब गुरु-मत से भी अधिकरण का स्वरूप दिखाया जायगा।

प्रभाकर (गुरु) के मतानुसार अधिकरण-स्वरूप

'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत'—आठ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन करे, और उसे पढ़ावे, इस श्रुति का विधेय विषय अध्यापन ही प्रतीत होता है, दूसरे शब्दों में, श्रुति अध्यापन का ही विधान करती है। विधि को ही नियोग कहते हैं। जिसके प्रति नियोग, अर्थात् विधान, किया जाय, वह नियोज्य कहा जाता है। नियोग नियोज्य की अपेक्षा करता है। प्रकृत में कौन नियोज्य है? इस आकांक्षा में, जिसको आचार्यत्व-प्राप्ति की कामना होगी, वही नियोज्य समझा जायगा। कारण यह है कि मन्त्र में 'उपनयीत' जो पद है, उसमें 'उप' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु का विधिपूर्वक अपने समीप में ले आना ही अर्थ होता है, और ले आने का फल माणवक का संस्कार ही है, और वह संस्कार माणवक में ही होता है, आचार्य में नहीं। इसलिए, उपनयन-रूप क्रिया का फल जो माणवक-वृत्ति-संस्कार है, वह आचार्य-रूप कर्त्ता में नहीं रहता, इसलिए क्रियाफल के कर्तृगामी नहीं होने से 'स्वरित ञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले', इस सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध नहीं होगा, इसलिए 'सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः', इस सूत्र से आचार्यकरण-अर्थ में आत्मनेपद का विधान किया जाता है। यहाँ आचार्यकरण का तात्पर्य है—आचार्य का कर्म। यह आचार्य-कर्म धातु-प्रयोग की उपाधि और आत्मनेपद का निमित्त है।

इस अवस्था में 'उपनयीत' यहाँ आत्मनेपद से आचार्य-कर्म की ही प्रतीति होती है। इसलिए, आचार्य-कर्म को चाहनेवाला ही प्रकृत में नियोज्य हो सकता है। उपनयन में जो नियोज्य है, वही अध्यापन में भी नियोज्य होगा; क्योंकि उपनयन और अध्यापन इन दोनों क्रियाओं का एक ही प्रयोजन होता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों सम्मिलित क्रियाओं से ही आचार्यत्व-प्राप्ति-रूप एक प्रयोजन सिद्ध होता है।

मनु ने भी कहा है—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
साङ्गञ्च सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥'

अर्थात्, जो ब्राह्मण शिष्य को उपनीत कर अङ्ग और रहस्य के सहित वेद पढ़ाता है, उसीको पूर्वाचार्य लोग आचार्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपनयनपूर्वक

अर्थ की अविवक्षा की जाय, तो विचार का कोई विषय नहीं रह जायगा। इस अवस्था में पूर्वोक्त विषयाभाव-रूप दोष पुनः गलेपतित हो जाता है।

इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यह प्रश्न भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि वेदवाक्य के साथ 'विषं भुङ्क्ष्व' का दृष्टान्त लागू नहीं होता; क्योंकि माता पुत्र को विष खाने के लिए कभी आज्ञा नहीं दे सकती, इसलिए माता के तात्पर्य से विष-भक्षण-रूप मुख्य अर्थ के बाधित होने से प्रतीयमान शत्रु-गृह में भोजन का निषेध ही अर्थ की विवक्षा की जाती है, किन्तु उस प्रकार वेदवाक्य में अर्थ की अविवक्षा नहीं कर सकते; क्योंकि वेद अपौरुषेय है। इसका रचयिता कोई नहीं है। यदि वेद का भी कोई कर्त्ता होता, तो उसके तात्पर्य से मुख्यार्थ का बाध हो सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है। अपौरुषेय होने से वेदवाक्य में प्रतीयमान अर्थ की अविवक्षा नहीं हो सकती। प्रतीयमान अर्थ की विवक्षा मानने में जहाँ-जहाँ पुरुष को सन्देह होगा, वे सब विचार-शास्त्र के विषय होंगे और उसका प्रयोजन निर्णय होगा। निर्णय के लिए ही विचार-शास्त्र आवश्यक होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यापन विधि से सिद्ध जो अध्ययन-विधि है, उससे होनेवाला जो अर्थ है, वह विचार के योग्य है, इसलिए विचार के वैध होने से विचार-शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।

वेद के अपौरुषेयत्व का विचार

अब यहाँ नैयायिकों का आक्षेप होता है कि यदि वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध हो, तब तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है। परन्तु, वेद के अपौरुषेयत्व में कोई भी प्रमाण नहीं है, इसलिए यह पौरुषेय है, अर्थात् पुरुष-प्रणीत है। यहाँ पुरुष शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया जाता है। ईश्वर-प्रणीत जो आनुपूर्वीविशेष विशिष्ट शब्द-राशि है, वही वेद है, ऐसी इनकी मान्यता है। ईश्वर-प्रणीत होने से यह पौरुषेय सिद्ध होता है।

इस पर मीमांसकों का कहना है कि अनुमान-प्रमाण से ही वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है। अनुमान का स्वरूप यह है—वेद (पक्ष) अपौरुषेय है (साध्य), सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी कर्त्ता के स्मरण न होने से (हेतु), आत्मा के सदृश (दृष्टान्त)। इस प्रकार के अनुमान से वेद का अपौरुषेय होना सिद्ध होता है। यहाँ सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि जिस ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त में अथवा अवान्तर प्रकरण में कहीं भी ग्रन्थकार अपना नाम लिख देता है, तो वहाँ सकर्तृक होने में कोई भी सन्देह या विवाद नहीं होता, जैसे महाभाष्य, प्रदीप, रघुवंश, कौमुदी आदि। और, जहाँ सम्प्रदाय के अविच्छेद में भी गुरु-परम्परया कर्त्ता का स्मरण रहता है, वहाँ भी सकर्तृक होने में सन्देह या विवाद नहीं होता, जैसे पाणिनि, पतञ्जलि, व्यास आदि के रचित व्याकरण, योग, वेदान्त आदि ग्रन्थों में। और, जहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने कहीं पर भी अपना नाम नहीं लिखा और सम्प्रदाय का भी विच्छेद हो गया, और सम्प्रदाय के विच्छेद होने से कर्त्ता का भी स्मरण नहीं रहा, वहाँ पौरुषेय होने में सन्देह हो सकता है। परन्तु, सम्प्रदाय के अविच्छिन्न रूप से, निरन्तर

धारा-प्रवाह-रूप से चलते रहने पर भी यदि कर्त्ता का स्मरण न हो, तब तो वहाँ कर्त्ता का अभाव ही कारण हो सकता है। इस प्रकार, सम्प्रदाय का विच्छेद न होने पर भी कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद को अपौरुषेय माना जाता है।

यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्प्रदाय का अविच्छेद होने पर भी यह जो विशेषण हेतुदल में दिया गया, वह असिद्ध है; क्योंकि वेद को पौरुषेय माननेवाले प्रलय-काल में सम्प्रदाय का विच्छेद मानते हैं, इसलिए हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है, इससे अनुमान का प्रयोजक नहीं होता। जिस प्रकार, शब्द नित्य है, द्रव्य होने पर भी स्पर्श-रहित होने से आकाश के सदृश। इस अनुमान में पक्षभूत जो शब्द है, उसमें द्रव्यत्व नहीं है; इसलिए द्रव्यत्व विशेषण के असिद्ध होने से शब्द के नित्यत्वानुमान का वह प्रयोजक नहीं हो सकता। उसी प्रकार, प्रकृत में भी सम्प्रदाय का अविच्छेद होने पर, यह जो हेतु का विशेषण है, उसके असिद्ध होने से अनुमान का प्रयोजक नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि अपौरुषेयत्व होने में अस्मर्यमाण कर्त्तृकत्व अर्थात् कर्त्ता का अस्मरण-रूप जो हेतु दिया गया है, उसका तात्पर्य क्या है? वेद का कर्त्ता प्रमाण से सिद्ध नहीं, यह अथवा वेद का कर्त्ता स्मरण का विषय नहीं, यह है?

प्रमाण से सिद्ध नहीं है, यह तो कह नहीं सकते; क्योंकि 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमिदं यद् ऋग्वेदः यजुर्वेदः'; 'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे'; 'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूँषि सामानि' इत्यादि अनेक श्रुतियों के प्रमाण से वेद का कर्त्ता सिद्ध है। यदि दूसरा पक्ष, अर्थात् स्मरण के विषय न होने से यह कहें, तो भी ठीक नहीं बनता। कारण यह है कि इसमें विकल्प का समाधान नहीं होता। विकल्प यह होता है कि एक का स्मरण-विषय न होने के कारण अथवा सबका?

पहला पक्ष तो मान नहीं सकते; क्योंकि मुक्तकोक्ति में व्यभिचार हो जाता है। परस्पर असम्बद्ध एकत्र संगृहीत जो स्फुट श्लोक हैं, उन्हींका नाम मुक्तक है। यह पौरुषेय होता है। प्रथम विकल्प मानने में इसमें भी अपौरुषेय का लक्षण चला जाता है। इसलिए, अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि सबके स्मरण का विषय नहीं है, यह सर्वज्ञ ही जान सकता है। क्योंकि, वेद के कर्त्ता का किसी ने कहीं भी कदापि निश्चय नहीं किया। यह निश्चय करना अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए सर्वदा असम्भव है। इसके अतिरिक्त पौरुषेयत्व का साधक अनुमान-प्रमाण भी है—वेदवाक्य (पक्ष) पौरुषेय है (साध्य), वाक्य होने के कारण (हेतु), व्यासादि वाक्य के समान (दृष्टान्त)। इस अनुमान से भी वेद का पुरुष-प्रणीत होना निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार, वेद का पौरुषेयत्व-साधन करने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह भी अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि इसके विपरीत अपौरुषेयत्व का साधक प्रबल अनुमान विद्यमान है—

'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥'

अर्थात्, समस्त वेदाध्ययन (पक्ष) गुरु के अध्ययनपूर्वक ही होता है (साध्य), वेदाध्ययन होने के कारण (हेतु), वर्त्तमान वेदाध्ययन के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि वेद का अध्ययन और अध्ययनों से विलक्षण है। और अध्ययन विना गुरु के लिखित पाठ आदि से भी सम्भव है, परन्तु वेद का अध्ययन ऐसा नहीं है। विना गुरु के वेद नहीं पढा जाता, यह नियम है। यदि वेद का कर्त्ता मानें, तो उसके बनानेवाले ने भी किसी गुरु से पढ़ा होगा, यह मानना होगा। और, वह गुरु भी किसी अन्य गुरु से। इस प्रकार, वेद का पौरुषेय मानने में अनवस्था-दोष हो जाता है। इसलिए, अपौरुषेय मानना ही युक्त है।

इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस प्रकार का अनुमान करने से तो महाभारतादि भी अपौरुषेय होने लगेंगे। जैसे—

'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा॥'

भारताध्ययन भी गुरु से अध्ययनपूर्वक है, भारताध्ययन होने से इस समय के अध्ययन के समान। इस प्रकार के अनुमान से महाभारत भी अपौरुषेय होने लगेगा। इसलिए, वेद को पौरुषेय मानना ही युक्त है। इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि यह आप (पूर्वपक्षी) का अनुमान, 'जिससे वेद का पौरुषेयत्व-साधन करते हैं, अनुमानाभास है; क्योंकि 'कोऽन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्', इत्यादि स्मृति-वचनों से महाभारत का कर्त्ता सिद्ध है। इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि 'ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत', इत्यादि श्रुति-प्रमाण से वेद का भी कर्त्ता सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सिद्धान्ती भारताध्ययनत्व-हेतु से महाभारत के पौरुषेयत्व का अनुमान आभासी मानते हैं, उसी प्रकार वेदाध्ययनत्व-हेतु से वेद के अपौरुषेयत्व का अनुमान भी आभासी हो जाता है; क्योंकि इस अनुमान में भी कोई अनुकूल तर्क नहीं है। जो-जो अध्ययन हैं, वे सब गुरु से अध्ययनपूर्वक ही हैं, इसमें कोई भी हेतु नहीं है। इसलिए, वेद को पौरुषेय ही मानना उचित है।

वेद का अनित्यत्व-साधन

एक बात और है, जिससे वेद का पौरुषेय होना सिद्ध होता है—यथार्थ ज्ञान का साधक और विशेष प्रकार की रचनाविशिष्ट जो शब्द-राशि है, उसीको वेद कहते हैं। शब्द अनित्य होता है, और जो अनित्य है, वह उत्पन्न होने के कारण अपौरुषेय नहीं हो सकता। और, शब्द के अनित्य होने में अनुमान ही प्रमाण होता है। अनुमान का स्वरूप—शब्द, (पक्ष) अनित्य है (साध्य), जातिमान् होकर बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण (हेतु), घट के समान (दृष्टान्त)। अर्थात्, जिस प्रकार घट, घटत्व जाति का आश्रय होकर बाह्येन्द्रिय, अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय, से ग्राह्य होने के कारण अनित्य होता है, उसी प्रकार शब्द भी शब्दत्व जाति का आश्रय और बाह्येन्द्रिय श्रोत्र से ग्राह्य होने से अनित्य है।

इस पर मीमांसक कहते हैं कि शब्द यदि अनित्य हो, तो देवदत्त से उच्चरित जो 'ग' शब्द है, उसके अनित्य होने से उच्चारण के बाद ही उसका नाश हो जायगा, फिर यज्ञदत्त से उच्चरित 'ग' में वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह नहीं हो सकती।

प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का प्रत्यक्षविशेष ही है। इन्द्रिय-सहकृत संस्कार से जन्य, यही इसकी परिभाषा है। इस प्रत्यभिज्ञा से बाधित होने के कारण शब्द के अनित्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए, वेद भी पौरुषेय नहीं हो सकता, यह मीमांसकों का तात्पर्य है। इस पर नैयायिकों का कहना है कि 'सोऽयं गकारः', वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा है, उसका विषय गकार नहीं है; किन्तु, गत्व जाति है। अर्थात्, उस गकार के नष्ट हो जाने पर भी उसका सजातीय जो अन्य गकार है, उसीमें 'सोऽयं गकारः', यह प्रत्यभिज्ञा होती है। जिस प्रकार, शिर के केश काटने पर दूसरे जो केश जमते हैं, उनमें वे ही यह केश हैं, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। उसी प्रकार, यहाँ पर भी उसके समान जातिवाले दूसरे गकार में ही 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए, इस प्रत्यभिज्ञा से शब्द के अनित्यत्व का बाध नहीं हो सकता। अतः, शब्द के अनित्य होने से वेद का पौरुषेय होना सिद्ध हो जाता है।

अब यहाँ यह आशङ्का होती है कि वेद के पौरुषेयत्व का तात्पर्य क्या है? यदि पुरुष का तात्पर्य ईश्वर है, और उससे रचित ग्रन्थ-विशेष पौरुषेय है, ऐसा अर्थ मानें, तब तो युक्त नहीं होता। कारण यह है कि ईश्वर निराकार है, उसके कण्ठ, तालु आदि अवयव भी नहीं है; क्योंकि निराकार का अवयव नहीं होता। जैसे— आकाश, काल आदि निराकार पदार्थ के अवयव नहीं होते। शब्द की उत्पत्ति कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से ही होती है। ईश्वर को कण्ठ, तालु आदि नहीं हैं, तो वह वेद को किस प्रकार बना सकता है? इस शङ्का के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर यद्यपि निराकार है, तथापि लीला से शरीर धारण करना सम्भव है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है और भक्तों के अनुग्रहार्थ शरीर धारण करता है। यह श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास आदि प्रमाणों से सिद्ध है। इस प्रकार, शरीर की कल्पना से ही वेद ईश्वर-कृत माना जाता है। इसलिए, यह पौरुषेय भी है, यह पूर्वपक्षी का तात्पर्य है।

यहाँ सिद्धान्ती का पुनः यह प्रश्न होता है कि पौरुषेय का तात्पर्य क्या है? क्या पुरुष से उच्चरित होना ही पौरुषेय है, जैसे हमलोगों से प्रतिदिन उच्चरित वेद अथवा प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर उसके प्रकाशन के लिए रचित आधुनिक विद्वानों के निबन्ध? प्रथम पक्ष में तो कोई विवाद नहीं है; क्योंकि हमलोगों के सदृश ही पुरुष से उच्चरित होने के कारण पुरुषनिर्मित नहीं कहा जा सकता, इसलिए पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, वेद का अपौरुषेयत्व स्वस्थ रह जाता है। यदि यह कहें कि प्रमाणान्तर से अर्थ जानकर उसके प्रकाशन के लिए रचना की गई, सो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि, इसमें दो विकल्पों का समाधान नहीं होता। यथा,

प्रमाणान्तर से जानकर, इसमें प्रमाणान्तर पद से क्या अनुमान का ग्रहण है, अथवा आगम का ? यदि अनुमान का ग्रहण मानें, तो अर्थ होगा कि अनुमान-प्रमाण से जानकर प्रकाशन के लिए ग्रन्थ बनाना। इस अवस्था में पौरुषेयत्व का अनुमापक जो वाक्यत्व-हेतु दिया था, वह मालतीमाधव, दशकुमारचरित आदि काल्पनिक ग्रन्थों में व्यभिचरित हो जायगा। क्योंकि, मालतीमाधव, दशकुमारचरित आदि काल्पनिक ग्रन्थ अनुमान-प्रमाण से अर्थ निश्चयकर नहीं लिखे गये हैं, इसलिए वे पौरुषेय नहीं कहे जा सकते। और, वहाँ वाक्यत्व है, अतः पौरुषेयत्व-रूप साध्य के अभावस्थल उक्त काल्पनिक ग्रन्थों में वाक्यत्व-हेतु के रहने से हेतु व्यभिचरित हो जाता है, और व्यभिचरित होने से साध्य का साधक नहीं हो सकता। क्योंकि, व्यभिचरित होने से हेत्वाभास हो जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि केवल वाक्यत्व-हेतु नहीं है, किन्तु—प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वात्—प्रमाण होकर वाक्य होने से, इतना हेतु है। प्रकृत काल्पनिक ग्रन्थों में प्रमाणत्व नहीं रहने से विशेषण के अभाव में विशिष्ट का भी अभाव होता है, इस सिद्धान्त से उक्त ग्रन्थों में व्यभिचार नहीं होता।

परन्तु, यह भी पूर्वपक्षी का कहना समुचित नहीं है, कारण यह है कि वेद-वाक्य वही होता है, जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं होनेवाले अर्थ का प्रकाशक हो। दूसरे शब्दों में, प्रमाणान्तर के अविषय जो अर्थ हैं, उनका प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, वे ही वेदवाक्य कहे जाते हैं। और, वे ही वेदवाक्य यदि अनुमान-प्रमाण से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करें, तब तो 'मम माता बन्ध्या' वाक्य के सदृश व्याघात-दोष हो जायगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदवाक्य का पौरुषेयत्व-साधन करनेवाला जो वाक्यत्व-हेतु है, वह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि पौरुषेयत्व के तात्पर्य में कहा गया है कि अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध जो अर्थ है, उसको जानकर जिसकी रचना की गई है, वही पौरुषेय है, और यह लक्षण वेद-वाक्य में घटता नहीं; क्योंकि प्रमाणान्तर के अविषयीभूत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य ही वेद-वाक्य हैं। एक बात और भी है कि आप (पूर्वपक्षी) ने जो कहा कि परमात्मा के शरीर न होने पर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह के लिए लीला-शरीर का ग्रहण करते हैं, इसलिए वेद की रचना कर सकते हैं, सो भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि लीला-शरीर धारण करने पर भी अतीन्द्रिय अर्थ को देखना सङ्गत नहीं होता। जो अर्थ देश, काल और स्वभाव से दूर है, उसके ग्रहण करने का कोई उपाय नहीं है। देशान्तर या लोकान्तर में विद्यमान जो वस्तु है, वह देश से विप्रकृष्ट अर्थात् दूर कहा जाता है। भूत और भविष्य में होनेवाला वस्तु-काल तो विप्रकृष्ट कहा जाता है, इन सबका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। स्वभावतः विप्रकृष्ट वह है, जिसमें स्वभाव से ही उस वस्तु के ग्रहण करने का सामर्थ्य न हो। जैसे, चक्षु-इन्द्रिय का सामर्थ्य स्वभाव से ही रस और गन्ध के ग्रहण करने में नहीं है। चक्षु केवल रूप का ही ग्रहण करता है। चक्षु के साथ पुष्प के सन्निकर्ष होने पर भी पुष्प में विद्यमान गन्ध का ग्रहण नहीं करता; क्योंकि केवल रूप का ही ग्रहण करना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार, हर एक

इन्द्रियाँ एक विशेष गुण का ही ग्रहण करती हैं, अन्य का नहीं, यह उनका स्वभाव है। इसलिए, शरीर-धारण करने पर भी ईश्वर देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं कर सकता। इसपर पूर्वपक्षी का कहना है कि ईश्वर अचिन्त्यशक्ति है, उसकी इन्द्रियों की शक्ति भी विलक्षण है। उसकी इन्द्रियाँ देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट वस्तुओं का भी ग्रहण कर लेती हैं। यही ईश्वर की विशेषता है। परन्तु, सिद्धान्ती मीमांसक इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि दृष्ट के अनुसार ही कल्पना का आश्रयण युक्त होता है। कुमारिलभट्ट ने लिखा है—

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः सस्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्नरूपे श्रोत्रवृत्तिता॥'

अपने विषय का अतिक्रमण कर कहीं भी अतिशय नहीं देखा गया है। केवल दूरस्थ पर्वतादि में रहनेवाले सूक्ष्मतर परमाणु आदि का भी ज्ञान कर सकता है, यही अतिशय का फल है। परन्तु, रूप के ग्रहण करने में श्रोत्र-इन्द्रिय का व्यापार कभी समर्थ नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ईश्वर की इन्द्रियों में अतिशय सामर्थ्य होने पर भी दूरस्थ पर्वतादि में रहनेवाले जो अव्यवहित सूक्ष्म परमाणु आदि हैं, उनका वह ज्ञान कर सकता है, परन्तु देश, काल और स्वभाव से जो विप्रकृष्ट हैं, उनका ज्ञान नहीं कर सकता; क्योंकि यह युक्ति से विरुद्ध हो जाता है। इसीलिए, मीमांसक के मत में कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं माना जाता। अतएव, 'आगम से जानकर' यह जो द्वितीय विकल्प किया है, यह भी युक्त नहीं होता; क्योंकि युक्ति से कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियों में जो सर्वज्ञत्व दिखाया गया है, वह सर्वमूलभूत आगम का प्रवर्त्तक होने के कारण ही आरोपित है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति में जो सर्वज्ञत्व दिखाया गया है, वह आरोपित है, इसलिए कोई यथार्थ ईश्वर इनके मत में नहीं है, जो वेद-जैसे ज्ञान-भाण्डार की रचना कर सके। इसलिए, वेद को अपौरुषेय मानना ही समुचित है।

अब यहाँ नैयायिकों का यह प्रश्न होता है कि यदि वेद को अपौरुषेय मानते हैं, तब तो काठकः, कालापः, तैत्तिरीयः आदि जो यौगिक शब्द हैं, उनकी क्या गति होगी? इन प्रयोगों में, प्रोक्त अर्थ में 'तेन प्रोक्तम्' से अण् आदि प्रत्यय होते हैं। प्रोक्त का अर्थ कृत, निर्मित या रचित, यही हो सकता है। इससे यही अर्थ निकलता है कि कठ, कलाप और तित्तिरि से बनाया गया निबन्ध काठक, कालाप और तैत्तिरीय कहा जायगा। इस स्थिति में, वेद का पौरुषेय होना स्वयंसिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि 'तेन प्रोक्तम्' में प्रोक्त का कृत या रचित अर्थ नहीं है, किन्तु प्रचारक या प्रवर्त्तक यही अर्थ युक्त होता है। इसका तात्पर्य है कि जिसका प्रचार अध्यापन द्वारा कठ ने किया, वह काठक कहा गया, जिसका अध्यापन द्वारा कलाप ने प्रचार किया, वह कालाप और जिसका तित्तिरि ने किया, वह तैत्तिरीय कहा गया।

इसमें प्रमाण यह है कि प्रोक्त का अर्थ यदि कृत मानें, तब तो 'कृते ग्रन्थे' इस सूत्र से प्रत्यय सिद्ध ही था, पुनः उसी अर्थ में विधान करने के लिए 'तेन प्रोक्तम्' की क्या आवश्यकता है? इसलिए, सूत्र के आरम्भ-सामर्थ्य से प्रोक्त का अर्थ अध्यापन

या प्रकाशन के द्वारा प्रचार ही होता है। यही अर्थ समुचित और सिद्ध भी है। इसीलिए, मन्त्रद्रष्टा को ही ऋषि कहा गया है, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'। इससे सिद्ध हो जाता है कि उक्त दृष्टान्त से वेद को पौरुषेय सिद्ध नहीं कर सकते। बल्कि, उससे अपौरुषेय ही सिद्ध होता है।

पहले अनुमान के बल से शब्द में जो अनित्यत्व का साधन किया था, उसका उत्तर तो, 'सोऽयं गकारः' इस प्रत्यभिज्ञा के विरोध से शब्द अनित्य नहीं हो सकता यह, पहले ही दिया जा चुका है। इस पर नैयायिकों ने, 'वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसका विषय गत्व जाति है, ग व्यक्ति नहीं। इसी प्रकार, छिन्नपुनर्जात केश में भी केशत्व जाति वही है, जो छिन्न केश में। तद्वत् *'सोऽयं गकारः' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-रूप जो प्रत्यक्ष* है, उसका मूल कारण गत्व-रूप जाति का ऐक्य ही है, इसलिए प्रत्यभिज्ञा का विरोध हो जायगा, यह जो उत्तर पूर्व में कहा था, वह ठीक नहीं है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि जातिमूलक प्रत्यभिज्ञा कहाँ होती है? एक तो बलवान् बाधक के होने से, दूसरा व्यभिचार के देखने से। इतर प्रमाण से जहाँ व्यक्ति के भेद का निश्चय हो जाय, वहीं बलवद् बाधक होता है। 'सोऽयम्', वही यह है, इस प्रकार का नियम ऐक्य के रहने पर ही होता है, और कहीं ऐक्य के न रहने पर भी, जैसे छिन्न पुनर्जात केश में, वही यह है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा देखी जाती है, वह उसी उक्त नियम का व्यभिचार-दर्शन है। इस प्रकार, कहीं पर किसी प्रकार का व्यभिचार देखकर यदि सर्वत्र उसी की सम्भावना करें, तब तो सकल व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। इसमें स्वतः प्रमाणवादी का कहना है—

'उत्प्रेक्षेत हि यो मोहादज्ञातमपि बाधनम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा विनश्यति॥'

अर्थात्, जो मनुष्य अज्ञान से अज्ञात बाधा की सम्भावना करता है, वह समस्त सांसारिक व्यवहार में संशयग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि, कोई मनुष्य किसी काम के लिए जाता हुआ मोटर से दबकर मर गया, या कहीं रेल आदि की दुर्घटना से मर गया, तो उसको देख या सुनकर कोई शङ्का करे कि कदाचित् मैं भी इन कारणों से मर जाऊँगा, तब तो सकल व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। क्योंकि, वह संशय से किसी काम में प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए, कहीं व्यभिचार देखने से ही सर्वत्र उसकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा के सामान्यविषयक होने में जो द्वितीय हेतु व्यभिचार-दर्शन दिया है, वह युक्त नहीं है, यह सिद्ध होता है।

बलवद् बाधक होने से सामान्यनिबन्धन प्रत्यभिज्ञा होती है, यह जो प्रथम हेतु दिया है, उसका विचार किया जाता है—पूर्वपक्षी का तात्पर्य है कि वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसका विषय गत्व जाति है, ग व्यक्ति नहीं, परन्तु यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि अनेक ग व्यक्ति के न होने के कारण गत्व जाति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। जाति का लक्षण है, 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' (जातिः)।

अर्थात्, नित्य और अनेक व्यक्ति में रहनेवाला जो सामान्य है, वही जाति है। ग व्यक्ति यदि अनेक होता, तो उसमें रहनेवाली गत्व जाति की कल्पना हो सकती थी, परन्तु ऐसा नहीं है, ग व्यक्ति एक ही है, इसलिए गत्व जाति की कल्पना नहीं हो सकती।

जाति-विचार

नैयायिकों का कहना है कि यह गकार द्रुत है, यह मध्यम है, यह विलम्बित है, इत्यादि अनेक प्रकार ग व्यक्ति की प्रतीति अबाधरूप से होती है, इसलिए अनेक ग व्यक्ति में रहनेवाली गत्व जाति की कल्पना में कोई बाधक नहीं है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि इस प्रकार गकारादि व्यक्ति का अनेकत्व सिद्ध नहीं हो सकता, और 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा भी नहीं बन सकती। कारण यह है कि द्रुतत्व आदि की ग में जो प्रतीति होती है, वह द्रुतादि अवस्थामूलक है, गकारादि व्यक्ति का भेदमूलक नहीं। इसलिए द्रुतत्वादि के अवस्थामूलक होने से वे गकारादि व्यक्ति के भेद का साधक नहीं हो सकते। और, व्यक्ति के अनेक न होने से अनेक में अनुगत जाति की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

यहाँ पूर्वपक्षी का प्रश्न होता है कि, वर्णों में भेद द्रुतत्वादि अवस्था-प्रयुक्त है, व्यक्ति का भेदनिमित्तक नहीं, इसमें क्या प्रमाण है?

एक बात और है कि मीमांसक के मत में तो भेदाभेद दोनों माने जाते हैं, सर्वथा भेद ही नहीं माना जाता, जिससे द्रुतत्व आदि के भेद होने पर भी गकारादि धर्मी में भेद न माना जाय। इसलिए जिस प्रकार कृष्ण, रक्त, पीतादि धर्म के भेद होने से तत्सम्बन्धी गो, घट आदि धर्मी (व्यक्ति) में भी परस्पर भेद होता है, और व्यक्ति-भेद होने से घटत्व, गोत्व आदि जाति की सिद्धि होती है, उसी प्रकार द्रुतत्व, विलम्बित्व आदि धर्मों के भेद होने से धर्मी जो गकार आदि वर्ण हैं, उनमें भी परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है, और भेद सिद्ध होने से गत्वादि जाति की कल्पना भी क्यों नहीं होती?

इसके समाधान में मीमांसकों का कहना है कि भेदाभेद पक्ष के स्वीकार करने पर द्रुतत्व आदि धर्म के भेद होने से भी गकारादि व्यक्ति में भेद नहीं हो सकता। कारण यह है कि भेद और अभेद का अवभास साङ्कर्येण नहीं होता है। कहीं भेदांश धर्मी के आलम्बन से होता है और अभेदांश धर्म के आलम्बन से। और, कहीं भेदांश ही धर्म के आलम्बन से और अभेदांश धर्मी के आलम्बन में होता है। दूसरे शब्दों में, कहीं भेद धर्मीविषयक और अभेद धर्मविषयक, और कहीं अभेद ही धर्मीविषयक और भेद धर्मविषयक होता है। उदाहरण के लिए: मुण्ड गौ, चित्र गौ, रक्त गौ इत्यादि स्थलों में मुण्ड-चित्रादि गोधर्मी के परस्पर भेद होने के कारण उन सब में रहनेवाला जो गोत्व धर्म है, उसमें भेद न होने से उसका जातित्व युक्त है; क्योंकि वह एक और अनेकानुगत है।

और, जहाँ धर्मी में भेद नहीं है, धर्म में ही भेद है, वहाँ जाति की कल्पना युक्त नहीं है। उदाहरण के लिए: देवदत्त युवा है, वृद्ध है, स्थूल है, कृश है—यहाँ

युवत्वादि धर्म के भिन्न-भिन्न होने पर भी धर्मी देवदत्त के एक होने के कारण देवदत्तत्व को जाति नहीं माना जाता; क्योंकि वृद्धत्व, युवत्व-प्रयुक्त देवदत्त में जो भेद प्रतीत होता है, वह युवत्वादि अवस्था-प्रयुक्त है, वास्तविक नहीं। इसी प्रकार, यह गकार द्रुत है, यह विलम्बित है, इत्यादि जो भेद गकारादि वर्णों में प्रतीत होता है, वह द्रुतत्वादि धर्मों के भेद से ही। वस्तुतः धर्मी गकारादि वर्णों में कोई भेद नहीं है, इसलिए गत्वादि जाति की कल्पना अयुक्त है। दूसरे शब्दों में, वर्ण में जो द्रुतत्वादि का अवभास होता है, वह उच्चारण-क्रिया का ही है, वर्ण का नहीं। जैसे, यह अकार द्रुत उच्चरित है, यह अकार विलम्बित उच्चरित है, इसी प्रकार का अवभास होता है। यह अकार द्रुत है या विलम्बित है, इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म में भेद होने पर भी धर्मी वर्ण में भेद नहीं होता है। वर्ण में भेद न होने से गत्वादि जाति की भी सिद्धि नहीं होती।

अब पुनः पूर्वपक्षी की आशङ्का होती है कि कृशत्व, स्थूलत्व आदि जो धर्म हैं, वे क्रमशः आनेवाले हैं, ये दोनों धर्म समान काल में एक व्यक्ति में नहीं रहते; परन्तु काल-भेद से एक देवदत्त में भी कृशत्व और स्थूलत्व धर्म क्रमशः रह सकते हैं। परन्तु, अनुनासिकत्व, उदात्तत्व आदि जो धर्म हैं, वे क्रमवर्त्ती नहीं हैं; क्योंकि समान काल में भी अनेक वक्ता से उच्चरित अकारादि वर्णों में अनुनासिकत्व, उदात्तत्व आदि अनेक वर्णों का समावेश देखा जाता है, यदि एक ही वर्ण माना जाय, तो विरुद्ध अनुनासिकत्व आदि अनेक धर्मों का एक आकार में, जो अनेक वक्ता से समान काल में उच्चरित है, समावेश नहीं बनता। इसलिए, भिन्न-भिन्न अकारादि वर्णों को मानना आवश्यक हो जाता है। अकारादि वर्णों को भिन्न-भिन्न मानने से अत्व, गत्वादि जाति की भी सिद्धि अवश्य हो जाती है।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यह बात तभी ठीक हो सकती है, जब उदात्तत्व, अनुनासिकत्व आदि धर्म अकारादि वर्णों के यथार्थ हों। परन्तु, ऐसा नहीं है। वास्तव में अनुनासिकत्वादि धर्म, अकारादि वर्णों की अभिव्यञ्जक जो ध्वनि है, उसी के हैं, और वे केवल वर्णों में अवभासित होते हैं। जिस प्रकार छोटे, बड़े दो दर्पणों में एक काल में यदि मुख देखा जाय, तो एक काल में ही मुख में छोटापन, बड़ापन दोनों प्रतीत होंगे। यहाँ दर्पण के भेद होने से ही एक ही मुख में विरुद्ध नाना धर्म छोटापन, बड़ापन आदि भासित होते हैं। इसी प्रकार, वर्णों के एक होने पर भी वर्ण की अभिव्यञ्जक जो ध्वनि है, उसमें अनुनासिकत्व आदि अनेक धर्म के रहने से उससे अभिव्यक्त होनेवाले वर्णों में भी वे धर्म भासित होते हैं। वास्तव में वे वर्ण के धर्म नहीं है। इसीलिए, वर्ण एक ही है, यह सिद्ध होता है। वर्ण के एक होने से गत्वादि जाति की भी सिद्धि नहीं हो सकती। जाति की सिद्धि न होने से जातिविषयक प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती। और, वही यह गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा अबाध रूप से होती है। यह प्रत्यभिज्ञा वर्ण के नित्य और एक मानने में ही सम्भावित है। इसलिए, वर्णों को नित्य और एक मानना आवश्यक है। इससे वर्ण एक और नित्य है, ऐसा मीमांसकों का पक्ष सिद्ध हो जाता है।

इसी विषय को प्रकारान्तर से भी आचार्यों ने लिखा है। पूर्वपक्षी का यही कहना है कि विरुद्ध अनेक धर्मों के अध्यास से वर्णों का अनेक होना सिद्ध है। उसके उत्तर में सिद्धान्ती उनसे पूछते हैं—वर्ण में तारत्व, मन्दत्व अनुनासिकत्व आदि धर्म भासित होते हैं, क्या वे वर्ण के वास्तविक धर्म हैं या आरोपित? वास्तविक तो कह नहीं सकते; क्योंकि वास्तविक मानने से वर्णभेद मानना आवश्यक हो जायगा। इस स्थिति में, दस बार गकार का उच्चारण किया, इस प्रकार का जो सार्वजनीन व्यवहार लोक में देखा जाता है, वह नहीं हो सकता। बल्कि, दस गकार का उच्चारण किया, इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए, परन्तु ऐसा व्यवहार होता नहीं। इसलिए, गकरादि वर्णों को एक और नित्य मानना आवश्यक हो जाता है।

द्वितीय विकल्प—अकारादि वर्णों में अनुनासिकत्वादि धर्मों को आरोपित मानें, तो वर्णों का वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उपाधि के भेद होने से स्वाभाविक ऐक्य का विघात नहीं हो सकता। जैसे, दर्पण के भेद होने से वास्तविक मुख में भेद नहीं होता। इसलिए, वर्णों में जो भेद की प्रतीति होती है, वह अभिव्यञ्जक ध्वनि में भेद के कारण ही है, वर्णों में स्वाभाविक भेद होने से नहीं, यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार जाति के खण्डन-प्रस्ताव में आचार्य कुमारिलभट्ट ने कहा है—

'प्रयोजनन्तु यज्जातेस्तद्वर्णादेव लप्स्यते।
व्यक्तिलभ्यन्तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा॥'

तात्पर्य यही है कि गकारादि व्यक्ति के एक होने के कारण गकारादि वर्णों में गत्वादि जाति नहीं रह सकती; क्योंकि जाति अनेकानुगत होती है, यह पहले ही बता चुके हैं। दूसरा कारण यह है कि जाति के स्वीकार करने का प्रयोजन यही है कि 'यह घट है, यह पट है', इस प्रकार की प्रतीति को उत्पन्न करे, वर्णों के एक मान लेने पर भी इस प्रकार की प्रतीति होती ही है, इसलिए पृथक् जाति की कल्पना व्यर्थ ही है। इसी प्रकार दूसरा भी श्लोक है—

'प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्त्ति निरवग्रहा।
अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते॥'

जबतक 'वही यह गकार है', इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा अबाध-रूप से वर्त्तमान है, तबतक वही अनित्यत्व के सकल अनुमानों का बाध करता रहेगा। तात्पर्य यह है कि शब्द के अनित्यत्व-साधन करने के लिए जितने प्रकार के अनुमान हो सकते हैं, उन सबका बाध वही यह गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा से हो जायगा। यदि शब्द को अनित्य मानें, तो प्रतिक्षण उसकी उत्पत्ति और नाश मानना होगा। इस स्थिति में, जो गकार आदि शब्द पूर्व में उच्चरित होकर नष्ट हो गया, और पुनः दूसरे क्षण में जो गकार उच्चरित होता है, वह पूर्व गकार से भिन्न ही होगा। इस अवस्था में, वही यह गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि वह उससे भिन्न है। और, प्रत्यभिज्ञा अबाध रूप से अवश्य होती है, इसलिए शब्द को नित्य मानना आवश्यक है।

नित्यानित्यत्व-विचार

वागीश्वराचार्य ने मानमनोहर नाम के ग्रन्थ में शब्द के अनित्य होने में यह अनुमान दिखाया है—शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य विशेष गुण होने के कारण (हेतु), रूप क सदृश (दृष्टान्त)। जिस प्रकार, चक्षु-इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य रूप अनित्य है, उसी प्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य शब्द गुण भी अनित्य होगा। परन्तु इस प्रकार के सब अनुमानों का उक्त प्रत्यभिज्ञा से बाध हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि मीमांसक लोग शब्द को गुण मानते ही नहीं, वे शब्द को द्रव्य मानते हैं। इस स्थिति में, यदि शब्द गुण ही नहीं है, तो विशेष गुण किस प्रकार हो सकता है। अतः, पक्षभूत शब्द में विशेषगुणत्व-रूप हेतु के न रहने मे स्वरूपासिद्धि नाम का हेत्वाभास हो जाता है। एक कारण और भी है कि अश्रावणत्व उपाधि से यह अनित्यत्वानुमान दूषित भी हो जाता है। जैसा पहले ही कह चुके हैं, जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है, वही उपाधि है। प्रकृत में, जहाँ-जहाँ अनित्यत्व-रूप साध्य है, वहाँ-वहाँ अश्रावणत्व अवश्य है, जैसे घटादि में। और, जहाँ-जहाँ इन्द्रियग्राह्य विशेषगुणवत्ता-रूप हेतु है, वहाँ नियमेन अश्रावणत्व नहीं रहता; क्योंकि शब्द में ही व्यभिचार हो जाता है। शब्द अश्रावण नहीं, किन्तु श्रावण ही है। साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक होने से अश्रावणत्व उपाधि हो जाती है। सोपाधिक हेतु के हेत्वाभास होने से अनित्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए, शब्द नित्य है, ऐसा भी मीमांसकों का सिद्धान्त है। इसी प्रकार, उदयनाचार्य ने भी कहा है कि शब्द का अनित्यत्व तो प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही सिद्ध होता है—'उत्पन्नः कोलाहलः, विनष्टः कोलाहलः', इस प्रकार कोलाहल, अर्थात् शब्द, में उत्पत्ति और नाश का प्रत्यक्षतः अनुभव होता है।

यहाँ उदयनाचार्य, जो शब्द की उत्पत्ति और विनाश को प्रत्यक्ष मानते हैं, से यह प्रश्न होता है कि शब्द के विनाश का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है; क्योंकि शब्द का विनाश शब्द का ध्वंसाभाव ही होगा, और अभाव का प्रत्यक्ष उसके आश्रय के प्रत्यक्ष के अधीन होगा; क्योंकि अभाव-ज्ञान में उसके आश्रय का ज्ञान कारण होता है। और, शब्द का आश्रय जो आकाश है, वह अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है। इस स्थिति में, शब्द के अभाव-रूप विनाश का प्रत्यक्ष कैसे होगा!

इसके समाधान में उदयनाचार्य का कहना है कि अभाव के प्रत्यक्ष में आश्रय का ज्ञान कारण है, इस प्रकार का नियम युक्त नहीं है; क्योंकि वायु में रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, और उसका आश्रय जो वायु है, उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अभाव-प्रत्यक्ष में आश्रय कारण नहीं होता, इसलिए शब्द में उत्पत्ति और विनाश के प्रत्यक्ष अनुभव होने से शब्द अनित्य है, यह सिद्ध होता है।

इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि शब्द में जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है, वह औपाधिक है, वास्तविक नहीं। जिस प्रकार, दर्पण में विद्यमान

लघुत्व, महत्त्व, स्थूलत्व, कृशत्व आदि जो धर्म हैं, वे वस्तुतः मुख के धर्म नहीं हैं, किन्तु सम्बन्ध से मुख में भासित होते हैं, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनि में रहनेवाले जो उत्पत्ति विनाश, आदि धर्म हैं, वे शब्द में भी भासित होते हैं। वस्तुतः, ये शब्द के धर्म नहीं हैं, इसलिए शब्द के नित्य होने में ये बाधक नहीं हो सकते।

अब दूसरी शङ्का यह होती है कि शब्द को यदि नित्य और व्यापक मानते हैं, तो सर्वदा सब शब्दों का भान होना चाहिए। क्योंकि, व्यापक और नित्य होने से सर्वत्र सर्वदा उसकी सत्ता रहती है, केवल अभिव्यञ्जक ध्वनि की सहायता से सर्वदा सब शब्दों का भान होना आवश्यक है। परन्तु, ऐसा होता नहीं है। यदि शब्द को व्यापक मानें, तब तो जिस देश में शब्द नहीं है, वहाँ अभिव्यञ्जक के रहने पर भी शब्द नहीं होना चाहिए। अतः, शब्द को व्यापक या अव्यापक कुछ भी नहीं मान सकते।

इस पर मीमांसकों का उत्तर यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक ही है, तथापि वह सर्वदा सब जगह उत्पन्न नहीं होता, कारण यह है कि यद्यपि शब्द व्यापक होने से सब जगह रहता है, तथापि जहाँ अभिव्यञ्जक ध्वनि से संस्कृत होता है, वहीं अभिव्यक्त होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, शब्द के व्यापक होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती।

इस प्रकार, वर्णात्मक शब्द के नित्यत्व और व्यापकत्व-व्यवस्थापनपूर्वक वेद का अपौरुषेयत्व स्थापित किया गया। वेद के अपौरुषेय होने से पुरुष-कृत दोष की सम्भावना वेद में नहीं रही, इसी कारण वेद का स्वतःप्रामाण्य भी इनके मत में सिद्ध होता है।

प्रामाण्यवाद का विवेचन

अब प्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? प्रामाण्य स्वतः है या परतः? स्वतः और परतः का अर्थ क्या है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जा रहा है। प्रमाणों का जो भाव अर्थात् धर्मविशेष है, उसीको प्रामाण्य कहते हैं। यथार्थ अनुभव का नाम प्रमाण है। इसीको प्रमा भी कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है, उसी का नाम प्रामाण्य है। इसीको प्रमात्व और प्रमाणत्व भी कहते हैं। इसी प्रकार, अयथार्थ अनुभव में रहनेवाला जो विशेष धर्म है, वही अप्रामाण्य है। इसीको अप्रमात्व और अप्रमाणत्व भी कहते हैं।

इस प्रामाण्य के कारण-विषय में जो वाद है, वही प्रामाण्यवाद कहलाता है। यह प्रामाण्यवाद दो प्रकार का होता है—एक जनककारणविषयक, दूसरा ज्ञापक-कारणविषयक। जनक कारण उसको कहते हैं, जिससे कार्य उत्पन्न होता है। ज्ञापक कारण वह है, जिससे कार्य का ज्ञान होता हो। प्रामाण्य का कारण स्व है, अथवा पर? इस प्रकार का जो संशय होता है, वही वाद का बीज है। यहाँ स्व शब्द से प्रामाण्य, प्रामाण्य का आश्रय-ज्ञान और ज्ञान-कारण की सामग्री, इन तीनों का ग्रहण किया जाता है। पर शब्द से इन तीनों से

भिन्न का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार, अप्रामाण्य के विषय में भी स्व और पर शब्द का अर्थ विचारणीय है।

जिनके मत में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति पर, अर्थात् दूसरे, से होती है, वे परतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। जिनके मत में प्रामाण्य स्वयम्, अर्थात् अपने आश्रय-ज्ञान से अथवा ज्ञान-सामग्री से उत्पन्न होता है, वे स्वतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। कौन स्वतःप्रामाण्य मानता है और कौन परतः, इस विषय में पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

'प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥'

तात्पर्य यह है कि सांख्यों के मत में प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व, दोनो का जन्म स्वतः होता है। नैयायिक दोनों का जन्म परतः मानते हैं। बौद्धों के मत में अप्रामाण्य का जन्म स्वतः और प्रामाण्य का परतः माना जाता है। वेदवादी मीमांसकों के मत में प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः माना जाता है। इस प्रकार सब आचार्यों के परस्पर मतभेद होने पर भी मीमांसक स्वतःप्रामाण्य को ही युक्त मानते हैं। नैयायिक इस बात को नहीं मानते। वे परतःप्रामाण्य मानते हैं। अतः, मीमांसकों से इनका प्रश्न होता है—स्वतःप्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? क्या प्रामाण्य का स्वतः जन्म होता है, अर्थात् ज्ञानगत जो प्रामाण्यरूप धर्म है, क्या वह स्वयं उत्पन्न हो जाता है अथवा अपने आश्रय-ज्ञान से, या ज्ञान की कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है? ये तीन विकल्प हैं। चौथा विकल्प है कि ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं, उनसे उत्पन्न जो ज्ञान-विशेष है, क्या उसीमें प्रामाण्य रहता है?

ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है, यह पहला पक्ष तो मान नहीं सकते; क्योंकि कार्य-कारण में भेद का रहना वास्तव में स्वाभाविक है। यदि कार्य अपने से ही उत्पन्न होने लगे, तब तो कार्य-कारण में भेद नहीं रहेगा, और भेद-सामानाधिकरण्य का नियम भङ्ग हो जायगा। यदि स्वाश्रय ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानें, तो भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ज्ञान से यदि उत्पत्ति मानेंगे, तो ज्ञान को समवायी कारण मानना होगा। ज्ञान गुण है, वह समवायी कारण हो नहीं सकता; क्योंकि समवायी कारण द्रव्य ही होता है, यह नियम है—'समवायि-कारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्'।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, वह किसी का समवायी कारण नहीं होता। यदि प्रामाण्य का कारण मानते हैं, तो सिद्धान्त-भङ्ग हो जायगा। अतः, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं हुआ। ज्ञान-सामग्री से जन्य यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण यह है कि प्रामाण्य को जाति या उपाधि कुछ भी मानें, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वह नित्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमाणभूत अनेक ज्ञान में रहनेवाला जो सर्वानुगत धर्मविशेष है, वही प्रामाण्य है। इसी प्रकार के

धर्मविशेष का नाम सामान्य भी है। सामान्य दो प्रकार का होता है—एक जाति, दूसरा उपाधि। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रामाण्य जाति-स्वरूप होगा, अथवा उपाधि-स्वरूप। यदि प्रामाण्य को जाति-स्वरूप मानते हैं, तब तो उसके नित्य होने से उत्पत्ति नहीं बनती; क्योंकि जाति नित्य है। यदि प्रत्यक्ष के साथ सांकर्य, जो जाति का बाधक है, होने से प्रामाण्य को जाति न माना जाय, तो उपाधि ही मानना होगा। उपाधि भी दो प्रकार की होती है—अखण्ड और सखण्ड। प्रामाण्य को यदि अखण्डोपाधि मानें, तो भी वह नित्य होगा, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। सखण्डोपाधि नित्य और अनित्य दोनों होती है; क्योंकि वह द्रव्य आदि का अन्यतम रूप ही है। उदाहरण के लिए : शरीरत्व जाति नहीं होता; क्योंकि पृथिवीत्व के साथ सांकर्य हो जाता है। सांकर्य जाति का बाधक होता है। इसलिए, शरीरत्व उपाधि है। शरीर में जो चेष्टाश्रयत्व है, वही शरीरत्व है, दूसरा नहीं। चेष्टाश्रयत्व का अर्थ है—चेष्टाश्रय का भाव। और, वह चेष्टाश्रय-स्वरूप ही होगा; क्योंकि प्रकृति-जन्य बोध में प्रकारीभूत धर्म का नाम भाव है। हित-प्राप्ति और अहित-परिहार के लिए जो क्रिया होती है, वही चेष्टा कहलाती है।

इस स्थिति में, शरीरत्व के क्रियारूप उपाधिस्वरूप होने से उसका अनित्यत्व सिद्ध होता है। परन्तु, यहाँ प्रामाण्य के विषय में यह बात नहीं है। कारण यह है कि प्रामाण्य यथार्थानुभवत्व-रूप ही है, यह पहले कह चुके हैं। इसका अर्थ है, यथार्थानुभव में रहनेवाली यथार्थता। और, स्मृति से भिन्न जो ज्ञान है, उसको अनुभव कहते हैं। अनुभव की यथार्थता बाध के अत्यन्ता-भाव का रूप ही है। अर्थात्, जिसका कभी बाध न हो, वही यथार्थ है। जो ज्ञान बाधित होता है, वह अयथार्थ है। इस स्थिति में, यही सिद्ध होता है कि अनुभवात्मक जो ज्ञान है, उसका बाधात्यन्ता-भाव ही उपाधि है, इसलिए प्रामाण्य का स्वरूप बाधात्यन्ताभाव सिद्ध होता है। अत्यन्ताभाव नित्य है, इसलिए प्रामाण्य के उपाधि-स्वरूप होने पर भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य को जाति-स्वरूप मानें, अथवा उपाधि-स्वरूप, दोनों अवस्थाओं में उसकी उत्पत्ति नहीं बनती, इसीलिए तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं होता। यह उत्तर प्रथम और द्वितीय विकल्प का भी हो सकता है। क्योंकि, दोनों में प्रामाण्य का जन्म नित्य होने से असम्भव है।

ज्ञान-सामान्य-सामग्री से उत्पन्न जो ज्ञान-विशेष है, उसका आश्रित प्रामाण्य है, यह जो चतुर्थ विकल्प किया है, वह भी युक्त नहीं होता; क्योंकि अयथार्थ ज्ञान में भी उक्त प्रामाण्य-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। उदाहरण के लिए : दूषित इन्द्रियवाले पुरुष को वास्तविक शुक्ति में, यह रजत है, इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह अयथार्थ ज्ञान है। यह ज्ञान भी ज्ञान की सामान्य-सामग्री से ही उत्पन्न हुआ है। ज्ञान की सामान्य-सामग्री, इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष और प्रकाश आदि हैं। यह रजत है, इस प्रकार का जो अयथार्थ ज्ञान है, वह यद्यपि दोषयुक्त इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, तथापि दोषयुक्त इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। जिस प्रकार, काण मनुष्य में भी मनुष्यत्व रहता है, उसी प्रकार दुष्ट इन्द्रियों में भी

भिन्न का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार, अप्रामाण्य के विषय में भी स्व और पर शब्द का अर्थ विचारणीय है।

जिनके मत में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति पर, अर्थात् दूसरे, से होती है, वे परतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। जिनके मत में प्रामाण्य स्वयम्, अर्थात् अपने आश्रय-ज्ञान से अथवा ज्ञान-सामग्री से उत्पन्न होता है, वे स्वतःप्रामाण्यवादी कहे जाते हैं। कौन स्वतःप्रामाण्य मानता है और कौन परतः, इस विषय में पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

'प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥'

तात्पर्य यह है कि सांख्यों के मत में प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व, दोनों का जन्म स्वतः होता है। नैयायिक दोनों का जन्म परतः मानते हैं। बौद्धों के मत में अप्रामाण्य का जन्म स्वतः और प्रामाण्य का परतः माना जाता है। वेदवादी मीमांसकों के मत में प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः माना जाता है। इस प्रकार सब आचार्यों के परस्पर मतभेद होने पर भी मीमांसक स्वतःप्रामाण्य को ही युक्त मानते हैं। नैयायिक इस बात को नहीं मानते। वे परतःप्रामाण्य मानते हैं। अतः, मीमांसकों से इनका प्रश्न होता है—स्वतःप्रामाण्य का तात्पर्य क्या है? क्या प्रामाण्य का स्वतः जन्म होता है, अर्थात् ज्ञानगत जो प्रामाण्यरूप धर्म है, क्या वह स्वयं उत्पन्न हो जाता है अथवा अपने आश्रय-ज्ञान से, या ज्ञान की कारण-सामग्री से उत्पन्न होता है? ये तीन विकल्प हैं। चौथा विकल्प है कि ज्ञान के जितने साधारण कारण हैं, उनसे उत्पन्न जो ज्ञान-विशेष है, क्या उसीमें प्रामाण्य रहता है?

ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है, यह पहला पक्ष तो मान नहीं सकते; क्योंकि कार्य-कारण में भेद का रहना वास्तव में स्वाभाविक है। यदि कार्य अपने से ही उत्पन्न होने लगे, तब तो कार्य-कारण में भेद नहीं रहेगा, और भेद-सामानाधिकरण्य का नियम भङ्ग हो जायगा। यदि स्वाश्रय ज्ञान से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानें, तो भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ज्ञान से यदि उत्पत्ति मानेंगे, तो ज्ञान को समवायी कारण मानना होगा। ज्ञान गुण है, यह समवायी कारण हो नहीं सकता; क्योंकि समवायी कारण द्रव्य ही होता है, यह नियम है—'समवायि-कारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्'।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, यह किसी का समवायी कारण नहीं होता। यदि प्रामाण्य का कारण मानते हैं, तो सिद्धान्त-भङ्ग हो जायगा। अतः, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं हुआ। ज्ञान-सामग्री से जन्य यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, कारण यह है कि प्रामाण्य को जाति या उपाधि कुछ भी मानें, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वह नित्य है। तात्पर्य यह है कि प्रमाणभूत अनेक ज्ञान में रहनेवाला जो सर्वानुगत धर्मविशेष है, वही प्रामाण्य है। इसी प्रकार के

जिस प्रकार भाव कारण और कार्य दोनों होता है, उसी प्रकार अभाव भी कार्य के सदृश ही कारण भी होता है। यद्यपि अभाव किसीका समवायी कारण नहीं होता, तथापि निमित्त कारण होने में कोई बाधक नहीं है। अतः, अभाव निमित्त कारण होता है, यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार, स्वतःप्रामाण्य के पाँच प्रकार के जो निर्वचन किये थे, उनमें एक के भी ठीक नहीं होने से स्वतःप्रामाण्य-पक्ष सिद्ध नहीं होता, बल्कि नैयायिकों का परतःप्रामाण्य सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। परतःप्रामाण्य अनुमान से भी सिद्ध होता है—विवादास्पद प्रामाण्य (पक्ष)-ज्ञान का हेतु अतिरिक्त हेतु के अधीन है (साध्य) कार्य होकर ज्ञानविशेष के आश्रित होने के कारण (हेतु), अप्रामाण्य के सदृश (दृष्टान्त)। प्रकृत में, ज्ञान के कारण जो इन्द्रिय आदि हैं, उनसे भिन्न दोषाभाव-रूप कारण भी प्रामाण्य की उत्पत्ति में विद्यमान है, इस कारण परतः-प्रामाण्यवाद नैयायिकों का सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार, प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी परतः होता है; इसमें भी अनुमान-प्रमाण दिया जाता है—प्रामाण्य, परतः ज्ञान का विषय है, अनभ्यास-दशा में संशययुक्त होने के कारण, अप्रामाण्य के सदृश। इसका तात्पर्य यह है कि जिन इन्द्रियादि के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, उन्हींके द्वारा उसके प्रामाण्य का बोध नहीं होता, उसके लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। जैसे अज्ञात मार्ग से जाता हुआ मनुष्य दूर से ही कहीं जल का ज्ञान करता है, जल का ज्ञान होने पर बाद में यह जल-ज्ञान यथार्थ है या नहीं, इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। अनन्तर, समीप में जाकर जब जल प्राप्त करता है, तब उसका संशय निवृत्त होता है। और, पूर्व में उत्पन्न जल-ज्ञान प्रमा था, सफल प्रवृत्ति के जनक होने के कारण। जो प्रमा नहीं है, वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं है, जैसे अप्रमा। इस अनुमान से जलज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय करता है। यदि ज्ञान की ज्ञापक सामग्री से ही प्रामाण्य का ज्ञान मानें, तब तो ज्ञान के उत्पत्ति-काल में ही, उसमें रहनेवाला प्रामाण्य का भी ज्ञान होना अनिवार्य होगा। इस स्थिति में, संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (ज्ञान) दोनों में ही परतः प्रामाण्य है, यह नैयायिकों का मत सिद्ध हो जाता है। यहाँ तक नैयायिकों का आक्षेप है।

इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि नैयायिकों का यह कहना कि स्वतः-प्रामाण्य का निर्वचन नहीं बनता, इसलिए परतः प्रामाण्य मानना चाहिए, यह सब व्यर्थ का वाद है। स्वतः प्रामाण्य का निर्वचन भली भाँति युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है। प्रामाण्य का स्वतःसिद्धत्व यह है कि जो विज्ञान-सामग्री से जन्य और उससे भिन्न हेतु से अजन्य हो, वही प्रामाण्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस सामग्री से विज्ञान उत्पन्न होता है, उसीसे उस विज्ञान में रहनेवाला प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण या दोषाभाव कोई भी दूसरा हेतु नहीं होता है। दोष तो केवल प्रमा का प्रतिबन्धक-मात्र है। यह मीमांसकों का मत है। स्वतः प्रामाण्य में,

इन्द्रियत्व रहता ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अयथार्थ ज्ञान में भी ज्ञान-सामान्य-सामग्री-जन्यत्व रहती है, उसका विघात नहीं होता। इस स्थिति में, उक्त जो अयथार्थ ज्ञान है, वह ज्ञान की सामान्य-सामग्री से उत्पन्न और ज्ञानविशेष ही है, और इसके आश्रित अप्रामाण्य है। इस अप्रामाण्य में भी उक्त प्रामाण्य-लक्षण की प्रसक्ति होने से अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। इसलिए चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं होता है, यह सिद्ध हुआ।

यद्यपि अयथार्थ ज्ञान ज्ञान-सामान्य-सामग्री से उत्पन्न है, तथापि उस अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में एक दोष भी अधिक कारण हो जाता है, इसलिए ज्ञान-सामान्य-सामग्री-मात्र से जन्य नहीं है, इसलिए अतिव्याप्ति-दोष नहीं होगा, इसी अभिप्राय से पञ्चम विकल्प किया है, जिसमें ज्ञान की सामान्य-सामग्री-मात्र से उत्पन्न ज्ञानविशेष का स्वतः प्रामाण्य का आश्रित होना, बताया गया है। परन्तु, यह पक्ष भी युक्त नहीं है; क्योंकि इसमें भी दो विकल्पों का समाधान नहीं होता है। जैसे, उक्त पञ्च विकल्पों में ज्ञान-सामग्री-मात्र से जन्य का क्या तात्पर्य है, दोषाभाव से सहकृत ज्ञान-सामग्री से जन्य उसका तात्पर्य है अथवा दोषाभाव से असहकृत ज्ञान-सामग्री से जन्य? जिस प्रकार, अयथार्थ ज्ञान-स्थल में ज्ञान की सामान्य-सामग्री की अपेक्षा एक दोष भी अधिक कारण रहता है, जिसकी व्यावृत्ति-मात्र पद से करते हैं; उसी प्रकार यथार्थ ज्ञान-स्थल में भी सामान्य-कारण-सामग्री की अपेक्षा एक दोषाभाव भी अधिक कारण रहता है, उसकी व्यावृत्ति पद मात्र से करते हैं, या नहीं? यदि पद मात्र से उसकी व्यावृत्ति करते हैं, तब तो प्रामाण्य-लक्षण का कोई भी उदाहरण नहीं मिल सकता, इसलिए असम्भव-दोष हो जाता है। दोषाभाव की व्यावृत्ति नहीं होती, इसी अभिप्राय से प्रथम पक्ष का उपन्यास किया और यथार्थ ज्ञान-स्थल में दोषाभाव कारण होता ही नहीं, इसलिए उसकी व्यावृत्ति करने पर भी कोई क्षति नहीं है, इस अभिप्राय से द्वितीय पक्ष का उपन्यास किया।

दूसरे शब्दों में, यथार्थ ज्ञान-स्थल में दोषाभाव कारण नहीं होता, इसका क्या तात्पर्य है? क्या दोषाभाव ज्ञान के उत्पन्न करने में इन्द्रियों का सहायक-मात्र होता है, स्वतन्त्र कारण नहीं, यह अभिप्राय है? या स्वरूप रहित होने से दोषाभाव किसीका कारण होता ही नहीं?

पहला पक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों की सहायता दोषाभाव अवश्य करता है; क्योंकि दोषाभाव के रहने पर यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, और दोषाभाव के न रहने पर यथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इस अन्वयव्यतिरेक से यथार्थ ज्ञान के प्रति दोषाभाव कारण अवश्य होता है, यह सिद्ध होता है। यदि स्वरूपरहित होने से दोषाभाव कारण नहीं होता, यह कहें, तो उनसे यह प्रश्न होता है कि अभाव कार्य होता है या नहीं? यदि अभाव कार्य नहीं होता, यह कहें, तब तो घट के ध्वंसाभाव-रूप कार्य के न होने से घट नित्य होने लगेगा। यदि अभाव को कार्य मानते हैं, तब तो कार्य के सदृश कारण भी अवश्य होगा। उदयनाचार्य ने भी कुसुमाञ्जलि में लिखा है कि 'भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः', अर्थात्

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ज्ञान की सम्पूर्ण कारण-सामग्री के रहने पर भी यदि संशय उत्पन्न होता है, तो यही समझना चाहिए कि प्रामाण्य के प्रतिबन्धक दोष का समवधान कुछ अवश्य है। दोष का समवधान ही प्रामाण्य-ज्ञान का प्रतिबन्धक हो जाता है, जिससे संशय उत्पन्न होता है। इसलिए, प्रामाण्य के स्वतःसिद्ध होने में कोई बाधक नहीं है, अतः स्वतःप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

अब नैयायिकों के प्रति सिद्धान्ती का यह अन्तिम प्रश्न होता है—परतःप्रामाण्य का साधक जो आपका अनुमान है, वह स्वतः है, अथवा परतः? यदि स्वतः कहें, तो ठीक नहीं होता; क्योंकि आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है। और, प्रामाण्य परतः ग्राह्य है, यह जो आपका नियम है, वह व्यभिचरित हो जाता है, इसलिए, आपके अनुमान में अनैकान्तिक नाम का हेत्वाभास हो जाता है। यदि परतः कहें, सो भी ठीक नहीं होता, कारण यह है कि उक्त अनुमान के प्रामाण्य के लिए अनुमानान्तर की आवश्यकता होगी, पुनः उसके प्रामाण्य के लिए अन्य की। इस प्रकार, अनवस्था-दोष परतःप्रामाण्यवादी के गलेपतित है, इसलिए स्वतःप्रामाण्यवाद ही युक्त और मान्य है, यह सिद्धान्ती मीमांसक का मत है।

एक बात और है कि किसी अत्यन्त अभिलषित पदार्थ को देखते ही उसे प्राप्त करने के लिए झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। किन्तु परतः प्रामाण्य के लिए अनुमानादि किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा होगी। इससे शीघ्र प्रवृत्ति जो होती है, वह नहीं बनती, अतः स्वतः प्रामाण्य मानना समुचित होता है।

नैयायिकों का कहना है कि प्रवृत्ति में ज्ञान-प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु प्रामाण्य-निश्चय के बिना ही इच्छामात्र से झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। जितनी अधिक इच्छा होगी, उतनी ही शीघ्र प्रवृत्ति भी होगी, इसमें प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं है। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि में लिखा है—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते, तत्प्राचुर्यञ्चेच्छाप्राचुर्य्यम्, इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्, तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम्, सोऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षम्, प्रामाण्यग्रहणन्तु न क्वचिदुपयुज्यते।' अर्थात्, प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा करती है, प्रवृत्ति का प्राचुर्य्य इच्छा की प्रचुरता की अपेक्षा करता है, अर्थात् जैसे-जैसे इच्छा बलवती होगी, वैसे ही अधिक तीव्रगति से प्रवृत्ति होगी। इच्छा का कारण इष्टसाधनता का ज्ञान है, अर्थात् वस्तु में इष्टसाधनता का ज्ञान जितना अधिक होगा, उतनी ही इच्छा भी बलवती होगी। इष्टसाधनता के ज्ञान में इष्ट जातीयता के लिङ्ग का अनुभव कारण होता है, और इस अनुभव में इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष कारण होता है, प्रामाण्य-ज्ञान का उपयोग कहीं पर भी नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य-ज्ञान का कहीं भी उपयोग नहीं है, केवल इच्छा की अधिकता होने से ही प्रवृत्ति में तीव्रता होती है, इसलिए स्वतःप्रामाण्य नहीं बनता; किन्तु परतः प्रामाण्यवाद ही सिद्ध होता है।

इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि उदयनाचार्य का यह कहना कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य-ज्ञान का कहीं उपयोग नहीं है, सर्वथा असत्य और धूलि-प्रक्षेपमात्र है। कारण यह है कि इच्छा के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण

इनके मत में अनुमान का स्वरूप—विवादास्पद प्रामाण्य (पक्ष) विज्ञान-सामग्री से जन्य और उससे भिन्न हेतु से अजन्य है (साध्य) अप्रमा के अनाश्रय होने के कारण (हेतु), घटादि प्रमा के सदृश (दृष्टान्त)।

यहाँ एक बात और जान लेना चाहिए कि पक्ष का एक देश भी जहाँ साध्यत्वेन निश्चित है, दृष्टान्त में दिया जाता है। जिस प्रकार सकल प्रपञ्च को पक्ष मानकर कार्यत्व-हेतु से सकर्तृकत्व सिद्ध करने में घट को दृष्टान्त दिया जाता है, जो पक्ष का एक देश ही है। इसलिए, प्रकृत में जो प्रमा का दृष्टान्त घट दिया है, वह युक्त ही है। यदि यह कहें कि पूर्वोक्त उदयनाचार्य के अनुमान से प्रामाण्य का स्वतःसिद्ध होना निश्चित हो चुका है, इसलिए परतःप्रामाण्य ही युक्त मानना चाहिए, तो इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि उदयनाचार्य का जो अनुमान है, वह सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित होने से अग्राह्य है। प्रमा (पक्ष) दोषहेतु के और ज्ञान के सामान्य हेतु के जो अतिरिक्त है, उससे जन्य नहीं है (साध्य) ज्ञानत्व होने से (हेतु), अप्रमा के सदृश (दृष्टान्त)। यहाँ दोष हेतु के अतिरिक्त विशेषण इसलिए दिया है कि अप्रमा-ज्ञान ज्ञानहेतु के अतिरिक्त दोष से भी जन्य होता है, अतः दृष्टान्त नहीं हो सकता। यह अनुमान उदयनाचार्य के अनुमान का प्रतिपक्ष है, इसलिए साध्याभाव के साधक होने से सत्प्रतिपक्ष नाम का हेत्वाभास हो जाता है, अतएव उनका अनुमान ठीक नहीं है। अतः, परतःप्रामाण्य युक्तियुक्त न होने से स्वतःप्रामाण्य ही मान्य है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

अब यह आशङ्का होती है कि दोष यदि अप्रमा का हेतु होता है, तो दोषाभाव भी प्रमा के प्रति हेतु अवश्य होगा, अतः परतःप्रामाण्य मानना युक्त होता है। इसके उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यह शङ्का युक्त नहीं है, कारण यह है कि दोषाभाव अप्रमा का प्रतिबन्धकमात्र है, इसलिए वह अन्यथासिद्ध है। और, अन्यथासिद्ध कारण नहीं होता, यह नैयायिकों को भी मान्य है, जिस प्रकार दण्डत्व या दण्डरूप अन्यथासिद्ध होने से नियत पूर्ववर्त्ती रहने पर भी घट के प्रति कारण नहीं होता। यदि यह कहें कि कारण नहीं है, तो दण्डरूप कार्य से घट नियत पूर्ववर्त्ती कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि घट के प्रति कारणत्वेन अभिमत जो दण्ड है, वह दण्डत्व या दण्डरूप के विना रह नहीं सकता, इसलिए दण्डत्व और दण्डरूप ये दोनों अन्यथासिद्ध हैं।

इसी प्रकार, प्रमा-ज्ञान के प्रति दोषाभाव नियत पूर्ववर्त्ती होने पर भी प्रमा का कारण नहीं होता। दोषाभाव प्रमा के प्रति नियत पूर्ववर्त्ती इसलिए है कि दोष अप्रमा का हेतु है। इसी कारण, दोष रहने पर प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए, प्रमा-ज्ञान-स्थल में नियत पूर्ववर्त्ती जो दोषाभाव है, उससे अप्रमा का प्रतिबन्धमात्र होता है। प्रमा के उत्पादन में दोषाभाव का कोई उपयोगी व्यापार नहीं होता है, इसलिए दोषाभाव, प्रमा के प्रति अन्यथासिद्ध होने से, कारण नहीं हो सकता। एक शङ्का और होती है कि ज्ञान के उदयकाल में ही यदि प्रामाण्य की उत्पत्ति मान लें, तब तो संशय का अवकाश ही नहीं होता। और, संशय होता है, इससे यह समझा जाता है कि प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं, किन्तु परतः है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि ज्ञान की सम्पूर्ण कारण-सामग्री के रहने पर भी यदि संशय उत्पन्न होता है, तो यही समझना चाहिए कि प्रामाण्य के प्रतिबन्धक दोष का समवधान कुछ अवश्य है। दोष का समवधान ही प्रामाण्य-ज्ञान का प्रतिबन्धक हो जाता है, जिससे संशय उत्पन्न होता है। इसलिए, प्रामाण्य के स्वतःसिद्ध होने में कोई बाधक नहीं है, अतः स्वतःप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

अब नैयायिकों के प्रति सिद्धान्ती का यह अन्तिम प्रश्न होता है—परतःप्रामाण्य का साधक जो आपका अनुमान है, वह स्वतः है, अथवा परतः? यदि स्वतः कहें, तो ठीक नहीं होता; क्योंकि आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है। और, प्रामाण्य परतः ग्राह्य है, यह जो आपका नियम है, वह व्यभिचरित हो जाता है, इसलिए, आपके अनुमान में अनैकान्तिक नाम का हेत्वाभास हो जाता है। यदि परतः कहें, तो भी ठीक नहीं होता, कारण यह है कि उक्त अनुमान के प्रामाण्य के लिए अनुमानान्तर की आवश्यकता होगी, पुनः उसके प्रामाण्य के लिए अन्य की। इस प्रकार, अनवस्था-दोष परतःप्रामाण्यवादी के गलेपतित है, इसलिए स्वतःप्रामाण्यवाद ही युक्त और मान्य है, यह सिद्धान्ती मीमांसक का मत है।

एक बात और है कि किसी अत्यन्त अभिलषित पदार्थ को देखते ही उसे प्राप्त करने के लिए झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। किन्तु परतः प्रामाण्य के लिए अनुमानादि किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा होगी। इससे शीघ्र प्रवृत्ति जो होती है, वह नहीं बनती, अतः स्वतः प्रामाण्य मानना समुचित होता है।

नैयायिकों का कहना है कि प्रवृत्ति में ज्ञान-प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु प्रामाण्य-निश्चय के बिना ही इच्छामात्र से झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। जितनी अधिक इच्छा होगी, उतनी ही शीघ्र प्रवृत्ति भी होगी, इसमें प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं है। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि में लिखा है—'प्रवृत्तिर्हीच्छामपेक्षते, तत्प्राचुर्य्यञ्चेच्छाप्राचुर्य्यम्, इच्छा चेष्टसाधनताज्ञानम्, तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभवम्, सोऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षम्, प्रामाण्यग्रहणन्तु न क्वचिदुपयुज्यते।' अर्थात्, प्रवृत्ति इच्छा की अपेक्षा करती है, प्रवृत्ति का प्राचुर्य्य इच्छा की प्रचुरता की अपेक्षा करता है, अर्थात् जैसे-जैसे इच्छा बलवती होगी, वैसे ही अधिक तीव्रगति से प्रवृत्ति होगी। इच्छा का कारण इष्टसाधनता का ज्ञान है, अर्थात् वस्तु में इष्टसाधनता का ज्ञान जितना अधिक होगा, उतनी ही इच्छा भी बलवती होगी। इष्टसाधनता के ज्ञान में इष्ट जातीयता के लिङ्ग का अनुभव कारण होता है, और इस अनुभव में इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष कारण होता है, प्रामाण्य-ज्ञान का उपयोग कहीं पर भी नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य-ज्ञान का कहीं भी उपयोग नहीं है, केवल इच्छा की अधिकता होने से ही प्रवृत्ति में तीव्रता होती है, इसलिए स्वतःप्रामाण्य नहीं बनता; किन्तु परतः प्रामाण्यवाद ही सिद्ध होता है।

इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि उदयनाचार्य का यह कहना कि प्रवृत्ति में प्रामाण्य-ज्ञान का कहीं उपयोग नहीं है, सर्वथा असत्य और धूलि-प्रक्षेपमात्र है। कारण यह है कि इच्छा के प्रति इष्टसाधनता का ज्ञान कारण

होता है, यह उन्होंने कहा है। अब उनसे यह पूछना है कि वह इष्टसाधनता का ज्ञान, जिसे इच्छा का कारण मानते हैं, प्रामाणिक होना चाहिए या अप्रामाणिक! अप्रामाणिक तो कह नहीं सकते; क्योंकि युक्ति और न्याय से वह असङ्गत है। यदि प्रामाणिक मानते हैं, तब तो उस प्रामाण्य को स्वतः सिद्ध मानना ही होगा; क्योंकि अनुमान से उसका निश्चय नहीं होता। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु के लिए मनुष्य की प्रवृत्ति तभी होती है, जब उस वस्तु की इच्छा हो, और इच्छा तभी होगी, जब यह ज्ञान हो कि यह वस्तु हमारे इष्ट का साधन है, और यह इष्ट-साधन होने का ज्ञान, प्रामाणिक होना चाहिए, नहीं तो सन्देहात्मक ज्ञान से इच्छा या प्रवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती। किन्तु, प्रवृत्ति होती है, इससे सिद्ध होता है कि इष्टसाधनता का ज्ञान प्रामाणिक है, और वह प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न हुआ है।

एक बात और भी है कि संशय से निश्चित प्रवृत्ति यदि कहीं भी एक जगह हो, तब तो प्रमाण-निश्चय के बिना ही सर्वत्र प्रवृत्ति होने लगेगी, इस स्थिति में प्रमाण का निश्चय भी व्यर्थ हो जायगा। इससे सिद्ध होता है कि संशय से कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिए कहा गया है कि अनिश्चित वस्तु का सत्त्व दुर्लभ है, यदि अनिश्चित का भी सत्त्व सुलभ होता, तब तो प्रामाण्य का उपयोग ही कुछ नहीं होता। इसलिए, सद्वस्तु का बोधक होने के कारण ही बुद्धि का प्रामाण्य होता है। शुक्ति आदि वस्तुओं के रजतादि रूप से जो अवभास है, उससे उत्पन्न दोषज्ञान प्रामाण्य का प्रतिबन्धक होता है—

'तस्मात्सद्बोधकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥'

इस प्रकार, विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय इन चार भागों में विभक्त जो वेद है, वह धर्म के विषय में स्वतः प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाता है। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक जो वेदवाक्य है, वह विधि है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः', यह वाक्य अन्य प्रमाण से अप्राप्त स्वर्गफलवाले होम का विधान करता है, इसलिए विधि है। प्रशंसा या निन्दापरक वेदवाक्य को अर्थवाद कहते हैं। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता', वायु-देवता की इस स्तुति द्वारा 'वायव्यं श्वेतमालभेत', इस विधि की प्रशंसा करता है। 'सोऽरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्', इससे रजत की निन्दा का बोधन करता है। प्रयोग में, समवेत अर्थ के स्मारक वेदवाक्य को मन्त्र कहते हैं। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि', इस मन्त्र का, पुरोडाश के सुखकर अशन द्वारा, यज्ञादि कर्म में उपयोग होता है। अर्थ का स्मरण मन्त्र से ही करना चाहिए, इसलिए मन्त्रों का आम्नाय होता है। नामनिर्देशपूर्वक याग के विधान को नामधेय कहते हैं—'श्येनेनाभिचरन् यजेत', 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादि नामधेय कहलाते हैं।

अपने मत को श्रेष्ठ बताना। दूसरे के मतों का खण्डन और अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थापन ही 'विचार' कहा जाता है। तृतीय पाद में, पञ्चमहाभूतपरक और जीवपरक श्रुतियों में जो परस्पर-विरोध है, उनका परिहार किया गया है। चतुर्थ पाद में, लिङ्ग-शरीर के विषय में जो श्रुतियाँ हैं, उनमे परस्पर-विरोध का परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में, जीव के परलोक-गमनागमन के विचार के साथ वैराग्य का विचार किया गया है। द्वितीय पाद मे, 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' का अनुसन्धान किया गया है। तृतीय पाद में, सगुण विद्याओं के विषय में गुणोपसंहार किया गया है। विभिन्न स्थानों में प्रतिपादित जो उपास्य गुण हैं, उनके एक स्थान पर संग्रह करने का नाम गुणोपसंहार है। चतुर्थ पाद में, निर्गुण ब्रह्म-विद्या का जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन हैं—जैसे, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ आदि आश्रम हैं और यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधन हैं तथा शम, दम आदि अन्तरङ्ग साधन हैं—उन पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद मे, पाप-पुण्य के अभावरूप मुक्ति का विचार किया गया है। इसीको 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। द्वितीय पाद में, मरण के उत्क्रमण का प्रकार दिखाया गया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना के उत्तर-मार्ग का वर्णन है। चतुर्थ पाद मे, विदेह-कैवल्य, ब्रह्मलोकावस्थान आदि मुक्तियों का वर्णन है। निर्गुण ब्रह्मज्ञानियों की विदेह-मुक्ति और सगुण ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मलोक में अवस्थान बताया गया है। ब्रह्म-सूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का यह संक्षेप में निदर्शन हुआ।

प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं। उनके विषयों में भी लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। किसी प्रकरण के अन्तर्गत एक अवान्तर प्रकरण होता है, जिसमें एक विषय को लेकर संशय-पूर्वपक्ष के प्रदर्शनपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया जाता है, उसीको अधिकरण कहते हैं। अधिकरण मे पाँच अवयव होते हैं—(१) विषय, (२) संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) निर्णय और (५) संगति। इस प्रकार, वेदान्त-सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे ग्यारह अधिकरण हैं। द्वितीय पाद में सात, तृतीय पाद में चौदह और चतुर्थ मे आठ हैं। कुल मिलाकर प्रथम अध्याय में ४० अधिकरण हैं। द्वितीय अध्याय में ४६, तृतीय में ६७ और चतुर्थ में ३८। कुल मिलाकर चारों अध्यायों में १६१ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरण में संशय और पूर्वपक्ष के प्रदर्शपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया गया है। उदाहरण के लिए प्रथम अध्याय का प्रथम सूत्र लीजिए—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा', इस अधिकरण का विषय है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।' यह बृहदारण्यक-श्रुति का मन्त्र है, जिसका तात्पर्य है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन-रूप ब्रह्म का विचार करना चाहिए या नहीं? इस संशय का कारण यह है कि जानने की इच्छा असन्दिग्ध वस्तु के सम्बन्ध में नहीं होती और न उस वस्तु के सम्बन्ध में ही होती है, जिससे कोई प्रयोजन न हो। उदाहरणार्थ: कौए के कितने दाँत होते हैं, यह जानने की इच्छा किसीको नहीं होती। उसके जानने से कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि, उस प्रकार का ज्ञान निरर्थक होता है।

ब्रह्म की जिज्ञासा तथा ब्रह्म-विचार-शास्त्र की प्रयोजनीयता

ब्रह्म-जिज्ञासा में यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात ? यदि ज्ञात है, तो सन्देह होगा ही नहीं, तो फिर जिज्ञासा कैसी ? किंवा, यदि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तो भी कोई जिज्ञासा सिद्ध नहीं हो सकती। अब ब्रह्म जिज्ञास्य है या नहीं, यह पूर्वपक्ष है। वह असंदिग्ध है; क्योंकि 'अयमात्मा ब्रह्म', इसमें 'मैं' का प्रत्यक्षात्मक अनुभव प्राणिमात्र को ही है। 'मैं हूँ अथवा नहीं', यह किसीको सन्देह नहीं होता। इस पर यह शङ्का होती है कि 'मैं गोरा हूँ, काला हूँ, दुबला हूँ, मोटा हूँ', यही क्या 'मैं' का स्वरूप है ? उत्तर में निवेदन है कि गोरा, काला या दुबला, पतला होना तो देह का धर्म है, आत्मा का नहीं। देह के अतिरिक्त आत्मा का भान बड़ी कठिनाई से होता है। शरीर से अहम् का जो बोध है, उसमें बाल्यावस्था में प्राप्त क्रीड़ा-रस का अनुभव, युवावस्था में प्राप्त विषय-रस का अनुभव और वृद्धावस्था में प्राप्त विरक्ति का अनुभव, इन सबका स्मरण होने के कारण यह स्पष्ट है कि वह इन बदलते हुए तत्त्वों के भीतर से अपने आपमें अद्वय और अखण्ड है। बाल्यकाल में जो शरीर था, वह युवावस्था में नहीं है। जो आज है, वह कल बदल जायगा। यह हम सभी को अनुभव है और अन्य का जो अनुभूत है, उसका अन्य स्मरण नहीं करता, यह नियम सर्वसिद्धान्त है। कुसुमाञ्जलि में आया है—'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः', अर्थात् दूसरे का अनुभव दूसरे को स्मरण नहीं होता। इस अवस्था में देह आदि के अतिरिक्त आत्मा ही 'अहम्' है, ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए, आत्मा असंदिग्ध है। उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती। यह पूर्वपक्ष सिद्ध होता है।

पुनः दूसरी शङ्का है कि जिस प्रकार पीलुपाक-प्रक्रिया और पिठरपाक-प्रक्रिया इन दोनों पक्षों में एक घटादि वस्तु में भी काल-भेद से परिमाण का भेद युक्त माना गया है, उसी प्रकार एक शरीर नामक वस्तु में भी काल-भेद से परिमाण-भेद के मान लेने पर भी बाल्यावस्था, युवावस्था वृद्धावस्था के शरीर के एक होने में कोई आपत्ति नहीं है। अर्थात्, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि परिणाम-भेद होने पर भी देह एक ही है और वही 'अहम्' है। चार्वाक-मत में देह आत्मा से अभिन्न है। जब देह अहम् का विषय होता है, तब आत्मा सन्दिग्ध ही रहता है, इसलिए उसकी जिज्ञासा हो सकती है और उसके लिए शास्त्र का आरम्भ भी आवश्यक हो जाता है, यह शङ्का करनेवालों का तात्पर्य है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं है। जैसे, योगी या मान्त्रिक योगबल या मन्त्रबल से अनेक शरीर धारण करता है, वैसे जीवात्मा भी कर्मबल से अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है। यहाँ आत्मा से देह भिन्न है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए, देह से भिन्न आत्मा ही 'अहम्'-प्रतीति का विषय है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार, शरीर 'अहम्'-प्रतीति का विषय नहीं होता, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी 'अहम्'-प्रतीति का विषय नहीं होतीं। कारण यह है कि यदि इन्द्रियों को 'अहम्' मानें, तो चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर जो रूप की प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती।

क्योंकि, अन्य की जो दृष्ट वस्तु है, उसका अन्य स्मरण नहीं करता, यह नियम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार, चैत्र ने जिस वस्तु को देखा, उसका स्मरण मैत्र नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिस वस्तु को चक्षु ने देखा है, उस वस्तु का स्मरण चक्षु के नष्ट हो जाने पर नहीं हो सकता। क्योंकि, देखनेवाला चक्षु अब नहीं है और चक्षु के न रहने पर उस रूप का स्मरण होता है। इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय भी अहम् का विषय नहीं है। इसी प्रकार, मन आदि जो अन्तःकरण हैं, वे भी अहम् का विषय नहीं होते। क्योंकि, साधन का, विरुद्ध धर्म के आश्रय होने से, कर्त्ता से भिन्न होना निश्चित है। मन आदि अन्तःकरण भी कर्त्ता के ज्ञान का साधन होने से ज्ञान के प्रति साधन है। इसलिए, ज्ञान का कर्त्ता जो अहम् शब्दार्थ है, उससे भिन्न अन्तःकरण है, यह सिद्ध है। जैसे, आरी आदि हथियार बढ़ई के साधन हैं, फिर भी वे बढ़ई से भिन्न ही रहते हैं, वैसे ही आत्मा से अन्तःकरण भिन्न ही रहता है। इसलिए, आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्य न होने से अहम् का अर्थ अन्तःकरण भी नहीं होता।

अब यहाँ एक सन्देह रह जाता है कि यदि शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से आत्मा को अत्यन्त भिन्न मानते हैं, तो 'मैं स्थूल हूँ, कृष्ण हूँ, अन्ध हूँ, बधिर हूँ, कामी हूँ, लोभी हूँ', इत्यादि व्यवहार जो लोक में होता है, उसका उच्छेद ही हो जायगा। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि व्यवहार का उच्छेद नहीं होगा। कारण यह है कि लोक और शास्त्र में दो प्रकार से शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक अभिधावृत्ति से और दूसरी लक्षणावृत्ति से। लक्षणावृत्ति को ही गौणी वृत्ति कहते हैं। जहाँ मुख्य अर्थ अनुपपन्न रहता है, वहाँ गौण अर्थ की ही विवक्षा की जाती है। जैसे, 'मञ्चाः क्रोशन्ति', मचान चिल्लाते हैं, यहाँ क्रोशन (चिल्लाना)-रूप क्रिया, जो चेतन का धर्म है, अचेतन मञ्च में अनुपपन्न है, इसलिए मञ्च शब्द का मञ्चस्थ, अर्थात् मचान पर रहनेवाले पुरुष में लक्षणा की जाती है। इसलिए, 'मञ्चाः क्रोशन्ति' का अर्थ, मचान पर रहनेवाले चिल्लाते हैं, किया जाता है। वैसे ही, यहाँ प्रकृत में भी अहम् शब्द से जिस जीवात्मा की प्रतीति होती है, उसमें स्थूलत्व, कृशत्व, गौरत्व, कृष्णत्व आदि धर्म का होना असम्भव है, इसलिए स्थूलत्व आदि धर्म से युक्त जो शरीर है, उससे युक्त अर्थ में लक्षणा मानी जाती है। अतएव, 'गौरोऽहम्' 'स्थूलोऽहम्' इस प्रकार व्यवहार किया जाता है। व्यवहार का उच्छेद नहीं होता।

यदि कहें कि अहम्-प्रत्यय से गम्य (प्रतीयमान) जो आत्मा है, उसकी जिज्ञासा नहीं करते, किन्तु श्रुति से जिस आत्मा का बोध होता है, उसकी जिज्ञासा कर रहे हैं और वह आत्मा अहम्-प्रत्यय से प्रतीत नहीं होता, इसलिए जिज्ञासा करनी चाहिए और जिज्ञासा होने से शास्त्र भी आरम्भणीय सिद्ध हो जाता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि श्रुति से जिस आत्मा की प्रतीति होती है, वही आत्मा अहम्-प्रत्यय से भी प्रतीत होता है। अर्थात्, 'अहम्'-प्रत्यय से प्रतीयमान जीवात्मा और श्रुति से प्रतीयमान परमात्मा में कुछ भेद नहीं है, यह पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। इस उक्ति में श्रुति का ही प्रमाण दिया जाता है। जैसे, 'सत्यं

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस तैत्तिरीय श्रुति से ब्रह्म का बोध होता है। और, 'अहमात्मा ब्रह्म', इस बृहदारण्यक-श्रुति और 'तत्त्वमसि' इस छान्दोग्य-श्रुति से अहम्-प्रत्ययगम्य जो जीवात्मा है, उसीका बोध होता है, उससे भिन्न का नहीं। इसलिए, अहम्-प्रत्ययगम्य आत्मा के प्रत्यक्षतः सिद्ध होने से जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ शङ्का होती है कि जीवात्मा तो सांसारिक दुःख का भागी है और श्रुतिगम्य ब्रह्म को 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्', 'अप्राणोऽह्यमनाः', 'सदेव सोमेदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य) इत्यादि श्रुतियों से निष्कल, निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध और बुद्ध बताया गया है। यदि जीवात्मा और परमात्मा में अभेद मानें, तब तो उक्त श्रुतियों से विरोध हो जाता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति अर्थवाद होने के कारण जीवात्मा का केवल प्रशंसापरक हैं, स्वरूपबोधक नहीं, इसलिए विरोध नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रुति से भी प्रतीयमान जो आत्मा है, उसका भी अहम्-प्रतीति से प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसके लिए, जिज्ञासा के निष्फल होने से, विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए, ब्रह्मविचार-शास्त्र अनारम्भणीय है, यह सिद्ध होता है।

यहाँ पूर्वपक्षी का अनुमान भी इस प्रकार होता है—सन्देहास्पद ब्रह्म (पक्ष) अजिज्ञास्य है (साध्य) असन्दिग्ध होने से (हेतु), हस्ततल में स्थित आँवले के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हाथ में स्थित आँवले के विषय में किसीको जिज्ञासा नहीं होती; क्योंकि उसमें किसीको सन्देह ही नहीं है कि आँवला है या अन्य कोई वस्तु, वरन् निश्चित आँवला का स्पष्ट ज्ञान है; उसी प्रकार, अहम् (मैं), इस प्रत्यय से देहादि के अतिरिक्त जीवात्मा का बोध अबाधित रूप से प्राणिमात्र को विदित है, किसीको भी सन्देह नहीं है। इसलिए, ब्रह्म-जिज्ञासा के हेतु आत्म-विचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है, यह पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है। जिज्ञासा के न होने का दूसरा कारण यह है कि जिज्ञासा का व्यापकधर्म प्रयोजनत्व भी है। अर्थात्, जहाँ-जहाँ जिज्ञासा है, वहाँ-वहाँ जिज्ञासा का सप्रयोजन होना भी अनिवार्य है; क्योंकि व्यापक सप्रयोजनत्व धर्म के रहने से व्याप्य जो जिज्ञास्यत्व धर्म है, वह कभी नहीं रह सकता। जैसे, अग्नि के बिना धूम नहीं रहता। प्रकृत में, जिज्ञासा का फल, जिसको अद्वैतवादी वेदान्ती मानते हैं, वस्तुतः फल ही नहीं है। क्योंकि, इनका कहना है कि पुरुषार्थ वही है, जिसको विद्वान् चाहें। विवेकशील विद्वान् निरुपम और निरतिशय सुख को ही पुरुषार्थ मानते हैं। ऐहिक या पारलौकिक जो सुख है, उसको विवेकशील विद्वान् पुरुषार्थ नहीं मानते। अनेक प्रकार के जो सांसारिक सुख हैं, वे सब तारतम्य भाव से अनुभूत होते हैं, अर्थात् किसीकी अपेक्षा अधिक होने पर भी किसी सुखविशेष की अपेक्षा वे अपकृष्ट भी होते हैं। इसमें कोई सुख भी सर्वोत्तम नहीं है। राज्य-सुख भी स्वर्ग-सुख की अपेक्षा अल्प है। इसी दृष्टान्त से स्वर्ग-सुख भी किसीकी अपेक्षा अपकृष्ट ही है। पारलौकिक सुख सांसारिक सुख की अपेक्षा कुछ ही विलक्षण है, इसलिए सांसारिक सुख के सदृश ही पारलौकिक सुख भी सातिशय ही है, निरतिशय नहीं। जो निरतिशय सुख है, वही सब सुख से विलक्षण होने के

कारण निरुपम भी है, इसलिए विचारशीलों की दृष्टि से वही पुरुषार्थ माना जाता है। वह ऐसा सुख है कि उसमें किसी प्रकार के दुःख का भी लेश नहीं रहता। अर्थात्, वह ऐसा है, जिसमें दुःख की सम्भावना भी नहीं रहती, इसलिए वह सुखमय है। इससे बढ़कर कोई भी सुख नहीं है, इसलिए यह पुरुषार्थ कहा जाता है। जिसमें दुःख का लेश-मात्र भी रहता है, वह पुरुषार्थ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ का विरोधी वास्तविक दुःख ही है और दुःख का मूल भी विवेक-दृष्टि से दुःख ही है। इसलिए, दुःखों के मूल का ही त्याग करना विवेक-दृष्टि से समुचित प्रतीत होता है। इससे दुःख का मूल ही त्याज्य है, यह सिद्ध होता है। दुःख का मूल अविद्या ही है। अविद्या का ही पर्याय 'संसार' या 'अज्ञान' है। यही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सकल अनर्थों के उत्पादक होने से दुःखों का मूल कहा जाता है। इसीका नाम मूलाज्ञान भी है। इसी मूलाज्ञान या अविद्या-शब्द का जो अर्थ है, वही वेदान्त-दृष्टि से 'संसार' है।

संसार शब्द में जो सम् उपसर्ग है, उसका अर्थ एकीकरण होता है। 'आत्मानं देहेन एकीकृत्य स्वर्गनरकयोर्मार्गे सरति पुमान् येन स संसारः', अर्थात् मनुष्य आत्मा को देह के साथ एककर स्वर्ग या नरक (अच्छा या बुरा) के मार्ग पर जिसके द्वारा जाता है, वही संसार है। संसार के ही द्वारा मनुष्य देह में आत्म-बुद्धि मानकर सकल सांसारिक व्यवहार का सम्पादन करता है। संसार का ही पर्यायवाचक शब्द सम्भेद या सङ्गम है। इससे सिद्ध होता है कि संसार अज्ञान, अविद्या इत्यादि शब्द का वाच्य जो दुःख है, उसीका त्याग करना ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रयोजन है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने लिखा है—

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

अर्थात्, अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है और अविद्या बन्ध को कहते हैं। संसार ही बन्ध है। इससे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। यह इसका रहस्य है। यही ब्रह्म-विचार का फल है, ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, आत्मा के यथार्थ साक्षात्कार से ही संसार की निवृत्ति होती है, यह जो वेदान्तियों का कहना है, वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि आत्मयाथात्म्यानुभव (आत्मा जिस प्रकार की है, उसी प्रकार का अनुभव) के साथ ही यह संसार अनुवर्त्तमान है। अर्थात्, संसार और आत्मानुभव ये दोनों धर्म अविरुद्ध भाव से साथ-साथ रहते हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म नहीं हैं, इसलिए इनमें परस्पर बाध्य-बाधक (निवर्त्त्य-निवर्त्तक) भाव नहीं होने से आत्मयाथात्म्यानुभव से संसार का बाध नहीं हो सकता। इसलिए, आत्मविचार का फल अविद्या शब्द-वाच्य जो संसार है, उसकी निवृत्ति होना है, यह भी समुचित नहीं प्रतीत होता।

यदि यह कहें कि अहम्-अनुभव से गम्य जो जीवात्मा है, वह संसार के अनुभव के साथ-साथ अनुवर्त्तमान है, इसलिए दोनों में अविरोध होने से निवर्त्त्य-निवर्त्तक भाव न हो, किन्तु वेदान्तगम्य जो शुद्ध अद्वय ब्रह्म का ज्ञान है (जो संसार के साथ अनुवर्त्तमान नहीं है), उसके साथ निवर्त्त्य-निवर्त्तक भाव हो सकता है; क्योंकि ये

दोनों तम और प्रकाश के सदृश परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं। इसलिए, आत्मविचार-शास्त्र का शुद्ध अद्वय ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान ही फल है, यह सिद्ध होता है। परन्तु, यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि अहम्-अनुभव से गम्य जो आत्म-तत्त्व है, उससे अतिरिक्त कोई ब्रह्म-तत्त्व है ही नहीं।

यदि यह कहें कि अहम्-अनुभवगम्य के अतिरिक्त शुद्ध अद्वितीय आत्म-तत्त्व का ज्ञान यद्यपि मूर्खों को न हो, परन्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वेदान्त-शास्त्रों के अनुशीलन करनेवाले जो विद्वान् हैं, उनको शुद्ध अद्वितीय आत्म-तत्त्व का अनुभव होना सम्भव है, यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि 'अहम्, इदम्' इत्यादि जो द्वैत का प्रत्यक्ष होता है, उसका बाध श्रुति-वाक्यों से नहीं हो सकता। इसलिए, द्वैत के प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध मानना ही युक्त है, अर्थात् प्रत्यक्षतः अनुभूयमान जो द्वैत प्रत्यक्ष है, उसका श्रुति के बल पर किसी प्रकार भी अपलाप नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय से भगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—'नह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते', अर्थात् हजारों श्रुतियाँ मिलकर भी घट को पट-रूप नहीं बना सकतीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति प्रत्यक्ष द्वैत-प्रतिभास को निवृत्त नहीं कर सकती। इसलिए, वह अप्रमाण ही है। जिस प्रकार 'ग्रावा प्लवन्ते', पत्थर तैरते हैं, यह वाक्य अप्रमाण होता है, उसी प्रकार अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति भी अप्रमाण मानी जा सकती है। क्योंकि, जिस प्रकार पत्थर का तैरना असम्भव है, उसी प्रकार अद्वैत आत्मा का अनुभव भी असम्भव ही है और असम्भव अर्थ के प्रतिपादक जो वाक्य हैं, वे भी अप्रमाण ही हैं।

अब यहाँ दूसरी शङ्का होती है कि यदि अद्वैत-प्रतिपादक जो श्रुतियाँ हैं, उनको अप्रमाण माना जाय, तब तो इस विषय में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', इस अध्ययन-विधि का व्याकोप हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि अध्ययन का अर्थ, ज्ञान के द्वारा कर्म में उपयोग माना गया है, और असम्भव अर्थ के प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उनका तो उस प्रकार का उपयोग नहीं हो सकता, इसलिए ऐसे वाक्यों के विषयों में जो अध्ययन का विधान है, वह व्यर्थ ही हो जायगा।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि गुरु (प्रभाकर) के मत से ऐसे वाक्यों का कर्म में उपयोग नहीं होने पर भी 'हुं फट्' इत्यादि के सदृश जप आदि में उपयोग होता ही है। तात्पर्य यह है कि प्रभाकर के मत में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य अपूर्व-विधि नहीं है। किन्तु, अध्यापन-विधि से सिद्ध अध्ययन का अनुवाद माना है। यह पूर्वमीमांसा में लिख चुके हैं और अध्ययन-विधि पाठ-मात्र का ही आक्षेप करता है, अर्थ का अवबोध नहीं। इसलिए, अर्थ-ज्ञान की, विधि के अनुसार, सर्वत्र आवश्यकता नहीं होती। जहाँ सम्भव अर्थ हो, वहाँ ग्रहण करना चाहिए और जहाँ असम्भव अर्थ हो, उसको त्याग देना चाहिए। और, उन मन्त्रों का उपयोग 'हुं फट्' इत्यादि मन्त्रों के सदृश जप-मात्र में ही समझना चाहिए।

आचार्य के मत में अर्थज्ञान-रूप दृष्टफल के उद्देश्य से अध्ययन-विधि की प्रवृत्ति होती है। इनके मत में जहाँ वाच्य अर्थ सम्भव न हो, वहाँ 'यजमानः प्रस्तरः'

वाक्य के सदृश अर्थवाद अथवा लक्षणावृत्ति से प्रशंसापरक मानकर उपयोग समझना चाहिए। इस स्थिति में, उसका अप्रामाण्य भी नहीं होगा। अतः, ब्रह्मप्रतिपादक जितने वेदान्त-वाक्य हैं, उनका जीव की प्रशंसा मे तात्पर्य मानकर उपयोग हो जायगा। इसलिए, अध्ययन-विधि भी व्यर्थ नहीं होती। इस प्रकार, प्रयोजन के अभाव होने से ब्रह्मविचार-शास्त्र की आवश्यकता नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। इसका अनुमान भी इस प्रकार होता है—विवादास्पद ब्रह्म (पक्ष) विचार के योग्य नहीं है (साध्य) निष्फल होने के कारण (हेतु), काकदन्त-परीक्षा के सदृश (दृष्टान्त)। भगवान् शङ्कराचार्य ने भी कहा है—

'अहं धियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः।
तज्ज्ञानान्मुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नावकल्पते॥'

तात्पर्य यह है कि अहम् (मैं)-बुद्धि से आत्मा की सिद्धि स्पष्ट हो जाती है और वही आत्मा ब्रह्म भी है। और, इस अहम्-ज्ञान से मुक्ति भी नहीं होती, इसलिए जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं है।

अब यहाँ यह भी एक शङ्का होती है कि उक्त अनुमान में अफलत्व जो हेतु है, वह असिद्ध है; क्योंकि भेदेन अध्यस्त जो देह है, उसका निवृत्ति होना ही ब्रह्म-जिज्ञासा का फल सिद्ध है। अर्थात्, अद्वितीय ब्रह्म में भिन्न रूप से जो आरोपित देह आदि प्रपञ्च-समूह हैं, उनकी निवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म-विचार से होती है। इसलिए, यह ब्रह्म-विचार का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, अतएव अफलत्व-हेतु असिद्ध है। इस शङ्का के उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना है कि व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की निवृत्ति होती है, इस न्याय से भेद का जो ज्ञान है, वह भेद के अज्ञान का प्रतिबन्धक जो भेद का संस्कार है, उसकी अपेक्षा करता है। क्योंकि, भेद-ज्ञान का व्यापक भेद-संस्कार है। जिस प्रकार, व्यापक अग्नि के अभाव में व्याप्य धूम का उदय नहीं होता, उसी प्रकार, व्यापक जो भेद-संस्कार है, उसके अभाव में भेद के अध्यास का भी उदय नहीं हो सकता। अतः, भेदाध्यास भेद के संस्कार की अपेक्षा करता है। भेद का संस्कार ही भेद के अज्ञान का नाश करता हुआ भेदाध्यास को उत्पन्न करता है। जैसे, इस प्रकार का रजत होता है, ऐसा जायमान जो रजत-संस्कार है, वह रजत के अज्ञान का नाश करता हुआ 'यह रजत है', इस प्रकार की यथार्थ या अयथार्थ रजत-प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जिसको रजत का संस्कार नहीं है, उसको यह ज्ञान नहीं होता और संस्कार भी बिना यथार्थ अनुभव के उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि अयथार्थ अनुभव से भी कहीं संस्कार उत्पन्न देखा जाता है, तथापि वह अयथार्थ अनुभव भी संस्कारपूर्वक ही होगा, यह निश्चित है। इसलिए, कहीं पर यथार्थ अनुभव का होना संस्कारोत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। इसलिए, भेद-संस्कार का जनक प्राथमिक (पहला) भेद का यथार्थ अनुभव अवश्य स्वीकरणीय है। यदि भेद का यथार्थ अनुभव सत्य है, तो ब्रह्म-विचार से भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए ब्रह्म-विचार अफल है, यह बात सिद्ध हो जाती है। अतः ब्रह्मविचारात्मक वेदान्त-शास्त्र अनारम्भणीय है, यह सिद्ध हो जाता है।

यहाँ अनुमान का स्वरूप भी इस प्रकार है—विवादास्पद आत्मा और अनात्मा (पक्ष) भेदेन प्रमित हैं (साध्य), अर्थात् दोनों में जो परस्पर भेद है, वह यथार्थ है, दोनों में अभेद की योग्यता न रहने से (हेतु), अर्थात् आत्मा और अनात्मा में अभेद नहीं होने के कारण। जैसे, तम और प्रकाश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तम और प्रकाश में अभेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा और अनात्मा में अभेद नहीं हो सकता। यदि कहें कि यहाँ अभेदायोग्यत्व जो हेतु है, वह असिद्ध है, इसलिए दोनों के भेद का साधक नहीं हो सकता, तो अभेदवादी से पूछना चाहिए कि क्या आप दोनों में अभेद की योग्यता मानते हैं, अर्थात् दोनों का अभेद एक में दूसरे का लय होने से समझते हैं। जैसे, जल में सैन्धव का लय होना। तो इस स्थिति में, यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि आत्मा में अनात्मा का लय होगा, अथवा अनात्मा में आत्मा का? यदि आत्मा में ही अनात्मा का लय मानें, तब तो आत्मा ही अवशिष्ट रहेगा, अनात्मा नहीं। क्योंकि, वह तो आत्मा में ही लीन हो गया है। इस स्थिति में, जिस प्रकार मुक्ति-दशा में जगत् अस्त हो जाता है, उसी प्रकार, संसार-दशा में भी दृश्यमान जगत् का विलय हो जायगा। इसलिए, आत्मा को ही परिशेष नहीं कह सकते।

यदि अनात्मा में ही आत्मा का लय मानें, तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस अवस्था में आत्मा का लय और जडवर्ग का ही परिशेष रहने से जगत् अन्धवत् हो जायगा; चूँकि आत्मा जडवर्ग में ही लीन हो गया है। इस अवस्था में, जगत् का अन्ध होना अनिवार्य हो जाता है। इसलिए, आत्मा और अनात्मा में अभेद होने की अयोग्यता अवश्य है, यह स्वीकार करना ही होगा। दूसरी बात यह है कि तम और प्रकाश के सदृश आत्मा अर्थात् द्रष्टा और अनात्मा अर्थात् दृश्य इन दोनों के परस्पर-विरुद्ध स्वभाव होने से भी दोनों में अभेदायोग्यत्व मानना ही होगा। जब आत्मा और अनात्मा में अभेद की योग्यता नहीं है, अर्थात् दोनों परस्पर यथार्थ में तम और प्रकाश के सदृश भिन्न-भिन्न हैं, तब प्रपञ्चरूप जडवर्ग का आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है और प्रपञ्च के वास्तविक होने से तद्विषयक जो आत्मा का ज्ञान होता है, वह भी यथार्थ ही होगा। इसलिए, ज्ञान का भी आत्मा में अध्यास नहीं कह सकते। इस प्रकार जब अध्यास ही असम्भव है, तब तो ब्रह्म-विचार का अध्यास देह आदि की निवृत्ति-रूप जो फल बताया गया है, वह भी असम्भव हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म-विचार के असफल होने के कारण ब्रह्मविचारात्मक जो शारीरिक मीमांसा-शास्त्र है, उसका अनारम्भणीयत्व सिद्ध हो जाता है। यह पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। यहाँ तक पूर्वपक्षी का साधक-बाधक-प्रदर्शनपूर्वक सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया गया। इस पर सिद्धान्ती का कहना यह है कि अहम् पद का वाच्य जो आत्मा है, उसके अतिरिक्त कोई आत्म-तत्त्व नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि समस्त उपाधि से रहित अद्वितीय निर्विशेष आत्म-तत्त्व श्रुति, स्मृति आदि में प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि अहम् शब्द से जिस जीवात्मा की प्रतीति होती है, वह उपाधि-रहित नहीं है। इसलिए अहम् (मैं) ऐसा भासित होता है। अहन्ता आदि जितने धर्म हैं, वे सोपाधिक ही होते हैं, निरुपाधिक नहीं।

इसलिए, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध जो ब्रह्मपदवाच्य निरुपाधिक आत्म-तत्त्व है, उसका निश्चय करने के लिए ब्रह्मविचार-शास्त्र की आवश्यकता हो जाती है।

ग्रन्थ-तात्पर्यनिर्णायक-निरूपण

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि 'सदेव सोम्य' इत्यादि वेदान्त-वाक्य गौणार्थ हैं, और जीव के केवल प्रशंसापरक हैं, वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि श्रुति का मनमाना अर्थ करना युक्त नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि जो छह प्रकार के तात्पर्य के निर्णायक लिङ्ग हैं, उन्हीं के द्वारा जो निश्चित अर्थ है, वह सर्वमान्य होता है और यही युक्त भी है। उपक्रम आदि छह प्रकार के निर्णायक लिङ्ग इस प्रकार हैं—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'

उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छह किसी ग्रन्थ के तात्पर्य के निर्णय में लिङ्ग अर्थात् प्रमाण होते हैं। प्रकरण का प्रतिपाद्य जो अर्थ है, उसका प्रकरण के आदि में निर्देश करने का नाम उपक्रम है। प्रकरण-प्रतिपाद्य अर्थ का अन्त में निर्देश करना उपसंहार है। ये दोनों मिलकर एक लिङ्ग होता है। प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का, प्रकरण के बीच-बीच में, पुनः-पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का प्रमाणान्तर से सिद्ध न होना, अर्थात् प्रमाणान्तर का अविषय होना, अपूर्वता कहा जाता है। प्रकरण में यत्र-तत्र श्रूयमाण जो प्रयोजन है, वही फल है। प्रकरण की प्रतिपाद्य जो वस्तु है, उसकी प्रशंसा का नाम अर्थवाद है और प्रकरण-प्रतिपाद्य वस्तु का साधन करनेवाली यत्र-तत्र श्रूयमाण जो युक्ति है, वह उपपत्ति कही जाती है। इन्हीं छह प्रकार के लिङ्गों से किसी भी प्रकरण के तात्पर्य का निर्णय करना युक्त माना जाता है। जैसे, छान्दोग्य-उपनिषद् में 'सदेव सौमेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्', अर्थात् हे सौम्य, *पूर्व में एक अद्वितीय सत् ही था। इस प्रकार, प्रकरण के आदि में एक अद्वितीय ब्रह्म का* उपक्रम कर अन्त में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादि उपसंहार किया। मध्य में 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से अद्वितीय ब्रह्म का नव बार पुनः-पुनः प्रतिपादन किया, यही अभ्यास है और उक्त ब्रह्म को प्रमाणान्तर से गम्य नहीं बताया, यही अपूर्वता है। 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुति से केवल उपनिषद् से ही ब्रह्म का अधिगम्य होना बताया गया है। दूसरा कोई प्रमाण ब्रह्म के विषय में नहीं कहा गया है। यह अपूर्व है। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा एक ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान होना बताया गया है, यही फल है। और, उसी अभिधेय ब्रह्म के द्वारा सृष्टि, स्थिति, नियमन, प्रलय आदि बताये गये हैं, यही अर्थवाद है। जैसे, 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय', 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि से सृष्टि बताई गई है। 'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः', इत्यादि श्रुति से स्थिति और नियमन को बताया गया है। 'तेजः परस्यां देवतायाम्', इससे प्रलय और 'इमास्तिस्रो

देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', इस श्रुति से प्रवेश भी बताया गया है। इस प्रकार, श्रुति से प्रतिपादित जो सृष्टि, स्थिति, नियमन, प्रलय, प्रवेश—यह पाँच प्रकार की जो ब्रह्म की प्रशंसा है, वही अर्थवाद है। 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्म के साधन में जो युक्ति बताई गई है, वही उपपत्ति है। इसी प्रकार, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, मुण्डक आदि उपनिषदों में भी इन्हीं उपक्रम आदि छह लिङ्गों के द्वारा तात्पर्य का निर्णय रामतीर्थ-प्रणीत वेदान्त-सार की विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में किया गया है। इन पूर्वोक्त छह प्रकार के लिङ्गों से समस्त वेदान्तों का तात्पर्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म में ही निश्चित किया जाता है, इसलिए इसको औपनिषद आत्म-तत्त्व कहते हैं। इस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त औपनिषद आत्म-तत्त्व का भान अहम् (मैं)-अनुभव में नहीं होता है, इसलिए अहम्-अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मा है, शुद्ध आत्मा नहीं, यह सिद्ध होता है।

'अहम्'-अनुभव के विषय का विवेचन

तात्पर्य यह है कि 'अहम्'-अनुभव का विषय देह होता है, किन्तु उसी देह में आत्मत्व का आरोप है। अर्थात्, आरोपित आत्मत्वविशिष्ट जो देह है, वही अहम् का विषय होता है। एक बात और भी जान लेना चाहिए कि यहाँ आरोप जो होता है, वह अनाहार्य आरोप है। भ्रममूलक जो आरोप है, वही अनाहार्य आरोप है। जैसे, शुक्ति रजत-रूप से भासित होती है, यह 'अनाहार्यारोप' है। और, जिस प्रकार शुक्ति रजतरूप से भासित होती है, उसी प्रकार देह भी आत्मा-रूप से अहम्-अनुभव में भासित होता है। इसलिए, अहम्-अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मा होता है, शुद्ध आत्मा नहीं। इससे शुद्ध आत्मा के विचार के लिए वेदान्त-शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि, अहम्-अनुभव में शुद्ध ब्रह्म का भान न होने से वह सन्दिग्ध ही रहता है।

अब इसमें भी यह सन्देह होता है कि अहम्-अनुभव का विषय जो आरोपित आत्मत्वविशिष्ट देह को बताया गया है, वह ठीक नहीं है। कारण यह है कि यद्यपि निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का अवभास अहम्-अनुभव में नहीं होता, तथापि जीवात्मा का तो अवभास अहम्-अनुभव में अवश्य होता है। नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में ब्रह्म के अतिरिक्त प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्मा को माना ही गया है, इसलिए वही जीवात्मा अहम्-अनुभव का विषय होगा। पुनः अध्यस्त आत्मत्वविशिष्ट देह को अहम्-अनुभव का विषय मानना अनुचित ही है।

सिद्धान्ती का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा को यदि, नैयायिक आदि के समान, मान भी लें, तो ठीक नहीं होता; क्योंकि नैयायिक और वैशेषिक जिस प्रकार आत्मा को मानते हैं, वह 'अहम्'-अनुभव में

यदि कहें कि देह में जिस प्रकार आत्मत्व की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार ज्ञातृत्व का भी आरोप कर सकते हैं। अर्थात्, देह में आत्मत्व के सदृश ज्ञातृत्व को भी काल्पनिक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं रहती। परन्तु, यह भी कहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि प्रयोग करनेवाले को अपने ज्ञान का प्रकाशक प्रयोग करने में ज्ञातृत्व का उपचार नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता जब अपने ज्ञान का प्रकाशन करना चाहता है, तब अपने ज्ञान के अनुसार मुख्यवृत्ति या गौणवृत्ति से वाक्य का प्रयोग करता है। वही प्रयोग करनेवाला जब गौणवृत्ति से प्रयोग करना चाहता है, तब जो धर्म जहाँ नहीं है, उसकी भी वह कल्पना कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता, प्रयोक्ता, और कल्पक एक ही व्यक्ति है और वही अहम् शब्द का वाच्य भी होता है।

यदि अहम्-कल्पित ज्ञातृत्वविशिष्ट देह है, तो वही अपने अन्तर्गत ज्ञातृत्व का कल्पक किस प्रकार हो सकता है। दूसरी बात यह है कि देह में जो ज्ञातृत्व है, वह कल्पित है, वास्तविक नहीं। इसलिए, वस्तुतः ज्ञातृत्व नहीं होने से वह प्रयोक्ता भी नहीं हो सकता। क्योंकि, कल्पित वस्तु परमार्थ कार्य करनेवाला नहीं होता। जैसे, *'अग्निरयं माणवकः'*, *यह माणवक अग्नि है, यहाँ माणवक में आरोपित जो अग्नि है,* वह यथार्थ दाह का जनक नहीं होता।

यदि द्वितीय पक्ष, अर्थात् देह का जो प्रादेशिकत्व धर्म है, उसका आत्मा में आरोप मानकर उक्त व्यवहार की उपपत्ति मानें, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि जहाँ बुद्धिपूर्वक अन्यधर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहीं आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाता है) और आरोप-विषय (जहाँ आरोप किया जाता है) इन दोनों का भेद-ज्ञान आवश्यक होता है। जैसे, 'सिंहोऽयं माणवकः', यहाँ माणवक में सिंहत्व का आरोप करते हैं। क्योंकि, आरोप का विषय जो माणवक है और आरोप्यमाण जो सिंहत्व है, इन दोनों में परस्पर भेद का ज्ञान प्रसिद्ध है। इस भेद-ज्ञान के रहने से ही माणवक में सिंहत्व का आरोप कर 'सिंहोऽयं माणवकः', ऐसा व्यवहार होता है। यह आरोप साम्प्रतिक (कादाचित्क) है, निरूढ गौणत्व नहीं है। क्योंकि, इस प्रकार माणवक मे सिंह शब्द का प्रयोग बराबर नहीं होता।

निरूढ गौण वह होता है, जहाँ गौण शब्द भी विशेष प्रयोग होने के कारण मुख्यार्थ शब्द के समान ही सर्वदा प्रयुक्त होता है। जैसे, तैल शब्द 'तिले भवः', इस योग-बल से तिल-रस का वाचक है, परन्तु सरसों के रस में भी निरन्तर प्रयुक्त होता है। यहाँ तिल-रस और सर्षप-रस में विद्यमान जो भेद है, उसके छिप जाने के कारण गौणी वृत्ति से सर्षप-रस में तैल शब्द का प्रयोग निरन्तर होता है। यहाँ सार्षप रस में प्रयुज्यमान तैल शब्द गौण है। इस प्रकार की प्रतीति भी किसी भेद-ज्ञानवाले को ही होती है, सबको नहीं; क्योंकि यह रूढतुल्य है। इसलिए, यह तैल शब्द निरूढ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आहार्यारोप-स्थल में सर्वत्र आरोप्यमाण और आरोप-विषय इन दोनों में भेद होना आवश्यक है। इसलिए, जहाँ-जहाँ गौणत्व है, वहाँ-वहाँ भेद मानना आवश्यक है, यह व्याप्ति भी सिद्ध

भेद सिद्ध हो ही जाता है। क्योंकि, 'स' शब्द से परमात्मा का ग्रहण किया गया है, और 'अहम्' से जीवात्मा का; श्रुति से इन दोनों का अभेद माना गया है। यदि जीवात्मा को देह से भिन्न न माना जाय, तो किसी प्रकार भी देह परमात्मा-स्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि, परमात्मा में जो नित्यत्व, व्यापकत्व आदि धर्म हैं, वे देह में नहीं रहते, इसलिए जीवात्मा को परमात्मा से अभिन्न होने में देह से भिन्न होना भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञा से, देह से जीवात्मा में भेद सिद्ध हो जाने पर देह के, स्थूलता आदि, जो गुण हैं, उनका जीवात्मा में, आहार्यारोप से अहम्-प्रत्यय के गौण होने में कोई बाधक नहीं हो सकता। यह पूर्वपक्षी का तात्पर्य है।

सिद्धान्ती का कहना है कि यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें दो विकल्पों का समाधान नहीं होता। जैसे, पूर्वपक्षी के प्रति यह प्रश्न होता है कि यह जो प्रत्यभिज्ञा आपने बताई, वह अज्ञानियों को होती है अथवा श्रवण-मननादि में कुशल परीक्षकों को? अज्ञानियों को तो कह नहीं सकते; क्योंकि उनको देह के अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों का अभेद प्रत्यभिज्ञा में भासित होता है और वह प्रत्यभिज्ञा पामरों को हो नहीं सकती। कारण यह है कि उन पामरों को देह से भिन्न किसी अन्य जीवात्मा की प्रतीति होती ही नहीं; बल्कि उनको यह ज्ञान होना सम्भव है कि जिस प्रकार श्याम घटादि द्रव्य तेजःसंयोग से कालान्तर में रक्त हो जाता है, और अल्प परिमाण का भी वट-बीज मिट्टी और जल के संयोग से महत् परिमाण का हो जाता है, उसी प्रकार यह देहरूप जीवात्मा भी कारणविशेष से परमात्मा हो सकता है। इस प्रकार की सम्भावना होने के कारण 'सोऽहम्' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सम्भव भी है। इसके लिए देह से भिन्न जीवात्मा के होने की कोई आवश्यकता भी नहीं। इसलिए, अज्ञानियों को कह नहीं सकते हैं। यदि कहें कि श्रवणमननादिकुशल परीक्षकों को प्रत्यभिज्ञा होती है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहार-काल में पामर और परीक्षक में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो श्रवण-मनन में कुशल है और ब्रह्म-साक्षात्कार जिसको न हुआ है, वही परीक्षक कहा जाता है। इसको देह के अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान रहने पर भी व्यवहार-काल में, अर्थात् प्रमाण-प्रमेयादि के व्यवहार में, वे परीक्षक भी पामरों के समान ही व्यवहार करते हैं। अर्थात्, आप कौन हैं? इस प्रकार पूछे जाने पर 'मैं यह हूँ', इस प्रकार शरीर को ही आत्मा समझकर अङ्गुल्या निर्देश से शरीर को ही बताते हैं। अर्थात्, जिस प्रकार देह में आत्मा के भ्रम-ज्ञान से पामरों का लोक में व्यवहार देखा जाता है, उसी प्रकार इन परीक्षकों का भी सकल लौकिक व्यवहार देह में आत्मभ्रमपूर्वक ही देखा जाता है।

यदि इन परीक्षकों की, 'वही ब्रह्म मैं हूँ', इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा मान लें, तो उनका जो व्यवहार पामरों के सदृश लोक में देखा जाता है, वह कभी नहीं हो सकता। इसलिए, इनको प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। और, जो प्रतिपत्ता हैं, अर्थात् जिनको आत्मसाक्षात्कार हो गया है, उनको तो ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इस त्रिपुटी का उदय नहीं होता,

इसलिए उनको प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती और प्रत्यभिज्ञा के न रहने से भेद की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

एक बात और है कि 'सोऽहमस्मि', इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। कारण यह है कि परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती। जैसे, रज्जु में जो सर्प-प्रत्यक्ष का भ्रम होता है, उसकी निवृत्ति 'यह सर्प नहीं है', इस आप्त वाक्य से नहीं होती। आप्त वाक्य से केवल यह ज्ञान होता है कि यह सर्प-ज्ञान भ्रम है। भ्रमत्वेन भ्रम क ज्ञान होने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। भ्रम की निवृत्ति तो तब होती है, जब 'यह रज्जु है', इस प्रकार रज्जु का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार, देह में जो आत्मभ्रम प्रत्यक्ष है, उसकी निवृत्ति 'सोऽहमस्मि', इस प्रत्यभिज्ञा-वाक्य से नहीं हो सकती।

देहात्मभ्रम की निवृत्ति तो तब होती है, जब ब्रह्म का साक्षात्कार, होने लगता है। इसी अभिप्राय से भगवान् भास्कर ने लिखा है—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्', (ब्र० सू० १।१।१ भा०)। इस पर वाचस्पति मिश्र ने भी लिखा है—'शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विचारयन्ति न प्रतिपत्तारः'। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के मनन में जो कुशल हैं, और जिनको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है, उनका व्यवहार भी लोक में पशुओं के सदृश ही होता है। जिस प्रकार, पशु किसी मारनेवाले पुरुष को लठ्ठ लेकर अपनी ओर आता हुआ देखकर भाग जाता है और हाथ में घास लेकर आता हुआ अपने स्वामी को अथवा खिलानेवाले को देखकर उसके समीप आ जाता है, उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न विद्वान् या महात्मा पुरुष हिंसक, क्रूर आदि प्रतिकूल तत्त्वों को देखकर उससे पृथक् हट जाते हैं, और अनुकूल भक्त को देखकर उसके समीप चले जाते हैं। इस प्रकार के प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार में पशु और पामर के तुल्य ही शास्त्रचिन्तकों का व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसलिए, प्रत्यभिज्ञा से, देह से भिन्न जीवात्मा को सिद्ध कर, अहम्-प्रत्यय का विषय जीवात्मा को मानकर, असन्दिग्ध और अफल होने से आत्मा को अजिज्ञास्य बताया है, वह युक्त नहीं है। और, अहम्-अनुभव का विषय अध्यस्त आत्मत्वविशिष्ट देह ही होता है, यह सिद्ध होता है।

जैनदर्शन के मतानुसार आत्मस्वरूप-विवेचन

अब जैनदर्शन के मतानुसार आत्मस्वरूप का विवेचन किया जाता है। जैनों के मत में जीव को व्यापक नहीं माना जाता। किन्तु, आत्मा का परिमाण देह के तुल्य होता है, यह माना जाता है। अर्थात्, देह का परिमाण जितना छोटा या बड़ा होता है, उतना ही छोटा या बड़ा जीवात्मा का भी परिमाण होता है, ऐसा स्वीकार करने से 'मैं इस घर में जानता हुआ हूँ', इस प्रकार के पूर्वोक्त अनुभव में जीवात्मा के एक देश में रहने का जो अनुभव होता है, वह युक्त है। इसलिए, उस उक्त प्रादेशिकत्व-अनुभव का प्रामाण्य भी सिद्ध हो जाता है। परन्तु, जैनों का यह कहना युक्त नहीं होता। कारण, यह है कि आत्मा को यदि देह-परिमाण मानें, तो देह जिस प्रकार सावयव होने से अनित्य होता है, उसी प्रकार जीव भी सावयव होने से अनित्य होने लगेगा।

इस अवस्था में, 'कृतहान' और 'अकृताभ्यागम' दोष हो जाते हैं। अर्थात्, जो आत्मा इस जन्म में शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल वही आत्मा दूसरे जन्म में भोगता है। यदि आत्मा को, मध्यमपरिमाण होने से, अनित्य मानें, तो आत्मा ने जो कर्म किया, उसका फल उसे न मिला। क्योंकि, अनित्य होने से वह नष्ट हो गया। यही कृतहान-दोष है, और शुभाशुभ कर्म का फल जो सुख-दुःख है, उसका भोग करनेवाला जो जीवात्मा है, वह बिना कुछ कर्म किये ही भोग करता है, यह अकृताभ्यागम-दोष है। यदि इस दोष के परिहार के लिए अवयवों के संघात को आत्मा मानें, तो उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि क्या प्रत्येक अवयव चैतन्य है? अथवा संघात का चैतन्य है? यदि प्रत्येक अवयव को चेतन माना जाय, तब तो अनेक चेतनों के तुल्यसामर्थ्य होने से, स्वभाव में विलक्षणता होने के कारण, परस्पर वैमनस्य होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में, एक ही शरीर में एक जीवात्मा यदि पूर्व की ओर जाना चाहता है, तो दूसरा पश्चिम की ओर। और, एक शरीर से एक काल मे अनेक देशों मे जाना असम्भव है, इसलिए अनेक चेतनों से विरुद्ध देश में आकर्षण होने के कारण शरीर ही विदीर्ण हो जायगा। अथवा, अनेक चेतनों के आकर्षण-विकर्षण से प्रतिबन्ध होने के कारण शरीर का कहीं भी गमन न हो सकेगा। इस स्थिति मे, शरीर क्रिया-रहित ही हो जायगा।

यदि संघात को चेतना मानें, तो यहाँ भी विकल्प उपस्थित होता है कि संघातापत्ति क्या शरीरोपाधिकी है या स्वाभाविकी, अथवा यादृच्छिकी? ये तीन विकल्प होते हैं। यदि शरीरोपाधिकी मानें, तब तो हाथ या पैर या अँगुली या उससे भी किसी छोटे शरीरावयव के छिन्न हो जाने पर, जीव के उतने अवयव कट जाने से, जीव का विनाश ही हो जायगा। अर्थात्, चेतन-तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। संघात को स्वाभाविक या यादृच्छिक मान लेने से यह दोष नहीं होता। कारण यह है कि शरीरावयव का छेद जीव के अवयवच्छेद का प्रयोजक नहीं होता।

द्वितीय पक्ष, अर्थात् संघात, को स्वाभाविक मानें, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि संघात को स्वाभाविक मानते हैं, तो स्वभाव से किसीका भ्रंश नहीं होता, इस कारण किसी स्वल्प भी अवयव का विच्छेद नहीं हो सकता। क्योंकि, स्वभाव के अविनाशी होने से नियमेन एक प्रकार से अवयवों का सदा संश्लिष्ट रहना अनिवार्य है। परन्तु, जैन दार्शनिक ऐसा मानते नहीं हैं। बाल्य, युवत्व आदि अवस्था के भेद से या जन्मान्तर के भेद से शरीर में भेद होने पर उतने ही भेद जीव के होते हैं, ऐसा जैनों का सिद्धान्त है।

तृतीय (आकस्मिक) मानने पर भी नहीं ठीक होता। क्योंकि, संश्लेष के सदृश विश्लेष को भी यादृच्छिक (आकस्मिक) मानने से सुखपूर्वक बैठा हुआ आदमी भी अकस्मात् अचेतन हो सकता है। इसलिए, जीव को शरीरपरिमाण मानना युक्त नहीं होता। यदि यह कहें कि 'इस घर में जानता हुआ हूँ', इस प्रकार जीव की प्रादेशिकत्व-सिद्धि के लिए जीव को अणुपरिमाण मान लेना ही युक्त है। विभु मानने से जीव का किसी प्रदेश में होना युक्त नहीं होता। परन्तु, यह मत भी

ठीक नहीं है। कारण यह है कि जीव के अणु मान लेने से प्रादेशिकत्व का ग्रहण यद्यपि उपपन्न हो जाता है, परन्तु 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्' इत्यादि जीव में जो स्थूलता आदि की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति अणु मानने से कदापि नहीं हो सकती। इसलिए, अणु मानना युक्त नहीं है।

बौद्धों के मतानुसार आत्मस्वरूप-विवेचन

अब यहाँ आत्मा को विज्ञान-स्वरूप माननेवाले बौद्धों के मत में आत्मा के विशुद्ध सावयवत्व न होने के कारण यह पूर्वोक्त दोष नहीं आता, यह दिखाया जाता है। भाव यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान को ही आत्मा माना जाता है। वही विज्ञान-स्वरूप आत्मा आध्यात्मिक देहादि के आकार में अहम् (मैं) के रूप में भासित होता है। इनके मत में ज्ञान के साकार होने से इस प्रकार का प्रतिभास युक्त होता है। इस अवस्था में, जीवात्मा में जो प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व आदि की प्रतीति होती है, वह सब उपपन्न हो जाता है। अर्थात्, प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व की उपपत्ति नहीं होती। यह दोष, जो पूर्व में दिखाया गया है, इनके मत में युक्त नहीं होता। और, शरीर के अवयवच्छेद होने से आत्मा का छेद होना भी, जो पूर्व में दोष बताया गया है, युक्त नहीं है। कारण यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान प्रतिक्षण भिन्न भासित होता रहता है। अर्थात्, जिस समय जैसा शरीर का संस्थान होता है, उस समय उसी प्रकार विज्ञान भी भासित होता है। अर्थात्, विज्ञान के अवयव शरीर के अवयवों के सदृश ही हो जाता है। विज्ञान का विशुद्ध अवयव कोई भी नहीं है। विशुद्ध अवयव उसीको कहते हैं; जिसकी उत्पत्ति अवयवान्तर के अधीन न हो। यहाँ तो विज्ञानावयव की उत्पत्ति शरीरावयव के अधीन ही है, इसलिए विशुद्ध नहीं है। यहाँ मूर्त्त परमाणुओं के संघात का नाम शरीर है और जो आन्तर विज्ञान है, वह स्कन्धों का समवाय है। और, वह भी कल्पनामय स्वप्न-वस्तु के सदृश है। इसी कारण, इनके अवयव पृथक् सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञानवादी बौद्धों का तात्पर्य है। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि इनके मत में भी अहम् (मैं)-प्रतीति का मुख्य विषय कोई नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'जो मैं सोया था, वही मैं इस समय जगा हूँ', इस प्रकार का जो अनुभव होता है, उस अनुभव में अहम् (मैं)-अनुभव का विषय कोई स्थिर वस्तु प्रतीत होती है और क्षणभङ्गी बौद्धों के मत में कोई स्थिर वस्तु नहीं है। किन्तु, क्षणिक होने से ही अस्थिर में स्थिरत्व के भ्रम होने के कारण इनके मत में भी अध्यास अवर्जनीय हो जाता है। क्योंकि, भ्रम का ही नाम अध्यास है।

यद्यपि बौद्ध लोग विज्ञान-सन्तान को आत्मा मानते हैं, परन्तु यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि वह सन्तान सन्तानी से भिन्न है, अथवा अभिन्न? इस विकल्प का उत्तर इनके यहाँ नहीं है। कारण यह है कि भिन्न तो कह नहीं सकते; क्योंकि विज्ञान से भिन्न इनके मत में कुछ है नहीं। भिन्न मान लेने से अपसिद्धान्त हो जाता है। यदि अभिन्न मानते हैं, तो पूर्वोक्त दूषण गलेपतित हो जाता है। बौद्धों के

मत में विज्ञान के अतिरिक्त कोई भी तत्त्व नहीं माना जाता। बुद्धिस्वरूप विज्ञान ग्राह्य और ग्राहक, इन दोनों आकारों में परिणत होकर अपने से भिन्न और अ सदृश ही बाह्य घट-पटादि पदार्थों की कल्पना कर लेता है। इस स्थिति में, 'मैं स्थूल इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसको औपचारिक मानना अनिवार्य हो जाता परन्तु, औपचारिक मानना भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि औपचारिक-स्थल भेद का भान होना आवश्यक है, और यहाँ भेद का भान होता नहीं। क्योंकि, इ मत में विज्ञान से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं माना जाता। और भेद का भान होने पर औपचारिक होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

आत्मस्वरूप-विचार-समन्वय

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि 'अहम्' (मैं), इस प्रकार की जो प्रतीति होती उसका विषय शुद्ध निर्लेप आत्मा नहीं है, किन्तु अध्यस्त आत्मा ही अहम् का विषय है इसलिए, अध्यास की निवृत्ति ही वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन और सन्दिग्ध आत्मा इसका विषय भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए, वेदान्त-शास्त्र आरम्भणीय यह सिद्ध हो जाता है। इसमें अनुमान इस प्रकार का होता है—विवादास्प वेदान्त-शास्त्र (पक्ष) विषय और प्रयोजन-सहित है (साध्य) अनादि अविद्यापरिकल्पि जो बन्ध है, उसके निवर्त्तक होने के कारण (हेतु), सुप्तोत्थित बोध के सदृश (दृष्टान्त) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्न में अपनी इष्ट वस्तु नाश आदि अनेक अनिष्ट स्वप्नों को देखकर अपने को दुःखार्त्त मानता और जग जाने पर समस्त स्वप्नजन्य दुःखों से अपने को मुक्त और स्वस्थ सुख समझता है, उसी प्रकार अनादि अविद्यारूप संसार-चक्र में ग्रस्त प्राणी स्वप्न के सदृश अनेक प्रकार के दुःखों से अपने को आक्रान्त समझता है। जब वेदान्त-वाक्यों से यथा आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब अविद्या से उत्पन्न होनेवाले सकल दुःखों से रहित अपने को पाता है। जिस प्रकार, स्वप्नावस्था में मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के दुःखों के निवर्त्तक सुप्तोत्थित का जो बोध है, उसका विषय सुखपूर्वक बैठे हुए सुप्तोत्थित पुरुष का देह ही है। स्वप्नावस्था में जो बोध है, उसका विषय यह देह नहीं होता स्वप्नावस्था के बोध का विषय स्वप्नावस्था का परिकल्पित शरीर ही होता है और, स्वप्नावस्था में जो मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के अनर्थ हैं, उसकी निवृत्ति ही सुप्तोत्थित पुरुष के बोध का प्रयोजन है। इसी प्रकार, श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न होनेवाला जो परोक्ष ज्ञान है, उसके द्वारा अध्यास-परिकल्पित जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थ हैं, उनका निवर्त्तक जो वेदान्त-शास्त्र है, उसका विषय जीवात्मभूत सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही है। क्योंकि, उस आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रतीति अहम् शब्द से नहीं होती। इसलिए, शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्त-शास्त्र का विषय है और अध्यास की निवृत्ति उसका फल। इसलिए, 'अफलत्वात्', इस हेतु से पूर्वपक्षी द्वारा निर्दिष्ट शास्त्र की अनारम्भणीयता असिद्ध हो जाती है। लिखा भी है—

ठीक नहीं है ! कारण यह है कि जीव के अणु मान लेने से प्रादेशिकत्व का ग्रहण यद्यपि उपपन्न हो जाता है, परन्तु 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्' इत्यादि जीव में जो स्थूलता आदि की प्रतीति होती है, उसकी उपपत्ति अणु मानने से कदापि नहीं हो सकती। इसलिए, अणु मानना युक्त नहीं है।

बौद्धों के मतानुसार आत्मस्वरूप-विवेचन

अब यहाँ आत्मा को विज्ञान-स्वरूप माननेवाले बौद्धों के मत में आत्मा के विशुद्ध सावयवत्व न होने के कारण यह पूर्वोक्त दोष नहीं आता, यह दिखाया जाता है। भाव यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान को ही आत्मा माना जाता है। वही विज्ञान-स्वरूप आत्मा आध्यात्मिक देहादि के आकार में अहम् (मैं) के रूप में भासित होता है। इनके मत में ज्ञान के साकार होने से इस प्रकार का प्रतिभास युक्त होता है। इस अवस्था में, जीवात्मा में जो प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व आदि की प्रतीति होती है, वह सब उपपन्न हो जाता है। अर्थात्, प्रादेशिकत्व और स्थूलत्व की उपपत्ति नहीं होती। यह दोष, जो पूर्व में दिखाया गया है, इनके मत में युक्त नहीं होता। और, शरीर के अवयवच्छेद होने से आत्मा का छेद होना भी, जो पूर्व में दोष बताया गया है, युक्त नहीं है। कारण यह है कि बौद्धों के मत में विज्ञान प्रतिक्षण भिन्न भासित होता रहता है। अर्थात्, जिस समय जैसा शरीर का संस्थान होता है, उस समय उसी प्रकार विज्ञान भी भासित होता है। अर्थात्, विज्ञान के अवयव शरीर के अवयवों के सदृश ही हो जाता है। विज्ञान का विशुद्ध अवयव कोई भी नहीं है। विशुद्ध अवयव उसीको कहते हैं; जिसकी उत्पत्ति अवयवान्तर के अधीन न हो। यहाँ तो विज्ञानावयव की उत्पत्ति शरीरावयव के अधीन ही है, इसलिए विशुद्ध नहीं है। यहाँ मूर्त्त परमाणुओं के संघात का नाम शरीर है और जो आन्तर विज्ञान है, वह स्कन्धों का समवाय है। और, वह भी कल्पनामय स्वप्न-वस्तु के सदृश हैं। इसी कारण, इनके अवयव पृथक् सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञानवादी बौद्धों का तात्पर्य है। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि इनके मत में भी अहम् (मैं)-प्रतीति का मुख्य विषय कोई नहीं होता। तात्पर्य यह है कि 'जो मैं सोया था, वही मैं इस समय जगा हूँ', इस प्रकार का जो अनुभव होता है, उस अनुभव में अहम् (मैं)-अनुभव का विषय कोई स्थिर वस्तु प्रतीत होती है और क्षणभङ्गी बौद्धों के मत में कोई स्थिर वस्तु नहीं है। किन्तु, क्षणिक होने से ही अस्थिर में स्थिरत्व के भ्रम होने के कारण इनके मत में भी अध्यास अवर्जनीय हो जाता है। क्योंकि, भ्रम का ही नाम अध्यास है।

यद्यपि बौद्ध लोग विज्ञान-सन्तान को आत्मा मानते हैं, परन्तु यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि वह सन्तान सन्तानी से भिन्न है, अथवा अभिन्न ? इस विकल्प का उत्तर इनके यहाँ नहीं है। कारण यह है कि भिन्न तो कह नहीं सकते; क्योंकि विज्ञान से भिन्न इनके मत में कुछ है नहीं। भिन्न मान लेने से अपसिद्धान्त हो जाता है। यदि अभिन्न मानते हैं, तो पूर्वोक्त दूषण गलेपतित हो जाता है। बौद्धों के

मत में विज्ञान के अतिरिक्त कोई भी तत्त्व नहीं माना जाता। बुद्धिस्वरूप विज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहक, इन दोनों आकारों में परिणत होकर अपने से भिन्न और अपने सदृश ही बाह्य घट-पटादि पदार्थों की कल्पना कर लेता है। इस स्थिति में, 'मैं स्थूल हूँ', इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसको औपचारिक मानना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु, औपचारिक मानना भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि औपचारिक-स्थल में भेद का भान होना आवश्यक है, और यहाँ भेद का भान होता नहीं। क्योंकि, इनके मत में विज्ञान से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं माना जाता। और भेद का भान होने पर ही औपचारिक होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है।

आत्मस्वरूप-विचार-समन्वय

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि 'अहम्' (मैं), इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसका विषय शुद्ध निर्लेप आत्मा नहीं है, किन्तु अध्यस्त आत्मा ही अहम् का विषय है। इसलिए, अध्यास की निवृत्ति ही वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन और सन्दिग्ध आत्मा ही इसका विषय भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए, वेदान्त-शास्त्र आरम्भणीय है, यह सिद्ध हो जाता है। इसमें अनुमान इस प्रकार का होता है—विवादास्पद वेदान्त-शास्त्र (पक्ष) विषय और प्रयोजन-सहित है (साध्य) अनादि अविद्यापरिकल्पित जो बन्ध है, उसके निवर्त्तक होने के कारण (हेतु), सुप्तोत्थित बोध के सदृश (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्न में अपनी इष्ट वस्तु के नाश आदि अनेक अनिष्ट स्वप्नों को देखकर अपने को दुःखार्त्त मानता है और जग जाने पर समस्त स्वप्नजन्य दुःखों से अपने को मुक्त और स्वस्थ सुखी समझता है, उसी प्रकार अनादि अविद्यारूप संसार-चक्र में ग्रस्त प्राणी स्वप्न के सदृश अनेक प्रकार के दुःखों से अपने को आक्रान्त समझता है। जब वेदान्त-वाक्यों से यथार्थ आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब अविद्या से उत्पन्न होनेवाले सकल दुःखों से रहित अपने को पाता है। जिस प्रकार, स्वप्नावस्था में मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के दुःखों के निवर्त्तक सुप्तोत्थित का जो बोध है, उसका विषय सुखपूर्वक बैठे हुए सुप्तोत्थित पुरुष का देह ही है। स्वप्नावस्था में जो बोध है, उसका विषय वह देह नहीं होता। स्वप्नावस्था के बोध का विषय स्वप्नावस्था का परिकल्पित शरीर ही होता है। और, स्वप्नावस्था में जो मायापरिकल्पित अनेक प्रकार के अनर्थ हैं, उसकी निवृत्ति ही सुप्तोत्थित पुरुष के बोध का प्रयोजन है। इसी प्रकार, श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न होनेवाला जो परोक्ष ज्ञान है, उसके द्वारा अध्यास-परिकल्पित जो कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थ हैं, उनका निवर्त्तक जो वेदान्त-शास्त्र है, उसका विषय जीवात्मभूत सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही है। क्योंकि, उस आत्मस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रतीति अहम् शब्द से नहीं होती। इसलिए, शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्त-शास्त्र का विषय है और अध्यास की निवृत्ति उसका फल। इसलिए, 'अफलत्वात्', इस हेतु से पूर्वपक्षी द्वारा निर्दिष्ट शास्त्र की अनारम्भणीयता असिद्ध हो जाती है। लिखा भी है—

'श्रुतिगम्यात्मतत्त्वन्तु नाहं बुद्ध्यावगम्यते ।
यपि खे कामतो मोहानात्मन्यस्तविपर्यये ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि केवल श्रुतिमात्र से अधिगम्य (जानने योग्य) जो आत्मतत्त्व है, वह अहम्-प्रतीति का विषय नहीं होता। क्योंकि, 'अहम्', इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसमें अहङ्कार और आत्मा का तादात्म्याध्यास ही कारण होता है। शुद्ध आत्मा अहम् का विषय नहीं होता। शुद्ध आत्मा के अप्रत्यक्ष होने पर भी आकाश के सदृश यदृच्छा से उसमें मोह होना सम्भव है। परन्तु, मिथ्याज्ञानरहित शुद्ध आत्मा में किसी प्रकार भी मोह होना असम्भव है। इसी कारण, 'असन्दिग्धत्वात्', यह जो हेतु पूर्वपक्षी ने दिखाया है, वह भी असिद्ध हो जाता है।

यदि यह कहें कि जीवात्मा की प्रतीति तो प्राणी-मात्र को अबाधित रूप से होती है— जैसे, 'मैं हूँ'। इस प्रकार की प्रतीति सबको होती है, और, 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति किसीको भी नहीं होती। इससे जीवात्मा की प्रतीति असन्दिग्ध सिद्ध हो जाती है। और, 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो', इत्यादि वेदान्त-वाक्यों से 'जीवात्मा ही ब्रह्म है', यह सिद्ध हो जाता है। इसलिए, यद्यपि आत्मतत्त्व असन्दिग्ध है, ऐसा सिद्ध हो जाता है, तथापि सामान्यतः जीवात्मा के ज्ञान होने पर भी विशेष ज्ञान के लिए जिज्ञासा होना अनिवार्य है। कारण यह है कि प्रत्येक आचार्य आत्मा के भिन्न-भिन्न स्वरूप मानते हैं। जैसे, चार्वाक लोग चैतन्यविशिष्ट देह को ही आत्मा मानते हैं और उसमें से कुछ लोग इन्द्रियों को ही और कुछ लोग अन्तःकरण को ही। ये सब चार्वाक के अन्तर्गत हैं। बौद्ध लोग क्षणभङ्गुर विज्ञान-सन्तान को ही आत्मा मानते हैं। जैन आत्मा को देहपरिमाण मानते हैं। नैयायिक आत्मा को ब्रह्म से भिन्न कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त मानते हैं और मीमांसकों का कहना है कि द्रव्य तथा बोध ये दोनों आत्मा के स्वभाव हैं। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'आत्मानन्दमयः' इस तैत्तिरीय-श्रुति में जो 'आनन्दमय' शब्द है, उसमें प्राचुर्य-अर्थ में मयट् प्रत्यय है। इसलिए, आनन्द के अधिक होने पर भी इसके विरोधी द्रव्य-अंश का आत्मा में अंशतः भी विद्यमान रहना आवश्यक हो जाता है। इसलिए, सुप्तोत्थित पुरुष का ऐसा जो ज्ञान होता है कि 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्', अर्थात् मैं सुखपूर्वक ऐसा सोया कि कुछ भी नहीं जाना। इस ज्ञान में दो प्रकार का परामर्श प्रतीत होता है। एक तो, 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस ज्ञान में प्रकाश-अंश प्रतीत होता है। यदि प्रकाश-अंश को न मानें, तो सुषुप्ति में कोई साक्षी नहीं है। इस प्रकार का जो परामर्श है, वह नहीं बनता। अर्थात्, सुषुप्ति बिना साक्षी की है, यह परामर्श अनुपपन्न हो जायगा। इसलिए, प्रकाशांश मानना आवश्यक है। और, दूसरी प्रतीति है, 'न किञ्चिदवेदिषम्', अर्थात् कुछ भी नहीं जाना, इस परामर्श से अप्रकाश-रूप द्रव्य-अंश की भी सिद्धि हो जाती है। इसलिए, इनके मत में द्रव्य और बोध उभयस्वरूप आत्मा माना जाता है। सांख्यों के मत में केवल भोक्ता ही आत्मा है, कर्त्ता नहीं, ऐसा माना जाता है। वेदान्ती लोगों का कहना है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से रहित और जीव से अभिन्न चित्-स्वरूप आत्मा है। इस प्रकार, धर्मी आत्मा के प्रसिद्ध होने पर भी कौन आत्मा है, इस विशेष ज्ञान में संशय रहता ही है।

इसलिए, संशय होने से ब्रह्म जिज्ञास्य, अर्थात् विचार करने के योग्य है, यह सिद्ध होता है और ब्रह्म के विचार करने योग्य होने के कारण, ब्रह्म का विचारक जो ब्रह्म-मीमांसा-शास्त्र है, उसका आरम्भणीय होना भी निर्बाध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार, 'जन्माद्यस्य यतः', यहाँ से अन्त-पर्यन्त समस्त शास्त्र विचार के ही अधीन है, इसलिए, इस अधिकरण का सबसे पहले लिखना सङ्गत भी हो जाता है।

ब्रह्म में प्रमाण

अब दूसरा विचार यह होता है कि इस प्रकार के ब्रह्म के होने में प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते; क्योंकि ब्रह्म अतीन्द्रिय पदार्थ है। और, अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रत्यक्ष होता नहीं। अनुमान को भी प्रमाण नहीं कह सकते। कारण यह है कि जहाँ साध्य का व्याप्य लिङ्ग रहता है, वहीं अनुमान होता है। जैसे, अग्नि का व्याप्य जो धूम है, वही अग्नि का अनुमापक होता है। प्रकृत में ऐसा कोई भी ब्रह्म का व्याप्य लिङ्ग नहीं है, जिससे ब्रह्म का अनुमान कर सकें। उपमान आदि प्रमाण तो नियत विषय हैं। इसलिए, उनकी तो शङ्का भी नहीं हो सकती। आगम भी ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते', इत्यादि श्रुति से ही ब्रह्म को आगम से अगम्य बताया गया है। इसलिए, ब्रह्म में प्रमाण सिद्ध नहीं होता, यह पूर्वपक्षी शङ्का का तात्पर्य है।

यहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के विषय नहीं होने पर भी ब्रह्म के बोधन में श्रुति का ही प्रमाण पर्याप्त है। अतीन्द्रिय पदार्थ के ही बोधन में श्रुति का सार्थक्य भी है। यदि कहें कि 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते', इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म का श्रुति-गम्य होना भी निषेध करती हैं, तो उनसे यह कहना चाहिए कि श्रुति ही निषेध करती है और श्रुति ही आगमगम्य होने का विधान भी करती है। जैसे, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'आनन्दो ब्रह्म', इत्यादि अनेक श्रुतियों से ब्रह्म का श्रुतिगम्य होना भी बताया गया है। श्रुतिप्रतिपादित अर्थ के अनुपपन्न होने पर भी वैदिकों की बुद्धि खिन्न नहीं होती, बल्कि उनके उपपादन के मार्ग का ही विचार करते हैं। इसलिए, निषेधक और विधायक दोनों प्रकार के वाक्यों का समन्वय समुचित है। यहाँ निषेधक और विधायक दोनों वाक्यों की एकवाक्यता इस प्रकार होती है कि वाक्यजन्य स्पष्ट स्फुरणरूप अर्थ के निषेध में निषेध-श्रुति की चरितार्थता है, और अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग करने में विधायक-श्रुति की। इसलिए, दोनों प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय घट आदि का ज्ञान होता है, उस समय अन्तःकरण-विशेषरूप जो बुद्धि-तत्त्व है, जिसमें स्वान्तर्गत चिदाभास भी है, वह घट को व्याप्त करता है। वहाँ बुद्धि-रूप व्याप्ति से घट का अज्ञानरूप जो आवरण है, उसका नाश होता है। और, चिदाभास की जो व्याप्ति है, उससे घट का स्फुरण होता है। क्योंकि, घट तो जड है, उसका स्वयम्प्रकाश हो नहीं सकता। इसलिए, चिदाभास की व्याप्ति मानना अनिवार्य हो जाता है। स्वामी विद्यारण्य आचार्य ने भी लिखा है—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्॥'

इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि और उसमें स्थित चिदाभास—ये दोनों घट को व्याप्त करते हैं, वहाँ बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश होता है, और चिदाभास की व्याप्ति से घट का स्फुरण। यहाँ स्फुरण शब्द से ज्ञान में अपने आकार का समर्पण ही विवक्षित है। 'जानाति' में ज्ञा धातु का अर्थ (फल) आवरण-भङ्ग और स्फुरण दोनों सिद्ध होते हैं। आवरणभङ्ग-रूप फल के मानने से ही 'घटं जानाति' में घट का कर्मत्व सिद्ध होता है। अन्यथा, ज्ञान-रूप फल के घट में न रहने से घट की कर्मता सिद्ध नहीं होगी।

प्रकृत में 'तत्त्वमसि', इत्यादि वाक्यों से आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ बुद्धि-वृत्ति की व्याप्ति से अज्ञान-रूप आवरण का नाश-रूप फल उत्पन्न होता है। आवरण के भङ्ग होने पर शीघ्र ही स्वयम्प्रकाश-स्वरूप आत्मा का स्फुरण होने लगता है। इसलिए, स्फुरण के स्वयं सिद्ध होने से वाक्य-जन्य ज्ञान का यह फल नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से ब्रह्म का ज्ञान का विषय होना भी श्रुति बताती है। इस तरह दोनों प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने भी कहा है—

'अनाधेयफलत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकारसमर्पणात्॥
न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो महात्मः स्वयम्।
तज्जन्याऽऽवृत्तिभङ्गे न प्रमेयमिति गीयते॥'

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म श्रुति का विषय नहीं होता; क्योंकि स्वयं स्फुरण-रूप जो ब्रह्म है, उसमें श्रुति स्फुरण-रूप फल उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु, ब्रह्म को जो प्रमेय कहा जाता है, वह ज्ञान में अपने आकार के समर्पण करने के हेतु से ही है। जिस कारण ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है, उसी कारण प्रमाणान्तर से वह प्रकाश्य नहीं होता। किन्तु, प्रमाण से आवरण का भङ्ग होता है। इसलिए, प्रमेय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ से सत् चित् आनन्द एकरस जीवात्मभूत ब्रह्म ही प्रकृत शास्त्र का विषय है, यह व्यवस्थापन किया गया। इसके बाद पहले जो लिखा है कि अध्यास-निवृत्ति शास्त्र का प्रयोजन है, इसमें अध्यास क्या वस्तु है? और, वह क्यों माना जाता है? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जाता है।

अध्यासवाद-विवेचन

यहाँ एक बात जानना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के वाद विभिन्न आचार्यों ने माने हैं, उनमें प्रधान तीन ही वाद हैं—जैसे, आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद। आरम्भवाद नैयायिकों और वैशेषिकों का है, तथा परिणामवाद सांख्यों का और विवर्त्तवाद वेदान्तियों का है। विवर्त्तवाद का ही नाम अध्यासवाद है।

आरम्भवादी लोगों का कहना है कि पूर्व में असत् जो घट, पट आदि अवयवी पदार्थ हैं, वे अपने अवयवों से ही आरब्ध होते हैं, इसलिए आरम्भवाद माना जाता है। जैसे, परमाणु-संयोग से द्वयणुक की और द्वयणुक के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि पञ्चभूतों की उत्पत्ति और उसके द्वारा इस दृश्यमान सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, यही आरम्भवाद है। इसलिए, यह प्रपञ्च सत्य है, अध्यस्त नहीं, ऐसा नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना है। अध्यास के न होने से अध्यास की निवृत्ति-रूप जो शास्त्र का प्रयोजन माना गया है, वह सिद्ध नहीं होता, यह आरम्भवाद का सिद्धान्त है। परन्तु, यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि परमाणु निरवयव होता है और संयोग सावयव पदार्थों के अवयव के साथ ही होता है। क्योंकि, संयोग अव्याप्यवृत्ति धर्म है, वह अवयव के साथ ही होता है। और, परमाणु का कोई अवयव है नहीं। इसलिए, परमाणु का संयोग न होने से द्वयणुकादिक क्रम से जो प्रपञ्च की उत्पत्ति कही गई है, वह सिद्ध नहीं होती है, इसलिए आरम्भवाद युक्त नहीं है।

इसी प्रकार, सांख्यों का अभिमत जो परिणामवाद है, उसके विषय में भी समझना चाहिए। परिणाम उसको कहते हैं, जो अपने स्वरूप का त्याग कर स्वरूपान्तर में परिणत हो जाता है। जैसे, दुग्ध अपने रूप द्रवत्व का छोड़कर कठिन दधि के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए, दुग्ध का परिणाम दधि कहा जाता है। सांख्यों के मत में प्रपञ्च को ही प्रकृति का परिणाम माना जाता है। प्रकृति महत्तत्त्व के रूप में परिणत होकर तथा बुद्धि अहङ्कार के रूप में, और अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा के रूप में परिणत होकर पञ्चभूतों के द्वारा सकल प्रपञ्च का कारण बनता है। यही परिणामवाद है। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि सांख्यों के मत में प्रकृति अचेतन पदार्थ है, इसलिए चेतन के साथ सम्बन्ध के बिना उसमें परिणाम होना असम्भव है। और, चेतन जो पुरुष है, उसको सांख्य लोग सर्वथा उदासीन मानते हैं। इस अवस्था में, उसका अचेतन के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसलिए, परिणामवाद भी युक्त नहीं होता।

यदि यह कहें कि आरम्भवाद और परिणामवाद के असम्भव होने पर संसार को नित्य ही मान लें, तो क्या हानि है? यह ठीक नहीं है। क्योंकि, संसार की प्रतीति होती है। इसलिए, इसका अपलाप भी नहीं कर सकते। यदि प्रतीति होने से इसको सत् ही मान लें, तो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि, ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा के साक्षात्कार होने पर सकल प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होता है। अर्थात्, आत्मसाक्षात्कार होने पर संसार का बाध हो जाता है और सत्य पदार्थ का बाध होता नहीं। इसलिए, ख्याति और बाध दोनों की उपपत्ति के लिए अध्यासवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए, प्रपञ्च अध्यस्त है, ऐसा सिद्ध होता है और अध्यास की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

यह विवर्त सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय माना गया है। यदि सत् मानें, तो उसका बाध नहीं होगा, और यदि असत् मानें, तो उसकी

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत् ॥'

इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि और उसमें स्थित चिदाभास—ये दोनों घट को व्याप्त करते हैं, वहाँ बुद्धि की व्याप्ति से अज्ञान का नाश होता है, और चिदाभास की व्याप्ति से घट का स्फुरण। यहाँ स्फुरण शब्द से ज्ञान में अपने आकार का समर्पण ही विवक्षित है। 'जानाति' में ज्ञा धातु का अर्थ (फल) आवरण-भङ्ग और स्फुरण दोनों सिद्ध होते हैं। आवरणभङ्ग-रूप फल के मानने से ही 'घटं जानाति' में घट का कर्मत्व सिद्ध होता है। अन्यथा, ज्ञान-रूप फल के घट में न रहने से घट की कर्मता सिद्ध नहीं होगी।

प्रकृत में 'तत्त्वमसि', इत्यादि वाक्यों से आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ बुद्धि-वृत्ति की व्याप्ति से अज्ञान-रूप आवरण का नाश-रूप फल उत्पन्न होता है। आवरण के भङ्ग होने पर शीघ्र ही स्वयम्प्रकाश-स्वरूप आत्मा का स्फुरण होने लगता है। इसलिए, स्फुरण के स्वयं सिद्ध होने से वाक्य-जन्य ज्ञान का यह फल नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से ब्रह्म का ज्ञान का विषय होना भी श्रुति बताती है। इस तरह दोनों प्रकार की श्रुतियाँ चरितार्थ होती हैं। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने भी कहा है—

'अनाधेयफलत्वेन श्रुतेर्ब्रह्म न गोचरः।
प्रमेयं प्रमितौ तु स्यादात्माकारसमर्पणात् ॥
न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम् ।
तज्जन्याऽऽवृत्तिभङ्गे न प्रमेयमिति गीयते ॥'

इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म श्रुति का विषय नहीं होता; क्योंकि स्वयं स्फुरण-रूप जो ब्रह्म है, उसमें श्रुति स्फुरण-रूप फल उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु, ब्रह्म को जो प्रमेय कहा जाता है, वह ज्ञान में अपने आकार के समर्पण करने के हेतु से ही है। जिस कारण ब्रह्म स्वयम्प्रकाश है, उसी कारण प्रमाणान्तर से वह प्रकाश्य नहीं होता। किन्तु, प्रमाण से आवरण का भङ्ग होता है। इसलिए, प्रमेय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ से सत् चित् आनन्द एकरस जीवात्मभूत ब्रह्म ही प्रकृत शास्त्र का विषय है, यह व्यवस्थापन किया गया। इसके बाद पहले जो लिखा है कि अध्यास-निवृत्ति शास्त्र का प्रयोजन है, इसमें अध्यास क्या वस्तु है ? और, वह क्यों माना जाता है ? इत्यादि विषयों का विवेचन किया जाता है।

अध्यासवाद-विवेचन

यहाँ एक बात जानना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के वाद विभिन्न आचार्यों ने माने हैं, उनमें प्रधान तीन ही वाद हैं—जैसे, आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद। आरम्भवाद नैयायिकों और वैशेषिकों का है, तथा परिणामवाद सांख्यों का और विवर्त्तवाद वेदान्तियों का है। विवर्त्तवाद का ही नाम अध्यासवाद है।

आरम्भवादी लोगों का कहना है कि पूर्व में असत् जो घट, पट आदि अवयवी पदार्थ हैं, वे अपने अवयवों से ही आरब्ध होते हैं, इसलिए आरम्भवाद माना जाता है। जैसे, परमाणु-संयोग से द्वयणुक की और द्वयणुक के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इसी क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि पञ्चभूतों की उत्पत्ति और उसके द्वारा इस दृश्यमान सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, यही आरम्भवाद है। इसलिए, यह प्रपञ्च सत्य है, अध्यस्त नहीं, ऐसा नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना है। अध्यास के न होने से अध्यास की निवृत्ति-रूप जो शास्त्र का प्रयोजन माना गया है, यह सिद्ध नहीं होता, यह आरम्भवाद का सिद्धान्त है। परन्तु, यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि परमाणु निरवयव होता है और संयोग सावयव पदार्थों के अवयव के साथ ही होता है। क्योंकि, संयोग अव्याप्यवृत्ति धर्म है, यह अवयव के साथ ही होता है। और, परमाणु का कोई अवयव है नहीं। इसलिए, परमाणु का संयोग न होने से द्वयणुकादिक क्रम से जो प्रपञ्च की उत्पत्ति कही गई है, वह सिद्ध नहीं होती है, इसलिए आरम्भवाद युक्त नहीं है।

इसी प्रकार, सांख्यों का अभिमत जो परिणामवाद है, उसके विषय में भी समझना चाहिए। परिणाम उसको कहते हैं, जो अपने स्वरूप का त्याग कर स्वरूपान्तर में परिणत हो जाता है। जैसे, दुग्ध अपने रूप द्रवत्व का छोड़कर कठिन दधि के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए, दुग्ध का परिणाम दधि कहा जाता है। सांख्यों के मत में प्रपञ्च को ही प्रकृति का परिणाम माना जाता है। प्रकृति महत्तत्त्व के रूप में परिणत होकर तथा बुद्धि अहङ्कार के रूप में, और अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा के रूप में परिणत होकर पञ्चभूतों के द्वारा सकल प्रपञ्च का कारण बनता है। यही परिणामवाद है। परन्तु, यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि सांख्यों के मत में प्रकृति अचेतन पदार्थ है, इसलिए चेतन के साथ सम्बन्ध के बिना उसमें परिणाम होना असम्भव है। और, चेतन जो पुरुष है, उसको सांख्य लोग सर्वथा उदासीन मानते हैं। इस अवस्था में, उसका अचेतन के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसलिए, परिणामवाद भी युक्त नहीं होता।

यदि यह कहें कि आरम्भवाद और परिणामवाद के असम्भव होने पर संसार को नित्य ही मान लें, तो क्या हानि है? यह ठीक नहीं है। क्योंकि, संसार की प्रतीति होती है। इसलिए, इसका अपलाप भी नहीं कर सकते। यदि प्रतीति होने से इसको सत् ही मान लें, तो भी ठीक नहीं होता। क्योंकि, ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा के साक्षात्कार होने पर सकल प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होता है। अर्थात्, आत्मसाक्षात्कार होने पर संसार का बाध हो जाता है और सत्य पदार्थ का बाध होता नहीं। इसलिए, ख्याति और बाध दोनों की उपपत्ति के लिए अध्यासवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए, प्रपञ्च अध्यस्त है, ऐसा सिद्ध होता है और अध्यास की निवृत्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है, यह भी सिद्ध हो जाता है।

यह विवर्त्त सत् और असत् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय माना गया है। यदि सत् मानें, तो उसका बाध नहीं होगा, और यदि असत् मानें, तो उसकी

प्रतीति नहीं होगी। इसलिए, विवर्त्त दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। जिसका ज्ञान से बाध हो, उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। विवर्त्त का लक्षण यह माना गया है कि जो अपने स्वरूप का त्याग न कर दूसरे के स्वरूप से भासित हो, वह विवर्त्त है। जैसे, शुक्ति का, अपने स्वरूप को न छोड़कर, रजत रूप से भासित होना।

जिस प्रकार, शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प विवर्त्त अर्थात् कल्पित है, उसी प्रकार ब्रह्म में सकल प्रपञ्च कल्पित है। उसीको सत्यमिथ्याख्यावभास और अध्यास भी कहते हैं। यहाँ अध्यास और अवभास पर्यायवाचक शब्द हैं।

प्रकृत में आत्मा सत् है और अहङ्कारादि सकल प्रपञ्च मिथ्या। एक बात और है कि अहङ्कार आदि जो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं, उनमें आत्मा के स्वरूप का अध्यास नहीं होता, किन्तु आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास होता है। और, आत्मा में मिथ्याभूत अनात्मप्रपञ्च के स्वरूप का ही अध्यास होता है। इसीका नाम सत्यमिथ्याख्यावभास है। शुक्ति में जो रजत का अध्यास है, वह भी इसी प्रकार का समझना चाहिए। अर्थात्, रजत में शुक्ति के सम्बन्ध का अध्यास और शुक्ति में रजत के स्वरूप का अध्यास होता है।

अध्यास दो प्रकार का होता है। एक अर्थाध्यास और दूसरा ज्ञानाध्यास। शुक्ति में मिथ्याभूत रजत का जो अध्यास है, वह अर्थाध्यास है; और मिथ्याभूत ज्ञान का आत्मा में जो अध्यास है, वह ज्ञानाध्यास है। शास्त्रकारों ने भी लिखा है—

'प्रमाणदोषसंस्कारजन्मान्यस्य परात्मता।
तद्धीश्चाध्यास इति हि द्वयमिष्टं मनीषिभिः॥'

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाण, दोष और संस्कार इन तीनों से उत्पन्न होनेवाली जो अन्य वस्तु की अन्यात्मता है, अर्थात् वस्त्वन्य के स्वरूप में परिणत होना है, वह और ऐसी वस्तु का जो ज्ञान है, ये दोनों अध्यास कहे जाते हैं। यहाँ प्रमाण शब्द से चक्षु आदि इन्द्रियों का ग्रहण है, और दोष दूरत्व आदि का। संस्कार यह है, जो पूर्व में रजत आदि के अनुभव से आत्मा में उत्पन्न हुआ है। इन तीनों के रहने पर ही शुक्ति में 'यह रजत है', इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। इन तीनों में एक के भी नहीं रहने से अध्यास नहीं हो सकता। और भी अध्यास दो प्रकार का होता है—एक निरुपाधिक दूसरा सोपाधिक। यथा—

'दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञानसम्भवः।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः॥
उपाधिसन्निधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम्।
उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकं भ्रमम्॥'

भाव यह है कि दोष अथवा कर्म से क्षोभित जो अज्ञान है, उससे उत्पन्न होनेवाला तत्त्वज्ञान का विरोधी जो भ्रम है, उसे निरुपाधिक भ्रम कहते हैं। उपाधि के संनिधान से प्राप्त है क्षोभ जिसमें, उस अविद्या से उत्पन्न होनेवाला और उपाधि के नष्ट होने से नष्ट हो जानेवाला जो भ्रम है, उसे सोपाधिक कहते हैं।

आत्मा में अहङ्कार का जो स्वरूपेण अध्यास है, वह निरुपाधिक भ्रम है। जैसे, उपाधिरहित इदम् अंश में रजत-संस्कार के सहित, अविद्या के कारण, रजत का अध्यास होता है। तद्वत्, पूर्ववर्त्ती अहङ्कार आदि अथवा कर्म से क्षोभित जो अविद्या है, उसीसे उपाधिरहित चिद्-रूप आत्मा में अहंकार का जो अध्यास होता है, वही निरुपाधिक भ्रम है। और, एक ही अखण्ड ब्रह्म में उपाधि के भेद से जीव, ईश्वर आदि भेद का जो अवभास होता है, वही सोपाधिक भ्रम कहा जाता है। और, उसी ब्रह्म में स्वरूप से जो अहंकार का अध्यास होता है, उसे निरुपाधिक अध्यास कहा गया है। अन्य आचार्यों ने भी कहा है—

'नीलिमेव वियत्येषा भ्रान्त्या ब्रह्मणि संसृतिः।
घटव्योमेव भोक्ताऽयं भ्रान्तो भेदेन न स्वतः॥'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश में नीलिमा की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में, भ्रान्ति के कारण, संसार की प्रतीति होती है। और, जिस प्रकार महाकाश में घट उपाधि से घटाकाश का भेद प्रतीत होता है, उसी प्रकार अखण्ड आत्मा में, शरीर आदि उपाधि के कारण भ्रान्ति से ही, भोक्ता आदि का भेद प्रतीत होता है। वस्तुतः, स्वतः भेद नहीं है।

इसी अभिप्राय से शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक-भाष्य के अध्यास-निरूपण-प्रसङ्ग में लोकानुभव के दो ही उदाहरण, दृष्टान्त-रूप से, दिये हैं—जैसे 'शुक्तिका रजतवदवभासते एकश्चन्द्रः स द्वितीयवदिति।' तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शुक्तिका रजत के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस प्रपञ्च के आकार में भासित होता है और जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा दो प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में जीव-ईश्वरादि अनेक प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार, वेदान्तियों के मतानुसार दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। एक द्रष्टा, दूसरा दृश्य। इसीको 'सत्यानृत' या 'सत्यमिथ्या' इत्यादि शब्दों से आचार्यों ने अनेकधा वर्णन किये हैं। यथा—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्यादि। विस्तार के भय से यहाँ विशेष नहीं लिखा जा रहा है। जिज्ञासाविशेष के लिए शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है।

अख्यातिवादी मीमांसक (प्रभाकर) के मतानुसार अध्यास-निरूपण

इस प्रकार, अध्यासवादी शाङ्कर वेदान्त का मत-प्रदर्शन संक्षेप में किया गया। अब अख्यातिवादी मीमांसक, विशेषतया प्रभाकर, का मत थोड़े में दिखाया जाता है। प्रभाकर अध्यासवाद को नहीं मानते। इनका कहना है कि 'शुक्तिका रजतवदवभासते', यह जो शङ्कराचार्य का दृष्टान्त है, वह युक्त नहीं है। कारण यह है कि शुक्ति में होनेवाला 'यह रजत है', इस प्रकार का जो ज्ञान है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु यथार्थ ही है। 'इदम् रजतम्', इस प्रकार का जो ज्ञान है, वह एक नहीं है। यहाँ 'इदम्' शब्द से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है, और 'रजतम्' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह पूर्व में दृष्ट जो रजत है, उसकी स्मृति के आकार का प्रदर्शनमात्र है। यहाँ 'इदम्',

इस प्रत्यक्ष में आगे रहनेवाला (पुरोवर्त्ती) द्रव्य-मात्र का ग्रहण होता है। और, इस द्रव्य में रहनेवाला जो शुक्तित्व है, उसका दूरत्वादि दोष से ग्रहण नहीं होता। यहाँ गृहीत जो द्रव्य-मात्र है, वह रजत के सदृश होने के कारण रजत के संस्कार का उद्बोधन द्वारा रजत-स्मृति को उत्पन्न कर देता है। वह स्मृति यद्यपि गृहीत-ग्रहण स्वभाववाली है, तथापि दोष के वश से गृहीतत्व अंश का त्याग हो जाता है। केवल ग्रहण-मात्र अवशिष्ट रह जाता है, अर्थात् उस स्मृति में दूरत्वादि दोष से शुक्ति-अंश का भान नहीं होता, केवल ज्ञान-मात्र रहता है। इस स्थिति में, प्रत्यक्ष और स्मरण ये दोनों ज्ञान स्वरूप से या विषय से परस्पर भिन्न होते हुए भी, दोषवश, भेद के ज्ञान न होने के कारण, 'इदम् रजतम्', यह रजत है, इस अभेद-ज्ञान को प्रवृत्त करा देते हैं। और, रजतार्थी की जो प्रवृत्ति उसमें होती है, वह पुरोवर्त्ती पदार्थ में, यह रजत नहीं है, इस प्रकार के रजत-भेद के ज्ञान न होने के कारण ही। एक बात और भी है कि 'इदम् रजतम्', ऐसी जो रजत की प्रतीति है, उस रजत-प्रतीति का आलम्बन, अर्थात् विषय, शुक्ति नहीं हो सकती। कारण यह है कि जिस ज्ञान में जो भासित होता है, वही उसका आलम्बन (विषय) होता है। प्रकृत में, यदि रजत के अनुभव का विषय शुक्ति को मानते हैं, तो नियमविरुद्ध हो जाता है।

इसलिए, शाङ्कर वेदान्तियों का यह कहना कि शुक्ति रजत रूप से भासित होती है, अर्थात् अन्य का अन्य रूप से भान होता है, युक्त नहीं है। प्रभाकरमतानुसारी पण्डित शालिकनाथ ने भी प्रकरण-पञ्जिका के न्यायवीथी नामक चतुर्थ प्रकरण में लिखा है—

'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्वलक्षणम्॥
इदं रजतमित्यत्र रजतन्त्ववभासते।
तदेव तेन वेद्यं स्यात्तु शुक्तिरवेदनात्॥
तेनान्यस्यान्यथाभावः प्रतीत्यैव पराहतः।
अन्यस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः॥'

तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान में जो अर्थ भासित होता है, वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। अन्य कोई भी पदार्थ उस ज्ञान का विषय नहीं होता। 'इदम् रजतम्', इस ज्ञान में रजत ही भासित होता है, इसलिए इस ज्ञान का विषय रजत ही हो सकता है, दूसरा नहीं। अर्थात्, 'रजतम्', इस ज्ञान का विषय शुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि, उसका ज्ञान नहीं होता। इसी कारण, अन्य का अन्य प्रकार से अवभास होना प्रतीति से ही तिरस्कृत हो जाता है; क्योंकि दूसरे का भान होने पर दूसरा भासित नहीं होता।

इसलिए, वेदान्तियों का जो अध्यासवाद-सिद्धान्त है, वह किसी प्रकार युक्त नहीं होता। यही थोड़े में प्रभाकर का सिद्धान्त है।

वेदान्तियों का इसके उत्तर में कहना है कि मीमांसक लोग जो यह कहते हैं कि अयथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। 'इदम्', इस प्रत्यक्ष और रजत के स्मरण इन दोनों

ज्ञानों से ही रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है, अयथार्थ ज्ञान के कारण नहीं, यह सर्वथा अयुक्त है। कारण यह है कि किसी भी बुद्धिमान् आदमी की प्रवृत्ति दो ही चीजों के लिए होती है। एक तो अभीष्ट वस्तु के लिए, दूसरी समीहित वस्तु के साधन के लिए। रजतार्थी की प्रवृत्ति तभी हो सकती है, जब समीहित रजत का उसे ज्ञान हो। केवल शुक्तिका-खण्ड रजतार्थी को रजत का अनुभव कभी नहीं करा सकता और शुक्तिका-खण्ड न तो रजतार्थी को समीहित है और न वह समीहित रजत का साधन ही है। समीहित के साधन-ज्ञान के बिना किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती और पुरःस्थित शुक्ति में ही रजत बुद्धि से मनुष्य की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए, यह सिद्ध होता है कि रजत का ज्ञान उसे होता है। यदि यह कहें कि रजत के स्मरण से ही उसकी प्रवृत्ति होती है, तो भी ठीक नहीं होता। कारण यह है कि स्मरण अनुभव के परतन्त्र होता है। जिस देश में अनुभव हुआ है, उसी देश में वह प्रवृत्ति का कारण हो सकता है। क्योंकि, स्मरण अनुभव का ही अनुकारी होता है। इसलिए, अग्रेस्थित शुक्ति में रजत का अनुभव नहीं करा सकते। अतः, रजत के स्मरण-मात्र से प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि कहें कि पुरोवर्त्ती शुक्ति और स्मृत रजत के भेद का अज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण होता है, तो भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि किसी चेतन के व्यवहार का कारण ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं। लोक में ज्ञानप्रयुक्त व्यवहार ही सर्वत्र देखा जाता है। अज्ञान से कोई भी किसी व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए, भेद का अज्ञान प्रवृत्ति का कारण है, यह नहीं कह सकते। तात्पर्य यह है कि मीमांसक लोगों के मत में, शुक्ति में जो रजत का व्यवहार होता है, वह अध्यास, अर्थात् आरोपपूर्वक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षात्मक और स्मरणात्मक इन दोनों ज्ञानों के परस्पर-भिन्नत्वेन जो अज्ञान है, अर्थात् दोनों में जो भेद-ज्ञान का अभाव है, तत्पूर्वक ही शुक्ति में रजत का व्यवहार होता है, और उसके लिए मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है। यही मीमांसकों का परम सिद्धान्त है। परन्तु, इनका यह सिद्धान्त किसी प्रकार भी युक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि रजतार्थी की जो शुक्ति के विषय में प्रवृत्ति होती है, वह नहीं बनती; क्योंकि शुक्ति रजतार्थी का समीहित नहीं। अन्वय-व्यतिरेक से रजत ही रजतार्थी का समीहित है। समीहित इष्ट वस्तु का नाम है। इष्ट वस्तु के ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है, और इष्ट वस्तु के ज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति नहीं होती। यही अन्वय-व्यतिरेक है। इस अन्वय-व्यतिरेक से समीहित जो रजत है, उसीका ज्ञान होना प्रवृत्ति का कारण है, यह अवश्य स्वीकार करना होगा। इसलिए, प्रकृत में रजत का स्मरणात्मक जो ज्ञान है, वही मीमांसकों को मानना होगा। परन्तु, यह युक्त नहीं होता। कारण यह है कि ज्ञान और इच्छा के समानविषयत्व सिद्ध होने पर भी इच्छा और प्रवृत्ति के समानविषयत्व-नियम का भङ्ग हो जायगा। तात्पर्य यह है कि 'जानाति, इच्छति, ततः प्रवर्त्तते', अर्थात् पहले ज्ञान होता है, बाद में इच्छा, तब प्रवृत्ति। अर्थात्, ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति इन तीनों का समान-विषय होना आवश्यक नियम है। अर्थात्, जिस विषय का ज्ञान होगा, उसीकी

इच्छा होगी और जिसकी इच्छा होगी, उसीमें प्रवृत्ति, यह नियम है। जिसका ज्ञान नहीं होता, उसकी इच्छा भी नहीं होती और जिसकी इच्छा नहीं होती, उसकी ओर प्रवृत्ति भी नहीं होती। प्रकृत में इच्छा का विषय रजत है, वह प्रवृत्ति का विषय नहीं है। क्योंकि, प्रवृत्ति तो 'इदम्' का अर्थ जो अग्रेस्थित शुक्ति है, उसकी ओर होती है। इस अवस्था में, जिसके प्रति प्रवृत्ति होती है, उसीको ज्ञान और इच्छा का विषय किसी भी प्रकार मानना ही होगा, नहीं तो ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति का जो समानविषयक होना नियम है, वह भंग हो जायगा। और, इदमर्थ जो पुरोवर्त्ती शुक्ति है, वह इच्छा और प्रवृत्ति का विषय तभी हो सकती है, जब उसमें रजत का आरोप मानें। इदमर्थ शुक्ति में इच्छा के विषयीभूत रजत के आरोप के बिना शुक्ति की ओर जो प्रवृत्ति होती है, वह कभी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि मीमांसक, पुरोवर्त्ती वस्तु रजत-भिन्न है, ऐसा ज्ञान न होने के कारण प्रवृत्ति होती है, यह मानते हैं, तो उन्हींके मतानुसार पुरोवर्त्ती वस्तु रजत है, ऐसा भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए, उसमें रजतार्थी की प्रवृत्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसलिए, रजतार्थी की प्रवृत्ति के लिए पुरोवर्त्ती शुक्ति में रजत का आरोप अवश्य मानना ही होगा। इसीलिए, अख्यातिवादी मीमांसकों का मत अयुक्त है।

बौद्धमतानुसार अध्यास का विवेचन

यहाँ शून्यवादी माध्यमिकों का कहना है कि रजत का जो भ्रम शुक्ति में होता है, उस भ्रम का आलम्बन शून्य ही है, कोई सत् नहीं। इनके मत का विवेचन पृथक् बौद्धदर्शन में किया गया है। इनके मत में सकल पदार्थ-मात्र शून्य है, ऐसा माना जाता है, इसलिए इनके मत में शुक्ति भी कोई परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु शून्य ही है, इसलिए रजत-भ्रम का आलम्बन असत् ही है, यह सिद्ध होता है। इनका कहना है कि 'असत्प्रकाशनशक्तिमती' जो वासना है, वह स्वयं असत्स्वरूप होने पर भी सत् के सदृश भासित होती है। यह प्रकाश अनादिकाल से ही निरन्तर धारा-प्रवाह-रूप से चला आ रहा है। असत्प्रकाशनशक्तिमती जो वासना है, वह असत्-विज्ञान को भी सत् के सदृश प्रकाशित करती है और अपने सदृश असत्-प्रकाशन-शक्ति को भी प्रकाशित करती है। इनके वासना-विज्ञान में जो असत्-प्रकाशन-शक्ति है, वह स्वप्न के दृष्टान्त से सिद्ध होती है। जिस प्रकार, स्वप्न में असत् पदार्थ का ही भान होता है, उसी प्रकार संसार में असत् पदार्थ का ही सदा भान होता रहता है। इसी असत्-प्रकाशन-शक्ति को अविद्या और संवृत्ति भी कहते हैं। इसलिए, असत्प्रकाशनशक्तिमती अविद्या से ही असत् जो यह प्रपञ्च है, वह सत् के सदृश भासित होता है। इसलिए, प्रकृत में भ्रम का आलम्बन जो शुक्ति है, वह भी असत् ही है, यह सिद्ध हो जाता है। परन्तु, बौद्धों का यह शून्यवाद-सिद्धान्त भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि असत् किसीका कारण नहीं होता। और, दूसरी बात यह है कि असत् को प्राप्त करने की इच्छा से उसमें किसीकी प्रवृत्ति भी नहीं होती और प्रकृत में रजतार्थी की शुक्ति के अभिमुख प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि यह कहें कि विज्ञान में, वासनादि स्वकारणवश और स्वप्नादि दृष्टान्त से, एक प्रकार का विशेष धर्म आ जाता है, जिससे असत् शुक्ति आदि भी सत् के ही सदृश भासित होते हैं, इसलिए रजत-बुद्धि से उसमें प्रवृत्ति अनिवार्य है, सो भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि इससे शक्य का निरूपण नहीं होता।

तात्पर्य यह कि असत्प्रकाशनशक्तिमान् जो विज्ञान है, उसीको शक्त माना गया है। और, उस विज्ञान से अपनी शक्ति द्वारा प्रकाशित घट आदि वस्तुओं को शक्य कहा जाता है। अब यहाँ यह विकल्प होता है कि वह शक्य विज्ञान का कार्य है अथवा ज्ञाप्य? जन्य, अर्थात् उत्पन्न होनेवाली वस्तु का नाम कार्य है। जैसे, दण्ड-चक्र आदि कारणों से उत्पन्न होनेवाली घट आदि वस्तुएँ कार्य कही जाती हैं। और, जन्य ज्ञान का जो विषय है, उसको ज्ञाप्य कहते हैं। प्रकृत में घट आदि वस्तुओं को कार्य नहीं कह सकते। क्योंकि, कार्य तभी हो सकता है, जब उसका कोई उपादान कारण हो। और, बौद्धों का अभिमत जो विज्ञान है, वह स्वयं शून्य है, वह किसीका उपादान नहीं हो सकता। इसलिए, शक्य को कार्य नहीं कह सकते।

यदि ज्ञाप्य कहें, तो भी नहीं बनता। कारण यह है कि शक्य को कार्य उनके मत में स्वीकार किया गया है। वह ज्ञाप्य हो नहीं सकता। दूसरी बात यह कि घटादि शक्य को यदि ज्ञाप्य मानें, तो उस विज्ञान का ज्ञापकत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है। और, ज्ञापक का ज्ञाप्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता नहीं। किन्तु, स्वजन्य ज्ञान के द्वारा ही सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार, ज्ञापक जो प्रदीपादि हैं, वे घटादि ज्ञान के जनक हैं, यह मानना होगा। और, उस विज्ञान से उत्पन्न घटादिविषयक दूसरा कोई ज्ञान विज्ञान से भिन्न उपलब्ध नहीं होता। यदि द्वितीय ज्ञान की उपलब्धि मानें, तो द्वितीय ज्ञान का शक्य जो घटादि अर्थ हैं, उनको कार्य मान नहीं सकते। क्योंकि, उसका कारण असत् विज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए, ज्ञाप्य मानना होगा। इस प्रकार, स्वीकृत जो द्वितीय ज्ञान है, उसका भी घटादि का ज्ञापक होना अर्थतः सिद्ध हो जाता है। ज्ञापक भी ज्ञान का जनक ही होता है; क्योंकि ज्ञापक का साक्षात् सम्बन्ध ज्ञाप्य के साथ नहीं होता, किन्तु वह ज्ञान के द्वारा ही होता है, यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिए, द्वितीय ज्ञान से जन्य एक भिन्न तृतीय ज्ञान को स्वीकार करना होगा। और, उसका भी पूर्वोक्त रीति से ज्ञापक होने से उससे जन्य चतुर्थ ज्ञान को मानना होगा। इस प्रकार, पञ्चमादि ज्ञान के मानते रहने से अनवस्था-दोष हो जाता है। इसलिए, असत्-विज्ञानवादी बौद्धों का मत भी असत्-प्रलाप ही प्रतीत होता है। इस प्रकार, वेदान्तियों के मत से बौद्धमत का संक्षेप में निराकरण किया गया। अब अन्यथा-ख्यातिवादी नैयायिकों के मत का संक्षेप में निदर्शन किया जाता है।

नैयायिकों के मत से अध्यास-निरूपण

नैयायिकों का यह कहना है कि 'नेदं रजतम्', यह रजत नहीं है, इस प्रकार का रजत का जो निषेध होता है, इससे आन्तर विज्ञानाकार रजत की सिद्धि यद्यपि नहीं होती, तथापि असन्निहित गृहादि में वर्त्तमान रजत की सिद्धि उक्त निषेध से हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि नैयायिक लोग अन्यथाख्यातिवाद को मानते हैं। अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति को ही अन्यथाख्याति कहते हैं। अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति अन्यत्र कहीं सत्ता रहने पर ही हो सकती है। अत्यन्त असत् वस्तु की प्रतीति होती ही नहीं; क्योंकि प्रतीति का विषय सत् पदार्थ ही होता है, असत् नहीं। इसलिए, असन्निहित रजत की अन्यत्र सत्ता अवश्य सिद्ध हो जाती है, अर्थात् अत्यन्त असत् वस्तु का निषेध नहीं होता; परन्तु जो सत् वस्तु है, उसीका निषेध होता है। इसी अभिप्राय से न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने लिखा है—

'व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता॥'

यहाँ व्यावर्त्य का अर्थ है प्रतियोगी। जिसका निषेध किया जाता है, वही प्रतियोगी है। और, प्रतियोगी वह होता है, जिसमें अभाव रहे। इसका भाव यह है कि अत्यन्त तुच्छ जो शश-शृङ्ग आदि असत् वस्तुएँ हैं, और आभास-प्रतिपन्न शुक्ति में जो रजत आदि हैं, वे अत्यन्त निकृष्ट, अर्थात् असत् हैं। सत् वस्तु नहीं है, यह प्रसिद्ध है, और तुच्छ वस्तु न किसीका विशेष्य होता है और न प्रतियोगी, अर्थात् विशेषण ही होता है। यह श्लोकार्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध किसी दो पदार्थों का होता है; उनमें एक विशेषण है, जिसको प्रतियोगी कहते हैं और एक विशेष्य है, जिसको अनुयोगी कहते हैं। ये ही दोनों सम्बन्धी हैं, जिनका सम्बन्ध होता है। प्रतियोगी को विशेषण और अनुयोगी को विशेष्य कहते हैं। 'घटवद्भूतलम्', अर्थात् घटयुक्त भूतल, इस प्रयोग में घट विशेषण और भूतल विशेष्य और इन दोनों का संयोग-सम्बन्ध है। यहाँ घटवत् कहने से भूतल में घट के अभाव की व्यावृत्ति होती है। व्यावर्त्य का विरोधी व्यावर्त्तक होता है। घटाभाव के निषेध से घट की सत्ता सिद्ध हो जाती है। घटाभाव के अभाव की प्रतीति घट पद से ही होती है। इसलिए, घट घटाभाव का अभाव-स्वरूप है, यह सिद्ध हो जाता है। यहाँ घटाभाव का व्यावर्त्तक (निषेधक) घटाभाव का अभाव हुआ। व्यावर्त्य जो घटाभाव है, इसका व्यावर्त्तक जो घटाभाव का अभाव है, उस अभाव से युक्त होना ही भूतल में विशेष्यता है। अर्थात्, भूतल में घटाभाव के अभाव का रहना ही भूतल की विशेषता-स्वरूप है और घटाभाव का जो विरह, अर्थात् अभाव है, सत्स्वरूपत्व ही, अर्थात् सत्स्वरूप ही पारमार्थिक वस्तु प्रतियोगी होती है। इस स्थिति में, प्रकृत स्थल में 'यह रजत नहीं है', इस प्रकार जो निषेध होता है, इस निषेध का प्रतियोगी जो रजत है, उसका पारमार्थिक होना अनिवार्य हो जाता है। अर्थात्, शुक्ति में रजत के निषेध होने से अन्यत्र कहीं रजत का रहना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार, ब्रह्म में जो प्रपञ्च का आरोप है, उसका 'नेति-नेति' इत्यादि प्रपञ्चनिषेधक वाक्यों से प्रपञ्च का जो निषेध होता है, उस निषेध का प्रतियोगी जो प्रपञ्च है, उसका भी कहीं पारमार्थिक सत् होना अनिवार्य हो जाता है। इस स्थिति में, वेदान्तियों के मत से द्वैतापत्ति-दोष हो जाता है। यह अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकों का मत है। इस मत से जगत् का मिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होता है।

परन्तु, यह ठीक नहीं है। वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार असत्-संसर्ग निषेध का प्रतियोगी होता है, अर्थात् असत्-संसर्ग का भी निषेध होता है, उसी प्रकार असत् रजत का भी निषेध होने में कोई आपत्ति नहीं है। तात्पर्य यह है कि रूप रस से संयुक्त नहीं है। यहाँ रूप और रस के समानाधिकरण के बल से कल्पित जो संयोग है, वही निषेध का प्रतियोगी होता है, अर्थात् उसी कल्पित संयोग का निषेध किया जाता है; क्योंकि अन्यत्र कहीं भी रूप का संयोग नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार, प्रकृत में 'नेदं रजतम्', इस निषेध का प्रतियोगी कल्पित रजत के होने में कोई आपत्ति नहीं है।

अब यहाँ दूसरी आशङ्का यह होती है कि 'इदं रजतम्', इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान एक है, अथवा अनेक? एक तो कह नहीं सकते; क्योंकि वेदान्तियों के मत में सिद्धान्त में दो ज्ञान माने गये हैं। यह आगे दिखाया जायगा। और, एक ज्ञान वहाँ असम्भव भी है। जैसे, शुक्ति में 'इदं रजतम्', इस प्रकार का ज्ञान होता है। यहाँ वस्तुतः शुक्ति-रूप जो इदम् का अंश है, वही चक्षु-इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध है, इसलिए चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा वहाँ गया हुआ जो अन्तःकरण है, उसी अन्तःकरण का इदम् के आकार में परिणाम होता है। इसी विषयाकार में परिणत जो अन्तःकरण है, उसीको वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। रजत इस ज्ञान का विषय नहीं होता। कारण यह है कि रजत के उस शुक्ति-देश में वस्तुतः नहीं रहने से इन्द्रिय का सम्बन्ध उसके साथ नहीं है। यदि कहें कि इन्द्रिय के सन्निकर्ष नहीं रहने पर भी वह ज्ञान का विषय होता है, तो ठीक नहीं है। कारण यह है कि इन्द्रिय से असन्निकृष्ट वस्तु भी यदि ज्ञान का विषय होता है, यह मान लें, तो सब-के-सब सर्वज्ञ होने लगेंगे। क्योंकि, सकल असन्निकृष्ट पदार्थ उनके ज्ञान का विषय हो जाता है, इसलिए असन्निकृष्ट रजत को ज्ञान का विषय किसी प्रकार नहीं कह सकते।

यदि यहाँ यह शङ्का करें कि शुक्ति-देश में चक्षु-इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने के पहले रजत का ज्ञान नहीं होता है और चक्षु के सन्निकर्ष के बाद ही रजत का ज्ञान होता है, इस अन्वय-व्यतिरेक से रजत का ज्ञान चक्षु-इन्द्रिय से जन्य है, ऐसी कल्पना की जा सकती है। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि, इदम् अंश के ज्ञान के विषय होने में चक्षु-इन्द्रिय का उपयोग हो जाता है। यदि यह कहें कि रजत का जो संस्कार है, उसीसे रजत-ज्ञान का जन्म होता है, तो यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि संस्कार से जन्य होने से स्मृति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। इसलिए, रजत-ज्ञान को संस्कारजन्य भी नहीं कह सकते।

यदि यह कहें कि इन्द्रिय-दोष ही इसमें कारण है, अर्थात् इदम् अंश के प्रत्यक्ष अनुभव में गृहगत मंजूषा में रहनेवाले रजत की जो विषयत्वेन प्रतीति होती है, उसमें दोष ही कारण होता है। यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि दोष-ज्ञान का स्वतन्त्र कारणत्व नहीं होता। जैसे, देवदत्त में रहनेवाला व्यसन आदि जो दोष हैं, वे देवदत्त के द्वारा ही देवदत्त से संसर्ग रखनेवाले यज्ञदत्त को दूषित करते हैं। संसर्ग नहीं रखनेवाले अन्य मनुष्यों को दूषित नहीं करते। इसी प्रकार, प्रकृत में

इन्द्रिय-दोष भी इन्द्रिय के द्वारा ही किसी कार्य के प्रति कारण हो सकता है, स्वतन्त्र नहीं। इसलिए, इन्द्रिय से असंसृष्ट रजत के ज्ञान का विषय होने में दोष किसी प्रकार कारण नहीं हो सकता। और, ग्रहणात्मक तथा स्मरणात्मक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान होता भी नहीं। इन्द्रियजन्य ज्ञान को ग्रहण कहते हैं और संस्कारजन्य ज्ञान को स्मरण। इसके अतिरिक्त दोषजन्य कोई ज्ञान नहीं है। इदम्-अंश का जो प्रत्यक्ष होता है, उसमें रजत का किसी प्रकार भी विषयतया प्रवेश नहीं होता। इसी कारण, इदम् अंश और रजत के तादात्म्यविषयक एक विज्ञान किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं होता है। इसलिए, पूर्वोक्त एक ज्ञान नहीं कह सकते। यदि द्वितीय विकल्प अनेक ज्ञान मानें, तो वह भी युक्त नहीं होता। अख्यातिवाद की आपत्ति हो जाती है, अर्थात् मीमांसकों का मत ही स्वीकार्य हो जाता है।

वेदान्तियों का समाधान इस प्रकार होता है कि पहले पुरोवर्त्ती शुक्ति-खण्ड में दोषकलुषित चक्षु-इन्द्रिय का जो सम्बन्ध होता है, उससे दोष का कारण शुक्ति-अंश का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु, इदन्ताकार ही अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है और वही वृत्ति इदन्त्वावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक जो आवरण है, उसे दूर कर देती है। तत्पश्चात् इदन्ता में, और इदन्ता का ग्राहक जो वृत्ति है, उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होकर उसी रूप में अभिव्यक्त होता है। परन्तु, शुक्ति-अंश से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। कारण यह है कि दोष के कारण शुक्ति के अंश से अवच्छिन्न चैतन्य को आवृत करनेवाला जो चैतन्यावरण है, उसका भंग नहीं होता। इदम् अंश से युक्त चैतन्य का शुक्तिरूप से जो अनवभास है, अर्थात् इदम् अंश शुक्तिरूप से जो अभिव्यक्त नहीं होता है वह, और इसी कारण तदाकार वृत्तिरूप से उस चैतन्य का जो अनवभास है वह, अविद्या है। उस अविद्या का आश्रय इदम् अंश से अवच्छिन्न और इदमाकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही है। उसमें प्रथम, अर्थात् इदम् अंश से अवच्छिन्न चैतन्य का शुक्तिरूप से अनवभास-रूप जो अविद्या है, उसका आश्रय इदमंश से अवच्छिन्न चैतन्य है, और तदाकार वृत्तिरूप से चैतन्य का अनवभास-रूप जो अविद्या है, उसका इदमाकार वृत्तिरूप चैतन्य आश्रय है।

ये दोनों प्रकार की अविद्याएँ दोषवश संक्षुभित होती हैं। यहाँ इदम्-अंश से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली जो अविद्या है, वह संक्षुभित होकर चाकचिक्य आदि देखकर रजत के संस्कार का उद्बोधन करती है, और उसकी सहायता से रजत के आकार में परिणत भी हो जाती है और वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहनेवाली जो अविद्या है, वह रजत का ग्रहण करनेवाली वृत्ति के संस्कार का उद्बोधन द्वारा उसकी सहायता से वृत्तिरूपेण परिणत हो जाती है। ये दोनों परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत साक्षि-चैतन्य भासित होते हैं। इन्हींको क्रमशः अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास कहते हैं।

यहाँ यह भी शङ्का होती है कि जिस प्रकार विषय के आकार में परिणत अन्तःकरणवृत्ति से विषय का अवभास होता है, उसी प्रकार, उस वृत्ति का भी

अवभास उस वृत्ति के आकार मे परिणत अन्तःकरण के वृत्यन्तर से होगा, और पुनः उस वृत्ति के वृत्यन्तर से। इस प्रकार, अनवस्था-दोष हो जाता है। यह शङ्का का तात्पर्य है।

इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि जिस प्रकार घटादि पदार्थों का प्रकाशक जो प्रदीप है, वह घटादि का जिस प्रकार प्रकाशक होता है, उसी प्रकार, अपना भी प्रकाशक होता है। प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। प्रदीप स्वयं प्रकाशक, अर्थात् स्वविषयक भी है। इसी प्रकार, प्रकृत वृत्ति-स्थल में भी वृत्ति के वृत्यन्तर की अपेक्षा नहीं होने पर भी स्वविषयक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती, अर्थात् वृत्ति (ज्ञान) जिस प्रकार विषय का अवभासक होती है, उसी प्रकार अपना भी अवभासक होती है, प्रदीप के सदृश। इससे सिद्ध हुआ कि सवृत्ति अविद्या भी साक्षिभास्य है; क्योंकि अविद्या तो साक्षिभास्य ही है। इससे प्रकृत में यह सिद्ध हुआ कि इदमाकार जो वृत्ति है, वह अन्तःकरण के परिणामस्वरूप है और रजताकार जो वृत्ति है, वह अविद्या की है, अर्थात् अविद्या के परिणामस्वरूप है। ये ही दो वृत्तियाँ हैं। वृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं, इसलिए वेदान्तियों के यहाँ भी दो ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं।

यदि कहें कि ज्ञान यहाँ दो हैं, तो 'इदं रजतम्' इस स्थल मे एक ही ज्ञान होता है और इस प्रकार का वेदान्तियों का जो व्यवहार होता है, वह अनुपपन्न हो जाता है। इसका उत्तर यह होता है कि ज्ञान के दो होने पर भी फल के एक होने से ज्ञान के एक होने का आरोप किया जाता है। इसलिए, एक ज्ञान है, इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान तो वृत्तिस्वरूप है और उसका फल विषय का अवभास है और वह अवभास तथा विषय विषय के अनुसार ही होता है। इसलिए, अवभास विषय के ही अधीन होता है, और वह विषय 'इदम् रजतम्', इस प्रकृत स्थल में सत्य जो इदम्-अंश है, और अनृत जो रजत है, इन दोनों का अन्योन्यात्मक, अर्थात् परस्परात्मक होने के कारण एकत्व-भाव हो गया है। इसी कारण, विषय के अवभास-रूप फल ऐसे स्थलों में एक ही निरुढ प्रतीत होता है। इसलिए, फलैक्य का व्यवहार किया जाता है। आचार्यों ने भी लिखा है—

> 'शुक्तीदमंशचैतन्यस्थिताविद्या विजृम्भते।
> रागादिदोषसंस्कारसचिवा रजतात्मना॥
> इदमाकारवृत्त्यन्तचैतन्यस्था तथाविधा।
> विवर्त्तते तद्रजतज्ञानाभासात्मनाप्यसौ॥
> सत्यमिथ्यात्मनोरैक्यादेकस्तद्विषयो मनः।
> तदापत्तफलैकत्वाज्ज्ञानैक्यमुपचर्यते॥'

इसका भाव पूर्वोक्त ही है। शुक्ति के इदम्-अंश से युक्त चैतन्य में स्थित जो अविद्या है, वह रागादि दोष के संस्कार की सहायता से रजत के आकार में परिणत हो जाती है। इन दोनों ज्ञान का विषय सत्य और मिथ्या के अन्योन्याध्यासमूलक,

अर्थात् परस्परात्मरूप होने के कारण एकत्वरूप को प्राप्त ही है, अर्थात् दोनों का विषय एक ही है, और विषय के एक होने से उसके अधीन जो अवभास फल है, वह भी एक ही है, इस प्रकार का उपचार होता है। इसी अभिप्राय से पञ्चपादिका नामक शाङ्कर भाष्य की टीका में पद्मनाभाचार्य ने लिखा है कि 'सा चैकमेव ज्ञानमेकफलं जनयति', अर्थात् वह अविद्या एक ही अवभास-रूप फल को उत्पन्न करती है।

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि शुक्ति के प्रदेश में प्रतीयमान जो रजत है, उसको वहीं यदि सत्य मान लिया जाय, तब तो 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है), यह जो निषेध होता है, वह कैसे होगा। क्योंकि, सत्य का तो निषेध होता नहीं।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि शुक्ति-प्रदेश में रजत का प्रतिभास होने से प्रातिभासिक सत्यत्व है, तथापि व्यावहारिक सत्यत्व न होने के कारण सोपाधिक में उसका निषेध होना युक्त ही है। अर्थात्, शुक्ति के प्रदेश में ही 'नेदं रजतम्' ऐसा, निषेध होता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इस प्रकार के निषेध का प्रतियोगी शुक्ति में भासमान रजत नहीं हो सकता। कारण यह है कि अविद्या के परिणामभूत जो रजत है, वह किञ्चित्कालपर्यन्त ही स्थायी है, और निषेध तो 'यह कभी रजत नहीं है', इस प्रकार काल से अवच्छिन्न ही प्रतीत होता है, फिर भी व्यावहारिक सत्यत्वविशिष्ट जो रजत है, उसका तो वहाँ अभाव ही है। इसलिए, व्यावहारिक सत्यत्वविशिष्ट जो औपाधिक रजत है, उसका निषेध होने में कोई आपत्ति नहीं है। तीन प्रकार की सत्ताओं का विवरण पञ्चपादिका-विवरण में किया गया है।

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिकी है। वह त्रिकालाबाध्य है, अर्थात् उसका बाध तीनों काल में भी नहीं होता। आकाशादि प्रपञ्च का जो सत्त्व है, वह व्यावहारिक है। व्यावहारिक का तात्पर्य है अर्थक्रियाकारी, अर्थात् जिससे कुछ व्यवहार होता हो। यह आकाशादि प्रपञ्च मायोपाधिक है। अर्थात्, माया की उपाधि से ही इस प्रपञ्च की सत्ता प्रतीत होती है और अविद्योपाधिक जो सत्त्व है, वही प्रातिभासिक है। इन तीन प्रकार की सत्ताओं का विवेचन अन्यान्य वेदान्त-ग्रन्थों में भी किया गया है। जैसे—

> 'कालत्रये ज्ञातृकाले प्रतीतिसमये तथा।
> बाधाभावात् पदार्थानां सत्त्वन्त्रैविध्यमिष्यते॥
> तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं व्योमादेर्व्यावहारिकम्।
> शुक्त्यादेरर्थजातस्य प्रातिभासिकमिष्यते॥
> लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिके विधौ।
> तत् प्रातिभासिकं सत्त्वं बाध्यं सत्येव मातरि॥
> वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिके विधौ।
> तद् व्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सदैव तत्॥'

भाव यह है कि पदार्थों की सत्ता तीन प्रकार की होती है—कालत्रय में बाध न होने से, ज्ञातृकाल में, अर्थात् व्यवहार काल में बाध न होने से, और प्रतीति समय में बाध न होने से।

ब्रह्म की सत्ता तात्त्विक, अर्थात् पारमार्थिक है। आकाश आदि की सत्ता व्यावहारिक है। शुक्ति आदि में रजत आदि की जो प्रतीति होती है, वह प्रातिभासिक है।

व्यवहार-काल में ही लौकिक प्रमाण से जिसका बाध हो और उस समय प्रमाता का बाध न हो वह प्रतिभासिक सत्त्व है। शुक्ति आदि में जो रजत की प्रतीति होती है, उसका बाध प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण से व्यवहार-काल में ही, यह रजत नहीं है, इस प्रकार का बाध हो जाता है। उस समय औपाधिक भी देवदत्त आदि प्रमाता का बाध नहीं होता।

वैदिक काल में वैदिक प्रमाण के द्वारा जिसका बाध होता है और जिस काल में प्रमाता का भी बाध हो जाता है, वह व्यावहारिक सत्ता है। तात्पर्य यह है कि आकाशादि प्रपञ्च की सत्ता व्यावहारिक है; क्योंकि व्यवहार-काल में उसका बाध नहीं होता। किन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्यों के द्वारा जब श्रवण-मननादि से सम्पन्न अधिकारी को आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब आकाशादि प्रपञ्च का भी बाध हो जाता है। और, उस समय प्रमाता का प्रमातृत्व भी प्रतीत नहीं होता। इसलिए, प्रमाता भी बाधित हो जाता है। यहाँ प्रतीति का अभाव ही बाध है, निषेध नहीं।

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि शुक्ति में रजत की ख्याति और बाध तबतक सिद्ध नहीं होता, जबतक सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति न मानें। तात्पर्य यह है कि शुक्ति में रजत की जो प्रतीति होती है, वह असत् नहीं है; क्योंकि उसकी प्रतीति होती है और सत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि उसका प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह रजत नहीं है, इस प्रकार का भी बाध होता है और ख्याति और बाध इन दोनों का एकत्र समावेश तभी हो सकता है, जब उसका अनिर्वचनीयत्व स्वीकार करें। अन्यथा ख्याति और बाध दोनों अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए, अनिर्वचनीय ख्याति मानना आवश्यक हो जाता है। सत् और असत् से जो विलक्षण है, उसीको अनिर्वचनीय कहते हैं और ऐसा अनिर्वचनीय माया का ही परिणाम हो सकता है। इसलिए, इसका मायामय होना भी सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीय की परिभाषा चित्सुखाचार्य ने लिखी है—

'प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं नयत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः॥'

तात्पर्य यह है कि जो सत्त्वेन, असत्त्वेन और सद्-असद् उभयत्वेन विचार का विषय न हो, वही अनिर्वचनीय कहा जाता है। अर्थात्, जो सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। सत्-असत् उभयरूप भी नहीं है, वही अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय माया का यही स्वरूप वेदान्तियों ने स्वीकार किया है।

वही अविद्या में प्रमाण है। इस अनुभव में आत्मा के आश्रित और [illegible] व्याप्त एक जड़ात्मिका अविद्या-शक्ति अनुभूत होती है और यह अनुभूयमान अज्ञान ज्ञान का अभावस्वरूप नहीं है। किन्तु, ज्ञान से भिन्न भावस्वरूप एक अतिरिक्त पदार्थ है, क्योंकि यह भावस्वरूप दृश्यमान जगत् का उपादान होता है। यदि ज्ञानाभावस्वरूप इसको मानें, तो दृश्यमान भावरूप जगत् का उपादान नहीं हो सकता; क्योंकि अभाव किसीका उपादान नहीं होता है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध है। यहाँ नैयायिकों और सांख्यों का कहना है कि 'अहमज्ञः' इस अनुभव का विषय ज्ञानाभाव ही है। अज्ञान भावरूप कोई पदार्थ नहीं है। और, दृश्यमान जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति अथवा परमाणु ही है, अज्ञान नहीं। इसलिए, उक्त अनुभव से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। वेदान्तियों का कहना है कि यह युक्त नहीं है; क्योंकि अभाव को ग्रहण करनेवाला एक अनुपलब्धि नाम का अतिरिक्त ही प्रमाण है। भूतल में घट नहीं है, इस प्रकार का जायमान जो घटाभाव का ज्ञान है, वह अनुपलब्धि प्रमाण का ही जन्य है और अनुपलब्धि-प्रमाण से जन्य जो अभाव का ज्ञान है, वह परोक्ष ही रहता है। 'भूतले घटो नास्ति', यह ज्ञान परोक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं और 'अहमज्ञः', इस प्रकार का जो अनुभव है, वह प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। इसलिए, इसको अभावस्वरूप नहीं मान सकते। एक बात और है कि अनुमान आदि प्रमाणों से भी अभाव का ज्ञान माना गया है, परन्तु उनके मत में भी अभाव का प्रत्यक्ष कभी नहीं माना जाता। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ज्ञानाभाव कभी नहीं हो सकता।

यदि यह कहें कि 'अहमज्ञः' यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है, तो यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि यदि परोक्ष मानेंगे, तो अनुमान आदि किसी प्रमाण से ही उसका ग्रहण मानना होगा। और, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति इन तीनों में किसीसे भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण यह है कि प्रत्यक्षेतर जितने प्रमाण माने गये हैं, उनके कारण का ज्ञान होने पर ही वे सब ज्ञान के कारण होते हैं। जैसे, अनुमान-प्रमाण का हेतु है लिङ्ग का ज्ञान, अर्थात् जो ज्ञात लिङ्ग है, वही अनुमिति का जनक होता है। अग्नि के ज्ञान में धूम जो लिङ्ग है, वह तभी कारण होता है, जब धूम का ज्ञान हो। अज्ञात धूम स्वरूपतः रहने पर भी अग्नि का अनुमापक नहीं होता। इसी प्रकार, शब्दजन्य बोध में भी शब्द का ज्ञान और अर्थापत्ति-स्थल में अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान कारण होता है। अज्ञात शब्द भी शाब्दबोध का कारण नहीं होता। इसलिए बधिर को शाब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति-स्थल में भी दिन में नहीं खाने पर भी देवदत्त की स्थूलता का [illegible] बोधक होता है। 'अहमज्ञः'

माया और अविद्या में भेदाभेद का विचार

इसमें विचार का कारण यह होता है कि कहीं प्रपञ्च को मायामय, कहीं अविद्यामय बताया गया है, इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं। परन्तु, शुक्ति में रजत का जो भान है, वह अविद्या का ही परिणाम है, माया का नहीं। यह भी वेदान्तों में वर्णित है। इसलिए, यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न। पञ्चदशी में माया को शुद्धसत्त्वप्रधान और अविद्या को मलिनसत्त्वप्रधान बताया गया है और जीव-ईश्वर में भेद भी माया और अविद्या के उपाधि-भेद से ही बताया गया है। अर्थात्, मायोपाधि से युक्त चेतन को ईश्वर और अविद्योपाधि से युक्त चेतन को जीव कहा गया है। यथा—

'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा।'

भाव यह है कि सत्त्व की विशुद्धि-अविशुद्धि होने के कारण ही माया और अविद्या ये दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ कहे गये हैं। माया में प्रतिबिम्बित चेतन माया को अपने वश में करके ईश्वर कहा जाता है और अविद्या के वश में होकर वह जीव कहा जाता है और अविद्या के वैचित्र्य से वह अनेक प्रकार का होता है। इससे माया से भिन्न अविद्या है, यह सिद्ध होता है। और भी, अनेक स्थलों में इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं—

'स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती कर्तुरिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता अविद्या।'

अर्थात्, अपने आश्रय को भ्रान्त नहीं करती हुई कर्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है और इसके विपरीत अविद्या। शुक्ति में प्रतीयमान जो रजत है, उसका उपादान कारण अविद्या ही है; क्योंकि अविद्या का आश्रय जो द्रष्टा है, उसको भ्रान्त बना देती है और उसकी इच्छा का अनुसरण भी नहीं करती; क्योंकि उसकी इच्छा नहीं रहने पर भी उसका परिणाम होता ही रहता है। इन लक्षणों से भी माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है; परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रतिबन्धक होना और विपर्यय, अर्थात् विपरीत ज्ञान का अवभासक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से रहते हैं, इसलिए माया और अविद्या परमार्थ में एक ही तत्त्व हैं। एक बात और है कि 'आश्रय-मव्यामोहयन्ती' इस लक्षण से जो अविद्या से माया में भेद दिखाया गया है, वहाँ यह विकल्प होता है कि आश्रय पद से किसका ग्रहण है—द्रष्टा का अथवा कर्ता का? तात्पर्य यह है कि माया के परिणामीभूत पदार्थों को जो देखता है, वह मायाश्रय है अथवा माया का जो उत्पादनकर्त्ता है, वह मायाश्रय है। आद्य पक्ष, अर्थात् द्रष्टा, तो कह नहीं सकते; क्योंकि मंत्र या औषधि आदि से जो माया देखता है, वहाँ उसका देखनेवाला जो जन-समुदाय है, वह भ्रान्त हो जाता है और द्रष्टा को ही माया का आश्रय मानता है, किन्तु लक्षण में माया को आश्रय को अभ्रान्त करनेवाली बताया गया है।

यह विरुद्ध हो जाता है। द्वितीय पक्ष, अर्थात् माया के कर्त्ता को यदि मायाश्रय मानें, तो भी युक्त नहीं होता; क्योंकि भगवान् विष्णु की आश्रिता जो माया है, उससे स्वयं विष्णु को रामावतार में भ्रम हुआ है, जो लक्षण से विरुद्ध होता है। इसलिए, दोनों को एक ही मानना युक्त है। अतएव, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्वेताश्वतर-श्रुति में भी सम्यग् ज्ञान से निवृत्त होनेवाली अविद्या का ही माया शब्द से व्यवहार किया गया है। और भी—

'तरत्यविद्यां वितथां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥'

इस स्मृति में अविद्या और माया का एकत्वेन व्यवहार स्पष्ट किया गया है और भाष्य में भी अविद्या माया, अविद्यात्मिका मायाशक्ति इत्यादि व्यवहार स्पष्ट ही है। इसलिए, माया और अविद्या में अभेद ही सिद्ध होता है।

लोक में और कहीं-कहीं वेदान्त-ग्रन्थों में भी जो भेद का वर्णन और व्यवहार मिलता है, वह केवल औपाधिक ही। किसी-किसी ग्रन्थ में तो आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य से अविद्या और माया में भेद का व्यवहार किया गया है, परन्तु वह भी औपाधिक ही है। यथा—

'माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छा वशवर्त्तिवा।
अविद्याच्छादयत्तत्वं स्वातन्त्र्यानुविधायिका॥'

तात्पर्य यह है कि अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है। एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। जैसे, शुक्ति में रजत-प्रतिभास-स्थल में आवरण-शक्ति से शुक्ति का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है, और विक्षेप-शक्ति से असत् रजत का भी भान होने लगता है। इसी प्रकार, अनादि अज्ञान की जो आवरण-शक्ति है, उससे ब्रह्म का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है और विशेष शक्ति से असत्-रूप में भी जगत् भासित होता है। यहाँ आवरण-शक्ति के प्राधान्य में अविद्या और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य में माया शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह सब व्यवहार उपाधि के द्वारा ही होता है, इसलिए वह औपाधिक ही है।

श्लोक का भाव यह हुआ कि विक्षेप-शक्ति विशिष्ट परमात्मा की इच्छा के वशवर्त्ती जो अज्ञान है, वह माया शब्द से व्यवहृत होता है और आवरणशक्तिविशिष्ट एवं स्वतन्त्र जो अज्ञान है, उसका अविद्या शब्द से व्यवहार किया जाता है। इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि केवल अवस्था और उपाधि के भेद होने से ही माया और अविद्या में भेद भासित होता है। वस्तुतः, कोई भेद नहीं है। इससे माया और अविद्या एक ही वस्तु है, यह सिद्ध हो जाता है।

अविद्या में प्रमाण

अब यह प्रश्न होता है कि अविद्या के होने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि 'अहमज्ञः मामन्यञ्च न जानामि', अर्थात् मैं अज्ञ हूँ, अपने को और दूसरे को भी नहीं जानता हूँ। इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव जो प्राणियों को होता है,

माया और अविद्या में भेदाभेद का विचार

इसमें विचार का कारण यह होता है कि कहीं प्रपञ्च को मायामय, कहीं अविद्यामय बताया गया है, इससे यह प्रतीत होता है कि दोनों एक ही पदार्थ हैं। परन्तु, शुक्ति में रजत का जो भान है, वह अविद्या का ही परिणाम है, माया का नहीं। यह भी वेदान्तों में वर्णित है। इसलिए, यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न। पञ्चदशी में माया को शुद्धसत्त्वप्रधान और अविद्या को मलिनसत्त्वप्रधान बताया गया है और जीव-ईश्वर में भेद भी माया और अविद्या के उपाधि-भेद से ही बताया गया है। अर्थात्, मायोपाधि से युक्त चेतन को ईश्वर और अविद्योपाधि से युक्त चेतन को जीव कहा गया है। यथा—

> 'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च तेमते।
> मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥
> अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा।'

भाव यह है कि सत्त्व की विशुद्धि-अविशुद्धि होने के कारण ही माया और अविद्या ये दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ कहे गये हैं। माया में प्रतिबिम्बित चेतन माया को अपने वश में करके ईश्वर कहा जाता है और अविद्या के वश में होकर वह जीव कहा जाता है और अविद्या के वैचित्र्य से वह अनेक प्रकार का होता है। इससे माया से भिन्न अविद्या है, यह सिद्ध होता है। और भी, अनेक स्थलों में इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं—

> 'स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती कर्त्तुरिच्छामनुसरन्ती माया तद्विपरीता अविद्या।'

अर्थात्, अपने आश्रय को भ्रान्त नहीं करती हुई कर्त्ता की इच्छा का अनुसरण करनेवाली माया है और इसके विपरीत अविद्या। शुक्ति में प्रतीयमान जो रजत है, उसका उपादान कारण अविद्या ही है; क्योंकि अविद्या का आश्रय जो द्रव्य है, उसको भ्रान्त बना देती है और उसकी इच्छा का अनुसरण भी नहीं करती; क्योंकि उसकी इच्छा नहीं रहने पर भी उसका परिणाम होता ही रहता है। इन लक्षणों से भी माया और अविद्या में भेद प्रतीत होता है; परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि अनिर्वचनीय होना, तत्त्व-प्रतीति का प्रतिबन्धक होना और विपर्यय, अर्थात् विपरीत ज्ञान का अवभासक होना—ये तीनों लक्षण माया और अविद्या में समान रूप से रहते हैं, इसलिए माया और अविद्या परमार्थ में एक ही तत्त्व हैं। एक बात और है कि 'आश्रय-मव्यामोहयन्ती' इस लक्षण से जो अविद्या से माया में भेद दिखाया गया है, वहाँ यह विकल्प होता है कि आश्रय पद से किसका ग्रहण है—द्रष्टा का अथवा कर्त्ता का? तात्पर्य यह है कि माया के परिणामीभूत पदार्थों को जो देखता है, वह मायाश्रय है अथवा माया का जो उत्पादनकर्त्ता है, वह मायाश्रय है। आद्य पक्ष, अर्थात् द्रष्टा, तो कह नहीं सकते; क्योंकि मंत्र या औषधि आदि से जो माया देखता है, वहाँ उसका देखनेवाला जो जन-समुदाय है, वह भ्रान्त हो जाता है और द्रष्टा को ही माया का आश्रय मानता है, किन्तु लक्षण में माया को आश्रय को अभ्रान्त करनेवाली बताया गया है।

यह विरुद्ध हो जाता है। द्वितीय पक्ष, अर्थात् माया के कर्त्ता को यदि मायाश्रय मानें, तो भी युक्त नहीं होता; क्योंकि भगवान् विष्णु की आश्रिता जो माया है, उससे स्वयं विष्णु को रामावतार में भ्रम हुआ है, जो लक्षण से विरुद्ध होता है। इसलिए, दोनों को एक ही मानना युक्त है। अतएव, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्वेताश्वतर-श्रुति में भी सम्यग् ज्ञान से निवृत्त होनेवाली अविद्या का ही माया शब्द से व्यवहार किया गया है। और भी—

'तरत्यविद्यां वितथां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥'

इस स्मृति में अविद्या और माया का एकत्वेन व्यवहार स्पष्ट किया गया है और भाष्य में भी अविद्या माया, अविद्यात्मिका मायाशक्ति इत्यादि व्यवहार स्पष्ट ही है। इसलिए, माया और अविद्या में अभेद ही सिद्ध होता है।

लोक में और कहीं-कहीं वेदान्त-ग्रन्थों में भी जो भेद का वर्णन और व्यवहार मिलता है, वह केवल औपाधिक ही। किसी-किसी ग्रन्थ में तो आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य से अविद्या और माया में भेद का व्यवहार किया गया है, परन्तु यह भी औपाधिक ही है। यथा—

'माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छा वशवर्तिता।
अविद्याच्छादयत्तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायिका॥'

तात्पर्य यह है कि अज्ञान की शक्ति दो प्रकार की है। एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। जैसे, शुक्ति में रजत-प्रतिभास-स्थल में आवरण-शक्ति से शुक्ति का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है, और विक्षेप-शक्ति से असत् रजत का भी भान होने लगता है। इसी प्रकार, अनादि अज्ञान की जो आवरण-शक्ति है, उससे ब्रह्म का सत्-स्वरूप भी आवृत हो जाता है और विक्षेप शक्ति से असत्-रूप में भी जगत् भासित होता है। यहाँ आवरण-शक्ति के प्राधान्य में अविद्या और विक्षेप-शक्ति के प्राधान्य में माया शब्द का व्यवहार किया जाता है। यह सब व्यवहार उपाधि के द्वारा ही होता है, इसलिए वह औपाधिक ही है।

श्लोक का भाव यह हुआ कि विक्षेप-शक्ति विशिष्ट परमात्मा की इच्छा के वशवर्ती जो अज्ञान है, वह माया शब्द से व्यवहृत होता है और आवरणशक्तिविशिष्ट एवं स्वतन्त्र जो अज्ञान है, उसका अविद्या शब्द से व्यवहार किया जाता है। इससे भी निष्कर्ष यही निकलता है कि केवल अवस्था और उपाधि के भेद होने से ही माया और अविद्या में भेद भासित होता है। वस्तुतः, कोई भेद नहीं है। इससे माया और अविद्या एक ही वस्तु है, यह सिद्ध हो जाता है।

अविद्या में प्रमाण

अब यह प्रश्न होता है कि अविद्या के होने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह है कि 'अहमज्ञः मामन्यञ्च न जानामि', अर्थात् मैं अज्ञ हूँ, अपने को और दूसरे को भी नहीं जानता हूँ। इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव जो प्राणियों को होता है,

वही अविद्या में प्रमाण है। इस अनुभव में आत्मा के आश्रित और बाह्याध्यात्म में व्याप्त एक जडात्मिका अविद्या-शक्ति अनुभूत होती है और यह अनुभूयमान अज्ञान ज्ञान का अभावस्वरूप नहीं है। किन्तु, ज्ञान से भिन्न भावस्वरूप एक अतिरिक्त पदार्थ है; क्योंकि यह भावस्वरूप दृश्यमान जगत् का उपादान होता है। यदि ज्ञानाभावस्वरूप इसको मानें, तो दृश्यमान भावरूप जगत् का उपादान नहीं हो सकता; क्योंकि अभाव किसीका उपादान नहीं होता है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध है। यहाँ नैयायिकों और सांख्यों का कहना है कि 'अहमज्ञः' इस अनुभव का विषय ज्ञानाभाव ही है। अज्ञान-भावरूप कोई पदार्थ नहीं है। और, दृश्यमान जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति अथवा परमाणु ही है, अज्ञान नहीं। इसलिए, उक्त अनुभव से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। वेदान्तियों का कहना है कि यह युक्त नहीं है; क्योंकि अभाव को ग्रहण करनेवाला एक अनुपलब्धि नाम का अतिरिक्त ही प्रमाण है। भूतल में घट नहीं है, इस प्रकार का जायमान जो घटाभाव का ज्ञान है, वह अनुपलब्धि-प्रमाण का ही जन्य है और अनुपलब्धि-प्रमाण से जन्य जो अभाव का ज्ञान है, वह परोक्ष ही रहता है। 'भूतले घटो नास्ति', यह ज्ञान परोक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं और 'अहमज्ञः', इस प्रकार का जो अनुभव है, वह प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। इसलिए, इसको अभावस्वरूप नहीं मान सकते। एक बात और है कि अनुमान आदि प्रमाणों से भी अभाव का ज्ञान माना गया है, परन्तु उनके मत में भी अभाव का प्रत्यक्ष कभी नहीं माना जाता। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ज्ञानाभाव कभी नहीं हो सकता।

यदि यह कहें कि 'अहमज्ञः' यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है, तो यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि यदि परोक्ष मानेंगे, तो अनुमान आदि किसी प्रमाण से ही उसका ग्रहण मानना होगा। और, अनुमान, शब्द, अर्थापत्ति इन तीनों में किसीसे भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण यह है कि प्रत्यक्षेतर जितने प्रमाण माने गये हैं, उनके कारण का ज्ञान होने पर ही ये सब ज्ञान के कारण होते हैं। जैसे, अनुमान-प्रमाण का हेतु है लिङ्ग का ज्ञान, अर्थात् जो ज्ञात लिङ्ग है, वही अनुमिति का जनक होता है। अग्नि के ज्ञान में धूम जो लिङ्ग है, वह तभी कारण होता है, जब धूम का ज्ञान हो। अज्ञात धूम स्वरूपतः रहने पर भी अग्नि का अनुमापक नहीं होता। इसी प्रकार, शब्दजन्य बोध में भी शब्द का ज्ञान और अर्थापत्ति-स्थल में अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान कारण होता है। अज्ञात शब्द भी शाब्दबोध का कारण नहीं होता। इसलिए बधिर को शाब्दबोध नहीं होता। अर्थापत्ति-स्थल में भी दिन में नहीं खाने पर भी देवदत्त की स्थूलता का ज्ञान ही रात्रि भोजनरूप अर्थ का बोधक होता है। 'अहमज्ञः' इस प्रकृत स्थल में लिङ्ग आदि का ज्ञान असम्भव ही है। इसलिए, किसी प्रकार भी इसको परोक्ष प्रतिभास नहीं कह सकते।

यदि यह कहें कि 'अहमज्ञः' इस स्थल में लिङ्ग आदि के ज्ञान न होने पर भी अनुपलब्धि-प्रमाण से उसका ज्ञान उत्पन्न हो जायगा। जैसे, भूतल में घट की अनुपलब्धि से घटाभाव का ज्ञान होता है, वैसे ही ज्ञानाभाव की अनुपलब्धि से

ज्ञानाभाव का भी ज्ञान हो जायगा। परन्तु, यह भी युक्त नहीं होता, कारण यह है कि जिस अनुपलब्धि से ज्ञानाभाव का ज्ञान करते हैं, वह यदि अज्ञात है, तब तो उससे ज्ञानाभाव का ग्रहण हो नहीं सकता। क्योंकि, प्रत्यक्ष से इतर प्रमाण ज्ञात होने पर ही बोध का जनक होता है। यदि उसको भी ज्ञात मानें, तो यह प्रश्न उठता है कि उस अनुपलब्धि का ज्ञान किससे हुआ? यदि उसके ज्ञान के लिए अन्य अनुपलब्धि को कारण मानें, तो उसको भी ज्ञात होना चाहिए। इस प्रकार का अनवस्था-दोष हो जाता है। जैसे, घट की अनुपलब्धि का तात्पर्य यह है कि घट की उपलब्धि का अभाव। यदि अनुपलब्धि-प्रमाण से ही उसका ज्ञान मानें, तब तो उपलब्धि के अज्ञान से उपलब्धि के अभाव का ज्ञान होता है, यह मानना होगा। इस अवस्था में, उपलब्धि प्रमाण की अनुपलब्धि भी ज्ञान होने पर ही कारण होगा। इसलिए, पुनः उसमें अन्य अनुपलब्धि को कारण मानना होगा और उसके ज्ञान के लिए पुनः अन्य अनुपलब्धि की इस प्रकार की पुनः-पुनः जिज्ञासा होने से अनवस्था-दोष हो जाना स्वाभाविक है। एक शङ्का यहाँ और होती है कि नैयायिक आदि के मत में योग्यानुपलब्धि ज्ञात अथवा अज्ञात दोनों प्रकार से सहकारिणी होती है। इसी प्रकार, हमारे मत में भी ज्ञात अथवा अज्ञात दोनों प्रकार की अनुपलब्धियाँ कारण हो सकती हैं। तात्पर्य यह है कि नैयायिकों और वैशेषिकों के मत में अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं माना गया है और भूतल में घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही माना जाता है। योग्यानुपलब्धि केवल सहकारी-मात्र होती है। यदि यहाँ घट होता, तो अवश्य उपलब्ध होता, इस प्रकार जहाँ कहा जा सके, वही योग्यानुपलब्धि है। और, वह अनुपलब्धि ज्ञात हो अथवा अज्ञात, दोनों प्रकार से सहकारिणी हैं, इसलिए अनवस्था नहीं होती। इसी प्रकार, हमारे मत में अनुपलब्धि को प्रमाण मानने पर भी वह ज्ञात-अज्ञात दोनों ही प्रकार से कारण हो सकती है। इसलिए, अज्ञात अनुपलब्धि का कारण मान लेने पर दूसरी अनुपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती, अतः अन्योन्याश्रय होने की सम्भावना ही नहीं होती।

इसका उत्तर यह होता है कि यद्यपि सहकारी ज्ञात होने पर ही बोधक होता है, यह नियम नित्य नहीं है, तथापि जिसको कारण मानते हैं, उसका तो ज्ञात होना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा घटाश्रय भूतल में भी अज्ञात घटानुपलब्धि के रहने से घटाभाव का ज्ञान हो जाना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि सहकारी का ज्ञात होना नियम नहीं है, तथापि कारण को तो ज्ञात होकर ही बोध का जनक मानना परमावश्यक है। एक बात और भी है कि अनुपलब्धि को षष्ठ प्रमाण माननेवालों के मत में अज्ञात अनुपलब्धि को कारण मानने पर भी कोई दोष नहीं होता। कारण यह है कि उस अनुपलब्धि से ज्ञानातिरिक्त घटादि के अभाव का ही ज्ञान कर सकते हैं। ज्ञान के अभाव का ग्रहण उससे नहीं कर सकते। यह बात आगे स्पष्ट हो जायगी।

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध किया गया कि अनुपलब्धिप्रमाणवादी के मत में 'अहमज्ञः' इस प्रकार का जो ज्ञानाभाव का अनुभव होता है, वह परोक्ष नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष ही है। इसके बाद नैयायिकों के, जो अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते, और

भाव को प्रत्यक्ष ही मानते हैं और 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष अनुभव का विषय ज्ञानाभाव है, भावरूप अज्ञान नहीं, इस प्रकार मानते हैं, मत का विमर्श किया जाता है।

'अहमज्ञः' इस स्थल मे जो ज्ञानाभाव को प्रत्यक्ष का विषय नैयायिक आदि मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञान-सामान्य का अभाव है, अथवा ज्ञानविशेष का? ज्ञान-सामान्य का अभाव तो कह नहीं सकते; क्योंकि 'अहम्', इस प्रकार के ज्ञानाभाव के धर्मी-रूप से आत्मा का ज्ञान वर्त्तमान ही है। और, अभाव के प्रतियोगी रूप से ज्ञान का भी बोध है ही। इसलिए, ज्ञान-सामान्य के अवश्य विद्यमान रहने से ज्ञान-सामान्य का अभाव किसी प्रकार भी नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है, सो भी ठीक नहीं। कारण यह है कि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान और अधिकरण का ज्ञान कारण होता है, यह नियम सर्वसिद्धान्तसिद्ध है। भूतल में घट के अभाव का ज्ञान तभी हो सकता है, जब अधिकरण, अर्थात् भूतल और प्रतियोगी, अर्थात् घट का ज्ञान हो, अन्यथा नहीं। इस स्थिति में धर्मी और प्रतियोगी ज्ञान के बिना अभाव का ज्ञान नहीं होता, यह मान लेने पर 'अहमज्ञः' इस स्थल में ज्ञानाभाव ज्ञान सामान्याभाव का प्रत्यक्ष किसी प्रकार नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण के द्वारा ज्ञानसामान्याभाव का ग्रहण होना अशक्य ही है। अब द्वितीय पक्ष रहा ज्ञानविशेषाभाव, वह भी युक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि ज्ञानविशेष में दो प्रकार का ज्ञान है, एक स्मृति और दूसरा अनुभव। 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय स्मृति का अभाव तो कह नहीं सकते। क्योंकि, अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण कारण होता है। इसलिए, स्मरणाभाव के प्रत्यक्ष होने में अभाव का प्रतियोगी जो स्मरण है, उसका ज्ञान रहना अत्यावश्यक हो जाता है। स्मरण के रहने पर स्मरण का अभाव हो नहीं सकता। अतः, स्मरणाभाव 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, यह सिद्ध हो जाता है। यदि कहें कि अनुभव का अभाव उक्त प्रत्यक्ष का विषय है, वह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि किसी रूप में अनुभव तो वहाँ अवश्य ही रहेगा।

तात्पर्य यह है कि 'अहमज्ञः' इस प्रकार का ज्ञानाभावविषयक जो ज्ञान होता है, वह अनुभवस्वरूप ही है। इसलिए, अनुभव का वहाँ होना अनिवार्य है। और अनुभव के रहते अनुभव का अभाव रह नहीं सकता। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय अनुभव का अभावरूप ज्ञानविशेष का अभाव है, यह भी नहीं कह सकते। एक बात और है कि आत्मा में घट के अनुभव का अभाव ही प्रत्यक्ष का विषय होता है। तब तो 'अहमज्ञः' इस स्थल मे ज्ञानसामान्यवाची जो ज्ञा धातु है, उसका आत्मस्वरूपविशेषविषयक अनुभव अर्थ में प्रयोग तो लक्षणा ही से हो सकता है, अभिधावृत्ति से तो ज्ञानसामान्य ही उसका अर्थ है। आत्मस्वरूपविशेष-विषयक अनुभव में लक्षणा से ही ज्ञा धातु का प्रयोग करना होगा। परन्तु लक्षणा तभी की जाती है, जब सम्बन्ध और अनुपपत्ति का ज्ञान रहे। जैसे, 'गङ्गा में घोष है', इस वाक्यार्थ में 'गङ्गा' पद से गङ्गा-तीर में लक्षणा की जाती है। यहाँ गङ्गा शब्द से

प्रवाह और तीर के साथ गङ्गा का सम्बन्ध, ऐसा ज्ञान होता ही है और शब्दार्थतः प्रवाह में घोष का रहना असम्भव है, इस अनुपपत्ति से प्रवाह के सम्बन्ध से तीर का बोध किया जाता है। इसी प्रकार, 'अहमज्ञः' इस प्रकृत स्थल में ज्ञा धातु का शक्य अर्थ जो ज्ञानसामान्य है, और लक्ष्य अर्थ जो आत्मस्वरूपविशेषविषयक अनुभव है, इन दोनों में समानाधिकरण्य-सम्बन्ध है; क्योंकि घट का प्रत्यक्ष रूप जो एक व्यक्ति है, उसमें शक्यार्थ ज्ञानत्व और लक्ष्यार्थ विशेषानुभवत्व दोनों वर्त्तमान हैं। इसी प्रकार, ज्ञानसामान्य और ज्ञानविशेष में व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध भी है। यहाँ ज्ञानत्व व्यापक और ज्ञानविशेष अनुभवत्व व्याप्य धर्म है। इस प्रकार, सम्बन्ध का ज्ञान तो है, परन्तु जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः', इस स्थल में गङ्गा के शक्यार्थ प्रवाह में घोष का होना असम्भव-रूप जो अनुपपत्ति है, वह 'अहमज्ञः' इस स्थल में नहीं देखी जाती। इसलिए, अनुपपत्ति के अभाव में लक्षणा नहीं हो सकती, और लक्षणा के बिना आत्मस्वरूप-विशेषविषयक अनुभवरूप विशेष ज्ञान, ज्ञा धातु का, हो नहीं सकता। अतः, लक्षणा का आश्रयण किसी प्रकार करना ही होगा और लक्षणा तबतक नहीं हो सकती, जबतक लक्षणा की बीजभूत अनुपपत्ति न हो।

यहाँ लक्षणा के लिए अनुपपत्ति इस प्रकार दिखाई जाती है, जैसे 'अहमज्ञः' यहाँ नञ् जो अव्यय है, इसका अर्थ अभाव है। इस नञर्थ अभाव से ज्ञान के सामान्याभाव, अर्थात् ज्ञानमात्र का अभाव तो कह नहीं सकते; क्योंकि 'मैं अज्ञ हूँ', इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को हो रहा है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान आत्मा का धर्म है, अतः ज्ञानमात्र का अभाव हो नहीं सकता और ज्ञानविशेषरूप जो विशेष अनुभव है, उसको भी वैसा नहीं कह सकते। कारण यह है कि ज्ञानसामान्यार्थक ज्ञा धातु का ज्ञानविशेष अनुभवरूप अर्थ हो नहीं सकता, और ज्ञानमात्र का अभाव है नहीं। 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान उसको है ही, और 'अहमज्ञः' इस वाक्य को निरर्थक भी नहीं कह सकते; क्योंकि किसी उन्मत्त का यह प्रलाप नहीं है। किन्तु, ज्ञानसम्पन्न विद्वान् भी अपने अज्ञान का अनुभव करते रहते हैं। इस स्थिति में, 'अहमज्ञः' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान का विषय क्या है? इसका निर्वचन नहीं कर सकते। इसी अनुपपत्ति से लक्षणा मानकर ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान-विशेष, अर्थात् अनुभव, किया जाय, तो युक्त होता है, परन्तु इस प्रकार की अनुपपत्ति मानकर लक्षणा स्वीकार करने से तो वेदान्तियों का अभिमत भावरूप अनिर्वचनीय अज्ञान की ही सिद्धि हो जाती है। तात्पर्य यह है कि लक्षणा की बीजभूत अनुपपत्ति दिखाने में जो यह कहा गया कि 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष का विषय इस प्रकार का ज्ञान है, ऐसा निर्वचन नहीं हो सकता, ऐसा कहकर जो अनिर्वचनीयत्व दिखाया गया, यही अनुपपत्ति अविद्या है और यही नञ् का अर्थ है। अभावरूप अर्थ नञ् का नहीं है; क्योंकि अभाव रूप अर्थ स्वीकार करने में पूर्वोक्त रीति से अनुपपत्ति के अनुसन्धानपूर्वक लक्षणा स्वीकार करने में अति-गौरव हो जाता है।

एक बात और है कि 'अहमज्ञः' इस प्रकार के अनुभव-काल में अविद्यमान जो

ज्ञानविशेषरूप अनुभव है, उसका स्मरणपूर्वक ही ज्ञाता का अनुभव होता है और ज्ञाता वही है, जो विषय के आकार में परिणत होता है, अर्थात् विषयाकार परिणाम का जो आश्रय है, वही ज्ञाता है और केवल अन्तःकरण का परिणाम होता नहीं। क्योंकि, अन्तःकरण जड़ है, उसका इस प्रकार का परिणाम नहीं हो सकता और केवल आत्मा का भी परिणाम नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपरिणामी है। एक बात और है कि धर्मान्तर से आविर्भाव का नाम परिणाम है और आत्मा निर्धर्मक है। इसीलिए, उसका धर्मान्तर से आविर्भावरूप परिणाम नहीं हो सकता। किन्तु, जब अन्तःकरण में आत्मा के अभेद का भ्रम हो जाता है, उस समय आत्मा और अन्तःकरण में भेद की प्रतीति नहीं होती। जिस अन्तःकरण में आत्मा का अध्यास है, उसी अन्तःकरण का विषयाकार में परिणाम होता है और उस परिणाम का जो आश्रय है, उसीको ज्ञाता कहा जाता है। अध्यास का ही नाम अविद्या है। इसलिए, 'अहमज्ञः' इस प्रत्यक्ष अनुभव से अविद्या की सिद्धि हो जाती है। इससे अविद्या में प्रत्यक्ष-प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाता है। अविद्या में अनुमान-प्रमाण भी दिया जाता है, जिसका निर्देश आगे द्रष्टव्य है।

अविद्या में अनुमान-प्रमाण

विवादास्पद प्रमाण (पक्ष), स्वप्रागभाव से भिन्न स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य और स्वदेश में रहनेवाला जो प्रमाण-ज्ञान से भिन्न वस्तु है, तत्पूर्वक होता है (साध्य), अप्रकाशित अर्थ के प्रकाशक होने के कारण (हेतु), अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप की प्रभा के सदृश (दृष्टान्त)। यहाँ इस अनुमान से प्रमाण-ज्ञान को वस्त्वन्तरपूर्वक साधन करना है। अर्थात्, प्रमाण-ज्ञान के पहले प्रमाण-ज्ञान से भिन्न एक कोई वस्तु अवश्य है, यह दिखाना है और वह वस्तु प्रमाण-ज्ञान के ही देश में रहनेवाला हो और स्वनिवर्त्य, अर्थात् प्रमाण-ज्ञान से जिसकी निवृत्ति होती हो और स्वविषयावरण और अपने प्रागभाव से भिन्न हो, इन चार विशेषणों से युक्त वस्त्वन्तर अविद्या के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। इस अनुमान से अविद्या की सिद्धि होती है। जैसे, यह घट है, इस प्रमाण-ज्ञान-काल में प्रमाण-ज्ञान से पहले अविद्या है। वह अविद्या प्रमाण-ज्ञान की अपेक्षा भिन्न है और प्रमाण-ज्ञान का आश्रय जो आत्मरूप देश है, उसमें वर्त्तमान होने से स्वदेशगत भी है और प्रमाण-ज्ञान से उसका नाश होने से स्वनिवर्त्य भी है और प्रमाण-ज्ञान का विषय जो घट है, उसका आवरण होने से स्वविषयावरण भी है और वह अपने प्रागभाव से भिन्न भी; क्योंकि प्रमाण-ज्ञान का जो प्रागभाव है, उससे अविद्या को भिन्न माना गया है।

यदि इन विशेषणों से युक्त अविद्या से भिन्न कोई भी वस्तु होती, तो उसीमें अनुमान चरितार्थ हो जाता, और अविद्या की सिद्धि नहीं होती। परन्तु, ऐसी कोई भी वस्तु अविद्या से भिन्न नहीं है, जिससे पूर्वोक्त सब विशेषण सार्थक हों। इसलिए, अविद्या की सिद्धि हो जाती है। साध्य अंश में जो अनेक विशेषण दिये गये हैं, उनमें एक विशेषण भी यदि कम कर दें, तो अविद्या से भिन्न वस्तु की सिद्धि हो जाती है।

इसलिए, गुरुभूत साध्य का निर्देश किया गया। विस्तार के भय से पदकृत्य नहीं दिखाया गया। यहाँ तक अविद्या में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाण दिखाये गये हैं।

अविद्या में शब्द-प्रमाण

'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में विश्वमाया शब्द से अविद्या का ही निर्देश किया गया है। इसका भाव है कि परमात्मा के ध्यान आदि साधनों से मोक्षकाल में विश्वमाया, अर्थात् अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

'तरत्यविद्यां वितर्तां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥'

अर्थात्, योगी ध्यान के द्वारा हृदय में जिस परमात्मा के निवेश कर लेने पर विद्या से विरुद्ध विस्तृत इस माया को तर जाता है, उस अमेय ज्ञानस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।

इस श्रुति से विद्या से विरुद्ध भावरूप अविद्या की सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्रुतियाँ हैं, जिससे उक्त अविद्या की सिद्धि हो जाती है। विस्तार-भय से सबका निर्देश नहीं किया जाता। यहाँ तक प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीनों प्रमाणों से अविद्या की सिद्धि होती है, यह दिखाया गया है।

इसके बाद अविद्या, माया, प्रकृति इनमें भेद है अथवा अभेद? अविद्या का आश्रय कौन है, इसका भी विचार किया जाता है।

वेदान्त-शास्त्रों के अनुसार प्रकृति, अज्ञान, अविद्या, माया ये सब एक ही पदार्थ हैं। इनमें वास्तविक भेद नहीं है। कार्य के वश से भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है, जैसे प्रपञ्च के उपादान होने से प्रकृति कही जाती है। विद्या के विरोधी होने से अविद्या या अज्ञान कहा जाता है और अघटन-घटना मे पटीयसी होने से माया कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जो बात घटने लायक नहीं है, अर्थात् असम्भव है, उसका भी सम्पादन कर देने में जो समर्थ है, वही माया है। एक ही वस्तु का विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है। एक ही त्रिगुणात्मक ब्रह्मशक्ति, जो सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है, का प्रकृति शब्द से व्यवहार वेदान्त-शास्त्रों में किया गया है।

जब उसमें रजोगुण और तमोगुण तिरोहित रहता है और सत्त्वगुण प्रधान होता है, तब शुद्धसत्त्वप्रधान होने से उसे माया कहते हैं और जब सत्त्वगुण तिरोहित रहता है और रजोगुण एवं तमोगुण का आधिक्य होता है, तब मलिनसत्त्वप्रधान होने से उसका अविद्या शब्द से व्यवहार किया जाता है। विद्यारण्यमुनि ने कहा है—

'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।'

अर्थात्, सत्त्वगुण की शुद्धि रहने पर माया और सत्त्वगुण की अविशुद्धि रहने पर, अर्थात् मलिनसत्त्व रहने पर अविद्या कही जाती है। किसीका मत है कि आवरण-शक्ति की प्रधानता होने पर अविद्या और विक्षेप-शक्ति की प्रधानता में माया शब्द का

व्यवहार किया जाता है। वस्तु के स्वरूप को छिपा देना, अर्थात् आवृत कर देना आवरण-शक्ति का काम है और वस्तु के स्वरूप को अन्यरूप से दिखाना विक्षेप-शक्ति का काम है। जैसे, शुक्ति में आवरण-शक्ति से शुक्ति का ज्ञान नहीं होता और विक्षेप-शक्ति से रजत के रूप से उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार, अवस्था-भेद से औपाधिक भेद होने पर भी वस्तुतः माया और अविद्या एक ही पदार्थ है, यह सिद्ध होता है।

अविद्या का आश्रय

वाचस्पतिमिश्र के मतानुसार अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म होता है। अर्थात्, ब्रह्मविषयक अविद्या जीव के आश्रित है, यह सिद्ध होता है। इनका कहना यह है कि ब्रह्म को यदि अविद्या का आश्रय मानते हैं, तब तो ब्रह्म भी अज्ञ होने लगेगा। इसलिए, जीव को ही अविद्या का आश्रय मानना युक्त होता है। परन्तु, संक्षेपशारीरक और विवरणकार आदि के मत से अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन को ही माना गया है। उनका कहना है कि जीव तो औपाधिक है। अविद्या उपाधि लगने के बाद ही जीव संज्ञा होती है। उसके पहले उसका आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है। इसलिए, संक्षेपशारीरक में लिखा है—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

भाव यह है कि केवल निर्विशेष ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों हैं; *क्योंकि पूर्वसिद्ध जो अविद्या है, उससे पश्चिम, अर्थात् बाद में उसीकी उपाधि से होनेवाला* जीव न अविद्या का आश्रय होता है और न विषय ही होता है। इसलिए, इनके मत में अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही होता है, यह सिद्ध होता है।

इसका विशेष विवेचन न्यायमकरन्द में किया गया है। विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं दिया गया। इसी माया का परिणामभूत भौतिक और अव्याकृत जगत् है।

अद्वैत मत में तत्त्व और सृष्टि-क्रम

अद्वैत वेदान्तियों के मत में परमार्थ में एक ही दृक्-रूप पदार्थ है। इसीको आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। द्वैत तो अविद्या से कल्पित है। इसके अनुसार आत्मा और दृश्य ये दो पदार्थ होते हैं। इनमें दृक् तीन प्रकार का होता है—जीव, ईश्वर और साक्षी। कारणीभूत माया-रूप उपाधि से विशिष्ट होने से ईश्वर कहा जाता है। अन्तःकरण और उसके संस्कार से युक्त अज्ञान उपाधि से विशिष्ट होने से जीव कहा जाता है। ईश्वर और जीव तत् उपाधि से युक्त है और केवल उसको साक्षी कहते हैं। प्रत्यक्ष को दृश्य पदार्थ कहते हैं।

दृश्य भी तीन प्रकार का होता है। अव्याकृत, मूर्त्त और अमूर्त्त। अव्याकृत भी चार प्रकार का होता है। (१) अविद्या, (२) अविद्या के साथ चित् का सम्बन्ध। (३) अविद्या में चित् का आभास और (४) जीवेश्वर-विभाग। इनको अव्याकृत कहते हैं।

अविद्या से उत्पन्न जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्चसूक्ष्ममहाभूत हैं, और अविद्या से उत्पन्न जो तम है, उनको अमूर्त्त कहते हैं। पञ्चीकरण के पहले पञ्चसूक्ष्म-महाभूतों की मूर्त्तावस्था नहीं होती। अन्धकार भी अमूर्त्त ही है। अमूर्त्त अवस्था में जो-जो शब्द आदि सूक्ष्मभूत हैं, उन प्रत्येक के सात्त्विक अंश से एक-एक ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं सूक्ष्मभूतों को पञ्चतन्मात्र भी कहते हैं। शब्दतन्मात्र से श्रोत्र-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। स्पर्शतन्मात्र से त्वक्-इन्द्रिय की और रूपतन्मात्र से चक्षु-इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। रसतन्मात्र से रसना-इन्द्रिय की और गन्धतन्मात्र से घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। समस्त पञ्चतन्मात्रों के सात्त्विक अंश से मन की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार, सूक्ष्मावस्था में वर्त्तमान जो शब्दादि पञ्चभूततन्मात्र हैं, उनके प्रत्येक राजस अंश से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि-क्रम का वर्णन विद्यारण्य मुनि ने 'पञ्चदशी' में इस प्रकार किया है—

'सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमादिन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे॥'

इसके बाद सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण होता है। परस्पर सम्मिश्रण का नाम पञ्चीकरण है। इसकी परिभाषा विद्यारण्य मुनि ने इस प्रकार की है—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥'

इसका भाव यह है कि प्रत्येक सूक्ष्मपञ्चभूत के दो-दो हिस्से कर दें। उनमें प्रत्येक के एक हिस्से को चार भागों में बाँट दें। उन चार भागों को अपने से भिन्न चार सूक्ष्मभूतों में मिला दें। इस प्रकार, प्रत्येक भूत में आधा अंश अपना रहता है और आधा अंश में चार का सम्मिश्रण। और इस प्रकार, पञ्चीकरण से मूर्त्तावस्था सम्पन्न होती है। *इस पञ्चीकरण से ही समस्त भूमण्डल आदि प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार,* अद्वैत वेदान्त के मत से तत्त्व और सृष्टि-क्रम का संक्षेप में वर्णन किया गया।

उपसंहार

इसके पूर्व भूत और भौतिक समस्त प्रपञ्च को मूर्त्त, अमूर्त्त और अव्याकृत तीन रूपों में जो विभक्त किया गया है, वे सब माया के ही परिणाम हैं। माया के साथ तथा माया के परिणाम के साथ चेतन का जो सम्बन्ध है, वही बन्ध कहलाता है। इसका अनुभव 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं देही हूँ', इस रूप में होता है। एतन्मूलक ही सुख दुःख का अनुभव होता है, अर्थात् देह में जबतक अहन्ता या ममता का ज्ञान रहता है, तभी तक सुख-दुःख का अनुभव होता है। श्रुति भी कहती है—'न ह वै शरीरस्य सतः प्रिया-प्रिययोरपहतिरस्ति', अर्थात् शरीर के साथ सम्बन्ध रहते प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता। प्रिय संसर्ग को ही सुख और अप्रिय संसर्ग को ही दुःख कहा जाता है। यही प्रियाप्रिय का संस्पर्श बन्ध कहा जाता है। इसीसे छुटकारा पाने का नाम

मोक्ष है। प्रिय और अप्रिय का असंस्पर्श, अर्थात् संस्पर्श न होना ही मोक्ष-शब्द का अर्थ है। इस मोक्ष में कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। किन्तु, अपने मूलरूप से अवस्थान का ही नाम मोक्ष है। यद्यपि बद्धावस्था में आत्मा का मूलस्वरूप से ही अवस्थान रहता है; क्योंकि निर्विकार आत्मा में कदापि किसी प्रकार विकार नहीं होता, तथापि बद्धावस्था में अनादि अविद्या के सम्बन्ध होने से उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, यह सिद्ध होता है। लिखा भी है—

'अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

अर्थात्, अविद्या का नाश होना ही मोक्ष है और अविद्या ही बन्ध कही जाती है। अविद्या का नाश-रूप मोक्ष केवल विद्या के ही द्वारा होता है। आत्मा के साक्षात्कार को ही अद्वैत वेदान्त के मत में विद्या कहा जाता है। आत्मा के साक्षात्कार हो जाने पर जीवित रहते हुए भी मुक्त ही है। इसीको जीवन्मुक्त कहा जाता है। इस अवस्था में द्वैत के भान होने पर भी कोई हानि नहीं होती। जैसे, नेत्र-दोष से दो चन्द्रमा का भान होने पर भी यह दूसरा चन्द्र कहाँ से आ गया, इस प्रकार की शङ्का ही नहीं होती; क्योंकि उसको वास्तविक ज्ञान है कि चन्द्रमा एक ही होता है। यह द्वित्व का भान दोष से है, अतएव मिथ्या है।

इसी प्रकार, जीवन्मुक्तावस्था में संसार का भान होने पर भी कोई हानि नहीं होती। क्योंकि, आत्मसाक्षात्कार होने से उसको वास्तविक ज्ञान हो गया है कि यह सकल द्वैत-प्रपञ्च मिथ्या है। यही आत्मसाक्षात्कार मोक्ष है। यही आनन्दमय है, इससे उत्तम कोई दूसरा आनन्द नहीं है। इसमें किसी प्रकार के दुःख का लेश भी नहीं है। इसमें किसी प्रकार के अन्यत्व का भान नहीं होता। अखण्ड एकरस आनन्दस्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। इसको पाकर कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती। 'यल्लब्ध्वा न परं किञ्चिल्लब्धव्यमवशिष्यते', 'तद्ब्रह्मास्त्यद्वयद्वन्द्वं मुक्तद्वन्द्वमुपास्महे', अर्थात् जिसको प्राप्त कर अन्य कोई भी वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं रह जाती, वही द्वैत से रहित ब्रह्मतत्त्व आनन्दमय है। ब्रह्मभाव ही मोक्ष है।

संसार में जितने वैषयिक सुख हैं, उनके प्राप्त हो जाने पर भी उससे अधिक सुख के लिए आकांक्षा बनी ही रहती है। इसलिए, वे सब वैषयिक सुख सातिशय कहे जाते हैं। केवल ब्रह्मानन्द का ही सुख नित्य और निरतिशय है। इसके प्राप्त हो जाने पर किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं होती। इस सुख के सामने सब सुख फीका लगने लगता है। इसीकी प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े महात्मा तपस्वी निरन्तर तपस्या करने में ही लगे रहते हैं।

आत्मसाक्षात्कार का विषय आत्मा ही होता है। यद्यपि मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों में इस ज्ञान का विषय अनेकार्थ भासित होता है, परन्तु उन सब श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य परमार्थ में एक ही होता है। जैसे, 'आत्मविद्' इत्यादि श्रुति-वाक्यों में ज्ञान का विषय आत्मा आत्म शब्द से ही निर्दिष्ट हुआ है। 'यस्मिन् सर्वाणि

भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' इत्यादि श्रुतियों में विज्ञान से आत्मस्वरूप की सम्पत्ति बताई गई है। यह श्रुति भी वेदन का विषय आत्मा को ही बताती है, बल्कि 'आत्मैवाभूद् विजानतः' यहाँ एक शब्द से आत्मा से इतर के ज्ञान का विषय होने का निषेध भी करती है। स्वरूप की सम्पत्ति, ज्ञान के अनुरूप ही होती है। इस श्रुति के अनुरोध से 'एकत्वमनुपश्यतः' में दर्शन का विषय जो एकत्व दिखाया गया है, उसे आत्मैकत्व ही समझना चाहिए। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में भी ब्रह्म शब्द से आत्मा का ही बोध होता है; क्योंकि आत्म शब्द और ब्रह्म शब्द दोनों पर्यायवाची ही वेदान्त में व्यवहृत होते हैं। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस मुण्डक-श्रुति में परावर शब्द से आत्मा का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार, प्रायः सब मोक्षप्रतिपादक श्रुतियों में वेदन का विषय आत्मा को ही बताया गया है। इसलिए, साक्षात्कार का विषय आत्मा ही सिद्ध होता है।

यहाँ तक जितना वर्णन किया गया है, सबका निष्कर्ष यही है कि शाङ्कर वेदान्त के अनुसार परमार्थ में एक ही ब्रह्मतत्त्व कूटस्थ नित्य पदार्थ है। इसके अतिरिक्त जो चराचरात्मक जगत् प्रतीयमान हो रहा है, वह माया का ही विलास है, अर्थात् अविद्या का ही परिणाम है। जैसे, शुक्ति रजत-रूप से भासित होती है और रज्जु सर्प-रूप से, वैसे ब्रह्म भी प्रपञ्च-रूप से भासित होता है, इसीको अध्यास अथवा विवर्त्त कहते हैं। जिस प्रकार, शुक्ति और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर रजत और सर्प का भान बिलकुल ही नहीं रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर प्रपञ्च का भान नहीं रहता। और, ब्रह्म ही आत्मा है। शाङ्कर मत में जीवात्मा और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं। इनमें भेद नहीं है। भेद की जो प्रतीति होती है, वह केवल उपाधिकृत है। और, व्यवहार में ही भेद की प्रतीति होने से व्यावहारिक ही भेद है। परमार्थ में दोनों एक ही हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि अनेक श्रुतियाँ हैं, जिनसे अद्वैतवाद का सिद्धान्त सिद्ध होता है। ये श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण-रूप से विद्यमान हैं।

आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है ? इसी शङ्का के समाधान के लिए वेदान्त-शास्त्र की रचना हुई है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से ही भ्रम की निवृत्ति होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। अविद्या के अतिरिक्त संसार भी कोई वस्तु नहीं है, इसलिए विद्या से अविद्या के नाश के द्वारा साक्षात्कार होना सिद्ध होता है। यही ब्रह्म-साक्षात्कार है। मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग आदि शब्दों से इसीका अभिधान किया जाता है। यही चरम लक्ष्य है। इस चरम लक्ष्य तक जिज्ञासुओं को पहुँचाने में यदि कोई शास्त्र सफल हुआ है, तो वह वेदान्त-शास्त्र ही है।

पारिभाषिकशब्द-विवरणिका

अकृताभ्यागम-दोष—नहीं किये हुए कर्मों का फल प्राप्त होना या फल भोगना।

अखण्डोपाधि—जहाँ जाति का बाध होता है, वहाँ सामान्य का भेद उपाधि माना जाता है; जिसका विभाग न हो, ऐसी नित्य उपाधि।

अख्याति
अख्यातिवाद } —(द्र० पृ० सं० ५६)

अचिद्वर्ग—चित्, अर्थात् आत्मा से भिन्न जगत् (जड-प्रपञ्च)।

अजपामन्त्र—ऐसा मन्त्र, जो बिना जपे स्वयं श्वास-प्रश्वास में सञ्चारित रहता है, जिसमें 'हंसः' या 'सोहं' की भावना की जाती है।

अतिदेश—सदृश वस्तु का बोध करानेवाला वाक्य अतिदेश-वाक्य है (द्र० पृ० सं० १२०)।

अतिव्याप्ति—अलक्ष्य (जिसका लक्षण न करते हों) में लक्षण का जाना।

अदृष्टवादी—जो भाग्य, ईश्वर आदि अदृष्ट पदार्थ को मानता हो।

अधिकरण—आश्रय, अधिष्ठान (विचारणीय वस्तु के भाव या अभाव का स्थल)।

अध्यास—वस्तु का अन्य रूप से भान होना, जैसे रस्सी का सर्प-रूप से भासित होना।

अध्यासवादी—अध्यास को माननेवाला।

अवभास—भान होना, अर्थात् किसी वस्तु का अन्य रूप से भासित होना।

अनवस्था-दोष—परस्पर आश्रित होने से एक के बिना दूसरे की कहीं निश्चित स्थिति न होना।

अनात्मप्रपञ्च—आत्मा से भिन्न जड-जगत्।

अनारम्भक संयोग—जिस संयोग के होने से किसी वस्तु का आरम्भ न हो (द्र० पृ० सं० १६२)।

अनाहार्यारोप—अधिष्ठान के ज्ञानाभाव में होनेवाला भ्रममूलक आरोप (द्र० पृ० सं० ३०)।

अनुगत समाधि—चित्त की संस्कारमात्रशेष अन्तिम अवस्था, जिसे सास्मित समाधि भी कहते हैं (द्र० पृ० सं० १६६)।

अनुग्राहक—किसी प्रमाण के स्वीकार करने में सहायता करनेवाला प्रमाणान्तर (द्र० पृ० सं० २३)।

अनुपलब्धि—जिससे अभाव का प्रत्यक्ष होता है, वह प्रमाण-विशेष (द्र० पृ० सं० २२)।

अनुपपत्ति—यह लक्षणा का बीज है। इसका शब्दार्थ 'युक्ति-विरुद्ध' होता है (द्र० पृ० सं० ३०८)।

अनुबन्ध—विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी, इन चारों की संज्ञा अनुबन्ध है, इसीके ज्ञान से ग्रन्थों के पढ़ने में प्रवृत्ति होती है (द्र० पृ० सं० १७६)।

अनुमानाभास—जिस अनुमान में असत् हेतु हो।

अनुमिति—परामर्श या अनुमान से उत्पन्न या सिद्ध होनेवाला ज्ञान।

अनुयोगी—जिसमें अभाव हो, या जिसमें सादृश्य हो।
अनुस्मृति—अनुभवजन्य संस्कार से होनेवाला स्मरण।
अनैकान्तिक—वह हेतु, जो व्यभिचरित होता है।
अन्यथाख्याति—किसी दोष से वस्तु का अन्य रूप में भासित होना (द्र० पृ० सं० ५८)।
अन्यथाभाव—दूसरे रूप में बदल जाना, जैसे—दूध से दही।
अन्यथासिद्ध—दोष आदि से भी उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (द्र० पृ० सं० २४)।
अन्योन्याध्यास-ग्रन्थि—अध्यस्त रजत आदि में शुक्ति आदि अधिष्ठानगत इदंत्व आदि का अध्यास (द्र० पृ० सं० ११०)।
अन्योन्याभाव—जो स्वरूपतः एक दूसरे से भिन्न होता है, जैसे—घट पट नहीं है।
अन्योन्याश्रय-दोष—परस्पर आश्रित रहनेवाला दोष।
अन्वय-व्यतिरेक—जो किसी वस्तु के होने पर हो, वह अन्वय है; और जो किसी वस्तु के न होने पर न हो, वह व्यतिरेक है।
अन्वयव्याप्ति—कारण के रहने पर ही कार्य का होना, अन्यथा नहीं, जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ आग है।
अपकरण—निराकरण करना, हटाना।
अपसिद्धान्त—सिद्धान्तविरुद्ध।
अपरिणामी—जिसका परिणाम न होता हो।
अपाकरण—निराकरण।
अपापश्लोक—पाप के निराकरण के लिए जो भगवत्स्तुति आदि के श्लोक पढ़े जाते हैं।
अपेक्षाबुद्धि—जिस बुद्धि से द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति होती है या अनेक में एकत्व-बुद्धि।
अभिनिवेश—मरण का भय। यह योगशास्त्र के क्लेश का एक अङ्ग है (द्र० पृ० सं० २००)।
अभ्युपगम—अपना सिद्धान्त न होने पर भी कुछ देर के लिए मान ली जानेवाली बात (द्र० पृ० सं० १२३)।
अयोगव्यवच्छेद—अयोग, अर्थात् सम्बन्ध के अभाव का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति), अर्थात् आवश्यक सम्बन्ध।
अर्थवाद—अत्यधिक प्रशंसा या निन्दापरक वेदवाक्य।
अर्थापत्ति—जिसके बिना जो न हो, उससे उसका आक्षेप करना (द्र० पृ० सं० २२)।
अवघात-नियम—यज्ञ में धान से चावल निकालने का नियम, यथा—मूसल के अवघात से ही चावल निकालना, नख आदि से नहीं।
अवयवसमवेतत्व—अवयव में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला धर्म आदि।
अवस्थापरिणाम—एक अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में परिणत होना (द्र० पृ० सं० १६२)।
अवान्तरमहत्त्व—जिसमें परम महत्त्व न रहे और जो महत्त्व का आश्रय हो (द्र० पृ० सं० १४१)।
अवान्तरापूर्व—अङ्ग-सहित यज्ञ के अनुष्ठान से एक परमापूर्व (अदृष्ट) उत्पन्न होता है, जो स्वर्ग का साक्षात् साधन है; परमापूर्व के उत्पन्न होने में अपूर्व सहायक।

अव्याकृताकाश—दिशा का ही नाम अव्याकृताकाश है, यह प्रलय में भी विकार-रहित रहता है और जो भूताकाश से भिन्न है।
अव्याप्यवृत्ति—लक्ष्य के एक देश में रहनेवाला गुण आदि।
असत्कारणवाद—मूल कारण को असत्-रूप मानने का सिद्धान्त।
असत्कार्यवाद—कार्यमात्र को असत् मानना।
असत्ख्यातिवाद—शून्यवादी माध्यमिक के मत में कार्य का कोई सत् रूप नहीं है, शून्य ही प्रतिक्षण कार्यरूप से भासित होता है, यही असत्ख्याति है (द्र० पृ० सं० ५६)।
असद्विज्ञानवादी—विज्ञान को सत् नहीं माननेवाला।
असमवायिकारण—जो कारण-कार्य में समवाय-सम्बन्ध से रहे और उसके नाश होने से ही कार्य का नाश हो, जैसे—पट में दो तन्तुओं का संयोग।
असमवायिकारणासमवेत—असमवायी कारण में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
असमवायिकारणभिन्नसमवेत—असमवायी कारण से भिन्न में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला।
असमवेत—समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
असम्प्रज्ञात समाधि - योग की अन्तिम समाधि, जिसमें ध्येय के अतिरिक्त ध्यान का भी भान नहीं होता।
अस्मिताबुद्धि—अहङ्कारयुक्त बुद्धि।
अष्टावधानी—जो आठ काम एक बार करता है।
आत्मयाथात्म्यानुभव—आत्मा का यथार्थ अनुभव।
आत्मैक्यविज्ञान—सब आत्माओं को एक समझना।
आध्यक्षिक—जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है।
आन्वीक्षिकी—न्याय-विद्या।
आमिक्षा—दुग्धनिर्मित यज्ञीय द्रव्यविशेष (छेना)।
आम्नाय—वेद; किसी भी सम्प्रदाय का मूल शास्त्र।
आयतन—रहने का स्थान (गृह आदि)।
आरम्भक अवयव—जिन अवयवों से कार्य का आरम्भ होता है।
आरम्भवाद—कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त।
आवाप—(द्र० पृ० सं० २४०)
आश्रयप्रतियोगी—जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी है और जिसका प्रतियोगी आश्रय हो, वह आश्रयप्रतियोगी है (द्र० पृ० सं० १७०)।
आहार्यारोप—भ्रममूलक न होने से हठात् किया जानेवाला आरोप (द्र० पृ० सं० ३०)।
इदन्ता—इदम् (यह), इस प्रकार का भान।
इदन्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इदम् अंश में रहनेवाला चैतन्य।
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष—इन्द्रियों और विषयों का सम्बन्ध।
इष्टसाधनता—इष्ट के साधन का भाव।

इष्टापत्ति—जो अपना अभिप्रेत है, वही होना।
ईश्वरप्रणिधान—कर्म या उसके फल का ईश्वर में समर्पण।
उच्चरितप्रध्वंसी—उच्चरित होते ही नष्ट हो जानेवाला।
उद्घनन—यज्ञ में वेदी बनाने का एक प्रकार का साधन।
उपजीव्य—कारण।
उपधान—यज्ञ में रखने का विधान।
उपनय—हेतु का उपसंहार-वचन।
उपमिति—सादृश्य से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान।
उपराग—एक प्रकार की छाया; चन्द्र-सूर्य का ग्रहण।
उपलब्धि-प्रमाण—जो प्रत्यक्ष उपलब्ध हो।
उपादानोपादेय-भाव—उपादान (कारण) उपादेय (कार्य) का सम्बन्ध।
उपाध्युपासना—प्रतीकोपासना; ॐकार, प्रतिमा आदि की उपासना।
एकदेशी माध्यमिक—बौद्धों के एक आचार्यविशेष।
औपचारिक षष्ठी—'राहोः शिरः' आदि प्रयोगों में सम्बन्ध के अभाव में भी होनेवाली षष्ठी विभक्ति।
औपाधिक—उपाधि से युक्त।
काकतालीय-न्याय—संयोग से जो कार्य हो जाता है, फिर भी ऐसा लगता है कि अमुक के कारण वह कार्य हुआ। जैसे—एक कौआ उड़ता हुआ एक तालवृक्ष के ऊपर आ बैठा, ठीक उसके बैठते ही ताल-फल टपक पड़ा।
कारणप्रपञ्च—तन्त्र की एक पुस्तक का नाम।
कारणमात्र विभागजविभाग—कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न होनेवाला।
प्रधानकारणवाद—प्रधान (अचेतन प्रकृति) को ही जगत् का कारण मानने का सिद्धान्त।
कारणाकारणविभाग—कारण और अकारण दोनों का विभाग। } (द्र० पृ० सं० १६५)
कारणाकारणविभागजविभाग—कारण, अकारण दोनों के विभाग से उत्पन्न होनेवाला। } (द्र० पृ० सं० १६५)
कालात्ययापदिष्ट—हेत्वाभास का एक भेद (द्र० पृ० सं० १२६)।
कृतप्रणाश—किये हुए कर्म का फल नहीं प्राप्त होना।
कृतहान—किये हुए कर्म का फल नहीं प्राप्त होना।
गन्धासमवेत—गन्ध में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
चित्तभूमि—सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की एक अवस्था का नाम, जो मधुमती आदि चार भागों में विभक्त है (द्र० पृ० सं० १६६)।
चित्तवृत्ति—चित्त की विषयाकार में परिणति।
चिदाभास—अविद्या पर पड़नेवाला चित् का प्रतिबिम्ब (द्र० पृ० सं० १०८)।
जगन्मिथ्यात्ववाद—जगत् को मिथ्या मानने का सिद्धान्त।
जड़प्रपञ्च—अचेतन सृष्टि।

तत्त्वान्तरारम्भक—किसी दूसरे तत्त्व का आरम्भ करनेवाला।
तादात्म्याध्यास—तदाकारता का अन्य रूप से भान होना।
त्रिपुटी—ध्यान, ध्येय और ध्याता, इन तीनों की सम्मिलित संज्ञा। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता की सम्मिलित संज्ञा।
द्रव्यारम्भक कर्म—जिस कर्म से द्रव्य का आरम्भ होता है।
द्रव्यारम्भक संयोग—जिस संयोग से द्रव्य का आरम्भ होता है।
द्वारलोप—(द्र० पृ० सं० २३९)
द्वैतप्रतिभास—द्वैत का भान होना।
द्वैतापत्ति – द्वैत नहीं माननेवाले से भी द्वैत का सिद्ध हो जाना।
द्वयणुकारम्भक संयोग—जिस संयोग से द्वयणुक का आरम्भ होता है।
नित्यासमवेत – नित्य वस्तु में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।
निरुपाधिक अध्यास—अखण्ड ब्रह्म में स्वरूपतः रहनेवाले अहङ्कार के अध्यास की संज्ञा (द्र० पृ० सं० २९३)।
निरूढगौण—(द्र० पृ० सं० २८१)।
निरोध—चित्त की एक अवस्था (द्र० पृ० सं० २०१)।
निवर्त्य-निवर्तक भाव—जन्य-जनक भाव आदि सम्बन्धों के समान सम्बन्ध-विशेष का नाम।
पक्ष-प्रतिपक्ष – खण्डन-मण्डन।
पक्षासिद्धि—अनुमान में पक्ष की ही सिद्धि न होनेवाला दोष।
पञ्चस्कन्ध—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पाँचों की संज्ञा (बौद्ध सिद्धान्त)।
पञ्चावयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच न्यायाङ्ग।
पञ्चाग्निविद्या—छान्दोग्य और बृहदारण्यक में वर्णित देवयान तथा पितृयान-मार्ग।
पञ्चीकरण—पाँच भूतों का परस्पर सम्मिश्रण।
परतःज्ञान—प्रमाणान्तर से होनेवाला ज्ञान।
परतःप्रमाण—प्रमाणान्तर से माना जानेवाला प्रमाण।
परतःप्रामाण्य—प्रमाणान्तर से सिद्ध होनेवाला।
परममहत्त्व—जिससे बड़ा कोई दूसरा न हो।
परमापूर्व—साङ्ग यज्ञानुष्ठान से उत्पन्न एक प्रकार का संस्कार, जो स्वर्गादि का साक्षात् साधन है।
परमन्याय—मुख्य प्रमाण (द्र० पृ० सं० १३३)।
परिणामवाद—परिणाम को मानने का सिद्धान्त।
परिणामी—जिसका परिणाम (रूपान्तर) होता है।
परिणामी उपादानकारण—जो उपादान परिणामशील हो, जैसे—प्रकृति, माया आदि।
पर्युदास—निषेध।
पिठर—पिण्डभूत घटादि अवयवी।

पिठरपाक—अवयवी में ही पाक होना।
पितृयान—शरीरान्तर में गमन के लिए छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित एक मार्ग।
पीलु—परमाणु।
पीलुपाक—परमाणु में पाक होना।
प्रकृति—जगत् का मूल कारण।
प्रकृति-कैवल्य—प्रकृति का मोक्ष।
प्रतितन्त्रसिद्धान्त—जो समान तन्त्र से सिद्ध हो और दूसरे तन्त्र से असिद्ध हो (प्रत्येक शास्त्रों का स्वतन्त्र सिद्धान्त)।
प्रतिपत्ता—जिसे आत्मसाक्षात्कार हो गया है।
प्रतिपत्ति-कर्म—उपयुक्त द्रव्य का विनियोग।
प्रतिबिम्बवाद—अविद्या या माया में जगत् को चित् का प्रतिबिम्ब मानना।
प्रतियोगी—वह वस्तु जिसका अभाव होता है तथा सादृश्य भी।
प्रत्यभिज्ञा—'सोऽयम्', वही यह है, इस प्रकार का ज्ञान।
प्रत्ययसमयनिरोध—वह निरोध, जिसके होने पर परवैराग्य का उदय होकर आयु तथा भोग का बीज समाप्त हो जाता है (द्र० पृ० सं० २१४)।
प्रत्याहार—विषयासक्त चित्त को अन्तर्मुख करना।
प्रध्वंसाभाव—उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाला अभाव।
प्रमाण-प्रमेय भाव—यह प्रमाण है, यह प्रमेय है, इस प्रकार का व्यवहार।
प्रमाणव्यक्ति—प्रमाण का ही नामान्तर।
प्रमातृ-प्रमेय भाव—प्रमाता (प्रमाण करनेवाला) और प्रमेय (प्रमाण होनेवाला) का भाव।
प्रमिति—प्रमाण से सिद्ध यथार्थ ज्ञान।
प्रमेय—प्रमाण से साध्य।
प्रयाज—यज्ञ का एक विशेष अङ्ग।
प्रातिभासिक—भ्रम से भासित होनेवाला।
प्रामाण्यवाद—प्रामाण्य के विषय में विचार-विमर्श का सिद्धान्त।
बाधात्यन्ताभाव—बाध का अत्यन्त अभाव (बाध न होना)।
बाध्य-बाधक भाव—यह बाध्य है, यह बाधक है, इस प्रकार का भाव।
भूतार्थानुभव—यथार्थ अनुभव।
भेदसामान्याधिकरण—भेद के साथ एक आश्रय में रहना।
भेदाध्यास—भेद का भ्रम।
महत्तत्त्व—बुद्धितत्त्व।
मायोपाधिक—*जिसमें माया उपाधि लगी है (मायाविशिष्ट)।*
मूलप्रकृति—जो किसी से उत्पन्न नहीं है और जिससे समस्त जगत् उत्पन्न है।
मूलाज्ञान—अविद्या।
मूलाधार—योगशास्त्र में प्रसिद्ध, गुदा और लिङ्ग के बीच का स्थान, जहाँ चतुर्दल कमल की भावना की जाती है।

यादृच्छिक—आकस्मिक ।
रसेश्वरवादी—पारद आदि के योग से शरीर को अजर-अमर बनाना ही जिनका ध्येय है, वे रसेश्वरवादी हैं ।
रूपहानि-दोष—जाति का बाधक दोष (द्र० पृ० सं० १५१) ।
लिङ्गशरीर—पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और प्राण इन १५ तत्त्वों को लिङ्ग या सूक्ष्मशरीर कहते हैं ।
लीलाशरीर—ईश्वर के अवतारिक शरीर का नाम ।
विज्ञानवादी—बौद्धों की एक संज्ञा (जो विज्ञान को ही जगत् का कारण मानता है) ।
विज्ञान-सन्तति—विज्ञान की धारा ।
विज्ञानस्कन्ध—बौद्धों के पञ्चस्कन्धों में एक का नाम ।
विज्ञानावयव—विज्ञान का अवयव ।
विधिप्रत्ययवेद्य—जिसका अभावार्थक न आदि शब्दों से उल्लेख न किया जाय ।
विप्रतिपत्ति—संशय ।
विवर्तवाद—अध्यास (भ्रम) का दूसरे रूप में भासित होना ।
विशेषाधिकरण—विशेष का आधार ।
वैभाषिक—चार प्रकार के बौद्ध दार्शनिकों में एक, जो मूल त्रिपिटक की विभाषा को प्रमाण मानता है ।
व्यतिरेक-व्याप्ति—कार्य के अभाव में कारण का अभाव, जैसे—जहाँ आग नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है ।
व्यत्यय—वैपरीत्य ।
व्यधिकरण—एक अधिकरण (आधार) में न रहनेवाला ।
व्यभिचार—हेतु का दोष ।
व्यष्टिलिङ्गशरीर—प्रत्येक प्राणी का पृथक्-पृथक् लिङ्गशरीर ।
व्याघात-दोष—वह दोष, जिससे वस्तु की सत्ता का उसी वस्तु के कथन द्वारा विरोध किया जाय; अपनी बात से अपनी ही बात का विरोध; जैसे—कोई कहे कि मेरे मुँह मे जीभ नहीं है ।
व्याप्ति—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है, इस प्रकार के साहचर्य का नियम ।
व्याप्यजाति—वह जाति, जो अल्प देश में रहे, जैसे—प्राणिमात्र में रहनेवाली प्राणित्व-जाति की अपेक्षा केवल मनुष्य में रहनेवाली मनुष्यत्व-जाति ।
व्याप्य-व्यापक भाव—व्याप्य और व्यापक का सम्बन्ध ।
व्यावर्त्य—व्यावृत्ति के योग्य ।
व्यावृत्ति—निराकरण ।
शतावधानी—अनेक कामों को सावधानी से एक समय करनेवाला ।
शाखाच्छेद—एक यज्ञीय कर्म की संज्ञा ।
शुष्कवाद—व्यर्थवाद ।
शून्यवादी—शून्य माननेवाले बौद्ध ।

श्रावण प्रत्यक्ष—श्रोत्र-इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण।

श्रौत—श्रुति को मुख्य प्रमाण माननेवाला; श्रुति से सिद्ध वस्तु।

सखण्डोपाधि—जिससे जाति का बाध होता है, वह उपाधि है। वह दो प्रकार की है—सखण्ड और अखण्ड। सखण्ड नित्य और अनित्य दोनों होता है, जैसे—शरीरत्व आदि।

सत्कारणवाद—जगत् के मूलकारण को सत् मानने का सिद्धान्त।

सत्कार्यवाद—कार्यमात्र को सत् मानने का सिद्धान्त।

सत्ख्यातिवाद—समस्त भ्रमस्थलों में सत्पदार्थ का ही आभास मानने का सिद्धान्त, (द्र० पृ० सं० ५८)।

सत्प्रतिपक्ष—एक हेत्वाभास (जिस हेतु का प्रतिपक्ष हेतु वर्तमान हो), (द्र० पृ० सं० १२५)।

सत्यमिथ्यात्वयावभास—विवर्त्त (अध्यास) का पर्याय (द्र० पृ० सं० १६२)।

सत्ताजाति—द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में रहनेवाले सामान्य धर्म का नाम।

सत्त्वसङ्गी—जिसकी सत्ता वर्त्तमान है, जैसे—मृत्तिका आदि पदार्थ।

सप्रतियोगिक—जिसका कोई प्रतियोगी हो।

समवाय-सम्बन्ध—गुण और गुणी; क्रिया और क्रियावान्; जाति और व्यक्ति के बीच होनेवाला सम्बन्ध।

समवेत—जो समवाय-सम्बन्ध से कहीं रहता हो या जिसमें दूसरा कोई धर्म समवाय-सम्बन्ध से रहता हो।

समवायान्तर—अन्य समवाय।

समवायिकारण—उपादान-कारण का नाम, जो कार्य के साथ रहता है, जैसे—मृत्तिका घट के और सूत वस्त्र के साथ।

समवायिकारणासमवेत—समवायी कारण में समवाय-सम्बन्ध से न रहनेवाला।

समानाधिकरण—एक अधिकरण में रहनेवाला।

सर्वतन्त्रसिद्धान्त—जो सर्वमान्य है; किसी शास्त्र से विरुद्ध नहीं।

साक्षाद्व्याप्य—जो परम्परया व्याप्य न होकर साक्षात् व्याप्य हो।

साक्षिचैतन्य—द्रष्टा चैतन्य।

साक्षिभास्य—साक्षी (चैतन्य) से भासित होने योग्य।

साक्षी—चैतन्य।

साध्य-साधक भाव—साध्य और साधक का सम्बन्ध।

साध्य-साधन भाव—साध्य और साधन (हेतु) का सम्बन्ध।

साध्याभाववद्वृत्ति—साध्य के अभाव में रहनेवाला।

सामानाधिकरण्य—एक अधिकरण में रहनेवाले का भाव (धर्म)।

सामान्यनिबन्धन—सामान्य मानकर होनेवाला।

सामान्यविशेष समवाय—नैयायिकों का पदार्थ-विचार (द्र०—'न्याय-दर्शन'-प्रकरण)।

सास्मित समाधि—जिस समाधि में जीव और ईश्वर-स्वरूप का जड से भिन्न आत्माकार-रूप साक्षात्कार होता है, वही सास्मित समाधि है। उस समय 'अस्मि' इसीका भान होता है, इसलिए वह सास्मित है।
सौत्रान्तिक—मूल त्रिपिटक-सूत्र को प्रमाण माननेवाला बौद्ध सम्प्रदाय।
संघातवाद—कारण अपने से भिन्न कार्य को उत्पन्न करता है, इस प्रकार का सिद्धान्त।
संयोग-सम्बन्ध—दो संयुक्त वस्तुओं का सम्बन्ध।
संसर्गप्रतियोगी—सम्बन्ध का प्रतियोगी (जिसका सम्बन्ध हो)।
संसार-दशा—व्यवहार-दशा।
स्कन्ध—बौद्धों के पञ्च स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।
स्थूलारुन्धती-न्याय—स्थूल पदार्थों के ज्ञान के द्वारा ही सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान कराया जाना, जैसे—सूक्ष्म अरुन्धती (तारा) के ज्ञान कराने के लिए पहले स्थूल वसिष्ठ (तारा) को ही दिखाया जाता है। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म का ज्ञान कराना न्याय का भाव है।
स्वतःप्रमाण—जिसमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा न हो।
स्वभाववादी—सृष्टि में स्वभाव को ही कारण माननेवाला।
स्वारसिक—यथार्थ यौगिक।
ज्ञातृज्ञेय भाव—ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध।
ज्ञानसन्तान—ज्ञान की सन्तति (धारा)।
ज्ञानाध्यास—मिथ्याभूत ज्ञान का आत्मा में अध्यास (द्र० पृ० सं० २६२)।

अनुक्रमणिका

क

ग

घ

च

य

र

ल

षड्दर्शन-रहस्य

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	३६	(जीवात्मा) आसि	(जीवात्मा) असि
४८	३३	तो	तब
५५	२३	कणभक्षपक्षसंःघात०	कणभक्षपक्षः संघात०
५६	१	संघादवात	संघातवाद
६३	२०	शारीरिक	शारीरक
६६	१४	वैमासिक	वैभाषिक
७०	२६	श्रौर	श्रौर
७३	७	मतमें	मत से
७४	६	मत में	मत से
८२	३६	मतिर्यस्य	मतिर्यस्य
८३	२१	श्रोत	श्रौत
८४	३०	किया गया है	किया है
८६	१३	चर्वाक	चार्वाक
८८	३१	नैघृण्य	नैर्घृण्य
९६	१८	न्० पू०	पू० न्०
९८	२९	उपपादान	उपपादन
९९	१२	सर्म	सर्व
९९	१६	श्रुतियो	श्रुतियां
९९	१८	ताद्दगेय	ताद्दगेय
९९	२७	हो	हो
९९	३५	विवर्त्तोपादन	विवर्त्तोपादान
१००	१९	भेदावास	भेदावभास
१००	३५	दूवरा	दूसरा
१०२	३४	वाद	बाद
१०३	१	अशाशीरत्व	अशरीरत्व
१०३	१८	सह । ब्रह्मणा	सह ब्रह्मणा
१०४	१८	वल्कि	बल्कि
१०७	४	कर्मकारयतितं	कर्म कारयति तं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	१४	मोक्ष का स्वरूप	मोक्ष का तात्त्विक स्वरूप
११६	२६	न्या० (कु० ४।५-६)	न्या० कु० (४।५-६)
११६	३३ (टि०)	सम्बन्धभाव	सम्बन्धाभाव
१२०	२३	अनुमति	अनुमिति
१२५	१४	अनेकान्तिक	अनैकान्तिक
१२६	७	साध्यभाव	साध्याभाव
१४०	१७	सावयत्व	सावयवत्व
१४१	२५	अकर्त्तृकत्व	अकर्तृकत्व
१५१	३१	रूपहानि	रूपहानि
१५२	३३	तेजत्व	तेजस्त्व
१५४	२७	समवायिकरण	समवायिकारण
१६२	३५	आकृत्यपमर्दन	आकृत्युपमर्दन
२२१	६	गुर्ण	गुण
२२७	२१	मायवादी	मायावादी
२४७	१२	(त्वाल्यप्)	त्वा (ल्यप्)
२४८	३५	उपययनपूर्वक	उपनयनपूर्वक
२५७	२३	स्वीकर	स्वीकार
२६०	१	नित्यानित्यत्व-विचार	शब्द का नित्यानित्यत्व-विचार
२६३	१६	अत्यन्ता-मावं	अत्यन्ताभाव
२७७	२६	शारीरिक	शारीरक
२७८	२०	प्रतिपाघ	प्रतिपाद्य
२८३	३६	आत्मासाक्षात्कार	आत्मसाक्षात्कार
३०१	२५	निरुद्ध	निरूढ
३०३	५	प्रतिभाषिक	प्रातिभासिक